॥ श्रीः ॥

ॐ हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला ॐ

१०५

महाकवि श्रीभारविप्रणीत

किरातार्जुनीयम्

महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिकृतया

'घण्टापथ' व्याख्यया समुल्लसितम् ।

तथ

साहित्यशास्त्रि श्री आदित्यनारायण पाण्डेय विरचितया

'प्रकाश' नामक हिन्दी व्याख्यया विभूषितम् ।

न्याय-व्याकरणाचार्येण श्री पं० शोभितमिश्रेण सम्पादितम्



चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय, बनारस-१

वि० सं० २००९] मूल्य ४) [ई० सन् १९५२

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्त,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८ बनारस

JAYA KRISHNA DAS HARI DAS GUPTA
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
P O Box 8 Benares
1952

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस

उपोद्घातः

अयि साहित्यरसास्वादनपरायणा सहृदया विद्वांस !

विदितमेवास्ति श्रीमता तत्र भवता यदिह समेऽपि शरीरिण सतत सुखमेव समीहमाना दरीदृश्यन्ते। परमिह कमप्यनिर्वचनीय निरतिशयानन्दरूप काव्यादि परिशीलनजन्य ब्रह्मानन्दसहोदर जीवनोद्देश्यभूत सुखविशेष सविशेषमनुभवितु केचन विरला एव साहित्यरसिका परमभागधेया पारयन्ति।

तत्साधनतयैव भवता पुर प्रस्तूयते किरातार्जुनीय नाम महाकाव्यम्। यद्धि "भारवेरर्थगौरव"मिति लोकोक्ति कृतार्थयत्, स्थले स्थले गुणगणगरिमाऽतिशालिन गूढाशय प्रकाश्य परमरमणीयचमत्कारशालि चार्थगौरव समुद्भास्य समेषामपि विदुषां चेतश्चमत्करोति।

ग्रन्थोऽयं किरातवेषधारिशिवमर्जुनञ्चाधिकृत्य कृतो भारविणेति समूलकमन्वर्थं नाम पुष्यन्नीव शब्दादिसौष्ठवगुम्फनद्वारा काव्यजगति विदग्धचेतसा परमा स्पदमापद्।

अर्जुनोहि तौ समाराध्य शिवमतुतुषत्। सन्तुष्टात भगवत शिवाद् प्रसादरूपेण पाशुपतास्त्रमापदित्यत्र प्रधानविषयो विदेकिमो विदुषा।

अस्मिंश्च महामहोपाध्याय-कोलाचल-मल्लिनाथकृति-कृता घण्टापथाख्या व्याख्या परमप्राचीना सर्वाङ्गीणा च सयोजिता नितरा चकास्ति। परमध्यापे सुकुमारमतीना छात्राणां तावतापि सर्वथाऽध्ययनादौ पूर्णसौविध्य न भवति स्मेति निभाल्य प० श्री आदित्यनारायणपाण्डेयेन विरचिता "प्रकाश" नाम्नी परमोपकारिणी हिन्दी भाषामयी टीकाऽपि अतरा समुज्जृम्भते।

ग्रन्थस्यास्य निर्माता विद्वद्धुरीणस्य दण्डिन पितामह श्रीनारायणस्वामिन स्तनुजो दामोदरापरनामा सुगृहीतनामधेयस्तत्रभवान् महाकवि श्रीभारविमहोदय षष्ठशतकान्ते सप्तमशतकादौ च इलातलमिद समवीभसत्।

स्वजन्मना च कतम देश समनुपवित्रि विशेषप्रमाणानुपलब्धे वक्तु न पार्यते। केचन चैन दाक्षिणात्य मन्यते पर तत्रापि प्रबलप्रमाणविरहान्न नो विश्वास।

व्याख्याविधातु कवेर्मल्लिनाथस्य स्थितिकालस्तु चतुर्दश खिस्ताब्दीय शतक मासीदिति न केषामपि विदुषां तत्र विवाद।

सर्वथा लाभलोभं विधूय सस्कृतच्छात्रहितैषिभि श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्त-महोदयै परमोपकारिणीभिरुक्तसस्कृतहिन्दीटीकाद्वयीभि समलङ्कृत्य विद्वत्प्रकाण्डै सशोध्य च ग्रन्थोऽय प्रकाशता नीत इति श्रीप्रकाशकसरसयोजकदृष्टिदोषेण संशोधकदृष्टिदोषेण च जायमानत्रुटिं गुणैकग्राहिणो मनीषिण क्षस्यन्ते इति नूनमहमाशासे।

विदुषामनुचर —
सम्पादकः

प्रस्तावना

महाकवि भारवि—

विद्वत् शिरोमणि भारवि संस्कृत साहित्य के एक प्रसिद्ध महाकवि हैं। कवियों की गणना में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाशैली अत्यन्त मनोहर और अर्थगौरव से पूर्ण है। जो आज भी 'भारवेरर्थगौरवम्' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। महाकवि भारवि वासना-कार्य को अत्यन्त घृणित दृष्टि से देखते थे। इस विषय में महाकवि ने लिखा है— **'विषयविषमिवासनासमर्पितम्'**। महाकवि के प्राकृतिक वर्णन अनोखे चमत्कारजनक हैं। आपने प्रत्येक प्राकृतिक वर्णन की पूरी नैसर्गिकता का प्रदर्शन करने के लिये प्राकृतिक वस्तुओं का सुन्दर चित्रण किया है। आपके सर्वतोभद्र आदि चित्र-काव्य और श्लेषात्मक एकाक्षर आदि श्लोक अतीव सुन्दर हैं। जिन्हें लेकर मल्लिनाथ ने कहा भी है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

आपको राजनीति का भी अधिक अनुभव था। आपकी अर्थगाम्भीर्यता को कवि क्षेमेन्द्र ने बेजोड़ बताया है।

समय-निर्णय

यद्यपि महाकवि भारवि का समय निर्णय करना कठिन है तथापि शिलालेखों के आधार पर कुछ लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है—

वियेना ओरियन्टल सोसाइटी जनरल के द्वितीय भाग के पृष्ठ (१८४) में हरमैन जेकोबी महोदय ने षष्ठ शताब्दी का पूर्व भाग भारवि का समय लिखा है। सप्तम शताब्दी के बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित नामक ग्रन्थ में अपने से पूर्व काल के प्रायः समस्त कवियों का नामोल्लेख किया है किन्तु भारवि का कहीं निर्देश नहीं किया। अतः बाणभट्ट के मत से सप्तम शताब्दी से भी बाद के भारवि कहे जा सकते हैं। दुर्विनीत ने अपने किरातार्जुनीय की व्याख्या के परिचय में भारवि का समय (५५ -६   ई) कहा है। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी के लगभग लिखा है। पण्डित सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज द्वारा निर्मित संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। एहोल (Aihole) शिलालेख में रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि का उल्लेख किया है। इस शिलालेख का समय (६३४ ई) है। आज भी यह शिलालेख 'ऐहोल' ग्राम के जैन विहार में मिलता है।[1] इस शिलालेख के आधार पर भारवि का समय

---

१ येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥ शिलालेखोऽयम् ॥

षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध मानना ही उचित होगा। (सन् १९२४ में) के० रामनाथ शास्त्री तथा रामकृष्ण कवि के द्वारा दक्षिण भारती ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में प्रकाशित दण्डी कवि प्रणीत 'अवन्ति सुन्दरी कथासार' में लिखा है कि भारवि अचलपुर के निवासी और कौशिक गोत्रोत्पन्न नारायण स्वामी के पुत्र थे।

महाकवि का एक नाम दामोदर भी था। आप दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और महाराज विष्णुवर्धन के सभामण्डित थे।[1] परन्तु अभी तक समस्त विद्वानों ने इसे मान्यता नहीं दी है। बहुतों का मत है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और दण्डी के चतुर्थ पूर्वज दामोदर से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी तथा वे दक्षिण भारत के चालुक्य वंशी महाराज विष्णुवर्धन के सभामण्डित थे।

किरातार्जुनीय—

किरातार्जुनीय में अट्ठारह सर्ग हैं। कविप्रोक्त महाकाव्य के लक्षण से युक्त होने के कारण यह महाकाव्य कहलाता है। और यह बृहत्त्रयी काव्यों में अन्यतम माना जाता है। इसकी कथावस्तु महाभारतीय वनपर्व से ली गयी है। यह काव्य प्रथम में 'श्री' शब्द से विभूषित है। इसके प्रत्येक सर्गान्त में 'लक्ष्मी' शब्द का सन्निवेश है। इस काव्य में इन्द्रकीलपर्वत पर दिव्य अस्त्रलाभ के लिये तपस्या करनेवाले पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' और किराताधिपति भगवान् 'शंकर' का परस्पर युद्ध वर्णित है। कविने इसी युद्धको महत्त्व देकर काव्यको सुन्दर और विस्तृत बनाया है। किराताधिपति और अर्जुन के युद्ध की ही मुख्यता होने के कारण इस काव्य का नाम भी 'किरातार्जुनीय' पड़ा है। इस काव्य में राजनीति का प्रदर्शन करते हुए कवि ने साम, दान, दण्ड और भेद का बहुत गम्भीरता से वर्णन किया है। भारत वर्ष की प्राचीन स्त्रियों का कितना गम्भीर विचार था यह द्रौपदी की

---

१ "अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे ।
आर्यदेशशिरोरत्नं यत्रासन् बहवो नृपाः ॥
ततोऽभिनि सृता काचित् कौशिकब्रह्मसन्ततिः ।
सुरलोकप्रदिवायान्तो पुण्यतीर्था सरस्वती ॥"
"नासिक्यभूमावोत्सुक्यान्मूलदेवनिवेशिताम् ।
प्राप्याचलपुर रीमधिवसत्यसौ ॥
तस्या नारायणस्वामिनाम्ना नारायणोदरात् ।
दामोदर इति श्रीमानाविवेच इवात्मजः ॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारवि प्रभवो गिराम् ।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥"
(अ० सु० क० सा० पृ० १-२२)

उक्ति से स्पष्ट मालूम होता है। भारवि ने पात्र के अनुसार ही भाषा का निबन्ध किया है यह भीमोक्ति से विदित होता है। विवेचना के विषय में किसी कार्य को करने से पहिले उसकी पूरी विवेचना करके ही उसको करने में प्रवृत्त होना चाहिये ऐसा युधिष्ठिर की उक्ति द्वारा कहा है—

> सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
> वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (स० २ श्लो० ३०)

इस काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अत्यन्त मनोहर है। प्राकृतिक दृश्यों में कवि का हृदय तन्मय निमग्न था यह स्वाभाविक मनोहर वर्णन से प्रतीत होता है—

> मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ।
> द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम्॥ (स० ९ श्लो० २)

इस श्लोक में 'परिवृत्तिविलोला' अत्यन्त मनोहर है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह जप करते समय माला हिलती रहती है उसी तरह चपला लक्ष्मी चञ्चल हो रही है।

कवि ने स्थान स्थान पर पर्वत जलाशय, कुञ्ज वापी आदि का बहुत ही रम्य वर्णन किया है। चित्रकाव्य यमक अनुप्रास एकाक्षर श्लोक पञ्चदश सर्ग में अधिक सुन्दर है। यह सर्ग अपेक्षाकृत कठिन भी है।

उपसंहार

इस काव्य में धीरोदात्त नायक है। उसमें अर्जुन नायक है और किराताधिपति शंकर प्रति नायक हैं। यह वीररस प्रधान काव्य है। इसमें दुर्योधन कथन और किरातपति शंकर का वचन उद्दीपन विभाव नायक और प्रतिनायक का परस्पर आकर्षण आदि अनुभाव धैर्य क्षमादि व्यभिचारी भाव उत्साह स्थायी भाव शृङ्गारादि रस अङ्ग वैदर्भी रीति प्रसाद गुण है। दिव्य पाशुपतास्त्रप्राप्ति इस महाकाव्य का फल है—



---

१ न दीनकुलो दुर्योधनो नाना नानाननो ननु।
दुर्योधनो नुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत्॥

संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति वनेचर की उक्ति

जब कि महाराज युधिष्ठिर जूये में हार जाने से भीम, अर्जुन नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी के साथ द्वैतवन नामक जङ्गल में निवास करते थे, उस समय उन्होंने दुर्योधन का समाचार जानने के लिये एक वनवासी (किरात-वनेचर) को ब्रह्मचारी के रूप में भेजा था, वह सब हाल जानकर महाराज युधिष्ठिर के पास आया और कहने लगा—हे महाराज! दुर्योधन इस समय राज्य का नीति-पूर्वक शासन कर रहा है, 'मैं राजा हूं, मेरा यही धर्म है' ऐसा समझता हुआ शत्रु या पुत्र जो हो उसे धर्मशास्त्रानुसार दण्ड देता है। उसके यहां बड़े २ राजा लोग आकर दरबार में कर देते हैं तथा जो आदेश करता है उसे सब पूरा करते हैं, उसके राज्य में सर्वत्र कृषि उत्तमरूप से होती है, और प्रजा प्रसन्नता से समय २ पर कर देती है। वह दुःशासन को युवराज बनाकर स्वयं यज्ञादि करता रहता है, इसलिये अब आप उसे जीतने के लिये कोई प्रबल उपाय करें। इसके बाद युधिष्ठिर महाराज ने उसे पारितोषिक देकर विदा कर के उक्त समाचार भीमादि के सामने द्रौपदी से जाकर कहा, उसे सुनकर द्रौपदी ने कहा—

युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति

हे नाथ! यद्यपि स्त्रीका उपदेश पुरुषों के लिये अनादर सा होता है तथापि क्या करूं मेरी आन्तरिक व्यथा मुझे कहने के लिये बाध्य कर रही है अतः आप क्षमा करियेगा। हे महाराज! भला बताइये तो-आपके सिवाय कौन ऐसा राजा होगा जो-अपनी स्त्री के समान राजलक्ष्मी को दूसरे के अधीन कर देगा। हा! देखिये ये वही भीम है जो पहले सुन्दर पलङ्ग पर सोते थे आज जमीन पर सोते हैं, और जिन्होंने उत्तर कुरु देश को जीतकर बहुत सा स्वर्ण लाकर खजाने में रखा था वेही अर्जुन आज वल्कल पहने हुए हैं और ये दोनों सुकुमार सुन्दर नकुल तथा सहदेव कठिन भूमि में सोते हैं इन सबों को इन हालतोंमें देखकर भी आप धैर्य और सन्तोष को नहीं छोड़ते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है, आपकी दुर्दशा देखकर मुझे तो अत्यन्त दुःख हो रहा है।

हे महाराज! आप अब शान्ति को छोड़कर शत्रुओं को नष्ट करने के लिये अपना पुराना तेज धारण करिये, क्योंकि शान्ति से मुनियों का कार्य होता है न कि राजाओं का, यदि आप शान्ति ही को सुख का साधन समझते हैं तो राज-चिह्न धनुषादि को त्यागकर जटा बढ़ाकर केवल मुनियों की भांति अग्निहोत्र किया करें। हे महाराज! सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी शत्रु-विजय के लिये आपका समय की प्रतीक्षा करते रहना उचित नहीं है क्योंकि विजय चाहने वाले राजा लोग समय पड़ने पर किसी न किसी ब्याज से सन्धि को भी तोड़ देते हैं।

द्वितीय सर्ग।

युधिष्ठिर के प्रति भीम की उक्ति

(अपने मनोनुकूल द्रौपदी की बातें सुनकर भीम युधिष्ठिर से बोले)—

हे महाराज ! द्रौपदी ने इस समय जो कहा वह उचित है उसकी बात बृहस्पति को भी आश्चर्य में डाल देने वाली है इसे स्त्री की कही हुई समझकर आपको उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि गुणग्राही पुरुष स्त्री या पुरुष का विचार नहीं करते। बड़े खेद की बात है कि आप देवताओं को भी आश्चर्य में डालनेवाले पुरुषार्थ को पाकर भी दुश्मनों द्वारा दुर्दशा भोग रहे हैं शत्रु को बढ़ते हुए देखकर भी उसकी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है। यद्यपि आप इस समय क्षीण हैं तथापि जब उन्नति के लिये चेष्टा करेंगे तो प्रजायें आपके उत्साह को देखकर आपको नमन करेंगी यदि अवधि की प्रतीक्षा करते रहियेगा तो निश्चय समझिये कि दुर्योधन इतने दिनतक राज्यसुख भोगकर आपकी अवधि बीतने पर राज्य दे देगा यह असम्भव है। अतः आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करिये आपके उठते ही शत्रुओं पर विपत्तियां आ पड़ेंगी आपके दिग्विजयी चारों भाइयों के तेज को भला शत्रुओं के मध्य में कौन है जो सह सकेगा। इस भांति अत्यन्त क्रुद्ध भीमसेन की बात सुनकर मतवाले हाथी की भांति उन्हें धीरे २ शान्त करने के लिये महाराज युधिष्ठिर चेष्टा करते हुये बोले—

भीम के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति

हे भीम ! तुमने जो कुछ कहा है वह सब समयोचित शास्त्र-सम्मत है तथापि मेरा मन विचार पूर्वक कार्य करने को कहता है। असमय में क्रोध करना अत्यन्त अनुचित है शान्ति से बढ़कर उत्तम साधन कोई नहीं है इसके रखने से शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं। और यदि इस समय नियम तोड़कर चढ़ाई न की जाय तो जितने राजा हैं वे सब अवधि के बाद हमारी सहायता करेंगे। और यह समझना कि अधिक समय हो जानेपर राजा लोग दुर्योधन के पक्ष में हो जायंगे तो यह भूल है अहङ्कारी मनुष्य की सेवा में जो लोग रहते हैं वे लोग जब समय पड़ता है तब उसे छोड़ देते हैं क्योंकि उसके दुर्व्यवहार से मन में सभी अप्रसन्न रहते हैं। अतः जब तक अवधि है तबतक शान्ति के साथ समय बिताना उचित है। इस प्रकार से जब महाराज युधिष्ठिर भीम को समझा रहे थे ठीक उसी समय देवात् व्यास जी पहुंच गये उन्हें देखते ही इन्होंने उठकर स्वागत किया तथा आदर के साथ लाकर उच्च आसन पर बैठाया पश्चात् उनकी भी आज्ञा पाकर हाथ जोड़कर सम्मुख बैठगये।

तृतीय सर्ग।

युधिष्ठिर और अर्जुन के प्रति व्यास की उक्ति

हे राजन् ! संग्राम में उसी की जय होती है जिस के पास सेना तथा अस्त्रादि का विशेष बल है, यह बात परशुराम के साथ युद्ध करने में भीष्म ने उन्हें पराजित करके लोगों को शिक्षा दी है। और यमराज से भी नहीं डरनेवाले भीष्म द्रोण कर्ण प्रभृति प्रक-

यकालाग्नि के समान युद्ध में भयङ्कर द्रोणाचार्य आदि योद्धागण सब दुर्योधन के पक्ष में हैं अत उन सबों को जिनसे जीत सकें उन दिव्य-अस्त्रों को पाने के लिये मैं अर्जुन को एक मन्त्र बतलाता हू जिसके द्वारा वे कठिन तपस्या कर इन्द्र भगवान् को प्रसन्न कर दिव्य अस्त्र तथा पराक्रम प्राप्तकर युद्ध में विजयी हों, बस यही मेरे आने का उद्देश्य है, ऐसा कह व्यासजी पुन अर्जुन से कहने लगे—हे अर्जुन ! तुम अब मेरे कथनानुसार साथ में अस्त्रों कोभी लिये हुए मुनियों की भांति जाकर तपस्या करो, और जहां पर तपस्या करनी है वहां पर यह यक्ष तुम्हें शीघ्र ही पहुंचा देगा ऐसा कहकर जैसे ही व्यास जी अन्तर्धान हुए वैसे ही अर्जुन के पास यक्ष उपस्थित हो गया तब उन्हें जाने के लिये उद्यत देख द्रौपदी अर्जुन से कहने लगी।

अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्ति

जबतक तपस्या पूरी न हो तबतक आप हमलोगों के लिये व्यग्र न होना क्योंकि बिना दृढ आग्रह के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, और उन्हें तपस्या के लिये उत्तेजित करने के लिये पुन कहने लगी कि–संसार में तेजस्वी पुरुषों की मान-हानि प्राण-हानि के तुल्य ही होती है, शत्रु से पराजित होने पर उनका अपमान होता है और शत्रुओं ने जो जो दुर्व्यवहार किये हैं और जिन्हें कि-मैं स्मरण भी नहीं करना चाहती, आज मुझे वे ही सब तुम्हारे बिना यद्यपि और भी कष्ट पहुचायेंगे तथापि उन सबों को इस आशा से सहूंगी कि आप शीघ्र ही शत्रुओं को जीतने योग्य सामर्थ्य प्राप्तकर पुन मिलेंगे। अत अब आप तपस्या के लिये जाय और आप के समस्त विघ्नों को इन्द्र भगवान् दूर करें, हे नाथ ! आप व्यास जी का आदेश पालन करते हुए हमलोगों के मनोरथ को सफल करें। और अब आपकी कृतकार्य देखकर पुन आनन्द से आलिङ्गन करना चाहती हू। तब इन सब बातों को सुनकर अर्जुन की दुर्योधनादिकों के ऊपर अत्यन्त क्रोध हुआ, और वह कवच पहनकर तलवार, धनुष, और तरकश लेकर यक्ष के बताये हुये रास्ते से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये चल पडे, और सब लोगों को उनके जाने पर अत्यन्त दु ख मालूम पड़ने लगा पर समझाकर किसी भांति अपने २ चित्त को शान्त किया, और उस समय मङ्गल सूचक दिव्य दुन्दुभी शब्द तथा आकाश में पुष्प वर्षा होने लगी जिसे देखकर सब अत्यन्त प्रसन्न हुये।

चतुर्थ सर्ग।

शरदृतु वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने शरद् की शोभा को निम्न रूप में देखा—

वर्षाऋतु के बीत जाने से मार्ग पर कहीं पङ्क (कीचड) नहीं दिखता था। साथ जल-विमुक्त नदी-तट धवल बालुकामय शरीरको धारण किया हुआ था। जलाशयों में अधिक

कमल खिलने के कारण दर्शकों को स्थल कमल की भ्रान्ति उत्पन्न होती थी। चारों ओर खेतों में अनेक प्रकार के धान की बालें झुक झुक कर पथिकों के मन को आकर्षित कर रही थी।

इस तरह अर्जुन को शरद् शोभा की छटाओं को देखने में आसक्त जानकर यक्ष शरद् सम्बन्धी बातें करने लगा—

यक्षकृत शरद् गुण कथन

हे अर्जुन ! यह समय बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा है। भूमि धान्यरूप फलों से भरी हुई है। सरोवर और नदियों का जल स्वच्छ हो गया है। आकाश मण्डल सजल मेघ रहित होने से निर्मल होगया है। आकाश के अन्तराल में पक्षिगण मधुर कूजन करते हुए विचरण कर रहे हैं। सुगन्ध को लेकर पवन मन्द मन्द बह रहा है। दिशाएं प्रसन्न दीख रही हैं। खेत का जल हरित लता सपेद कमल और पके हुए साठी धान की पीत कान्ति से इन्द्र धनुष की शोभा को धारण कर रहा है। ग्वाल की ललनाएं अपने सुमधुर गीत से मयूरकी केकावाणी को भी तिरस्कृत कर रही हैं। उनके गानों में आसक्त हो कर हरिणी घास चरने को भी भूल गयी है।

इस प्रकार यक्ष द्वारा वर्णित शरद् कान्ति का अवलोकन करते हुए अर्जुन को वनराजि से श्याम रूप गिरिराज हिमालय का दर्शन हुआ।



पञ्चम सर्ग

कविकृत हिमालय वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने हिमालय की शोभा को निम्न रूप में देखा—

हिमालय समस्त लोक के मनुष्य को आश्रय देने वाला है। इस के गर्भ में अनेक धातु और मणि गुम्फित हैं। अन्त पत्र यह रत्नाकर की छबिको धारण किया हुआ है। इस का शिखर प्रदेश हिमाच्छन्न और मध्य प्रदेश बहुत विशाल है। इसी मध्यप्रदेश पर मेघ मण्डल विचरण करते हैं। इस के तट प्रदेश पर उच्च शिखर से जाह्नवी आदि सुरसरितायें गिर रही हैं। जलपात से तटभूमि छिन्न है जगह लता और वृक्ष अपने रम्य कान्ति को धारण किये हुए विविध वन और उपवन में मनोहर मालूम पड़ रहे हैं।

यक्षकृत हिमालय वर्णन

हिमालय का उच्च शिखर आकाश मण्डल को छूने जा रहा है। इस के पार्श्व प्रदेश में मान सरोवर और कैलास आदि पवित्र स्थान हैं तथा मध्यप्रदेश में गहन वन हैं जिस में बड़े २ वृक्ष और हिंसक प्राणी निर्भय पूर्वक विचर रहे हैं। चारों ओर महौषधियाँ चमक

कर बिजली की शोभा दे रही है। सरोवर और रत्नाकुञ्ज अत्यन्त सुन्दर हैं, जो नायक-नायिका को मुग्ध कर रहा है। इन हिमालय पर दिव्य सुन्दरियाँ विहार के लिये स्वर्ग से आती हैं। यह परम पवित्र स्थान है। इसी स्थानपर भगवती पार्वतीने अपनी विकट तपश्चर्या से भगवान् शंकर को प्राप्त किया था।

इसी हिमालय के पास पार्वतीपति भगवान् शंकर का निवासस्थान कैलास अपनी मणिमय कान्ति से सूर्य की किरणों को तिरस्कृत कर रहा है। तप-साधन में संलग्न तपस्वी जन के तप में विघ्न डालने वाली अप्सराएँ विविध रूप धारण कर भ्रूविक्षेपादि से मर्यादियों के धैर्य को च्युत करने की कोशिश कर रही हैं। परन्तु योगिजन अपने २ इन्द्रियों का संयम करते हुए अपने लक्ष्य रूप ब्रह्म सायुज्य प्राप्त कर सांसारिक बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं तट प्रदेश पर समृद्धशाली और सुखी कृषक लोग अपनी मर्यादा का पालन करते हुए आनन्द पूर्वक निवास करते हैं।

यक्षकृत इन्द्रकील (पर्वत) वर्णन

इन्द्रकील की गुफायें अत्यन्त सुन्दर हैं। यह पर्वत इन्द्रका अत्यन्त प्रिय है। स्वर्णमयी तटभूमि की कान्ति पवन प्रेरित लताओं के मध्य भाग पर आवृत विद्युल्लता का अनुकरण कर रही है। यहाँ का चन्दन वृक्ष मत्त गज के कपोल की रगड़ से सर्प रहित हो गया है। मरकत मणि की तीक्ष्ण प्रभा से इस पर्वत पर सूर्य की किरणें भी हतप्रभ हो गई हैं।

अर्जुन के प्रति यक्ष का उपदेश

हे अर्जुन! शस्त्र धारण कर इसी इन्द्रकील पर्वत पर आप तपस्या करें। तपस्या में बहुत सी विघ्न-बाधायें उपस्थित होंगी उस के बाद आपका कल्याण होगा। इस लिए आप इन्द्रिय चापल्य को छोड़ें और भगवान् शंकर की तपस्या कर वर प्राप्त करें। लोकपाल और इन्द्र आपकी तपस्या की वृद्धि करेंगे। इस प्रकार अर्जुन को आशीर्वाद देकर यक्ष अपने स्थान पर चला गया और अर्जुन अपने कार्य सिद्धि के लिये इन्द्रकील पर निवास करने लगे।

अर्जुन गङ्गा के समीप इन्द्रकील पर्वत के सुन्दर प्रदेश में पहुंचे। उस स्थान पर वृक्ष अपने आश्रित भ्रमर और पक्षियों के द्वारा मानो अर्जुन की जय ध्वनि और पवन के द्वारा पुष्प वृष्टि कर रहे थे। पवन पङ्कज पराग और भागीरथी के शैत्यको लेकर सुखस्पर्शी कर रहा था। अर्जुन ने प्रवाह के वेग से भग्न देवदारु एवं अत्यन्त पतली २ बेंत की लता और तरङ्ग के ऊपर तैरने वाले कलहंसों तथा मत्त भ्रमर से युक्त तटप्रदेश को देखा।

—•—

षष्ठ सर्ग।

इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन के तपोऽनुष्ठान तथा विघ्न डालने वास्ते इन्द्रप्रेषित अप्सराओं के गमन का वर्णन—

अत्यन्त सौम्य मूर्ति अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर पहुंचकर गिरिसरिताओं के जलकणों से अत्यन्त शीतल मन्द सुगन्ध पवन के स्पर्श से आनन्द को प्राप्तकर झरना आदि प्राकृतिक पर्वतीय दृश्यों को अनुपम रमणीय सुषमाओं से अलङ्कृत अत्यन्त निर्जन उस पर्वत के शान्त वातावरण को देखकर तपश्चरण के लिये उद्यत हुए। तदनन्तर सांसारिक विषयों से चित्तवृत्तियों को रोककर सारी इन्द्रियों को अपने वश में कर के अत्यन्त कठिन तपस्या करते हुए अर्जुन को थोड़ा भी तपोऽनुष्ठान जनित खेद का अनुभव नहीं हुआ। क्रमशः काम क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं से विवेक द्वारा चित्त को हटाकर अन्तरात्मा में परम शान्तिजन्य आनन्द का अनुभव करते हुए जप-ध्यान-नमस्कारादि से इन्द्र को प्रसन्नकर स्वभावतः आगन्तुक वीर-शान्त रसों से समुल्लसित तेज को उन्होंने प्राप्त किया। बाद में तपोऽनुष्ठान जनित उस विलक्षण तेज से जटाधारी अर्जुन अत्यन्त देदीप्यमान होकर चमकने लगे। आयुध धारण कर तपस्या करते हुए अर्जुन के तप के प्रभाव से हिंसक सर्प सिंह व्याघ्र आदि जन्तुओं ने हिंसाभाव को भी छोड़ दिया। पवन अत्यन्त सुखद होकर मन्द २ बहने लगी। धूप निरतिशय सुखस्पर्श अनुकूल होने लगी। पौधे नूतन पल्लवों से लद गये। आकाश मण्डल अत्यन्त निर्मल हो गया। पृथिवीतल धूलि कणों से रहित होकर शान्त दीखने लगा। नैमित्तिक पुष्प अभीष्टफलप्रद यथाक्रम फलने लगे। अर्जुन के उस तपोवैभव को देखकर वनेचरों ने अपने यथेच्छ आहार विहार में बाधा का अनुभव करते हुए इन्द्र के पास जाकर अर्जुन के तपोऽनुष्ठान की सारी बातें कहीं। बाद में इन्द्र ने उन वनेचरों के मुख से अर्जुन के तपोऽनुष्ठान का वृत्तान्त सुनकर हर्ष वेगको रोकते हुए उनकी तपस्या के परीक्षणार्थ अप्सराओं को बुलाकर कहा—हे सुराङ्गनाओं! आप लोग ही सर्वविजयी कामदेव के परम अमोघ अस्त्र हैं। आप के कटाक्षपातों से ही अत्यन्त जितेन्द्रिय महातपस्वियों के भी मन विचलित हो जाते हैं। आप सब के प्रसादसे ही स्वर्गलोग संसार में सब लोकों से श्रेष्ठ माना जाता है। इस तरह उनकी अनेकों प्रशंसायें कर के गन्धर्वों के साथ मिलकर अर्जुन के तप में विघ्न डालने के लिये इन्द्रने उन अप्सराओं को सभी के शाप आदि विषयक सन्देह-भय को दूर करते हुए विश्वास द्वारा निर्भीक बनाकर प्रेषित किया। बाद में वे अप्सरायें अनेक आभूषणों से भूषित होकर स्तनभारों से झुकी हुई एवं अत्यन्त मादक भ्रूविक्षेप-कटाक्षपात आदि चेष्टाओं से सबको मोहित करती हुईं इन्द्र को प्रणाम कर अर्जुन के प्रति चल पड़ीं।

—•—

सप्तम सर्ग।

गन्धर्वों के साथ अप्सराओं के विलासपूर्वक इन्द्रकील के प्रति प्रस्थान का वर्णन।

महेन्द्र के भवनसे अर्जुन के समीप प्रस्थान करती हुई उन अप्सराओं के रक्षणार्थ इन्द्र ने रथ-हाथी घोडों के साथ अपने भृत्यों को भेजा। रास्ते में जाती हुई उन गन्धर्वाङ्गनाओं के कपोलों पर धूप के ताप से कालिमा छागयी। पसीने टपकने लगे। गमनजनित थकावटसे नयन कमल मुरझने लगे। अत्यन्त सुकुमारतम उन के शरीरों में आतप ताप की असहनशीलता देखकर गन्धर्वगण चकित हो गये। क्रमश वे सब मन्दाकिनी के पास पहुचे। वहा पहुचते ही उस नदी के तरङ्गों के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल एव विकसितकमलों के किञ्जल्कसौरयों से सुगन्धित होकर बहते हुए पवन से उनके मार्ग गमन जनित सारे परिश्रम दूर हो गये। विमान द्वारा अन्तरीक्ष में जाते हुए उन के ऊपर पानी वर्षा कर परिश्रम जनित खेदों को दूर करने के कारण उन अप्सराओं ने बादल को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा। वायु द्वारा उन के जघनों से आधो वसन के हट जाने पर भी मणिमय मेखलाओं के किरणों ने ही जघनों को अपने प्रकाशों से आच्छादित कर अधोवसन का काम किया। उनके विमानों की गति से बादल में इन्द्रचाप जनित शोभा के नष्ट हो जाने पर भी उन सुर ललनाओं के भूषणों में जड़े हुए मरकत-पद्मराग आदि विविध मणियों की रङ्गबिरङ्गी अनेक प्रभाओं से फिर इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न हो गयी। बाद में अर्जुन के तप में विघ्न डालने की सफलता प्राप्त्यर्थ आपस में अनेकों बातचीत करते हुए वे सब इन्द्रसैनिक, इन्द्रकील पहाड पर पहुचे। वहा पहुचकर वह सारी सेनासहति कमलों एव फेनों के तुल्य सुरख और श्वेत छत्रों से आकाश गगा की भांति अत्यन्त सुशोभित होने लगी। रथों में जोड़े हुए घोड़े, लगामों को पीछे कसने से अपने शरीर के पूर्व हिस्सा को झुकाकर बादल की मणी रूप सडक से उतरते हुए विमानों को क्षितितल पर ले आये। उस पर्वत की ओर गगन से उतरते हुए हाथी सब, बादलों के मध्य में रहने के कारण समुद्रमध्य विराजमान मैनाक आदि पर्वत जैसे मालुम पडते थे। उस पर्वत की चोटी पर बैठे हुए मोरगणझरनाओं के शब्दों से मिश्रित रथों के घर्घर आवाज को सुनकर मेघ गर्जन की भ्रान्ति से गले को ऊपर उठाकर ताकते हुए अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये। इस तरह सब जीव जन्तुओं का अत्यन्त कुतूहल पैदा करती हुई इन्द्रवाहिनी इन्द्रकील पर आपहुची। बाद में गन्धर्व गण उस पर्वत पर शिविरों को बनाकर गङ्गा के समीप हरी २ घासों से भरी हुई भूमि पर रहन सहन का क्रम स्थिर कर पर्वत की भी अत्यन्त शोभा बढ़ाकर रहने लगे। तदनन्तर उन सुराङ्गनाओं के भोग विलास के काम में आने से अत्यन्त सुगन्ध पुष्पों से सुशोभित पौधे तथा नवीन पल्लवों से सुसज्जित लतायें सफलता को प्राप्त हुईं। उन लोगों के सहवास से नगर की तरह उस पर्वत की शोभा मालुम पडने लगी।

अष्टम लम्ब ।

गन्धर्वों और अप्सराओं के क्रीड़ादि का वर्णन—

गन्धर्व गणों से युक्त होकर देवाङ्गनायें वन में विहार करने की इच्छा से अनेक विध सुख साधनों से सम्पन्न तथा अत्यन्त सुन्दर नगर को भी छोड़कर सघन वन में प्रवेश करती हुई अपनी कान्तिच्छटा से वन स्थानों को प्रकाशित करती [illegible] बिजली की तरह चमकने लगीं। बाद में अनेक फूलों से सुशोभित लताकुञ्जों में विहरण करती हुई चाहुलता रूप वनलताओं से लिपटे हुए एवं पुष्परस का पान करने वाले भ्रमरों से युक्त चञ्चल नितम्बोंवाली अशोक यष्टि को देखती हुईं परम आनन्द का अनुभव करने लगीं। उनमें किसी एक मानिनी नायिका को सरस नायक ने कहा—हे मानिनि! नवीनपल्लववत् अत्यन्त कोमल हाथों को मत कपाओ क्योंकि कमलकला के भ्रम से आये हुए भौंरे डर रहे हैं। प्रणय कलह में बनावटी गुस्सा कर प्रिय से रूठी हुई किसी नवोढ़ा को मनाती [illegible] सखी कह रही थी—हे सखी! कोप को त्यागकर तुम अपने प्रिय वल्लभ के पास जाओ वरना पीछे पछताओगी। इस तरह क्रीड़ा के साथ विहार करती हुई वे अप्सरायें सारस पक्षियों के मधुर कलरव से हर्षित होती हुई पर्वतीय वनस्थलियों की अनुपम शोभा एवं मोती की तरह झरनों के जलबिन्दुओं तथा भ्रमरों से व्याप्त पुष्पों से सुशोभित वनलताओं और चन्दन वृक्षों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। कोई तो कली पर हाथ से ही तोड़ने के लायक रमणीय पुष्प गुच्छों को छोड़कर प्रेम से प्रिय द्वारा दिये गये पुष्पगुच्छों को ही लेना किसीने पसन्द किया। कहीं तो कोई कामिनी पुष्प देने की इच्छा से प्रिय द्वारा सौत के नाम से पुकारे जाने पर अत्यन्त खिन्न होकर नहीं कुछ उत्तर देकर केवल आंसू बहाती हुई भूमि को नख से खोदने लगी। कोई प्रौढ़ा नायिका तो पति के साथ बात करते समय लीन होने से अकस्मात् नीवीबन्धन के छूट जाने पर भी उसके वस्त्र शरीर पर से गिरे हुए कपड़े को भी नहीं सम्हाल सकी। किसी चतुर प्रगल्भा नायिकाने तो प्रिय द्वारा दी गयी पुष्पमाला के शिर में अर्पण करने के बहाने से प्रिय को ही स्तन [illegible] चोवाधा उरस्थल में ताड़न किया। किसी कामिनी ने तो नखाङ्कित नितम्ब एवं कुछ झुके हुए दोनों स्तनों तथा रोमपंक्ति युक्त उदर को दर्शाकर अत्यन्त मनोहर काले २ केशपाशों से वल्लभ को मोहित किया किसी प्रौढ़ युवति ने तो अपनी आंख में पड़ी हुई धूलि को मुख पवन से निकालते रहने पर भी नहीं सफल होते हुए अपने प्राण वल्लभ को कुचों से ताड़ित किया। उस समय पर्वतीय मार्ग से किसी तरह निकलती [illegible] उन सुराङ्गनाओं के ऊरु-जघन स्तनादि के भारों से मन्द गति एवं चन्द्रहारमणि से शोभित नितम्बों तथा स्तन एवं त्रिवलिशोभित उदरों और पसीने के बून्द से अत्यन्त लज्जित कम्प सहित कुचों को कुतूहल के साथ देखते हुए गन्धर्वगण परम आनन्दित हुए। बाद में वे अप्सरायें गन्धर्वों के साथ जल केलि क्रीड़ा करने लगीं। स्नान समय

तरङ्गों से आहत होकर उनके केशपाश बिखर गये। मालायें विलुप्त हो गईं। स्नानादि में लिप्त कुङ्कुमादि के राग धुल गये। कमलिनी में लीन किसी नायिका की आखों में भ्रमर युक्त कमलों का और केशपाशों में भ्रमरों का भ्रम होने लगा। जल में विहार करती हुई उन युवतियों के अञ्जन धुल गये, आखें लाल २ हो गयीं। अधर पल्लव भी अलता के राग से रहित हो गये। उन स्त्री जनों के हाथ से ताड़ित होकर मृदङ्ग सदृश गम्भीर शब्द करते हुए पानी का, नायिकाओं के बड़े २ स्तनों के सम्पर्क जन्य आघात से लालित्य युक्त होकर नृत्यसा होने लगा। ऊरू स्थल के कपड़े में छोटी २ मछलियों के घुस कर फरफराने से त्रास के मारे आखें चञ्चलित होने लगीं और बाहुलतायें कापने लगीं। मीन के अभिनव जन्य घबराहट के बहाने कोई नायिका प्रिय को ही लिपट गई, कोई मानिनी हंसी मज़ाक में प्रिय द्वारा जल से ताड़ित होकर रूठी हुई सी होने पर भी नायक से मनायी जाने पर खुश हो गई। कोई कामुकी तो मदन से विह्वल होकर पिचकारी से प्रिय के ऊपर पानी छिड़कने के लिये उद्यत होती हुई हाथ को प्रिय द्वारा पकड़ लेने पर नीवीबन्धन के खुल जाने पर भी करधनी से कपड़ा को बान्धकर सन्तुष्ट भई, इस तरह वे गन्धर्वाङ्गनायें चकवा-चकवी को बिछुड़ा कर और कमल वन की शोभा को नष्ट कर तारे गणों से चमत्कृत रात की तरह सुशोभित हुईं। और गङ्गा का जल भी उनके अङ्गों में लिप्त चन्दन रस के सम्पर्क से त्रुटित भूषण मणि की प्रभा से देदीप्यमान होते हुए तरङ्गों से युक्त होकर लोगों का अत्यन्त नयनानन्द जनक हुआ।

नवम सर्ग।

सायंकाल आदि का वर्णन।

अब सब से पहले महाकवि भारवि उत्प्रेक्षा द्वारा सूर्यास्त का वर्णन करते हैं—जल केलि क्रीडा से निवृत्त उन सुराङ्गनाओं के मन को रमण करने की इच्छा से कलुषित सा समझ कर सूर्य भगवान् अस्त होने के लिये उद्यत हुए। उस समय सूर्य अपनी किरणों को ढीला कर पश्चिम दिशा का आश्रयण करके कमल-मधु के पान से लाल वर्ण सा अरुणवर्ण होकर शोभने लगा। चक्रवाक पक्षी के हृदय में विरहसन्ताप प्रकट होने लगा। पश्चिमदिशा में अपने आश्रय भूत सूर्य के व्यसन से दुःखी सा होकर किरणों का समूह मलिन सा हो गया। चिड़िया पेड़ों पर जाकर शोर गुल मचाने लगीं। शाम का समय निकट आ गया सन्ध्याकालीन लालिमा से पश्चिमदिशा लाल सी हो गई। क्रमशः एकाएक सन्ध्याकाल भी बितने चला। अन्धकारों से वन उपवन नदी पर्वत और सब दिशायें व्याप्त हो गईं। मिलन की इच्छा रहनेस चक्रवाकदम्पति का विरह जन्य सन्ताप बहुत बड़ा सा दीखने लगा। चक्रवाक के विरह दर्शन से व्यथित सा होकर कमलिनी का मुख भी मलिन सा हो गया। दूसरी ओर केतकी पुष्प के किञ्जल्क की तरह स्वच्छ चन्द्र-चन्द्रिकायें दिगन्तों को व्याप्त

कर भासने लगी। पूर्वदिशा चन्द्रोदय से अन्धकार रहित होकर प्रसन्न हो गई। हिमवत् शुभ्र चन्द्रकिरणसमूह नील आकाश में समुद्रजल मध्य प्रविष्ट स्वच्छ गङ्गाजल की तरह फैल कर शोभने लगा। उदयकालिक लालिमा से रक्त सा दीपता हुआ चन्द्रमा पूर्वदिशा रूप पयोधि से सुवर्ण घट की तरह निकला हुआ सा दिखाई देने लगा। चन्द्रोदय से भासती हुई रात्रि अन्धकार रहित होकर घूंघट रहित लज्जावती नववधू की तरह दीखने लगी यद्यपि चन्द्रमा ने अपनी चान्दनी से आकाश को अत्यन्त प्रकाशित नहीं किया था स्त्रियों में अपनी ज्योति नहीं फैलायी थी फिर भी रात्रि हिम किरण चन्द्रमा से अत्यन्त सुशोभित हुई। चकवाक युगल पूर्व किरण में विस्तरित होनेसे शीतल शशि किरण को देखने में भी समर्थ नहीं हुआ। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बह रहे थे कामदेव ने भी चन्द्रकिरणों को सहाय मानकर विश्वविजयी चाप का सन्धान किया। उस अत्यन्त सुन्दर सुहावना समय के होने से सुरतनिलय काम वासनाओं से अत्यन्त पीडित होकर सुरत भोग विलास का उस उत्तम समय को समझकर कैलिमन्दिर के दूर होने पर भी सुचारु सुसज्जित करने की अभिलाषा करती हुई पर अलङ्कार होने पर भी पुन श्रृङ्गार से भूषित होती हुई विरहातुर होकर केवल प्रिय समागम की चाह करने लगीं। बाद में काम से अत्यन्त पीडित होकर स्वयं प्रिय भवन में चली जाने लगीं। कोई युवति तो झगड़ कर प्रिय को दूर भगा देने पर भी पुन बुलाने को आज्ञा से सखी की खुशामद करती हुई प्रिय से स्वयमेव स्वयं जाकर मिल गई। उस समय में अवसर पाकर कामदेव ने मद्यपान से विस्फुरितनायिका का मान भञ्जन कर कान्त के पास जाने में लज्जा को शिथिल कर दिया। किसी नायिका ने प्रणय कलह से रूठकर चले जाते हुए नायक की आँख गिराकर अश्रुजल द्वारा रोकवाया। किसी नायिका का प्रियद्वारा चुम्बन करनेपर नाभीदेश से लज्जा के साथ २ नीवीबन्धनभी खुल गया। किसीका मद्यपान से मान छूट कर प्रणय कलह भी दूर हो गया। कामदेव का मनोरथ पूरा हुआ। नायक नायिकाओं का परस्पर मधुपान का आदान प्रदान होने लगा। मद्यपान से मत्त होकर सखी के सामने ही कोई नायिका नायक के शरीर पर रतिरभस में गिरने लगी। चन्द्रोदय से मदनातुर होकर सब युवतियां प्रिय के प्रति प्रणय कलह को भी छोड़ कर जाने लगीं। अकस्मात् वनिताओं को सम्भोग करने की अभिलाषा होने लगी। चुम्बन दन्तक्षत नखर घात आदि रति व्यापार होने लगे। इतने में ही रात बीत कर प्रभात होने लगा वैतालिक प्रातःकालिक मंगलगान करने लगे। नींद खुलने पर शयन करने से रतिजन्य थकावट दूर होने पर मंगल गान द्वारा उद्बोधित होकर उन युवतियों का फिर से सम्भोग आरम्भ हुआ। प्रभात पवन वनिताओं के रतिजन्य खेद को दूर करते हुए धीरे २ बहने लगे।

—•—

दशम सर्ग।

अर्जुन को लुभाने के लिये अप्सराओं का आगमन।

अर्जुन को लुभाने के वास्ते उत्तम आभूषण एवं रति वर्द्धक इत्र सुगन्ध तैलादि साधनों से सुशोभित होकर रमणीय हावभाव भ्रूविक्षेपादि करती हुई सुरललनायें अपने शिविरों को छोड़कर पृथुल नितम्ब जघन तथा स्तन भारों से मन्द २ गमन करती हुई चल पड़ीं। उनके चलने से पैर के अलते के रङ्गों से रञ्जित होकर पृथिवी शोभायमान हुई। इनकी करधनी नूपुर आदि भूषणों के मधुर ध्वनि से वन पर्वतों की गुफायें प्रतिध्वनित होकर मुखरित हो उठीं, बाद में गङ्गा जी के तट पर यम नियम पूर्वक इन्द्रियों को वश में करके तपस्या करते हुए धृतव्रत उस अर्जुन को देखा। देखते ही मुनिजन को ठगने के लिये प्रवृत्त उन गन्धर्वाङ्गनाओं का अर्जुन के प्रति काम भाव प्रबल हुआ। उस समय गन्धर्वगण मृदङ्ग-वीणा बजाने लगे, सारी ऋतुएं एक साथ एकत्रित होकर वहां आ गईं। आकाश में बादलों की कालीघटा छा गयी। बिजली चमकने लगी। मालतीपुष्प खिलने लगे। वर्षा से तपोवन शीतल हो गया। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहने लगी। कोयल की सुरीली ध्वनि होने लगी। मोर नाचने लगे। मलयाचल पवन मन को हरने लगा। कुमुद पुष्प से सुशोभित शरदऋतु वर्षाऋतु से सम्मिलित हो गई। भ्रमरगुञ्जन से मिश्रित होकर हंसरव शोभने लगा। प्रियङ्गु-कुन्द पुष्पों को विकसित करता हुआ अकाल में ही हेमन्त आ पहुंचा, एवं लवली लताओं के पुष्पों के खिल जाने पर भी अर्जुन का मन जरा सा भी विकृत नहीं हुआ। गिरि काननों को विकसित करती हुई नवीन पल्लवों से अत्यन्त रमणीय सहकार वृक्षों को समुल्लासित करने वाली वसन्त ऋतु भी आ गई। भ्रमर गण के गुञ्जन से मुखरित होता हुआ कमल वन खिलने लगा। किन्तु इतने पर भी मुनि अर्जुन का मन जरा सा भी विचलित नहीं हुआ। बाद में ग्रीष्म समय मल्लिका पुष्प को विकसित करता हुआ आ पहुंचा। ये ऋतु गण तीनों लोकों को जीतने में समर्थ होते हुए भी अर्जुन को वशीभूत नहीं कर सके। गन्धर्वों का मनोहर वीणारव और स्वाभाविक सुन्दर ऋतु समय अर्जुन को प्रलोभित करने में असफल होकर सुराङ्गनाओं के ही कामविकार को पैदा करने लगी, वे युवतियां सौन्दर्य गुणों से अर्जुन को प्रलोभित करती हुई स्वयं मदनातुर हो गईं। लास्य में चतुर होती हुई भी मुनि को प्राप्तकर कामविह्वलता से नृत्यकला भी भूल गईं। शृङ्गार चेष्टायें भी विफल हो गईं। किन्हीं के जघनों पर से वायु द्वारा कपड़े हट गये। किसी दूती ने अर्जुन से सखी वचनों का अनुवाद करके कहा कि-"तुम दयित को लाओ, मैं काम से पीड़ित हो रही हूँ मेरा मन मुनि के पास चला गया है" इत्यादि। कोई तो कटाक्ष विक्षेप करती हुई हाव भाव चेष्टा द्वारा लास्य कर रही थी। परन्तु जितेन्द्रिय अर्जुन के प्रति उन अप्सराओं के सारे हावभावशृङ्गार रति चेष्टा कटाक्ष-पात कुसुमक्षेपणादि प्रयास निष्फल ही होते गये। इस तरह अविलुप्त तपस्या से इन्द्र को आराधित कर रिपु को नाश करनेके लिये अस्त्र मांगकर राज्य लक्ष्मी को चाहते हुए अर्जुन के प्रति निष्फल प्रयास होकर वे गन्धर्व और अप्सरायें अपने २ स्थान चली गयीं।

एकादश सर्ग।

अर्जुन के तपोऽनुष्ठान को देखने के लिये मुनिवेषधारी इन्द्र का समागमवर्णन।

अप्सराओं के लौटकर चले जाने पर उनके मुख से अर्जुन की जितेन्द्रियता सुनकर प्रसन्नता से इन्द्र अर्जुन के परीक्षणार्थ तपोवन में आये। अत्यन्त वृद्ध मुनिवेष में आये हुए इन्द्र को देखकर उनसे अर्जुन अत्यन्त प्रभावित हुए। बाद में अर्जुन द्वारा सत्कृत होकर इन्द्र आसन पर बैठकर अर्जुन को उपदेश देने लगे—हे अर्जुन! वृद्धजनों द्वारा भी दुष्कर तपोऽनुष्ठान को तुमने जवानी में ही पूरा करना आरम्भ किया है इससे मैं अत्यन्त खुश हो रहा हूं। सबसे अधिक तेरा प्रभाव मालूम पड़ता है। इस संसार में लक्ष्मी शरद् ऋतु के मेघों की छाया की तरह क्षण स्थायिनी होती है। विषय भी आपात रमणीय होते हुए भी परिणाम में दुःख ही देते हैं। यह तो और सोचनीय विषय है कि प्राणियों को सब से पहले जन्म लेने में कितना दुःख होता है बाद में जीवन भी हमेशा आधि-व्याधि-दीनता और शोकादि से युक्त होने से विषमिश्रित अन्न की तरह नश्वर रहता है इस पर मृत्यु आगे विकराल कालवत् खड़ी तैयार रहती है। इसलिये आप जैसे विवेकी महात्मा पुरुष मोक्ष की ही इच्छा करते हैं परन्तु आप तो मालूम बाणचापादि युक्त होने से वैरिविजयाभिलाषी मालूम पड़ते हैं मोक्षाभिलाषी मालूम नहीं पड़ते। आत्मघात की तरह परद्रोह भी नहीं करना चाहिये। इसलिये आप श्री गङ्गाजी के पवित्र जल से अत्यन्त पावन इस इन्द्रकील पर्वत पर मुक्ति हस्तगत में मिल सकती है आप अस्त्र शस्त्र धारण करना व्यर्थ है। बाद में विनय के साथ अर्जुन इन्द्र से मधुर वचन बोले भगवन्! आपने बिल्कुल युक्ति युक्त बातें कही हैं। आपके वचन ओज और प्रसाद गुण से भरे हुए प्रतीत होते हैं। सर्वथा आपका वचन अकाट्य मालूम पड़ता है किन्तु आपने मेरे तपोऽनुष्ठान के रहस्य एवं तात्पर्य कुछ भी नहीं जानकर ही मुनिवर मुझको उपदेश दिया है। प्रस्तुत विषय को नहीं जानकर बोलने वाले बृहस्पति का वचन भी निष्फल ही जाता है। मैं मोक्ष के उपदेश का पात्र नहीं हूं। मैं तो एक क्षत्रिय पाण्डु का पुत्र अर्जुन हूं। दुर्योधनादि द्वारा सर्वस्व के छीनेजाने से अत्यन्त दुःखी होकर युधिष्ठिर जी की आज्ञा से इस दुस्तर तप [illegible] में कर रहा हूं। भगवान् व्यास से शिक्षित होकर मन्त्र प्राप्त कर क्षत्रिय कुल के इष्टदेव भगवान् इन्द्र की आराधनार्थ यहां आया हूं। महाराज युधिष्ठिर जाकर जुआ में अपना सर्वस्व हार गये। अभी मेरे विरह से द्रौपदी और अन्य भाइयों के साथ वे अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं। मैं आप से अधिक कहां तक कहूं। शत्रु ने हमारे शरीरों से चमड़ा तक भी छीन ली। सर्वभक्षी उनके वचनों को सुनकर हमारे हृदय विदीर्ण हो गये हैं। बहुत दुःख की बात तो यह है कि भरी सभा में बुरी तरह द्रौपदी उनके द्वारा अपमानित की गयी। वहां पर द्रौपदी आंख बहाती हुई कुररी पक्षी की तरह रोई। परन्तु समय की नियममर्यादा को जानते हुए युधिष्ठिर महाराज ने ऐसी दुर्दशा को भी झेलते हुए अपनी मनस्विता का परिचय देकर विश्व को [illegible] चकित कर दिया।

दुर्जनों के साथ मैत्री करना महान् अनर्थकारक होता है। उसी का यह परिणाम हुआ कि दुर्योधनादि के साथ अजात शत्रु युधिष्ठिर का भी उन से इतनी बड़ी शत्रुता होगई। दुर्जनों के स्वभाव का पता लगना फलप्रकाश से पहले अत्यन्त कठिन हो जाता है। युधिष्ठिरजी भी उसके प्रतीकार करने की भावना से ही जी रहे हैं। इस संसार में मानहीन प्राणियों को लोग तृण से भी तुच्छ समझते हैं। इसलिये मैं सुख का अभिलाषी नहीं हूं। एवं बुढ़ापा और मृत्यु के भय से मोक्ष को भी नहीं चाहता, किन्तु विरहाग्नि से संतप्त शत्रुवनिताओं के लोचन जल से वैरियों के छल से प्राप्त अपयश रूप कीचड को धोने की इच्छा से तप कर रहा हूं। इसलिये मुझे लोकापवाद का भय नहीं है। मति विभ्रम जन्य प्रमाद की भी शङ्का नहीं है। शत्रु का बदला नहीं चुकाकर मोक्ष प्राप्त करना भी विजय का प्रतिबन्धक महान् विघ्न ही है। शत्रु को मार कर अपने यश को नहीं फैलाने वालों की अपेक्षा नारी जन्म लेना ही अच्छा है। वैसा पुरुष तो जीता हुआ भी मरा सा ही रहता है। मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर जी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुवधार्थी होकर मेरी ओर ही निगाह डाले हुए बैठे हैं। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहता। मेरी प्रतिज्ञा है–या तो मैं इस पर्वत में विलीन हो जाउगा, या अपने इष्टदेव इन्द्र की आराधना कर अयश राश्य को समूल नष्ट करूंगा। बाद में इन्द्र अर्जुन को महादेव की आराधना करने के लिये विजयार्थ उपदेश देकर अन्तर्हित हो गये।



द्वादश सर्ग।

महादेव की आराधना के लिये अर्जुन का तपोऽनुष्ठान वर्णन—

इन्द्र के उपदेशानुसार अर्जुन यथाविधि शिवजी के आराधनार्थ कठिनतम तपस्या करने लगे। इन्द्रियों को वश में कर के उपवास करते [redacted] विजयाभिलाषी हो कर सूर्य के सामने एक पैर से खड़े होकर तप करते हुए उन के कितने ही दिन बीत गये किन्तु वे पर्वत की तरह धैर्य धारण कर अपने नियम से नहीं डिगे। पास ही में वन के पके हुए फलों और अत्यन्त शीतल स्वच्छ पानी की भी चाह नहीं की। उन का मन उस अवस्था में भी परिम्लान नहीं हुआ। तप से शरीर के पतले हो जाने पर भी ओज नहीं घटा बल्कि बढ़ता ही गया। जटाओं के समूह से देदीप्यमान होते हुए, और धनुष को तान कर सन्धान किये [redacted] वे अर्जुन रुद्र की तरह लोगों को विस्मय जनक भयकर प्रतीत होने लगे। बाद में अर्जुन के तप प्रभाव को नहीं सहन कर महर्षिलोग शिवजी की शरण में पहुंचे। वहाँ जाने पर सहस्र सूर्य किरणों से भी अधिक तेजों से प्रकाशमान महेश्वर को सहसा देखने में वे ऋषि समर्थ नहीं हो पाये। अनन्तर वे मुनिलोग शिवजी की स्तुति करने लगे। स्तुति सुन कर महादेव उनके सामने दृश्यरूप धारणकर प्रकट हुए। बैल पर चढ़े हुए हिमालय के शिखर पर विराजमान होते हुए भी अलौकिक तेज पुञ्ज से अखिल विश्व को

व्याप्त करते हुए और मस्तक में समुद्र फेन की तरह चन्द्रकिरण को धारण किये हुए सब सर्प समूहों को शत्रुओं से परिवेष्टित किये हुए शिवजी व्यग्रता से विराजमान हो रहे थे। शिव के सामने बैठे हुए वे महर्षिगण अर्जुन के तपप्रभाव का वर्णन करने लगे—भगवन्! प्रभाकर की तरह सूर्य किरण समूह को भी अभिभूत करने वाला कोई भीषण शरीर वाला पुरुष तप कर रहा है। इस में यही एक विचित्रता है कि तपस्वी होता हुआ भी धनुष बाण कवच खड्ग आदि आयुध और मृगचर्म को धारण किया हुआ शास्त्र के विरुद्ध वेश धारण करता प्रतीत हो रहा है। जब वह चलने लगता है तब पृथिवी भी काँप उठती है। इस लिये हमलोगों को उसके विषय में भगवन् सन्देह हो रहा है—क्या वह सुरासुर सहित सारे ही विश्व को अपने तेज से ग्रास कर डालना चाहता है या कौन लेना चाहता है? या एक ही बार संहार करना चाहता है? लेकिन हम इसके कुछ भी भेद को समझ सकने में समर्थ नहीं है। भगवन्! आप सर्वज्ञ होते हुए भी क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे हैं। हम आप की ही शरण में आये हुए हैं। आप ही हम को बचाने में समर्थ हैं। इस तरह निवेदन कर महर्षियों के विरत होने पर भगवान् शङ्कर ने गम्भीरता पूर्वक बोलना प्रारम्भ किया—अये तपस्वियो! वह तो बदरिकाश्रम तपोवन में रहनेवाले आदि-तपश्चारी भगवान् नारायण का अंश रूप पृथिवी पर अवतीर्ण मनुष्य रूपधारी कृष्ण का मित्र महात्मा अर्जुन है। अभी सरल वीरता को समाप्त न करके उग्र पराक्रमशाली प्रबल शत्रुओं को जीतने की अभिलाषा से मुझ को प्रसन्न करने के लिये तपोऽनुष्ठानार्थ तत्पर हुआ है। देवराज में लगे हुए इसको देख कर विघ्नबाधा डालने के लिये एक वराह रूप को धारण कर मूकदानव जीतना चाहेगा। इसीसमय में किरात रूप धारण कर मेरे द्वारा उसको मारे जाने पर भी अर्जुन को एक साथ बाण चलाने के कारण उस मृगया के लिये झगड़ा पड़ेगा। उस समय मेरे साथ वीरसंग्राम करते हुए अर्जुन के पराक्रम को आपलोग देख लेंगे। इस तरह उनको समझा कर शिवजी किरात वेष धारण कर तैयार हो गये। तदनुसार किरात सेना भी तैयार होकर सिंह समान गरजने लगी। और शिवजी से आदिष्ट होकर मृगया के बहाने से चारों तरफ चल पड़ी। प्रमथ गणों के साथ महादेव जी भयङ्कर रूप धारण कर सब को भयभीत करते हुए अर्जुन के आश्रम स्थान पर पहुंचे। वहां आते ही अर्जुन की ओर धावा करता हुआ वराह रूपधारी मूक दानव को देखकर किन्हीं दयालु किरातों के साथ शिवजी उसके पीछे चल पड़े।

त्रयोदश सर्ग।

अर्जुन के वराहरूपधारीमूकदानवदर्शन का वर्णन।

परम तपस्वी अर्जुन ने भयङ्कर शरीरवाले पर्वत को भी विदीर्ण करने में समर्थ भीषण दंष्ट्राओं से विकराल मुखवाले वराहरूप को धारण किये हुए मूकदानव को देखा। भय से कौन से रोंगटे खड़े कर अपनी ओर ही दूर से धावा कर आते हुए उस को देखकर

अर्जुन अनेक वितर्क करने लगे—यह सूअर कठोर दांतों से वृक्ष के बड भाग को उखार कर और पर्वतीय तट भागों को भी तोड फोड कर क्यों अकेला ही मेरी ओर आक्रमण कर रहा है? तप के प्रभाव से तपोवन के शान्त स्वभाववाले मृगों के परस्पर हिंसावृत्तियों को छोड देने पर भी यह मेरी तरफ ही मारने की भावना से दौडता आ रहा है इससे मुझे शक हो रहा है कि शायद किसी दैत्य का तो यह वराह रूप का इन्द्रजाल नहीं है? अवश्य ही यह मारने वाला कोई व्यक्ति है, वराह नहीं है क्यों कि इस को देखकर मेरा मन कलुषित वृत्ति वाला हो रहा है। जिसको देखकर चित्त सक्षुब्ध एव प्रसन्न हो उसी को क्रमश शत्रु और मित्र समझना चाहिये। निरपराध मेरे जसे तपस्विजन का शत्रु नहीं हो सकता यह समझना भी गलत है क्योंकि अकारण द्वेष करने वाले दुर्जनों के लिये कोई भी कार्य अकार्य नहीं है। इसलिये यह माया रूपधारी कोई दैत्य दानव ही प्रतीत होता है। जो कोई भी हो अवश्य ही मैं इस हिंसक को मारूगा। इस तरह सोचकर अर्जुन उसको मारने के लिये गाण्डीव धनुष पर बाण सन्धान कर सुसज्जित हो गये। बाद में भगवान् शङ्कर जी सुसज्ज अर्जुन को देखकर अपने पिनाक धनुष को भी प्रत्यञ्चा-तीर कमान से सन्धान कर तैयार हो गये। शिवजी ने तुरत ही उस वराह को लक्ष्य कर अपने पिनाक धनुष से बाण चलाया। वह बाण गडगडाहट के साथ अत्यन्त वेग से जाते हुए वराह शरीर को वेधित करके गिरा कर पृथिवी में घुस गया। अर्जुन ने भी उसी समय में बाण को छोडा। वह बाण भी सकल जीव जन्तुओं को व्यथित करता हुआ अत्यन्त वेग से जाकर हृदय को छिदकर पार चला गया। बाद में दोनों के बाण लगते ही वह शूकर कटे वृक्ष की भांति गिरकर धराशायी हो गया। तदनन्तर अर्जुन अपने बाण को लेने के लिये उस वराह की ओर चल पडे। वहा जाकर मृत वराह को देखने के बाद शिवजी के द्वारा भेजे हुए अचानक उपस्थित एक वनेचर को देखा। उस वनेचरने अपनी सभ्यता के अनुसार नम्रता पूर्वक अर्जुन को प्रणाम कर कहा—भगवन्! आपका यह सौम्यवेश अत्यन्त रमणीय होकर मन को शान्त करने वाला प्रतीत हो रहा है। आपका तपोऽनुष्ठान अत्यन्त ऊर्जस्वल एव प्रभाव से परिपूर्ण मालुम पडता है। तपस्वी होते हुए भी आप गुण गण गौरवों से पर्वतेन्द्र हिमालय की तरह स्थिर एव महेन्द्र के समान सुन्दर राजेन्द्र मालुम पड रहे हैं। निर्जन में रहते हुए भी भृत्यों से घिरे हुए की तरह कान्तिमान् लक्षित हो रहे हैं। आप जैसे महात्माओं के लिये तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं है, विजय प्राप्ति की तो बात ही क्या है। ऐसी दशा में इतनी ख्याति वाले आप वराह को भेदन करनेवाले मेरे स्वामी शिवजी के बाण को नहीं लें। मनु पर्यन्त सभी महात्मा सदाचार का पालन करते आये हैं, आप ही यदि उससे च्युत हो जायेंगे तो वह सदाचार ही रसातल में चला जायगा। मैं तो समझता हूं कि धोखा से ही दूसरे के बाण को लेने के लिये आप प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे के बाण से वेधित पशु को ही वेधित कर के आप शर्माते नहीं हैं बल्कि चोरी करने के के लिये ही उद्यत हो रहे हैं। धन्य आप का साहस है। मेरे स्वामी किरातपति के सिवाय दूसरा

कोई भी इस भयंकर कठोर वराह को नहीं मार सकता है। सब विघ्नप्राणियों के हित करने वाले किरातपति के साथ उत्पन्न विरोध आपको ही समूल नष्ट कर देगा। इस लिये उनका बाण लौटाकर राम सुग्रीव की भांति उनसे आप मैत्री कर लीजिये। आप विनय के साथ उनसे याचना कर तो बाण को कौन पूछता सारी पृथिवी भी छीनकर वे आपको दे सकते हैं। उनसे कोई भी याचक हताश होकर नहीं लौटता। इस तरह वनेचर ने अर्जुन को अनेकों प्रकार बाण लौटाने के लिये समझाकर कहा।

चतुर्दश सर्ग।

वनेचर के प्रति अर्जुन के प्रत्युत्तर का वर्णन—

उस वनेचर के गर्वीले वचन प्रपञ्चों से अत्यन्त आहत होकर भी समुद्र के जल तरङ्गों से ताडित पर्वत की तरह अर्जुन क्षोभित होकर भी गम्भीरता के कारण विकृत नहीं हुए। परन्तु बड़ी शान्ति से समयानुसार अनुमित होकर यथोचित उत्तर देने लगे—इस संसार में स्पष्टाक्षरों से युक्त प्रसाद गुणगुम्फित अत्यन्त गम्भीर श्रवणप्रिय शत्रुओं को भी रिझाने वाली मधुर वाणी पुण्यवान् व्यक्ति ही बोल सकते हैं। आपकी भी वाणी वैसी ही मनो हारिणी प्रतीत हो रही है। कोई तो केवल शब्दाडम्बर के ही प्रिय होते हैं। कोई वचन रचना में ही इच्छित भाव को निहित करने में चतुर होते हैं। कोई व्यक्ति तो गूढार्थ को ही व्यक्त करने में पटु होते हैं। परन्तु आप तो इन सब गुणों से युक्त मालूम पड़ते हैं। यह आप में एक विशेषता पायी जाती है। किरात होकर भी आप अपनी एक विलक्षण बोलने की कला से सान्त्वना पूर्वक प्रलोभन देकर ठगना चाहते हैं। जिससे अनुचित कार्य भी समुचित ही मालूम पड़ता है। यदि आप बड़े उचित वक्ता हैं तो जब आप के स्वामी पक्षपातक मेरे ऊपर आक्रमणरूप अनुचित कार्य करना चाहते थे तब आप ने उन्हें क्यों नहीं रोका। वास्तविक बात तो यह है कि आप के स्वामी का बाण नहीं छिप गया है उसके लिये तो इस पर्वतको ढूंढना ही ठीक होगा। सज्जनों के सदाचारादि का भी मैं किसी तरह परित्याग नहीं करता खाण्डववन को जलाते समय अग्नि द्वारा सारे बाणों के दग्ध हो जानेपर भी मैंने सुरेन्द्र के बाणों को भी लेने की इच्छा नहीं की पर्वतीय किरात के बाण की तो बात ही क्या है। इस जङ्गल में रहनेवाले मृगादि पशु को मारने वाला ही उसका अधिकारी होता है इस नियम से भी वराह को मारने वाले मुझ को ही वराह मिलना चाहिये। इसमें आप के स्वामी को अपनापन का मिथ्याभिमान छोड़ देना चाहिये अन्यथा उनका कल्याण नहीं होगा। अपने को बचाने के लिये जिघांसु को मारने में कोई भी दोष नहीं लगता है। इस शिकार को आप के स्वामी तथा मैंने एक साथ ही मारा है इसलिये पहले उनके द्वारा ही मारे जाने में कोई युक्ति नहीं है। यदि शूकर को पवन के लिये ही उन्होंने बाण फेंका तो शत्रु का नाशमात्र होने से ही उनका उद्देश पूरा हो गया फिर उसको मेरे द्वारा ले लेनेपर क्यों उनको हार का क्षोभ हो रहा है कुछ समझ में नहीं आता। कृपा की पराकाष्ठा हो

गयी। मनस्वी व्यक्तियों को दूसरे से मांगना शोभा नहीं देता। आपके स्वामी मिथ्या आरोप लगाकर कुछ अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वे अस्त्र ही लेना चाहते हैं तो मुझ से मांग लें, मैं उनको दूसरा ही अस्त्र दे सकता हूं। महान् व्यक्ति नीचों के साथ, वैर या मित्रता नहीं करना चाहते, इसी से मैंने उनके बहुत से तिरस्कार वचनों को सहन कर लिया है। यदि वे स्वयं बाण लेने के लिये यहां आवेंगे तो मैं अच्छी तरह उनको मजा चखा दूंगा, इस तरह अर्जुन के वचनों को सुनकर यार ! "हमको जीतकर कहां जाओगे" इस तरह अपने प्रताप एवं गर्वोक्ति से वह वनेचर अर्जुन को डराता हुआ महादेवजी के पास चल पड़ा। बाद में शिवजी की आज्ञा से किरात सेना गरजती हुई अर्जुन से लड़ने के लिये चल पड़ी। शिवजी भी अपने पिनाक धनुष को तानकर सेना का अधिपति होकर विराजमान होने लगे। बाद में वे प्रमथगण तपोऽनुष्ठान से अत्यन्त कृश होते हुए भी परम ओजस्वी एवं तुणीर से एक बाण को निकाल कर विजय की अभिलाषा धारण किये हुए अर्जुन के पास पहुँचे। पहुँचते ही वे सब एक ही बार अर्जुन पर टूट पड़े। परन्तु उनके द्वारा अनेकों अस्त्र शस्त्रों के प्रहार करने पर भी अर्जुन का एक भी बाल बांका नहीं हुआ। बाद में अर्जुन गाण्डीव धनुष को सन्नद्ध कर प्रलय कालिक घोर रूप धारण कर युद्ध करने के लिये प्रथमगणों पर टूट पड़े। उनके बाणवर्षणों से सारी किरात सेना थककर मूर्च्छित हो गयी।

—•—

पञ्चदश सर्ग।

शिव और अर्जुन का युद्ध वर्णन—

अत्यन्त क्रुद्ध वीर अर्जुन के बाणप्रहारों से सारे भूतवर्ग भयभीत हो गये। महादेवजी की सेना अपने आयुधों को छोड़कर भाग गयी, सामने में विद्यमान शिवजी को भी भय के मारे घबड़ा कर नहीं देख सकी। उस की दुर्दशा देखकर धनञ्जय को भी दया आगयी। महान् व्यक्ति की कमजोर शत्रु पर भी कृपा आजाती है। तदनन्तर वह अर्जुन चाप सन्धान कर कार्तिकेय की ओर लड़नेके लिये आगे चल पड़े। भय के मारे भागते हुए कार्तिकेय के सैनिकों के पीछे वे भी चल पड़े। अर्जुन के बाणों से पीड़ित सैनिकगणों को देखकर कुछ घबड़ाकर कार्तिकेय जी तसल्ली देते हुए समझाने लगे—अये सेनापतियो ! आप लोग संग्राम भूमि से मत भागें। आपके बाणपातजन्य दु:खों को मैं शीघ्र दूर कर देना चाहता हूँ। आप लोग घबड़ावें नहीं। कौनसी विपत्ति अभी आप लोगों पर आपड़ी, जिसको दूर करने के लिये आप लोग युद्ध भूमि को छोड़कर भागना चाहते हैं। यह तो एक साधारण मनुष्य है। इसको छोड़कर क्यों भागना चाहते हैं। इसके पास तो रथ घोड़ा हाथी पैदल सेना आदि साधन भी नहीं है। इस लिये आपको यहां से नहीं भागना चाहिये। अन्यथा अपयश होगा। पूर्व जमाने में असुरों के साथ युद्ध कर के प्राप्त सुयश को भी आप लोग अभी क्यों लुप्त कर रहे हैं इस तरह कार्तिकेय द्वारा समझाये

गये प्रमथ गणों को शिवजी ने अपनी मुस्कराहट से अभयवाक्य प्रदान करते हुए आश्वासन देकर सन्तुष्ट किया। बाद में शिव और अर्जुन में तुमुल संग्राम होने लगा। अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त बाणों को शिवजी ने बड़ी चतुराई से छिन्न भिन्न कर दिया। अर्जुन भी शिवबाणों का निवारण करते हुए संग्राम भूमि में विचरने लगे और गाण्डीव धनुष को ऊपर किए हुए सूर्य सदृश चमकने लगे। शिवजी ने कृपा से द्रवित होकर मर्मभेदी बाणों को नहीं चलाया। अर्जुन अनेक बाणों से आहत होकर भी नहीं घबराये इस तरह इन दोनों के रोमाञ्चकारी संग्राम को देखकर महर्षि देव और प्रमथादि गण सब चकित हो गये।

षोडश सर्ग

लीलामात्र से किरातवेष को धारण करने वाले शिवजी के समर युद्ध से अर्जुन का वितर्क वर्णन।

तपस्वी अर्जुन किरातपति की संग्रामकुशलता को देखकर कुछ चकित सा होकर अनेकप्रकार के तर्कवितर्क करने लगे—अहो! इस संग्राम में मतवाले दिग्गज हाथी भी नहीं दिखाई पड़ते। और अनेक पताकाओं से अलंकृत महारथ भी नहीं हैं। बड़े वेगशाली होकर दौड़ने वाले घोड़े भी नहीं हैं। न तो अत्यन्त रणबांकुरे वीर भट योद्धागण ही दिखाई पड़ते हैं। वीरों के उत्साहवर्धक रणभेरी दुन्दुभि नगारे भी नहीं बज रहे हैं। रुधिर की नदियाँ भी शोणितों से भरपूर होकर नहीं बह रही हैं। फिर भी यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि—इस किरात युद्ध में रणशूरवीरों को मथित करनेवाली मेरी शक्ति क्यों अब कुण्ठित हो रही है? क्या यह कोई माया है? या मुझ ही मति विभ्रम हो रहा है। या मैं वह अर्जुन ही नहीं हूँ? जिससे कि मेरे गाण्डीव से निर्मुक्त अमोघ बाण भी इधर से टकराकर खण्ड खण्ड हो जाता है। वास्तव में यह किरात नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अपने धनुष के टङ्कार से आकाशमण्डल को ही विदारण करता हुआ सा लक्षित होता है और धनुष को खींचने एवं प्रत्यञ्चा को तानने तथा बाणों का सन्धान और मोक्षण आदि में अद्भुत ही इसका हस्तलाघव प्रतीत होता है। बस इसमें दूसरों के छिद्र को ढूँढ़ने की पटुता और अपने छिद्रों के संरक्षण की कुशलता पाई जाती है वह तो वीर शिरोमणि भीष्म द्रोण में भी नहीं है। इस लिये इसके पराक्रम को दिव्यास्त्र प्रयोग द्वारा ही दूर करना चाहिये नहीं तो महान् अनर्थ होगा यह सोचकर अर्जुन ने अपने गाण्डीव धनुष पर प्रस्वापन नामक महास्त्र को चढ़ाया। उसके प्रभाव से सारी शत्रुसेना घोर अन्धकारों से ढक गयी और नशा में भरकर मूर्च्छित सी हो गयी। किसी के हाथ से तलवार गिर पड़े। उस समय किरात वेश से छिपे हुए चन्द्रशेखर महादेवजी के ललाट से क्रोध के मारे आग की चिनगारी निकलने लगी। उसके प्रकाश से अन्धकार रहित होकर प्रमथगण भी मूर्च्छा को त्यागकर फिर से तलवार धारण कर सन्नद्ध हो गये। दिशायें प्रसन्न हो गईं। सूर्यकिरणें चमकने लगीं। अर्जुन ने अपने प्रस्वापनास्त्र को विफल जानकर नाग

पाशों को चलाया। नागपाशों के प्रभाव से आकाशचारी पक्षीगण इधर उधर भाग गये। बाद में भगवान् शङ्कर ने गारुडास्त्र से उन नागपाशों को दूर करने के लिये आकाशमण्डल को ही गरुडमय बना दिया। गरुड के परों के कम्पन से उत्थित पवन अत्यन्त वेग से बहता हुआ वनवृक्षों को ही जड़ से उखाड़ कर आकाश में ले आया। सर्प समूह भी सहसा शान्त हो गया। अर्जुन ने अपने नागास्त्रों को वैरी के प्रभाव से विफल समझकर क्रुद्ध होते हुए आग्नेयास्त्र को चलाया उससे चारों तरफ आग की लपटों से ज्वाला धधकने लगीं। इस तरह अखिललोकको ग्रसने के लिये उद्यत होते हुए प्रलयकालिक महाप्रचण्ड ज्वलज्ज्वालावाली आग को देखकर भगवान् शङ्कर ने उसको शान्त करने के लिये वारुणास्त्र का प्रयोग किया। उससे तुरत ही आकाश में बादलों की घटा छा गयी। उससे मुसलाधार वर्षा होने लगी। बाद में आगों की लपटें आपसे आप शान्त हो गयीं। आग के शान्त होने से आकाशभाग हरा भरासा दीखने लगा। इस तरह वैरिवधार्थ अर्जुन ने जिन २ अस्त्रों का उपयोग किया, उन २ अस्त्रों को महादेव जी ने व्यर्थ ही कर दिया। अन्त में अर्जुन ने अपने सारे अस्त्रों के विफल हो जाने पर महादेवजी के साथ बाहु युद्ध ही करने की इच्छा की।

सप्तदश सर्ग।

हरसेना के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन।

बाद में अर्जुन सारे दिव्यास्त्रों के खतम हो जाने से शिवजी के साथ संग्राम से कुछ भयभीत होकर भी पुनः धैर्यधारण द्वारा अपने स्वाभाविक पराक्रम को प्राप्त कर विपक्ष पक्ष को जीतने के लिये सन्नद्ध हो गये। उस समय क्रोध के मारे आंखें लाल २ हो गयीं। मुख पर पसीने छा गये। भौंहें तन गईं। धनुष को तानकर बाणों के वर्षण से शम्भु सेना को पीड़ित कर धनञ्जय चमकने लगे। किन्तु महादेव के प्रति उनके सारे बाणों के प्रयोग विफल होते गये। फिर भी शङ्कर भगवान् अर्जुन के पराक्रम को देखकर क्षुब्ध हो गये और अर्जुन को सराहने लगे—अहो ! शत्रु से निगृहीत होकर भी परम उत्साह के साथ फिर से धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाकर बाण छोड़ने के लिये उद्यत होता हुआ अत्यन्त बहादुरी के साथ कीर्ति को प्राप्त करने के लिये पराक्रम दिखलाता हुआ यह लड़ने के वास्ते तैयार हो रहा है। बाद में अनेक तर्क वितर्क करके स्वयं भी युद्धार्थ उद्यत हो गये। दोनों में फिर से घोर संग्राम होने लगा। अर्जुन के बाणों से आहत होकर शम्भु की सारी सेना भाग गई। बाद में शङ्कर जी अपनी सेना की दुर्दशा देखने से क्षुब्ध होकर साक्षात् यमराज की भांति भयङ्कर रूपधारण कर धनुष का टङ्कार करने लगे। अर्जुन से प्रक्षिप्त सारे बाणों को शिवजी ने बीच में ही विध्वस्त कर डाला। इसको देखकर अर्जुन बहुत घबड़ा गये। फिर से होश में आकर अर्जुन हर सेनापर बाण वृष्टि करने लगे। तदनन्तर भगवान् शङ्कर ने अपने स्वरूप को प्रकट कर अर्जुन के सारे बाणों को एक साथ ही नष्ट कर दिया। अर्जुन अपने सारे बाणों के नष्ट हो जाने से बहुत चिन्तित हो गये। इसी मध्य में शिवजी ने मर्मघाती बाणों से अर्जुन को अधिक व्यथित किया। बाद में प्रभु की माया से शरीर से कवच को भी

छोड़कर अत्यन्त देदीप्यमान होने लगे। उसी समय उनके शरीर [illegible] तरकस अचानक निकल पड़े। पर तुरत ही फिर से अर्जुन रुधिर से लथ-पथ शरीर होकर भी बहादुरी के साथ शिवजी को पीड़ित करने लगे। महादेवजी से फिर छिन्न भिन्न तलवार होकर अर्जुन बिल्कुल खाली हो गये। और पराजय पाकर भी वे पुनः शिलावृष्टि करने लगे। शिव द्वारा उसका भी निवारण कर देने पर अन्त में अर्जुन शिवजी के साथ बाहुयुद्ध करने के लिये ही तैयार हो गये।

अष्टादश सर्ग।

शिव और अर्जुन का बाहु युद्ध वर्णन।

बाहु युद्ध करने के लिये रणभूमि में आये हुए अर्जुन को देखकर बार बार प्यार कर भगवान् शङ्कर ने मुष्टि उठाकर मारा। उस समय दोनों के बाहुयुद्ध से उत्पन्न ध्वनि पर्वतों की कन्दराओं को भी प्रतिध्वनित कर रही थी। दोनों के शरीर रुधिर से लथपथ हो गये। जिससे दोनों को पहचानने में भी प्रमथ गण को धोखा होने लगा। हिमाचल कांपने लगा। पृथ्वी डगमगाने लगी। गिरि गङ्गा समुद्र तरङ्ग से चलायमान होकर रसातल को भी डुबाने लगी। बाहुयुद्ध करते २ अर्जुन ने आकाश में उठे हुए शिवजी के चरणों को पकड़ लिया। चरण ग्रहण करते ही भगवान् आशुतोष शङ्करजी ने ताड़ना सुन्दर कार्य के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर अर्जुन को गले से लगा लिया। अनन्तर भगवान् शिवजी किरातवेष को छोड़ कर स्वच्छ भस्म को रमाये हुए चन्द्रकला से शोभायमान भाल देश से सुशोभित कलेवर को धारण कर प्रकट हो गये। अर्जुन भी साक्षात् वास्तव शङ्कर मूर्ति को देख कर प्रणाम करते हुए उनके सामने नतमस्तक हो गये। उठकर अपने शरीर को बाण कवच वर्म आदि से शोभायमान देख कर अर्जुन चकित हो गये। दुन्दुभि की दिव्य ध्वनि होने लगी। आकाश से पृथिवी पर देव लोग फूलों की वर्षा करने लगे। इन्द्र प्रभृति लोकपाल विमान पर चढ़ कर आकाश को भासित करते हुए अत्यन्त विराजमान होने लगे। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहते हुए भगवान् शङ्कर की श्रान्ति शान्ति करने लगे। अर्जुन भी तपस्या का फल प्राप्त कर अत्यन्त आनन्द से शङ्कर की स्तुति करने लगे। अन्त में शिव को वाणी और मन का भी अगोचर बतलाते हुए अनेकों प्रकार स्तुति कर अर्जुन ने भगवान् से अभीष्ट वर मांगा—हे प्रभो! जिस तरह मानी व धर्मात्मा मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर भी धर्मध्वंसी छलकपटी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ऐसा साधन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। बाद में आशुतोष शिवजी ने नतमस्तक धनञ्जय को सान्त्वना देकर गुप्त रहस्य के साथ पाशुपतास्त्र और समग्र धनुर्वेद पढ़ाया। भगवान् धनुर्वेद मूर्तिधारण कर शिवजी की प्रदक्षिणा कर उपस्थित हुए। इन्द्रादि ने भी अमोघ आशीर्वादपूर्वक अपने अपने अस्त्रों को देकर अर्जुन को प्रोत्साहित किया। अन्त में शिवजी से आदिष्ट होकर अर्जुन अपने घर आये।

—•—

विषयानुक्रमणिका

पात्र-परिचय

वनेचर	(युधिष्ठिर का गुप्तचर)
युधिष्ठिर	(महाराज पाण्डु के प्रथम पुत्र धर्मराज)
भीम	(द्वितीय)
अर्जुन	(तृतीय)
नकुल	(,, चतुर्थ)
सहदेव	(पञ्चम)
द्रौपदी	(पञ्च पाण्डवों की धर्मपत्नी)
दुर्योधन	(कुरुदेशाधिप धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र)
राधेय-कर्ण	(कुन्तीपुत्र-सूर्यका औरस)
भीष्म	(महाराज शन्तनु के पुत्र—भीष्मपितामह)
जामदग्न्य	(परशुराम)
द्रोण	(पाण्डवों और कौरवों के गुरु-द्रोणाचार्य)
यक्ष	(इन्द्र का दूत)
व्यास	(पराशर पुत्र—महाभारत रचयिता)

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम्

घण्टापथ-प्रकाश-टीकाद्वयोपेतम् ।

प्रथमः सर्गः

घण्टापथ (मल्लिनाथी)

अर्धाङ्गीकृतपत्नीकमपि मातानुरागि यत्। पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
आलम्बे जगदालम्ब हेरम्बचरणाम्बुजम् । शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे । यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥
मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याकर्तुमिच्छति ॥
नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नानानिबन्धविषमैकपदैर्मिलितान्त साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान्भारविनामा कविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' ॥ इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन्किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि

सम्मुखम्' इत्याचार्योक्तदिशमनुसरन् प्रकृतमुपक्रममाणो वनेचरस्य युधिष्ठिरमाशिरूपं वस्तु निर्दिशन्कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥ १॥

श्रिय इति। आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते। तदुक्तम्—'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः। ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥' इति। कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः। 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः। 'जनपदे लुप्'। तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य संबन्धिनीम्। शेषे षष्ठी। श्रियो राज्यलक्ष्म्याः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी। पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम्। प्रतिपालिकामित्यर्थः। प्रजारक्षणमूलत्वात्तस्या इति भावः। 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट्। 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। प्रजासु जनेषु विषये। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान्। वर्णं ब्रह्मचारित्वमस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी। तदुक्तम्—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥ एवंविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः'। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः। तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी। ब्रह्मचारिवेषधारीत्यर्थः। स निर्गुका, वने चरतीति वनेचरः किरातः। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः। 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। विदितः वेदनमस्यास्तीति विदितः। तदस्य संजातमित्यर्थे अर्शआदिभ्योऽच् इत्यच्प्रत्ययः। अथवा कर्तरि अकर्मकोपचाराद्विदितशब्दो विदित इत्युच्यते। कर्मकाप्यपि 'पीता गावः' 'भुक्ता ब्राह्मणाः' विभक्ता भ्रातरः इत्यादिवत्साधुत्वं न तु कर्तरि क्तः सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात्। अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः'। विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः। पीतमेषामस्तीति पीताः इति। अथवा उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। विभक्तधना विभक्ताः। पीतोदकाः पीता इति। अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—"गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः। विभक्ता भ्रातरः इत्यत्र च धनस्य षष्ठ्यभावात्तद् भासते। 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते" इति। तद्वदत्रापि वृत्तिज्ञानं विदितत्वं वेदितरि वनेचरे उपचर्यते। एतेन 'भवाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्' 'पार्श्वं च भवम् भवदस्ति' इत्यादौ भुक्तपीतादिषु एवमादयो व्याख्याताः। अथवा विदितः विदितवान्। सकर्मकाद्व्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः। यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ। यथाऽऽह—'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥' इति। द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने। द्वा इते गते यस्मात्तद् द्वीतम्। द्वीतमेव द्वैतम्। तच्च तद्वनं च तस्मिन्, शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः। युधिष्ठिरं धर्मराजम्। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्। 'गवि-

युधिष्ठिरा स्थिर ' इति यादवः । समाययौ सम्प्राप्त । अत्र 'वने वनेचर 'इति द्वयो. स्वर-व्यञ्जनसमुदाययोरेकधावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कार. । अस्मिन्सर्गे वंशस्थवृत्त, तल्लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ १ ॥

भावार्थ

धरि शीश चरणरज गुरुवर के, करि विनय महेश गजानन का ।
यह चली लेखनी लिखने को, भावानुवाद भारवि कवि का ॥ १ ॥

राजा कुरु के वंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु दो भाई थे । धृतराष्ट्र के सौ लड़के थे । उन लड़कों का स्वभाव शैशव काल से ही क्रूर था । उन में सब से प्रधान दुर्योधन था । पाण्डु के पाँच पुत्र थे । वे सत्य और सुजनता के अतिरिक्त क्रूरता और नीचता को अपने पास नहीं फटकने देते थे । बाल्य काल से ही वे होनहार थे । उनकी कला कुशलता की समानता करने में दुर्योधन अपने को असमर्थ पाकर उनसे द्वेष करने लगा जिसके परिणाम स्वरूप उसने उन्हें तेरह वर्षों के लिये निर्वासित कर दिया । पाण्डु के पुत्र, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के नाम से पुकारे जाते थे । लोग इन्हें पाण्डव कहा करते थे । जब ये पाण्डव निर्वासित कर दिये गये ऐसी विषमावस्था में उन लोगों को दुर्योधन के शासन का पूर्णतया ज्ञान करना असम्भव सा था । सचमुच सब की रक्षा परमेश्वर करता है । एक किरात युधिष्ठिर के समक्ष उपस्थित हुआ । युधिष्ठिर ने उसे सिखलाकर पठाया और वह ब्रह्मचारी का स्वरूप बनाकर हस्तिनापुर गया । वहाँ कुछ दिन रहकर वहाँ की परिस्थिति का गम्भीर अध्ययन किया और आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बिना किसी भय और संकोच के युधिष्ठिर से निवेदन किया । पहले ब्रह्मचारियों का सर्वत्र अबाध प्रवेश था इसीलिये ब्रह्मचारी के स्वरूप में ही वह वहाँ गया था । बस, यहीं से भारवि की कथा का श्रीगणेश है ।

कुरु देश निवासियों के स्वामी की राज्यश्री की रक्षा करने में समर्थ, प्रजा वर्ग के साथ किये जाने वाले व्यवहार को समझने के लिये जो किरात ब्रह्मचारी के स्वरूप में भेजा गया था वह सम्पूर्ण वृत्तान्तों का यथावत् ज्ञान कर के युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में (जहाँ वे वास करते थे) लौट कर आया ॥ १ ॥

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

कृतप्रणामस्येति । कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात्कृत   स्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे

विव्यथे व्यथामवाप्तीति मनसि न चचालेत्यर्थः । 'व्यथ भयसञ्चलनयोः' इति धातोर्लिट् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति । हि यस्मात् । हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति अन्यथा कार्यविघातकत्वात् स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः । 'आलौकिकसमान्यमस्मपाभाषितमभ्युदकत्वं चेति वाग्गुणाः' इति नीतिवाक्यामृते ॥ २ ॥

(इस का कारण है—जब अपने स्वामी से जय प्राप्त होता है अथवा जब वह स्वामी के समक्ष होता है प्रणाम करे । अतः) उसने उस समय युधिष्ठिर को प्रणाम किया । शत्रुओं के द्वारा अपहृत वसुन्धरा के सम्बन्ध वृत्तान्त को सुनाकर (चाहे वह स्वामी को प्रिय हो अथवा अप्रिय) निवेदन करने में उसके मन में किसी प्रकार की भावना उत्पन्न न हुई क्योंकि हितैषी के कल्याण की कामना करने वाले पुरुष व्यर्थ की खोखली वाणी नहीं निकालते ।

तथाऽपि प्रियार्हे राज्ञि अनुचितशत्रोर्विजय युधिष्ठिरस्य स्वाम्यनुज्ञया न ब्रूयादित्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥ ३ ॥

द्विषामिति । रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम् । कर्मणि षष्ठी । विघाताय विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । भाववचनाश्च इति तुमर्थे घञन्तात् तत्र तादर्थ्येऽपि न दोषः । तथापि प्रयोजनवैचित्र्यविशेषवत्त्वान्न द्वारत्वेन व्याचष्टे । विधातुं व्यापारं कर्तुमिच्छतः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । द्विषो विहन्तुमुद्युक्तानस्येत्यर्थः । अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य । सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ् । उदारस्य भाव औदार्यम् अर्थसम्पत्तिः । तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये । अत्रौदार्यशब्दस्याल्पाच्तरत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्र हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव एव निपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः । तदुक्तं काशिकायाम्— अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारलिङ्गम् इति । स एव विशेषः । तयोर्वा विशेषः । तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्थां विशेषतः प्रमाणतो निश्चितार्थामिति वाचमाददे स्वीकृतवान् । उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एकान्त स्थान में उसने शत्रुओं के विनाश करने के अभिलाषी भूपति (युधिष्ठिर) से प्रिय अथवा अप्रिय संवाद सुनाने की आज्ञा प्राप्त कर—सुन्दरता और उदारता से विशेष महत्त्वपूर्ण और विशेष प्रमाणों से निर्णीत वास्तविक बातों से भरा अर्थात् युक्ति मधुर और स्पष्ट निवेदन किया ॥ ३ ॥

नोट—आदत्ते = आङ् + दा + क्विप् । दा धातु का अर्थ है देना परन्तु, आ उपसर्ग से 'करना' अर्थ द्योतित होता है ॥

प्रथमं तावत्प्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यश्लोकं याचते—

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

क्रियास्विति । हे नृप ! क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिर्भृत्यैः । चारा द्विविधित्यर्थः । चरन्तीति चराः । पचाद्यच् । त एव चाराः । यो पचादिजन्त्वाप्रमादित्वाद्भ्यस्तम । त एव चक्षूंषि येषां ते चारचक्षुषः । 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते । प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः । सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः । चारापचारे चक्षुरपचारवदापदः पदे पदे विपाक इति भावः । अतोऽमतार्थत्वाद्धेतोः । असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा । मदुक्तमिति शेषः । क्षन्तुं सोढुमर्हसि । कुतः । हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम् । अतो मदुक्तोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

कार्य सम्पादन करने के लिये नियुक्त किये गये भृत्यों का कर्तव्य है—"वे अपने स्वामी के साथ कपट व्यवहार न करें" क्योंकि वे ही उनके नेत्र हैं (नौकरों के द्वारा स्वामी लोग सम्पूर्ण बातों का पता लगाते हैं) इस लिये यदि अप्रिय बात हो तो आप क्षमा करें । कारण यह है कि कामप्रद और साथ ही साथ हितकारक वचन का सर्वथा अभाव सा रहता है । किसी का कथन है—होना और हँसना साथ २ नहीं होता "दुइ एक सङ्ग न होंहि भुआलू । हँसब ठठाइ फुलाइब गालू ॥" सच बात तो यह है कि मुझे अपना कर्तव्य पालन करने के लिये यथार्थ निवेदन करना होगा, चाहे वह आपको भला लगे या बुरा । यदि कदाचित् कुछ बात ऐसी भी हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि प्रिय और उपकारक वचनों का परस्पर सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

तर्हि तूष्णींभाव एव कर्तव्य इत्यत आह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥५॥

स इति । यः सखाऽमात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति । 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना शास्तेर्दुहादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हिताद्धितोपदेष्टुः सकाशात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादाने पञ्चमी । न संशृणुते न शृणोति । हितमिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि—' इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । न वैषयिकम् । स हित-

मथोक्तप्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी 'किं क्षेपे' इति समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं स्वामिना । एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति । हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु अमात्यादिषु अमात्येषु च । अन्यथात्वयः । अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते । न खलु जह तीत्यर्थः । अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैव राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतद् श्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धैकमत्यरूपकारणस्य विशिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तं—'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यास' इति ॥ ५ ॥

जो मित्र (कर्मचारी) स्वामी को सत्य बात नहीं देता वह मित्ररूपी राज कर्मचारी एक स्वामि योग्य मित्र नहीं (मित्र का कर्तव्य है कि वह स्वामी को सत्य मार्ग प्रदर्शन करे) और वह स्वामी जो हितोपदेश से हित की बात श्रवण करने में उपेक्षा करता है वह स्वामी होने योग्य नहीं । क्योंकि जब स्वामी (राजा) और अमात्यादिक परस्पर अनुराग करते हैं एक दूसरे के विपरीत (विरुद्ध) नहीं जाते तो सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ उनकी अनु गामिनी बन रहती हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—

> निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ।
> तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥ ६ ॥

निसर्गेति । निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ज्ञेयम् । 'ईषद्दुःसु—' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । भूपतीनां चरितं क्व । अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तवः । मादृशाः प्राकृतजना इत्यर्थः । क्व । नोभयं सङ्गतम् इत्यर्थः । तथापि निगूढतत्त्वं रहस्यभूतपरमार्थं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः सन्धिविग्रहयानानि आसनमेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ॥ इत्युक्तिरूपो यन्मयाऽवेदि । ज्ञातमिति यावत् । विदेः कर्मणि लुङ् । अयम् । इदं वेदनमित्यर्थः । विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गनिर्देशः । तव अनुभावः सामर्थ्यम् । अनुगतो भावोऽनुभाव इति प्रादिसमासः । न तु पचाद्यच्प्रत्ययः । 'निनीण्भ्योऽनुपसर्गे' इत्यनुपसर्गात्प्रतिषेधाभिधानात् । अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमास' इति । दोषपरिहारो सम्यग्ज्ञानस्यैव विज्ञापयति । न तु मृषा कल्पकस्येव प्रकल्पनीयत्वात् ॥ ६ ॥

राजाओं का चरित्र स्वभावतः दुर्बोध होता है । म भी अन्ध प्राय पामर जन्तु हूँ अतः आसमान का अन्तर है । अब शत्रुओं के गुप्त-रहस्य-पूर्ण नीति का जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है वह आप ही का अनुग्रह है । तात्पर्य यह कि राजाओं की नीति प्रबुद्ध लोगों के ही समझ में आ सकती है दुर्बुद्ध लोग नहीं समझ सकते । यदि दुर्बुद्ध होते हुये भी मैं समझ सका हूँ तो केवल आप के अनुग्रह से ॥ ६ ॥

सम्प्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥ ७ ॥

विशङ्कमान इति । सुखेन युध्यते सुयोधनः । 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः' । नृपासनस्थः सिंहासनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति वनाधिवासिनो वनस्थात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः । भवतस्त्वत्तः पराभवं पराजयं विशङ्कमान उत्प्रेक्षमाणः सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । तस्य छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम् । 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते । न तूदास्त इत्यर्थः । बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमं च धनं बुभुक्षतस्तस्य कुतो मनसः समाधिरिति भावः । अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणद्वारेण पदार्थस्य वाक्यार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्" ॥ ७ ॥

सुयोधन राज्यासनाधिरूढ है और आप निर्वासित हैं तो भी वह आप से अपने पराभव की आशङ्का करता हुआ, द्यूत (जुआ) के व्याज से जीती हुई पृथ्वी को अब नीतिपूर्वक जीतने की कामना कर रहा है। अभिप्राय यह है कि उसने अन्याय से राज्य प्राप्त किया है। इस बात का उसे खेद है अतः अब नीतिपूर्वक भी विजयी बनने के लिये यत्नशील है ॥ ७ ॥

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह—

तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

तथाऽपीति । तथाऽपि राज्यस्थोऽपि । जिह्मो वक्रः । वञ्चक इति यावत् । स दुर्योधनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति तृतीया । गुणसम्पदा दानदाक्षिण्यादिगुणसमृद्ध्या । करणेन । शुभ्रं यशस्तनोति । स खलो गुणलोभनीयाः स्वरसम्पद आत्मसात्कर्तुं खलोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः । नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गलाभे नीचसङ्गमादुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति । तथा हि । भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन् । 'लटः शतृशानचौ—' इत्यादिना शतृप्रत्ययः । पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यादप्रथमासामानाधिकरण्यम् । महात्मभिः समम् । सहेत्यर्थः । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनसंसर्गात् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियम् । 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । अत्र नैष्फल्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समा-

एव वाक्यार्थस्य पुनराकाङ्क्षासमासपुनरात्तत्वदोषापत्तिः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे— समासपुनरात्तात्समासपुनरात्तकम् इति । न च वाक्यान्तरमेतत् । येनोक्तदोष परिहारः स्यात् । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः । स च सूक्तिसमुच्चयनस्य पदार्थविशेषण द्वारा विरोधवत्वे प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

तात्पर्य है सो यह कुटिल नृप (दुर्योधन) श्रीमान् को जीतने की अभिलाषा से दान दाक्षिण्यादि गुणों से अपने विशाल यश की अभिवृद्धि कर रहा है। क्योंकि ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुये दुष्टों के सम्पर्क की अपेक्षा सज्जनों के साथ वैमनस्य करना भी कुछ अच्छा है ॥८॥

'ननु कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

कृतेति । षण्णां वर्गः षड्वर्गः । अरीणामन्तः शत्रूणां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः । जित कामादिवर्गसमास' । तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन । जितेन्द्रियेणेत्यर्थः । विजिता विकारं प्रजापालनमिति भावः । अगम्यरूपां दुष्प्रापामनुष्ठातुमशक्याम् । मनोरियं मानवी ताम् । मनुप्रतिपादितामित्यर्थः । पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रप त्तुमिच्छुना । प्रपत्ते सन्नन्तादुप्रत्ययः सनि मीमा—'इत्यादिनेसादेशः' । अत्र लोपो ऽभ्यासस्य इत्यभ्यासलोपः । अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा । अलसो ऽतन्द्र । तन्द्रिशब्दो नान्तः । तस्मात् । 'वदिक्षाम्यः' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः इति कारादिकोशी वा ङीष् प्रत्ययः इति । तन्द्रीप्रमीलातन्द्रिति कोषस्तोऽपि इति स्वामी । तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति । तेन दुर्योधनेन । पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत् । युवादित्वादण् प्रत्ययः । 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम् । अहोरात्रयोरित्यर्थः । 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽव्ययसमा सान्तः । विभज्यास्मै वेलाविशेषं कर्तव्य विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यते विस्तार्यते ॥ ९ ॥

वह (दुर्योधन) काम क्रोध लोभ मोह मद और अहङ्कार ये जो मनुष्यों के छः शत्रु हैं इन्हें जीतकर मनुष्यमात्र के लिये दुर्गम (दुष्प्राप्य) मनु के द्वारा प्रतिपादित जो शासनपद्धति है उसे कार्य रूप में लाने की (प्राप्त करने की) इच्छा रखकर और आलस्य को दूर भगाकर समय-विभागानुकूल नीति-पथ का आधार लेकर अपने पुरुषार्थ को विस्तृत कर रहा है ॥९॥

सम्प्रति भृत्यानुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

सखीनिति। गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः सन्ततमनारतं साधु सम्यक्। अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनो भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान्सखीनिव मित्राणीव। दर्शयते। लोकस्येति शेषः। 'हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्यसत्कारान् दर्शयते। बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम्। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्याः सा तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते। बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः। यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्सम्भावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनां 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम्। पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन्सख्यादीनिव दर्शयते। सख्यादय इव ते तं स पश्यन्ति। तथाविधभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते। स्वयमेव कुण्डलानुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सिततमकर्मत्वम्। अणि कर्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम्। एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवद्भूयमाणकर्मान्तराभावाभावात् णेरणाविति सूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे। भाष्ये तु णेरणाविति सूत्रविषयत्वमस्योक्तम्। यथाऽऽह—"पश्यन्ति भृत्या राजानं' 'दर्शयते भृत्यान् राजा' 'दर्शयते भृत्ये राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति" इति। अत्राह कैयटः—"ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम्। उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते—'अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति। यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति। इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तृणा भृत्यानां णौ कर्मत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमि"ति ॥ १० ॥

वह (दुर्योधन) अहङ्कार से पृथक् रहकर अपने कर्मचारियों को [illegible] सर्वदा प्रीति-पात्र मित्रों की तरह, मित्रों का आदर (सत्कार) ठीक निजी गोत्र कुटुम्बियों की तरह, और जो उसके सगे कुटुम्ब के लोग हैं उनका साक्षात् राज्याधिकारी की भाँति आदर करता है। तात्पर्य यह कि उसके व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट हैं ॥ १० ॥

न चायं त्रिवर्गाप्रमादीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥११॥

असक्तमिति। यथायथं यथास्वं विभज्य, असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः। 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनात् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। पक्षे पातः पक्षपात आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया। भक्त्याऽनुरागविशेषेण। पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः।

पुरुषार्थाः त्रिवर्ग इति । असक्तमनासक्तम् । अन्योन्यमविरोधेनेति यावत् । आराधयत् सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य गुणानां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । गुणानुरागापरपर्यायगुणेष्वनुरागात् । गुणवत्पक्षपातादित्यर्थः । सख्यं मैत्री 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः । ईर्ष्यानुपगतत्वादिवेत्युत्प्रेक्षा । उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'भाषोपसर्गेस्त्वन्यम्' इति काशिकाकार आह स्म । परस्परं न बाधते । समवर्तित्वादस्य धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः । उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥ ११ ॥

यह दुर्योधन अनासक्त होकर किसी में विशेष पक्षपात न कर के यथोचित विभाग करते [illegible] त्रिवर्ग धर्म अर्थ और काम इन तीनों का सेवन करता है वे तीनों परस्पर में बाधक नहीं होते हैं प्रत्युत उसके अभ्युदय में सहकारी होते हैं । ऐसा मालूम होता है कि वे परस्पर मित्र बन गये हैं । (जैसे—जब वह धर्म करता है उस समय अर्थ और काम उसके मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाते । या जब वह धनोपार्जन का व्यवसाय करता है तो उनमें धर्म और काम विघ्न नहीं डालते और जब वह काम का सेवन करता है तब उसके लिये [illegible] और अर्थ बाधक नहीं बनते) ॥ ११ ॥

अथ लोकापेक्षोपायकौशलं स्वपक्षकाले सामदामे दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥ १२ ॥

निरत्ययमिति । तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम् । अमायिकमित्यर्थः । अन्यथा अमायां दुर्बलत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । दानवर्जितं न प्रवर्तते । अन्यथा लुब्धानामन्यस्य शुष्कप्रियवचनमनुपकारकत्वादिति भावः । उक्तं च—'तुच्छमर्जेन मुखोपात्तमधुमत्र्यक्तिरर्थदा । पूर्वं भृत्यानुरोधेन तस्यार्थेन च पण्डितम् ॥' इति । तथा भूरि प्रभूतं च तु कदाचित्सत्यमित्यर्थः । दानं धनत्यागः । सत्क्रियामादरार्थेऽव्ययम् । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । न प्रवर्तते । अनादरे दानमफलमादिति भावः । न चैव सर्वत्र धर्मविवेकित्वं कोशहानिः स्यादित्याह प्रति । विशेषशालिनी अतिशयवती सत्क्रिया आदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्तते । गुणविनिवेशिता—इत्यादिना दर्शिता । गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति नाकृतेष्वकास इत्यर्थः । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् । विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥' इति ॥ १२ ॥

साम दाम दण्ड और भेद यह चार प्रकार के उपायों की नीति है । इनमें साम का

प्रयोग जो दुर्योधन के द्वारा किया जाता है दान के बिना नहीं किया जाता (क्योंकि लोभी पुरुष को वश में लाने के लिये दान की आवश्यकता पड़ती है)। और जो वह प्रचुर मात्रा में दान करता है वह सत्कारपूर्वक करता है। और उसका विशेष सत्कार गुण के बिना नहीं होता अर्थात् वह योग्य व्यक्तियों का ही सत्कार करता है ॥ १२ ॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

वसूनीति। वशी स दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न। लोभान्नेत्यर्थः। 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना कोपेन न च। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः। किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन् स्वधर्म इत्येव। स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो मयेदं कर्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः। 'अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' ॥ इति स्मरणादिति भावः। गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन। 'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारमनुक्रमात् ॥' इति नारदस्मरणात्। दण्डेन दमेन। शिक्षयेत्यर्थः। रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः। एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम्। धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम्। अधर्ममिति यावत्। निहन्ति निवारयति। दुष्ट पुत्रस्य शास्ता शिष्ट एव मन्युर्न तु सम्बन्धनियमः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः। ॥ १३ ॥

वह जितेन्द्रिय होकर, न तो धन की लालच से न क्रोध से किसी को दण्ड देता है या अपराध मुक्त करता है, किन्तु वह क्रोध लोभ से निवृत्त होकर गुरूपदिष्ट धर्मशास्त्रानुकूल शत्रु और पुत्र में भेद न समझकर, दण्ड के द्वारा धर्म विप्लव को शमन करना अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि जो दण्डार्ह नहीं उन्हें दण्ड देना तथा दण्डनीयोंको अपराध मुक्त करना, राजा को अपयश का भागी बनाता है और पश्चात् नरक में झोंक देता है ॥ १३ ॥

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

विधायेति। शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽप्रमत्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपरमण्डले परेतरानात्मीयान्। अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतरान्। तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। 'नन्दिग्रहि—' इत्यादिना पचाद्यच्। विधाय कृत्वा। नियुज्येत्यर्थः। अशङ्किताकारमुपैति। स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखे-

लैव पराभिभवतीत्यर्थः। न च तान् रक्षत्युपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति। क्रियापवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीना कृताः। अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः। 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः। सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति। प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः। कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च रक्षन्तीति भावः॥ १४॥

दुर्योधन स्वराष्ट्र पर इस प्रकार मन्त्र-गोपन-समर्थ आत्मीय जनवादियों को कार्यभार सौंप कर स्वयं उसका निरीक्षण कर निरुद्वेग का आनन्दानुभव करता है। कार्य्य समाप्ति के पश्चात् सेवकों को वेतन के रूप में प्रदान की गयी सम्पत्तियाँ इसकी कृतज्ञता सूचित करती है॥ १४॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः॥ १५॥

अनारतमिति। तेन राज्ञा पदेषूपायदेशकालादिषु। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यगसंकीर्णं यथा तथा च विभज्य विविच्य। विनियोग एव सत्क्रिया अनुग्रहः सत्कार इति यावत्। येषां ते विनियोगसत्क्रियाः। उपायेषु सम्यगनुष्ठिता इत्यर्थः। उपायाः सामादयः। संघर्षं परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा। परिबृंहितायतीः अभिवृद्धोत्तरकालाः स्थिरा इत्यर्थः। अर्थसम्पदोऽर्थसमृद्धीः फलन्ति प्रसुवत इत्यर्थः॥ १५॥

इसने (दुर्योधन ने) बल-योग्य कार्यों में साम दान दण्ड और भेद नीतियों का प्रयोग किया है वे समुचित नियुक्ति से सत्कृत हो कर एक दूसरे से परस्पर स्पर्धा करती हुई उत्तरोत्तर वृद्धिशालिनी ऐश्वर्य राशि का उत्पादन प्रसव करती है॥ १५॥

अथैश्वर्यमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः॥ १६॥

अनेकेति। अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छदगन्धिः। 'सप्तम्युपमान—' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'सप्तमाद्यन्त' इति समासान्त इकारः। नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः। 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्। रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम्। सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन संकुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपप्राङ्गणं भृशमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति। एतेन महासम्पत्तिरस्यो

का । अत एवोदात्तालङ्कारः । तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ॥

सुयोधन के सभामण्डप का प्राङ्गण (आंगन) अनेक राजाओं के रथ और घोड़ों से व्याप्त रहता है। उसे राजाओं से उपहार में आये हुये मत्त हाथियों का मद, जिसमें विषमच्छद (छितौन) के गन्ध सदृश गन्ध होता है, आर्द्र बनाये रहता है। (इससे सुयोधन की अर्थ सम्पत्ति का परिचय मिलता है) ॥ १६ ॥

नोट—छितौन—इसमें सात सात पत्ते एक एक डण्ठलमें होते हैं अतः इसे विषमच्छद कहते हैं।

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥ १७ ॥

सुखेनेति । चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति । देवः पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः । ते न भवन्तीत्यदेवमातृका नदीमातृका इत्यर्थः । 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥' इत्यमरः । एतेनास्य कुल्याऽऽद्युपायसंपादकत्वमुक्तम् । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः । 'राजसूय—' इत्यादिना कर्मकर्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव । कृषिरेषामस्तीति ते कृषीवलाः, कर्षकैरित्यर्थः । 'रजःकृषि—' इत्यादिना वलच् प्रत्ययः । 'वले' इति दीर्घः । सुखेनायासेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । चकासति । सर्वोत्कर्षेण वर्तन्त इत्यर्थः । 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । सम्पन्नजनपदत्वादनन्तापकारत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः ॥ १७ ॥

(सुयोधन) चिरकाल से प्रजा के अभ्युदय के निमित्त प्रयत्नशील रहता है। उसका राष्ट्र वृष्ट्यम्बुजीवी नहीं है किन्तु उसने आवश्यकतानुसार, जगह २ पर कुएँ, तालाब और नहरों का निर्माण कराया है कृषकों को बिना अधिक परिश्रम किये ही अन्न का ढेर सुलभ है जिससे उसके देश के निवासी हरे भरे हैं। तात्पर्य यह कि उसके सुप्रबन्ध से उसकी प्रजा दुष्काल का अनुभव कभी नहीं करती ॥ १७ ॥

अत एव जनपदानुवर्त्तिनः कामधर्यलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

उदारेति । उदारकीर्तेर्महायशसः । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः । अत एव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उदयविशेषणं वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः । अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दया-

कृष्यादिभिर्विनाप्यल्पायासेनैव प्रार्थिता मेदिनी वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । स्वयं प्रदुग्धे । स्वयमेव दुग्ध इत्यर्थः । दुहेः कर्मकर्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्वत्सेन प्रस्नुता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु— विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः इति लक्षणात् । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताया मेदिन्या भेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमाश्रित्योक्तेरेवोक्तिरिति संक्षेपः ॥ १८ ॥

परम यशस्वी और बलवान् भारी तक से रक्षा की सुव्यवस्था से निर्विघ्न अभ्युदय का सम्पादन करते हुये और कुबेरसदृश उस दुर्योधन के राज्य की वसुन्धरा उसके गुणों से प्रसन्न होकर बिना परिश्रम सम्पत्ति प्रदान करती है ॥ १८ ॥

वीरमहाकुलत्वमाह—

> महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
> नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१९॥

महौजस इति । महौजसो महाबलाः । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः । मान कुलशीलाभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः । अन्यथा कदाचिद् धनदर्पोद्धतैरिति भावः । धनार्चिता धनैरर्चिताः सत्कृताः । अन्यथा दारिद्र्यादेव नश्येयुरिति भावः । संयति संग्रामे लब्धकीर्तयः । बहुयशस इत्यर्थः । अन्यथा कदा भिन्द्युरिति भावः । संहता मिथः संहताः स्वामिविरोधेन न भवन्तीति असंहताः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति अभिन्नवृत्तयः । पूर्ववत्समासः । अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यम् । धनुर्भृतो धानुष्काः । धानुष्कग्रहणमुपलक्षणम् । प्राधान्यात्तदुपादानम् । तस्य दुर्योधनस्यासुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति । प्राणव्ययेनापि प्रियमाचरन्तीत्यर्थः । अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः । अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणव्ययेनापि प्रियकरणे प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् । तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोरपि सजातीयत्वात् निरपेक्षतया संसृष्टिः ॥ १९ ॥

(उसकी सेना [redacted] अनुचर जो महाबलिष्ठ हैं जिनको अपनी कुलीनता का गर्व है धनादि से सत्कृत हैं समराङ्गण में लब्धप्रतिष्ठ हैं परस्पर में एक दूसरे से मिले हुये भी नहीं रहते हैं और अवसर पर अपनी अपनी ओर वाही चलावें ऐसे उसके योद्धा अपने प्राणों से उसके कल्याण की कामना करते रहते हैं ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

> महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः ।
> महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥ २० ॥

महीभृतामिति । अशेषितक्रियः समापितकृत्यः । आफलोदयकर्मेत्यर्थः । स

सुयोधनः सञ्चरितैः शुद्धचरितैः । अवञ्चकैरित्यर्थः । चरन्तीति चरास्तैश्चारैः । प्रणिधिभिः ।] महीभृतां क्रिया निःशेषं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । स्वरहस्य तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति । धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः । हितमनुबध्नन्त्यनुबध्नन्तीति हितानुबन्धिभिः । स्वन्तैरित्यर्थः । फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते । फलानुमेयास्तस्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

वह (सुयोधन) जिस कार्य्य का आरम्भ करता है उसे समाप्त करके ही छोड़ता है वह अपने शुद्ध व्यवहार करने वाले गुप्तचरों से राजाओं का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता है । उसके शुभेच्छु लोग भी, ईश्वरीय इच्छा के समान, क्रियाजनित प्रचुर फलसिद्धि से उसके कार्य्य का अनुमान कर सकते हैं । सारांश यह कि कार्य्य निष्पन्न होने पर ही उसका भेद खुलता है ॥ २० ॥

निग्रहमाह—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

नेति । तेन राज्ञा क्वचित्कुत्रापि । सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम् । आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम् । यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य धनुरुद्यतिरिति भावः । कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत आह—गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा । माल्यपक्षे सूत्रानुरागेण । यद्वा सौरभ्यगुणकामेन । नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा । मालैव माल्यं तदिव । 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभिरुह्यते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति वहि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ॥ २१ ॥

उसने धनुष पर प्रत्यञ्चा (डोरी) आरोपित करके किसी को युद्ध के लिये आह्वान नहीं किया और न तो क्रोध से भ्रूभङ्ग ही किया, तथापि राजन्य वर्ग उसके गान दाक्षिण्यादि गुणों से आकृष्ट होकर पुष्पमाल्य की भाँति उसकी आज्ञा शिरोधार्य्य करता है ॥ २१ ॥

सम्प्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

स इति । इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रगल्भम् । दुरन्धरमित्यर्थः । दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम् । 'भाषायां शासियुधि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः । यौवराज्ये युवराजकर्मणि । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । निधाय । नियुज्येत्यर्थः । पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः । तस्मिन्याजके सतीत्यर्थः । तदुक्तकृते दोषसम्भवादिति भावः । 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः । न तु 'मति-

बुद्धि इत्यादिना वर्तमानार्थे। अन्यथा पुरोधसा इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा। हिरण्यं रेतो यस्य स हिरण्यरेतास्तमनलं धिनोति प्रीणयति। धिन्वेः प्रीणनार्थाद् 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्यु प्रत्ययः। अकारश्चान्तादेशः ॥ [illegible] ॥

दुर्योधन का आलस्य कभी नहीं होता। वह अभिनव युवावस्था से युक्त दुःशासन को युवराज बनाकर पुरोहित की आज्ञा से (सर्वदा) आलस्य का परित्याग कर के यज्ञ में अग्निदेव को हव्यादि प्रदान द्वारा प्रसन्न करता है ॥ २२ ॥

न चैतावता निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशयेनाशङ्कां दर्शयति—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥

प्रलीनेति। स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम्। निःसपत्नमित्यर्थः। स्थिरायति। चिरस्थायीत्यर्थः। भुवो मण्डलम् आवारिधि। आङ् मर्यादाऽभिविध्योः इत्यव्ययीभावः। प्रशासदाशासदपि। अखिलमपि यद् शासदपि सशासता। नाभ्यस्ताच्छतुः इति नुमागमप्रतिषेधः। त्वत् त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः। धातूनामनेकार्थत्वादुपसर्गवशाद्वा सिद्धिः। अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। उगितश्च इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। भियो भयानि। चिन्तयत्येव। स प्रत्याह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुःखावसाना। सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह विरोधः ... तादात्म्येनेति तात्पर्यम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

वह समुद्र पर्यन्त भूमण्डल का शासन करता है। शत्रु नष्ट हो गये हैं। राज्य भी स्थिर हो गया है। तथापि आप से (युधिष्ठिर से) आने वाले भय की चिन्ता करता ही रहता है। यह बात ठीक ही है कि बलवानों के साथ विरोध करने का फल अमङ्गलकारी होता है।

ननु गुडाकेशस्य तस्य कथं त्वत्तो भयं भवतीत्यत्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

कथेति। कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीप्रबन्धेन जनैः। अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन। कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत् इति विश्वः। पुरुषवचनस्यात्मप्रत्यायक विशेषणम्। उदाहृतादुच्चरितात् ... 'हेतौ' इति पञ्चमी। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। अन्यत्र तवाभिधानात्। 'नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणम्' इति न्यायात् तक्ष तथा वासुकी तयोरभिधानं यस्मिन् पदे तस्मात्। यद्वा कथाप्रसङ्गे इत्यत्र से अनाकृष्टेऽस्मिन् पदम्।

अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम' स्मृतार्जुनपराक्रम सुहृत्सुहृदादिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्र शब्दात्स्मारकाद्धतो । आखण्डलसूनुरिन्द्रानुज । उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । 'सूनु पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्व' । तस्य वि पक्षी । गरुड इत्यर्थः । तस्य क्रम पादविक्षेप । सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्त, स्मृतगरुडमहिमा । उरग इव नतानन सन् । व्यथते दु खायते । 'पीडा बाधा व्यथा दु खम्' इत्यमर । अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भाव । 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथन युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २४ ॥

जिस तरह भुजङ्गम (सर्प) मन्त्रवेत्ता से उच्चारित गरुड और वासुकी के नामयुक्त मन्त्र मन्त्रपद से गरुड के पराक्रम का स्मरण करके नतमस्तक हो जाता है, ठीक वही दशा सुयोधन की हो जाती है। जब कभी जनसमूह की चर्चा में आप का नाम किसी के मुँह से निकल जाता है तो वह बड़े सहन करने में असमर्थ हो जाता है और अर्जुन के बल का स्मरण कर सिर झुका लेता है अर्थात् उसका हृदय प्रतिक्षण सन्तप्त हुआ करता है ॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम् ।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥२५॥

तदिति । तत्तस्मात्त्वयि जिह्म कपट कर्तुमुद्यते । त्वां जिघांसावित्यर्थ' । तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेय कर्तव्यमुत्तर प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम् । ननु कर्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम् । वार्ताहारिणामित्यर्थ । गिर प्रवृत्तिसारा वार्तामात्रसारा खलु । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त'' इत्यमर । वार्तामात्रवादिनो वयम् न तु कर्तव्यार्थोपदेशसमर्था । अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भाव । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यास ॥ २५ ॥

इस लिये, आपको चाहिये कि आपके समूल निर्मूलन करने की चेष्टा में लगे हुए दुर्योधन की प्रतिक्रिया शीघ्रातिशीघ्र करें (यदि आप कहें कि जिस तरह वृत्तान्त बतलाते हो उसी तरह उपाय भी बतलाओ) तो वह हो नहीं सकता, क्यों कि हम लोग दूसरे के कथन पर समाचार के संग्रह करनेवाले हैं। वार्तामात्र के संग्रह का कार्य्य हम लोगों से कराना चाहिए ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसंनिवासिनाम् ।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसंनिधौ वचः ॥ २६ ॥

इतीति । वनसंनिवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वोक्त्वाऽऽत्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति । 'बुद्धिमानमेव चाराणां हि चेतनम्' । ते हि सर्वोभाव

२ कि०

स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते इति नीतिविदामाशये । अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णा सह द्रौपदीभवनं प्रविश्यानुजसन्निधौ सहदेवादीनां समीपे वाक्यमाचचक्षे आख्यातम् । अथवा कृष्णेति पदच्छेदः । सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णायाऽऽचचक्षे आख्याता । चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त संदेशों को निवेदित कर तथा पुरस्कार पाकर वनचरराज के चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर पाञ्चाली (द्रौपदी) के कुटीर में गये और वहाँ भाइयों के समीप द्रौपदी से सारा वृत्तान्त कह सुनाये ॥ २६ ॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥ २७ ॥

निशम्येति । अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्त्याः ततस्तत्र । ततो द्विषद्भ्य आगताः ततस्त्याः । 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप् । अपाकृती- रपकारान्विनियन्तुं निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधो- द्योगयोर्दीपिनीः सन्दीपिनीर्गिरो वाचमुदाजहार । उक्तवतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

द्रौपदी शत्रुओं के अभ्युदय की वार्ता सुन उनसे किये गये अपकारों का स्मरण कर अपने आप को रोक न सकी और महाराज के क्रोध तथा उद्योग का उद्दीपक वाक्य बोली।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मा निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

भवादृशेष्विति । भवादृशो भवद्विधाः । पण्डिता इत्यर्थः । [illegible] विषये । 'त्यदा- दिषु—' इत्यादिना कञ् । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः । प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम् । यद्वा कः । 'वपिरमपि—इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुशासनं नियोगवचनमधिक्षे- पस्तिरस्कार इव भवति । अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः । तथाऽपि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्याजितस्त्रीजनोचितसमाचाराः । 'समयाः शपथाचारकाल- सिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । दुराधयः सन्तोषजननहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथा । 'पुंस्याधि- र्मानसी व्यथा' इत्यमरः । मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । न किञ्चिदयुक्तं दुःखि- नामिति भावः ॥ २८ ॥

महाराज के सदृश व्यक्ति के विषय में स्त्री जाति का नियोग वचन निन्दा की तरह होता है। पर क्या करूँ मेरी प्रबल मानसिक वेदना स्त्रियों के कर्तव्य मर्यादा का उल्लंघन कर कहने के लिये बाध्य करती है । व्यथित हृदय व्यक्ति जो कुछ कहें, सब थोड़ा है ॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥ २९ ॥

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः । स्ववंशजैर्भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया । मदं श्च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इन्द्र के सदृश तेजस्वी आप के पूर्वजों ने (भरतादिकों ने) इस वसुन्धरा का अविच्छिन्न उपभोग किया है जिसको आप स्वयं इतनी सरलतापूर्वक हाथ धो बैठे, जितनी सरलता से एक मदस्रावी गजराज सुमनोग्रथित माल्य को ध्वस्त कर देता है अर्थात् पूर्वजों की सञ्चित सम्पत्ति को आप ने बिना किसी प्रयास के ही खो दिया है ॥ २९ ॥

'स्वदोषादेवायमनर्थागम' इत्युक्तम् । स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

व्रजन्तीति । मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति, ये मायाविषु मायावत्सु विषये । 'अस्मायामेधा—' इत्यादिना विनिप्रत्ययः । मायिनो मायावन्तः । व्रीह्यादि-भ्यश्चेतीनिप्रत्ययः । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्तास्तथाविधानकुटिलानसंवृताङ्गाननावृतशरीरान्निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि । 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' इति भावः ॥ ३० ॥

वे अविवेकी पुरुष (सर्वदा) पराजित होते हैं जो मायावियों के समक्ष मायावी नहीं बनते अर्थात् 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीति का अवलम्बन नहीं करते । वे मायावी (वञ्चक) सरलचित्त व्यक्तियों के अन्तःकरण की बातें जानकर इस प्रकार गला घोंटते हैं जैसे तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच रहित शरीर में प्रवेश कर घातक बन जाते हैं ॥३०॥

न च लक्ष्मीनाशमात्रमयमनर्थागमः, किन्तु स्त्रीपैशाचदोषमूलत्वादित्याशयेनाह—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१ ॥

गुणेति । अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च कामन्दकीये—'उद्योगाद-निवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः । छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी ॥' इति । कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञां मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः ॥ ३१ ॥

आप के अतिरिक्त इस भूमण्डल में कौन ऐसा राजा है जो अनुकूल सहायक सामग्रियों के रहते हुये तथा जिस को उचित होने का मन है सन्धि आदि तथा सौ दम आदि राजोचित गुणों से अनुरक्त वंश परम्परा से रक्षित राजश्री को अपनी मनोरमा प्रियतमा की भाँति (देखते [illegible]) अपहृत होने देगा ॥ ३१ ॥

अथ द्वाभ्यां कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव ! वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥

भवन्तमिति ॥ नरदेव ! हे नरेन्द्र ! एतर्हीदानीम् [illegible] 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमोर्हिल्' इति र्हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते धीरजननिन्दिते वर्त्मनि मार्गे विवर्तमानम् अनुकूलं दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्कं नीरसम् । 'शुष क्' इति निष्ठातकारस्य ककारः । शमी वासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः । तरुम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिखः उद्गतज्वालः । 'शिखा ज्वालायां अपि शिखा' इत्यमरः । अग्निरिव । कथं न ज्वलयति । ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! सम्प्रति आप धर्मवीरों से वर्जित पद का अनुसरण कर रहे हैं । प्रखर ज्वालायुक्त अग्नि जिस तरह नीरस शमी वृक्ष को जला कर भस्म कर देता है उसी तरह आप का उग्र क्रोध आप को क्यों नहीं उत्तेजित करता ? ॥ ३२ ॥

[illegible]—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ ३३ ॥

अवन्ध्येति ॥ अवन्ध्यः सफलः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्यात एवापदां विहन्तुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । [illegible] देहिनो जनाः स्वयमेव वश्या वशंगता भवन्ति । 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः । [illegible] भवितव्यमित्यर्थः । व्यतिरेके त्विमामाचष्टे—अमर्षशून्येन निष्क्रोधेन जन्तुना । जन्यया योग इतिवत् हेतौ इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । युवादित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सताऽऽदरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादनादरणीयावित्यर्थः । [illegible] 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे छन्दोभङ्गभयात् द्विधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यसम्पादनस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

जिसका क्रोध कुछ न कुछ कर के दिखा देता है और जो आपत्तियों को दूर भगाता है ऐसे पुरुष की पराधीनता लोग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। क्रोध से रहित मित्र भी कोई आदर भी नहीं करता और क्रोधविहीन शत्रु से कोई भय भी नहीं खाता ॥ ३३ ॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचितः उचितलोहितचन्दनः । 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति साधुः । अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । महारथो रथचारी। सम्प्रत्यपि प्रागिति शेषः । अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः पादाभ्यामततीति गच्छतीति पदातिः पादचारी 'अजतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इण्प्रत्ययः । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः । अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्ताभावः । परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः । सत्यधनस्येति सोपालम्भवचनम् । अद्यापि त्वया सत्यमेव रक्ष्यते, न तु भ्रातर इति भावः । तवेति शेषः । मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

पहिले जो यह भीम रक्तचन्दन का अभ्यासी थे और उत्तम रथ पर बैठ कर भ्रमण करते थे, वही भीम इस समय धूलि से व्याप्त होकर पैदल पर्वत पथ पर विचरण करते हैं। तो क्या उसकी यह दशा देख कर सत्य पुजारी (युधिष्ठिर) का मन सन्तप्त नहीं होता ? ॥३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

विजित्येति। वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः, उत्तरान्कुरून्मेरोरुत्तरान्मानुषान्देशविशेषान्विजित्य प्राज्यं प्रभूतम्। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम्। 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः । वसु धनमयच्छद्दत्तवान्। 'पाघ्रा—'इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः । 'संज्ञायां भृतॄवृजि—'इत्यादिना खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषद्—'इत्यादिना मुमागमः । अधुनाऽस्मिन्काले। 'अधुना' इति निपातनात्साधु । तव वल्कवासांस्याहरन्कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति ॥ ३५ ॥

देवेन्द्र के समान पराक्रमशाली जिस अर्जुन ने कुबेर के उत्तर निवासियों पर विजय पताका आरोपित कर सम्पत्ति लाकर समर्पित किया था, आज वही अर्जुन वल्कल वस्त्रधारी बने हैं क्या उन की इस दयनीय दशा को देख कर भी आप का क्रोध जागृत नहीं होता ? ॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

वनान्तेति । वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ । आकारो देह आकृतिः इति वैजयन्ती । विष्वक्समन्तात् । समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि इत्यमरः । कचाचितौ कचव्याप्तौ । विकीर्णकेशावित्यर्थः । अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ भ्रातरावित्यर्थः । यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च इति विश्वः । विलोकयन् कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ । धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु इति विश्वः । बाधितुं मोक्तुं नोत्सहसे न प्रवर्तसे । तकर—गृहत्यादिना प्रसुत् । अहो ते महद्धैर्यमिति भावः ॥ ३६ ॥

विचारिये आप के इन भाइयों को! ये पहाड़ात मजबूत और छरहरे जङ्गली हाथियों के सदृश हो गये हैं वनस्थली पर शयन करने से इनके शरीर में घट्ठे पड़ गये हैं। इनके केश पाश बिखरे [redacted] हैं। इन्हें देख कर क्या आप धैर्य और नियम का परित्याग करने के लिये तय्यार नहीं हो रहे हैं? ॥ ३६ ॥

अथ राज्ञो दुर्दशां दर्शयितुमुपोद्घातमाह । अनुक्त्वा दर्शयितुमर्थान्तरन्यासमुपोद्घात ।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥३७॥

इमामिति । इमां वर्तमानाम् । तवेमां तावकीं त्वदीयाम् । तस्येदम् इत्यण् प्रत्ययः । तवकममकावेकवचने इति तवकादेशः । धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न [redacted] कीदृशी वा न वेद्मि । परदुःखमप्रत्यक्षत्वादिति भावः । विदो लटो वा इति णलादेशः । न चास्माकमन्येनापन्नत्वात् दुःखित्वमनुमातुं शक्यते । धीरादीनामनन्यादृक्त्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु । किन्तु पराङ्मुख्यां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथाः । 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति । 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट् । परदुःखानामपि दुःसहा दुःखकारिणी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विक्रोशतीति महदाश्चर्यमित्यर्थः । अत्र इति वाक्यार्थी भावयन्तावाधयो इति हेतुर्न भवति । तत्र हेत्वाभिधानाद्वैलक्षण्य विपर्ययत्वादिति ॥ ३७ ॥

मुझे आप की इस बुद्धि का परिचय नहीं मिलता। लोगों की चित्तवृत्तियाँ विलक्षण होती हैं। आप की इन असीम आपत्तियों का स्मरण कर मेरे हृदय में उथलपुथल मच जाती है अर्थात् आप की विपत्तियों के देखने वालों को भी तो असह्य वेदना होती है परन्तु न जाने क्यों आप पर इस का प्रभाव नहीं पड़ता? ॥ ३७ ॥

तदापन्नमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

पुरेति । यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम् । 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः । शयनं शय्यामधिरूढः सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा विबोध्यसे । वैतालिकैरिति शेषः । एवं बोधित इत्यर्थः । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट् । स त्वमदभ्रदर्भां बहुकुशाम् 'कुशो कुशा कुशो दर्भः' इति । 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामरः । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् । 'जानपद—'इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीष् । एतेन तु सहस्पर्शास्त्वसुखकम् । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । 'अयङ् यि क्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवाशितैः । 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलकसुमे' इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि । त्यजसीति शेषः ॥ ३८ ॥

(हे नरेन्द्र !) पहले आप बहुमूल्य शय्या पर विश्राम करते थे और वैतालिकों के द्वारा स्तुति और गायन रूप माङ्गलिक पाठ से निद्रा त्याग करते थे । वही (आप) कुशयुक्ता भूमि पर शयन करते हैं और अमङ्गल सूचक शृगालियों के शब्द से जागरित होते हैं ॥ ३८ ॥

पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

पुरेति । हे नृप ! यदेतत्पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसाऽन्नेन । 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम् । अयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । तत् वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुः यशसा समं परमतिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति । उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्' इति ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! पहले आप का यह शरीर ब्राह्मणभुक्तावशिष्ट अन्न से परिवर्धित होकर रमणीय था, वही (शरीर) आज जङ्गली फलों के आहार से अत्यन्त दुर्बल होता जा रहा है और साथ साथ यश को भी क्षीण बना रहा है । यहाँ एक लोकोक्ति है "बाण बाण गये चार हाथ पगहा भी लेते गये" ॥ ३९ ॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अनारतमिति । अनारतं   मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठशायिनौ यौ

चरणौ राजशिरःस्रजां नमन्नृपाणां मौलिस्रजां रजः परागो ऽरुणयत् तौ ते चरणौ मृग-द्विजैश्च तपस्विभिराश्रमद्विजैश्च छिन्नासु दर्भेषु कुशानाम् । 'बर्हिः कुशकुशाशयोः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठत ॥ ४० ॥

जो (महाराज के) चरण सदा रत्न खचित सिंहासन पर विश्रान्ति प्राप्त करते थे और अभिवादन के लिये झुकने वाले राजाओं की मौलिमालाओं के पुष्परज से रंजित होते थे आज दिन वही चरण हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों पर विश्राम पाते हैं । यह कष्ट की बात नहीं है क्या ॥ ४० ॥

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्याह—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति । यदियं दशा दुरवस्था । 'दशा वर्त्यवस्थयोः' इति विश्वः । द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा । द्विषोऽमित्रे इति शतृप्रत्ययः । ततो मे मनः समूलं सावष्टम्भमुन्मूलयतीव । इत्थं व्यतिरेकं दृष्टान्तयति—परैरिति । परैः शत्रुभिरपर्यासिता अनिवर्तिता वीर्यसम्पदो येषां मानिनां पराभवोऽप्युत्सव इति भावः ॥ ४१ ॥

आप की यह वर्तमान दशा शत्रु के कारण हुई है इसी लिये मेरे मन में वेदना की प्रतीति होती है । ऐसे मानियों का जिस के बल और पराक्रम को शत्रु निरस्त नहीं कर सकता पराभव भी उत्सव ही होता है अर्थात् पराभव सह्य है और [मानहानि नहीं ।] ॥ ४१ ॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ ४२ ॥

विहायेति । हे नृप ! शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि अङ्गीकुरु प्रसीद । प्रार्थनायां लोट् । ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं कोपेनेत्यत्राह— व्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निर्जित्य शमेन कोपवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति । भूभृतस्तु न । केवलशमस्य राज्ञामसाधकत्वं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

महाराज ! क्षमा को दूर भगाके शत्रुओं का दमन करने के लिये फिर उस प्रचण्ड प्रताप का आश्रय कीजिये और प्रसन्नता को त्याग दीजिये । कामना रहित महर्षि लोग काम क्रोधादि शत्रुओं का दमन करके ही सिद्धि प्राप्त करते हैं किन्तु राजा नहीं ॥ ४२ ॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति । किं च धामवतां तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः । पुरः सरन्तीति पुरस्सरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । यशोधना भवादृशा' सुधु सहमतिषु सहमीदृक्षमुक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य इति सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि हन्त हृति खेदे । मनस्विता अभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः । अत पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासह्यत्वेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः —' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

भाव–जैसे कीर्तिरूपधन तेजस्वियों के अभिभावक, यदि इस प्रकार के असह्य पराभव को प्राप्त होकर सन्तोष कर जाते हैं तो मनस्विता निराश्रय हो कर इस दुनिया से चल बसेगी ॥ ४३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अथेति । अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् । चिराय चिरकालेनापि क्षमां शान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं पर्येषि अवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय । धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि । पावके होमं कुर्वित्यर्थः । अधिकरणे कर्मत्वोपचारः । निरस्तस्य किं धनुषेत्यर्थः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ॥ ४४ ॥

यदि शौर्य का परित्याग कर एक क्षमा को चिरकाल सुख की सामग्री मानना अभीष्ट हो तो राजाओं के चिह्न स्वरूप धनुष को फेंक दीजिये और जटा बढ़ाकर इसी जगह (द्वैतवन में) अग्नि देव में आहुति प्रक्षेप कीजिए ॥ ४४ ॥

अथ समयोल्लङ्घनाद् बिभेषि तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ४५

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्य त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवरूपा संवित् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमारोप्य सन्धिं दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषो सर्वथा

चरणौ राजशिरःस्रजां नमद्भूपालमौलिस्रजां रजः परागोऽभ्यषत्, तौ ते चरणौ मृग-द्विजैश्च तपस्विभिरालूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम्। 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः। वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ॥ ४० ॥

जो (महाराज के) चरण चरण रज जटित सिंहासन पर विराजित मान करते थे और अभिवादन के लिये झुकने वाले राजाओं की मौलिमालाओं के पुष्परज से रंजित होते थे आज दिन वही चरण हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों पर विश्राम करते हैं। यह कम की बात नहीं है क्या ? ॥ ४० ॥

ननु सर्वमप्येतत्सावधानत्वादापदि का परिदेवनेत्याह—

> द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
> परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति। यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था। दशा वर्त्तिकावस्थायाम् इति विश्वः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा। द्विषोऽमित्रे इति शतृप्रत्ययः। ततो मे मनः समूलं सकारणमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव। इयदिदं त्वयाऽन्य दुःखमित्याह—परैरिति। परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यवसिता वीर्यसम्पदो येषां तेषां मानिनां मानवतामिषु सतां न स्वाप दिति भावः ॥ ४१ ॥

आप की यह वर्तमान दशा शत्रु के कारण हुई है इसी लिये मेरे मन हृदय में वेदना की प्रतीति होती है। जिन मानियों का जिस के बल और पराक्रम को शत्रु तिरस्कार नहीं कर सकता पराभव भी उत्सव ही होता है अर्थात् पराभव सहा है और [मानहानि नहीं]। ॥ ४१ ॥

> विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम् ।
> व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ ४२ ॥

विहायेति। हे नृप ! शान्तिं विहाय क्षमासिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि अङ्गीकुरु प्रसीद। प्रार्थनायां लोट्। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत आह—व्रजन्तीति। निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निरस्य शमेन कोपवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति। भूभृतस्तु न। कैवल्यकामस्याराधनार्थं न क्षत्रियस्येत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

महाराज ! क्षमा को दूर भगाकर रिपुओं का दमन करने के लिये फिर उस प्रचण्ड प्रताप का आश्रय लीजिये और प्रसन्नता को त्याग दीजिये। स्पृहा रहित महर्षि लोग काम क्रोधादि शत्रुओं का दमन करने ही सिद्धि प्राप्त करते हैं किन्तु राजा नहीं ॥ ४२ ॥

> पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
> भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

इति । किं च धामवता तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः । पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । यशोधना भवादृशाः सुदुःसहमतिदुःसहमीदृशमुक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति खेदे । मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्याप्रकृतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायक्रियाविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः—' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

आप-जैसे कीर्तिसर्वस्व तेजस्वियों के अधिनायक, यदि इस प्रकार के असह्य पराभव को प्राप्त होकर सन्तोष कर जाते हैं तो मनस्विता निराश्रय हो कर इस दुनिया से चल बसेगी ॥ ४३ ॥

> अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
> विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अथेति । अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् । चिराय चिरकालेऽपि क्षमा शान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय । धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि । पावके होमं कुर्वित्यर्थः । अधिकरणे कर्मत्वोपचारः । विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ॥ ४४ ॥

यदि शौर्य का परित्याग कर एक क्षमा को चिरकाल सुख की सामग्री मानना अभीष्ट हो तो राजाओं के चिह्न स्वरूप धनुः को फेंक दीजिये और जटा बढ़ाकर इसी जगह (द्वैतवन में) अग्नि देव में आहुति प्रक्षेप कीजिए ॥ ४४ ॥

अथ समयोल्लङ्घनाद् बिभेषि तदपि न किञ्चिदित्याह—

> न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
> अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ४५

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारपरेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्यायोदशसंवत्सरान्ते वने वत्स्यामीत्येवरूपा संवित् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशाः अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमारोप्य सन्धिं दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा

कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमसारमेवेति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः पुष्पिताग्रा वृत्तम्॥ ४५॥

आपका पराक्रम असीम है। उपद्रवी शत्रुओं के साथ समय की प्रतीक्षा करना उचित नहीं। विजयाकांक्षी भूमिपाल किसी न किसी बहाने शत्रु के साथ किये गये सन्धि-नियमों को भङ्ग कर डालते हैं॥ ४५॥

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसंहरति—

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः॥ १॥

विधीति। विधिर्दैवम्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः कालस्तयो-र्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयो-धिरित्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्सिमापत्पयोधौ मग्नम्। सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जतीति पौराणिकप्रसिद्धिः। दीप्तिः प्रतापः आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्मं मन्दम्। शिथिलवसु शिथिलधनम् अन्यत्र शिथिलरश्मिकम्। 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। शिथिलकरम् इति पाठे सुगममेव शिथिलकरत्वमित्यर्थः। रिपुतिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्योदीयमानमुद्यन्तम्। 'इण् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि शानच्। दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः समभ्येतु भजतु। आशिषि लिङ्लोटौ इति लोट्। अत्र लक्ष्मीरितिपदं मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्तश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। यथाऽऽह भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। पूर्णो-पमेयम्। मालिनी वृत्तम्, सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः। यथाऽऽह दण्डी—'सर्गैरनति-विस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्'॥ इति॥४६॥

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। भारविकृताविति कविनामकथनम्। महाकाव्य इति महच्छ-ब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता। किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम्। प्रथमः सर्गः। समाप्त इति शेषः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वजननादिभ्यश्छः इति छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। तत्रार्जुन एवात्र नायकः। किरातस्तु तदु-त्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यथाऽऽहुर्भट्टाः—'नेतावीरत्वमत्यर्थं वर्णयेत्तां रिपोरपि'।

तज्जयाभ्युपायकोत्कर्षकथनं च चिनोति नः" ॥ इति । अथाय समुद्र — "नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरा दिव्य किरात पुनः । शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीर प्रधानो रस शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभ फलम् ॥ इति ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

सूर्य भगवान् जिस प्रकार भाग्य और समय के हेर फेर से आतप के विनष्ट होने से निष्प्रभ तथा घोप रहित होकर सायङ्काल को विपत्ति के सदृश (अपार) समुद्र में अस्त हो जाते हैं और पुनः दिन के आदिम भाग में अनुरूप अन्धकार को विनष्ट कर उदय होते हैं। उनकी किरणें पूर्ववत् उनका आलिङ्गन करने लग जाती हैं उसी प्रकार इस समय आप भी भाग्य और समय के कुचक्र में पड़कर प्रताप के नष्ट होने से अप्रसन्न हो गये हैं। आप अकिञ्चन (निर्धन) हो गये हैं। इस समय आप विपत्ति के सागर में गोते खा रहे हैं। अन्धकार के सदृश शत्रुओं का नाश कर अपने भाग्योदय के प्रथम भाग में वर्तमान आप का राज्य श्री पुनः स्वागत करेगी ॥ ४६ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

विहितामिति । अथ वृकोदरो भीमः प्रियया द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम्, अभिहितामित्यर्थः । विपूर्वस्य दधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात् । मनःप्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहरां, विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तं, गिरं गरीयसीं सारवत्तरां निश्चित्य नृपं धर्मराजमुपपत्तिमद् युक्तियुक्तमूर्जिताश्रयमुदारार्थं वचनमूचे उक्तवान् । कर्तरि लिट् । ब्रुवो वचिरादेशः । 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । 'अकथितं च' इति नृपस्य कर्मत्वम् ॥ १ ॥

तदनन्तर भीम ने प्रियतमा द्रौपदी के द्वारा कहे वचन को हितोपदेशक तथा सार गर्भित मानकर युधिष्ठिर के समक्ष युक्तियुक्त तथा उदाराभिप्राय पूर्ण वचनों में समर्थन करते हुए कहा ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसादिलक्षणे निःस्पृहा भवतु निरास्था भवतु। 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इति न्यायादिति भावः॥ ५ ॥

ये श्रीमती (द्रौपदी) के कहे हुये सुन्दर अभिप्राय पूर्ण वाक्य आप को अच्छे लगने चाहिये आप गुणग्राही हैं। यदि आप कहें कि स्त्री की बात नहीं सुननी चाहिये तो इसकी बात जाने दीजिये। विद्वान् लोग केवल वाक्य के गुणों से ग्रहण कर लेते हैं और यह ध्यान में भी नहीं लाते कि वक्ता स्त्री है या पुरुष॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वयमुपालभते—

यतस्त्वपि ते विवेकिनी नृप! विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति॥ ६ ॥

यतस्त्विति। हे नृप! यतस्त्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः' इति कामन्दकः। निरूढिमागता प्रसिद्धिं गता। अत एव विवेकिनी सदसद्विवेकवती। यथाऽऽह मनुः—'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ॥' इति॥ ते मतिः कथं करिणी पङ्कमिव विपर्ययं वैपरीत्यमविवेकरूपमेत्यावसीदतीति न जानीमः तत्र कारणमिति भावः॥ ६ ॥

लोक की सुस्थापना के लिये आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति ये चार तरह की विद्यायें हैं उन में आप की बुद्धि सत् और असत् की विवेचना करती हुई ख्याति प्राप्त कर ली है। फिर क्या कारण है कि वही बुद्धि विपरीतभाव को प्राप्त हो कर दलदल में फंसी हुई हथिनी की भाँति कष्ट पा रही है॥ ६ ॥

किं बहिरङ्गमित्यादौ देवेष्वप्युपालम्भमाहोस्विदाह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम्॥ ७ ॥

विधुरमिति। त्वयि परैः शत्रुभिरिमामवगीतां गर्हिताम्। 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते' इति विश्वः। दशां गमिते प्रापिते सति। सुरैरपि सम्भावितवृत्ति बहुकृतव्यापारम्। ... पौरुषं पुरुषकारः। युवादित्वादण्प्रत्ययः। अवसीदति नश्यतीति यत्। अतः परमतोऽन्यदधिकं किं विधुरं किं कष्टम्। न किञ्चिदित्यर्थः। 'विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि' इति वैजयन्ती। अस्तीति शेषः। 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्यकारः। भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा। अत्र—पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च यदुक्ता। यदुपरि महत्कष्टं तत्र न्यायोपेक्षोपालम्भ इत्यर्थः॥ ७ ॥

शत्रुओं के द्वारा आप के इस अवस्था को प्राप्त होने पर (आपका) पुरुषार्थ, जिसकी प्रशंसा देवता लोग मुक्तकण्ठ से करते हैं, विफल हो रहा है, इससे बढ़कर कष्ट और क्या हो सकता है ? ॥ ७ ॥

अथोपेक्षाकालत्वाद्विषमुपेक्ष्यत्वाशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥ ८ ॥

द्विषतामिति । भूतिमुदयमिच्छता । शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः । गुरुर्महानप्यस्वन्ततरोऽत्यन्तदुरन्तः । क्षयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषतामुदयो वृद्धिः । सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः सुसहः । उपेक्ष्य इत्यर्थः । 'स्वन्ततरस्येव सुमर्षण इति भावः । 'भाषायां शासि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः । महानपि फलसम्पत्प्रवणः फलसम्पदुन्मुखः । "प्रनिरन्तर—" इत्यादिना णत्वम् । परिक्षयो न सुमर्षणः, नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः । अभ्युदय एव प्रतीकार्यो न च क्षय इत्येवोपेक्ष्य । किन्तु स्वन्ततरास्वन्ततराभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ऐश्वर्य्य की कामना करने वाले मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष शत्रु के महान् अभ्युदय की, जो क्रमशः अवनति को प्राप्त होने वाला है, उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु यदि वह (शत्रु) महान् अभ्युदय की तरफ अग्रसर होता हो और वर्तमान परिस्थिति में भले ही अवनति में पड़ा हो तो कदापि उपेक्ष्य नहीं ॥ ८ ॥

अथोभयोरपि क्षये एकतरस्योदयस्योपेक्षितुमशक्यतां गुणवत्परिचयपूर्वकं प्रति-माह—

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अचिरेणेति । कृतमनेनेति कृती । कुशल इत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं क्षययोगमचिरेणाशुभाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथाऽऽत्मनः क्षययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमल्पीयसीं च विगणय्य विचार्य । "ल्यपि लघुपूर्वात्" इत्ययादेशः । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्यां, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः । तत्र तस्याः क्षययुक्तेः प्रतिकारमचिरेणाशु कुरुते । एवं सति यदा शत्रोरभ्युदयः स्वस्य चातिपरिक्षयो यथाऽस्माकं, तदा किं वक्तव्यम् । सद्यः प्रतिक्रियतेत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

चतुर व्यक्ति, शत्रु की विपत्ति प्रचुर परिणाम में आशुभाविनी और अपनी चिरकाल

में अल्प या थोड़ा को उसकी उपेक्षा कर देते हैं इसके विपरीत अर्थात् लाभ को अधिक समय में कम और अपनी क्षयकाल में अधिक होने वाली विपत्ति को समझ कर उनकी उपेक्षा नहीं करते फिर प्रतीकार करने के लिये तय्यार हो जाते हैं॥९॥

तथाऽप्युपेक्षायामनिष्टमाह—

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः॥१०॥

अनुपालयतामिति। उदेष्यतीमुद्यन्तीम्। आङ्पूर्वादिणो लृट् इति विकल्पात् नुमभावः। द्विषतां प्रभुशक्तिं कोशदण्डजं तेजः। स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम् इत्यमरः। अनीहयाऽनुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजां श्रियः सम्पदो जननिर्वादभयाल्लोकापवादभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। अचिरादपयान्त्यपसरन्ति। यथाऽऽह कामन्दकः—'क्षीणं ... सूयते इति। अतः ... ॥१०॥

जो राजलोग अनुत्साहपूर्वक शत्रुओं की समर्थ वृद्धिंगत सम्पत्ति शक्तियों की उपेक्षा करते हैं ऐसे राजाओं को राजश्री शीघ्र ही वह से अलग हो जाती है मानो उसने लोकापवाद के भय से ऐसा किया है॥१०॥

ननु परिक्षीणः कथं प्रजानामभिमुख्यत इत्याह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्॥११॥

क्षयेति। क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकाह्लादकं धाम तेजः प्रतापं च दधतं समृद्धये पुनरभ्युदयार्थमुत्थितमुद्युक्तम्। वर्धिष्णुमित्यर्थः। नृपं प्रजा। प्रतिपच्चन्द्र द्वितीयाचन्द्रमिवेत्यर्थः। प्रतिपच्छब्देन द्वितीयाप्रलक्ष्यते। प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात्। प्रणमन्ति। भक्तिभावेन वर्तन्त इति भावः। चन्द्र तु नमस्कुर्वन्ति। क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः। यथाह हि समस्तो उत्साही दुर्बलोऽपि नमस्कुरुते इति कामन्दकः॥११॥

जिस तरह लोग निष्कलंक शोभा धारण करने वाले उत्तरोत्तर वर्धिष्णुभाव द्वितीया के चन्द्रमा को क्षीण होने पर भी नमस्कार करते हैं (पूर्णिमा के चन्द्र को पूर्ण होने पर भी वैसे नमस्कार नहीं करते) उसी तरह स्वभावतः प्रजा के कल्याणकारक तेज के धारी क्षीणबल उत्तरोत्तर अभिलषणकारी उत्साही राजा का अभिवादन करते हैं। तात्पर्य यह कि यदि दुर्बल हो पर उत्साही हो तो अवश्य उसका स्वागत करती है और वह विजयी होता है॥११॥

ननु प्रभुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

प्रभव इति । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाऽऽह कामन्दकः—'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते' ॥ इति । पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गविनिर्णयः । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः । नयो नीतिः । मन्त्र इति यावत् । कोशोऽर्थराशिः । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम् । 'दण्डोऽस्त्री लगुडे राज्ञां हिंसायां लगुडे यमे । यात्राऽऽज्ञायां सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती । तयोः कोशदण्डयोः प्रभुशक्तेरित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्' । स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । दक्षतां क्षिप्रकारित्वम् । उत्साहमित्यर्थः । लोकः कृष्यादिप्रवृत्तो जनः । नियतिं दैवमिव । 'नियतिर्नियमे दैवे' इति विश्वः । अनुरुध्यते अनुसरति । रुधेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । मन्त्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलत्वात् प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम् । अतः स एवाश्रयणीयः । यतो नयादिसम्पन्नस्यापि प्रभोरनुत्साहस्य न किञ्चित्सिद्ध्यतीति ॥ १२ ॥

कार्य सिद्धि के पांच अङ्ग हैं—(१) सहायक, (२) कार्य साधन के उपाय, (३) देश-विभाग, (४) काल विभाग और (५) विपत्प्रतिकार । सिद्धि के पांचों अङ्गों का निर्णय करनेवाली, प्रभु शक्ति की उत्पादिका नीति कृषकों की दैवानुसरण की भाँति उत्साह की अपेक्षा करती है अर्थात् उत्साह के बिना कोई सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

ननु सोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

अभिमानवत इति । अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नतं पदं स्थानं राज्यादिकमारुरुक्षत आरोढुमिच्छतः प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्यात्मपौरुषं स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्तनक्षममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बनं सहकारि मतमिष्टम् । यथा कश्चन चित्रकूटमारोहन् किञ्चित्पतनप्रसङ्गेऽवलम्बकमनुच्चरहस्तादिकमालम्बनं गृह्णाति तद्वत् । किं पौरुषादन्ये सहायाः पुरुषाणामिति भावः ॥ १३ ॥

उन्नत पद पर आरोहण करने के लिये इच्छुक, मानशाली और मुख्य, आपत्ति निवारण

२ कि०

करने में समर्थ अपने पुरुषार्थ का आश्रय लेना उचित मानते हैं। शूरवीरों का पुरुषार्थ ही सच्चा सहायक है ॥ १३ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १४ ॥

विपद इति । अविक्रमं पौरुषहीनं विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति । आपदुपेतं विपन्नमायतिरुत्तरकालः । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । रहयति त्यजति । निरायतेरागामिसम्पद्रहितस्य लघुताऽगौरवं नियताऽवश्यम्भाविनी । न कश्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थः । अगरीयांल्लघीयान्नृपश्रियो राजलक्ष्म्याः पदमास्पदं न भवति । यद्वा—नृपेति पदच्छेदः । तस्मात्पौरुषं कर्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र पूर्वपूर्वस्याविक्रमादेरुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात् कारणमालाख्योऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ॥ १४ ॥

पुरुषार्थ से हीन पुरुष को विपत्तियाँ आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों से आक्रान्त होने पर उसकी भाविनी उन्नति रुक जाती है। फिर उस का गौरव नष्ट हो जाता है। गौरव नष्ट होने पर राज्यश्री के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता जिस का वह आश्रय ले सके ॥१४॥

फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

तदिति । तत्तस्माद् उपेक्षायां दोषसम्भवादित्यर्थः । उन्नतेरभ्युदयस्य प्रतिपक्षमन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामनुद्योगमवलम्ब्याश्रित्य अवलम्बनेनालमित्यर्थः । अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा इति क्त्वाप्रत्ययः । तस्य ल्यबादेशः । तथा हि । पराक्रम आश्रयः कारणं यासां ताः पराक्रमाश्रयाः समृद्धयः सम्पदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्याः । उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः । वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५ ॥

उन्नति के पथ में बाधक अनुत्साह का अवलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं क्योंकि समृद्धियाँ पराक्रमशाली (उत्साही) पुरुष का आश्रय लेती हैं और अनुत्साही का परित्याग कर देती हैं ॥ १५ ॥

ननु समयः प्रतीक्ष्यते किं वेगेनेत्याह—

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥ १६ ॥

अथेति। अथावधिं कालं प्रतीक्ष्यसे चेत्। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। आविष्कृतजिह्मरुचिना प्रकटितकपटव्यवहारेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्रसम्पदो राज्यसम्पदः। नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः। चिरं त्रयोदशवर्षपर्यन्तमास्वाद्यानुभूय कथं सुत्यजाः। ज्ञातास्वादेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेशं विना न त्यक्ष्यन्ते पूर्वस्यावधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

यदि आप तेरह वर्ष की अवधि की प्रतीक्षा करते हैं तो (आप स्वयं समझिये) धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जो प्रत्यक्ष कपट का व्यवहार करता है वह अधिक काल पर्यन्त राजलक्ष्मी का उपभोग कर क्यों कर उससे पृथक् हो सकता है ॥ १६ ॥

अथवा यदा दैववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथाऽपि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

द्विषतेति। अथवा द्विषता विहितं पुनः प्रत्यर्पितमात्मनः पदं राज्यं त्वया लब्धा लप्स्यते यदि। कर्मणि लुट्। हे जननाथ ! तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृतपौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम्। अस्मद्भुजैर्न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः। राज्यदातृत्वमयोर्द्विषतामेव स्वात्मन्येऽस्मद्भुजवैफल्यात्। 'क्षत्रियस्य विजेतव्यम्' इति स्वबाहुबलार्जितमेव राज्यं प्राप्यमिति भावः। कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते। 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने। भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया। उक्तं च न्यासोद्द्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्यमानाऽपि' इति ॥ १७ ॥

जननाथ ! यदि शत्रु पुनः राज्य लौटा दें और वह आप के करतल में हो जाय तो आप के सोदर्यों के पराक्रमशाली भुजायें फिर कब और कहाँ सफल होंगी ॥ १७ ॥

ननु साम्नैव कार्यसिद्धौ किं दण्डेन। यथाऽऽह मनुः—'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन' ॥ इति। तत्किमाग्रहेणे·त्याशङ्क्याह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

मदेति। मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः, मदवर्षिभिरित्यर्थः। स्वयं स्वेनैव हतैः करिभिर्वर्तयते वृत्तिं करोति। तैरेव जीवतीत्यर्थः। चौरादिकाद्वृतेर्लट्। भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदनियमादिति। तथाहि—तेजसा प्रभावेण। 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यग्नौ च रेतसि' इति वैजयन्ती। जगल्लघय

कलघूकुर्वन्महांस्तेजस्यन्यतोऽन्यस्मात्पुरुषाद् भूतिं वृद्धिं नेच्छति खलु । नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम् । मनुवचन स्वतुल्यविषयमिति भाव । विशेषेण सचमा णसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ १८ ॥

मृगेन्द्र (सिंह) अपने मारे [illegible] मदस्रावी दन्तियों (हाथियों) के द्वारा अपना आहार सम्पादन (निर्वतन) करता है उसी तरह महान् व्यक्ति संसार को अपने प्रताप से अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायता से अपने अभ्युदय की अभिलाषा नहीं करता १८

ननु मुख्याप्तिको कामः उपायान्तरैस्तु न तयेत्याशङ्क्याह—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः ।

अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

अभिमानेति । अभिमानधनस्य शरीरपर्यन्तमानाभिरक्षस्य । अत एव गत्वरैर नश्वरैरस्थिरै । 'गत्वरश्च' इति करपन्तो निपात । असुभि प्राणैः । करणै । असु इति भूम्नयसवः प्राणा' इत्यमर । स्थास्नु स्थिरम् । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु' इति ग्स्नुप्रत्ययः । यशश्चिचीषतश्चेतुं सङ्ग्रहीतुमिच्छत । चिनोते सन्नन्ताच्छतृप्रत्यय । अचिरभासो यस्या साऽचिरांशुर्विद्युत्तस्या विलास स्फुरण तद्वच्चञ्चला चणिकेत्यथः । लक्ष्मीः सम्पत् अनुषङ्गाद्भवत्यानुषङ्गिकमप्राधान्यशिष्टमप्य फलम् । मान धनस्य यश एव मुख्य फलमस्तुस्यमस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिदमेव रक्षणमिति त्यथः । अत्रास्थिरप्राणव्ययेन स्थिरयशसः परिक्रयाभिधानात्परिवृत्तार्थिकविनिमयापरपर्यायपरिवृत्त्यलङ्कारः । तदुक्त काव्यप्रकाशे— परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमै इति ॥ १९ ॥

मानि कुल और अभिमान की रक्षा को अपना सर्वस्व मानने वाले पुरुष अस्थिर प्राणों के द्वारा स्थायी यश के एकत्रीकरण की इच्छा करते हैं कदाचित् उस के साथ २ विद्युत्प्रभा के परिस्फुरण सदृश चपल लक्ष्मी भी प्राप्त हो जाय तो वह उन के लिये आनुषङ्गिक फल है अर्थात् उन का लक्ष्य तो यश है यदि लक्ष्मी भी मिल जाती है तो क्या कहना ॥ १९ ॥

मन्यत्यस्य मानस्य हेतोः कथ प्राणत्यागः क्रियते कस्तु यतः— जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येद् इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।

अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥ २० ॥

ज्वलितमिति । जनो भस्मनां चय पुञ्जमास्कन्दति पादादिनाऽऽक्रामति । अदाहकत्वादिति भाव । ज्वलन्तम् । कर्तरि क्तः । अतिवृत्ति— इत्यादिसूत्रे चकाराद्दुसंज्ञाभावत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य त हिरण्यरेतसमग्निं नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भावः । अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात्पराभवभयेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयात्

सुनेव सुखमविक्लबमुल्लङ्घन्ति । मानहानिकृताज्जीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वरमित्यर्थः । पूर्वश्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

लोग राख के ढेर को पदाक्रान्त करते हैं, परन्तु प्रज्वलित अग्नि को पदाक्रान्त नहीं करते । मानी मानहानि की आशङ्का से सुखपूर्वक प्राण विसर्जित कर देते हैं, पर अपने मान मर्य्यादा तथा तेज को धक्का नहीं लगने देते ॥ २० ॥

अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यद्विजिगीषुत्व-मित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

किमिति । मृगाधिपः सिंहः किं [illegible] प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धरास्तान्पयोधरान्मेघान्प्रार्थयतेऽभियाति, 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वा—अवस्कन्दतीत्यर्थः । [illegible] अर्थयते । 'मा क्वचित् याच्ञाऽवरोधयोः' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । मा इति तृतीयान्तस्य प्रशब्दस्य योगविभागात् 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः । तथा हि—महीयसो महत्तरस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं न सहते । अतः परमार्थमेव पुरुषार्थं इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ २१ ॥

सिंह किस फल की आशा से गरजते मेघों को देख ऊपर को उछलता है, बड़े लोगों का वह स्वभाव है जिसके कारण किसी के अभ्युदय को वे सहन नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

सम्प्रत्युक्तप्रयोजनं निगमयति—उक्तार्थोपसंहरणं निगमनमुच्यते—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

कुर्विति । हे नृप ! तत्तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः, 'पत्तयस्तु हेतौ' इत्यमरः । प्रमादजं तमो मोहं निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुष एव मतिं कुरु, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहतास्त्वदनुत्साहेनाध्यवसायेन हताः प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद् ध्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥ २२ ॥

उत्साह और पराक्रम ही प्रधान है, अतः हे महाराज, असावधानता के अन्धकार को मार भगाइये, पराक्रमावलम्बी होने का विचार कीजिये । इस बात को अटल मानिये कि शत्रुओं की विपत्ति केवल आप के अनुत्साह के कारण दूर है, अगर आप उत्साही हो जाँय तो शत्रु शीघ्र ही विपद्ग्रस्त हो जाँय ॥ २२ ॥

न च न पराजयशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ॥ २३ ॥

द्विरदानिति । दिग्विभावितान्दिक्षु प्रसिद्धान्दिगन्तानागतान् आगच्छत । आङ्पूर्वाद् यमतो ल्युप्रत्ययः । चतुरो द्विरदान् दिग्गजानिव अनेकविशेषणाच्चतुरस्तोयनिधीनिव एव आयतो दिग्विभावितान्शतमन्युतेजसः इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान्द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत । सोढुं शक्नुयादित्यर्थः । अपि किम् च इति वाक्यार्थे किम् । अतो निश्शङ्कं गम्यतामिति भावः ॥ २३ ॥

(यदि आप कहें कि ऐसा करने में पराजय की आशङ्का है तो कदापि नहीं—) सम्पूर्ण दिशाओं में विदित गजों और चारों समुद्रों की भाँति समराङ्गण की ओर प्रस्थान करते हुये इन्द्र के समान पराक्रमवाले आप के अनुज भ्राताओं के पराक्रम को शत्रुओं में ऐसा कौन है जो सह सकता है ? ॥ २३ ॥

आशीर्वादव्याजेन कर्तव्यमाह—

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः ॥ २४ ॥

ज्वलत इति । तव चेतसि सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदसः । क्रोधाग्नेरित्यर्थः । शिवेतराऽशिवाऽमङ्गला । भर्तृमरणसूचकत्वादिति भावः । रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिर्वैरिवनिताऽश्रुप्रवाहः शमं विदधातु । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शमयितुमशक्यत्वात् तद्वधस्तव कर्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निरसनेन विषयिणो जातवेदसः पुनोपनिवन्धादुक्तिरयोगिरूपकम् । तदुक्तं— विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र साऽतिशयोक्तिः स्यात्कवे प्रौढोक्तिजीविता ॥ इति । तत्रापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपा । तत एवाम्बुभिर्वा प्यत्वोक्तिश्च घटते । यथा च—यथाऽम्बुसेकेनाग्निः शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ॥ २४ ॥

शत्रु के कारण आप के अन्तःकरण में सतत प्रज्वलमान क्रोधाग्नि को अमङ्गलसूचक रिपुरमणियों के नेत्र की अश्रुधारा शमन करे अर्थात् आप के शत्रु मारे जाँय उनकी विधवा स्त्रियाँ उनके वियोग में करुण रुदन करें जिससे आप के हृदय की ज्वाला शान्त हो ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो यस्यारम्भस्तमारम्भो येन तं कोप-

परीतमानसः कोपाक्रान्तचित्तः। इदं विशेषणद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम्। मरुतः सुतं भीमं महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्टं द्विरदमिव। एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते। उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्तः 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्। राजा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथञ्चिदवश्यो वशं याने शनैर्द्विरदवद्वशीकरणीय, न [illegible] त्याज्य इति भावः॥ २५॥

भूपति (युधिष्ठिर), उपर्युक्त प्रकार के विकारोत्पादनकर्ता क्रोध से आक्रान्तचित्त, वायुनन्दन भीमसेन को, दुष्ट मदवाले दन्ती (हाथी) की तरह वश में करने का प्रयत्न करने लगे॥ २५॥

प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—

> अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
> विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥ २६॥

अपवर्जितेति। विप्लवः प्रमाणबाधः। अन्यत्र वाह्यमलसङ्करः। सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नपवर्जितविप्लवे। शुचौ। सौशब्द्यलोकशुद्धिरिव शुचित्वम्। तद्वतीत्यर्थः। अत एव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे। एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे। 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः'॥ इति पुराणवचनात्। तव गिरां विस्तरे वाक्प्रपञ्चे। 'प्रथने वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधाद् 'ऋदोरप्' इत्यप्। अत एव 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः। मतिस्त्वद्बुद्धिरादर्शे दर्पण इव। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। विमला विशदाऽभिदृश्यते। वाग्वैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते। तत्पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः॥ २६॥

महाराज युधिष्ठिर ने कहा—"जिस तरह ऊपरी मलिनता से मुक्त (निर्मल), लोध्र आदि सामग्रियों से सुनिर्मित, चित्ताकर्षक और मङ्गलकारी दर्पण में रूप का प्रतिबिम्ब स्वच्छ दृष्टिगोचर होता है, उसी तरह प्रमाद मुक्त, सुन्दर शब्द योजना युक्त प्रिय और हितकर वाक्प्रपञ्च में तुम्हारी सुबुद्धि स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है॥ २६॥

अथ युग्मेनाह—

> स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
> रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ २७॥

स्फुटतेति। पदैः सुप्तिङन्तशब्दैः स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता। अर्थगौरवमर्थभूयस्त्वं च न न स्वीकृतम्। स्वीकृतमेवेत्यर्थः। वैकल्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिषेधार्थं नञ्द्वयम्। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः। गिरां पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता। अपुनरुक्तार्थतेति यावत्। रचिता कृता। तथा

क्वचिदपि सामर्थ्यं गिरामन्योऽन्यसाकाङ्क्षत्वं नारोहितं न वर्जितम् । अन्यथा दश-दाडिमादिशब्दवन्नैकवाक्यता न स्यात् । यथाऽऽह— अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् इति । अन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः पूरणगुण—'इत्यादिना प्रतिषेधात् । नैष दोषः । ये गुणवाचकाः शब्दा गुणे गुणिनि च वर्तन्ते यथा पटस्य शौक्ल्यं शुक्लः पट इति च तेषामेवात्र निषेधात् । ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचना यथा—गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयः तेषामनिषेधात् । तथा तदर्थेन गुणवचनेन समस्यते इति वचनाद् बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च । बलाकायाः शौक्ल्यमित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः । अत एवाह वामनः— धर्मपीतिमादिषु गुणवचनसमासो नाङ्गित्वाद् इति ॥ २७ ॥

तुमने इन्द्र और शिवल वर्णों से रचित वाक्य में दुर्लभ नहीं की है अर्थगाम्भीर्य को स्थान न दिया हो सो भी नहीं वाक्यों में परस्पर विरुद्ध बातों का भी समर्थ नहीं होने पाया है । तात्पर्य यह कि पुनरुक्त दोष से जो शून्य है और परस्पर शब्दों की आकांक्षा का भी परित्याग नहीं होने पाया है अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी तुम्हारी वाक्य रचना में नहीं होने पायी हैं ॥ २७ ॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥ २८ ॥

उपपत्तिरिति । किञ्च बलाद् बलमाश्रित्य । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या । उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता । पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः । उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः । तथाऽनुमानेन युक्त्याऽऽगमः शास्त्रं च न क्षतो न हतः । किन्त्वागमाविरुद्धमेवोक्तम् । अन्यथा—अविरोधानुमानस्यैव प्रामाण्यमस्मादिति भावः । ईदृगित्यं नामयुक्तमिदं वचनमनितरसाधारणत्वाद् इत्थं नामयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः । अनभिप्रायज्ञन्तु आशयः इत्यमरः । कः प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत । न कोऽपीत्यर्थः । इत्थं वक्तुमुपक्रमितव्यं नास्ति । वक्तुं तु दूरापास्त एवेति भावः । केचिदेतच्छ्लोकस्य निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसत् । द्वितीयेऽपि ... महावीरे भ्रातरि विधेये सर्वानुपपत्त्युक्तिनिन्दावाक्यकल्पनाऽनौचित्यादिति ॥ २८ ॥

तुमने जिन युक्तियों का उदाहरण दिया है वह पुरुषार्थ का अवलम्बन करती है और तर्क से जिन युक्तियों को सिद्ध किया है वे कोई शास्त्र विरुद्ध नहीं हैं । कौन ऐसा पुरुष है जो इस विचार से सहमत न हो और बलात् इस प्रकार कहने के लिये तैयार हो ॥ २८ ॥

यदि साधूक्तं तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथाऽपि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥

अवितृप्ततयेति । तथाऽपि त्वया सम्यङ्निर्णीतेऽपि मे हृदयमवितृप्ततयाऽसन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयमेव धावत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावत् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह—अथेति । विधेयेषु सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या । विशेषसम्पदोऽवान्तरभेदभूमानस्ता सुप्रमदक्लेशेनाव-सायितुम् । पुरुषाणामत्यानुकूल्येन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः । स्यतेर्ण्यन्तात्क्षणिकसंकर्षकात्तुमुन् । षोरणादिसूत्रस्याय विषय । क्षमन्त इति क्षमा । पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'क्षम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । विधेयमात्रस्य सुग-मत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्बाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्या-र्थः । अत्र निर्णयधावन प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्ग-मलङ्कारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ २९ ॥

यद्यपि उचित प्रतिपादन किया गया है तथापि मेरे मन को सन्तोष न हुआ, अतः वह कर्तव्यानुष्ठान के निर्णय की ओर अग्रसर हो रहा है। विशेष सम्पत्तियाँ सन्धि, विग्रहादि कर्तव्यानुष्ठान के विषय में अपने स्वरूप को सरलतापूर्वक प्रकट करने में असमर्थ होती हैं २९

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥३०॥

सहसेति । क्रियत इति क्रिया कार्यं सहसा । अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याक-स्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम् । न विदधीत न कुर्वीत । कुतः । अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमात्यन्तमापदां पदं स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृध्नव इति स्वयंवरवदुक्तिः । सम्पदः श्रियः । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । तं स्वयमेव वृणते भजन्ते हि । 'वृङ् सम्भक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्यैव प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसाविधाननिषेधलक्षणविमृश्यकारित्वरूपकार्य दु-रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयार्धेन च स एव साधर्म्ये-णेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

एकाएक (विवेचना किये विना) किसी कार्य्य का आरम्भ नहीं करना चाहिये। सम्यक् विचार न करना परम आपत्ति का उत्पादक होता है। गुण के ऊपर अपने आप को समर्पण करनेवाली सम्पत्तियाँ विचारवान् पुरुष को स्वयं मनोनीत करती हैं अर्थात् जो कुछ किया जाय उसके आगे पीछे की सब बातों का विचार कर लेना चाहिये ॥ ३० ॥

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिदर्शनात् एव । तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥ ३१ ॥

अभीति । यः पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमितसमासः । शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमानुसारात् । तानि च विधिबीजानि । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा । रूपकसमासः । अनुपालयन्प्रतीक्षमाणः सन्नभिवर्षति सिञ्चति । स पुमान् । फलं साफल्यमिष्यार्थोऽपि सस्यं च सस्ये हस्तकृते फलम् इत्युभयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां कर्म लोको जनः । लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः । शरदमिव सदा नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव । न कदाचिदपि नश्यतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिर्विवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृत्यवोरेकयोरभेदाध्यवसायात् श्लेषमूलातिशयोक्तिरसत्य उपहीता चोपमेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३१ ॥

जो विवेकी पुरुष कर्तव्य विषयों को बीज के समान मान कर उसे एक विचार रूप जल से सिंचन करते हैं वे (पुरुष) सदा उसी तरह फलसिद्धि प्राप्त करते हैं जिस तरह कृषक खेतों का सिंचन करते हुए शरत्काल में उससे फल से सुशोभित सस्य सम्पत्ति को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

नियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम् । सम्प्रति तामेव सप्रपञ्चं स्तौति—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

शुचीति । शुचि सम्प्रदायशुद्धं श्रुतं शास्त्रज्ञानं वपुः शरीरं भूषयति । अन्यथा विद्वानपि पशुः तोष्य इति भावः । तस्य श्रुतस्य प्रशमः क्रोधोपशान्तिरलंक्रिया भूषणं भवति । अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भावः । पराक्रमः तत्त्वावसरे शौर्यं प्रशमस्याभरणं भवति । अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीतिसम्पादिता । विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पथे पराक्रमवैफल्य स्यादिति भावः । 'वपुषो भूष्यत्वेनात्र सिद्धभूषणत्वेन तु । उभयेऽप्यभ्यमानतो तु तेषां पूर्वोपरेषक्रमात्' ॥ इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धेरनन्यभूषितात्मा एव भूषणत्वेनास्या सर्वोत्तरतया स्तुतिरुच्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं— यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणाह । उत्तरमुत्तरं पदं सैकावली कथिता ॥ इति ॥ ३२ ॥

गुरुसम्प्रदाय से शुद्ध शास्त्राभ्यास शरीर को शोभा बढ़ाता है । क्रोध का उपशमन करना उस शास्त्र का अलङ्कार होता है । अवसर प्राप्त होने पर शौर्य (पराक्रम)

क्रोधोपशान्ति का भूषण होता है और नीतिसम्पादितविवेकपूर्विका सिद्धि पराक्रम का आभरण होती है। तात्पर्य्य यह है कि विवेकी पुरुष की कार्य्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है और साहसियों की फल सिद्धि सन्देह रूप झूले पर झूलती रहती है॥ ३२॥

'विमृश्य कुर्या'दिति स्थितम्। तत्र विमर्शोपायः कः ? इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ ३३॥

मतीति। मतिभेदः कार्यविप्रतिपत्तिः। मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमासः। दीप इवेत्युपमाऽनुसारात्। तेन तिरोहिते आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृतः सदभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितोऽन्यत्र सुविहितः प्रमादादिदोषरहितश्च। आगमः शास्त्रम्। 'आगमः शास्त्र आयतौ' इति विश्वः। दीप इवार्थदर्शनं कार्यज्ञानं वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते॥ ३३॥

जिस प्रकार वातादिक विघ्नों से सुरक्षित और सुव्यवस्थित प्रदीप अन्धकारावृत वस्तु के प्रदर्शन कराने में समर्थ होता है उसी तरह जब विवेकी पुरुष कर्तव्यानुष्ठान के समय सन्देह और विकल्प में पड़ जाता है, उस समय सम्यक् अभ्यस्त और परिशुद्ध शास्त्रज्ञान उसके कर्तव्यपथ का प्रदर्शक होता है॥ ३३॥

एवं विमृश्य कुर्वतो दैवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः॥ ३४॥

स्पृहणीयेति। स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते वर्त्मन्याचारे मनो यच्छतां नियच्छताम्। सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः। विधिहेतुर्दैवनिमित्तकः। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। अत एवागसामपराधानामहेतुर्विनिपातो दैविकानर्थोऽपि। 'विनिपातोऽवपाते स्याद् दैवाद्व्यसनेऽपि च' इति विश्वः। समुन्नतेरभिवृद्धेः समस्तुल्यः। दैविकेषु पुरुषस्यानुपालम्भ्यत्वादिति भावः। यथाऽऽह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्तत्रानुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः' इति॥ ३४॥

प्रशस्त गुणवाले महापुरुषों के द्वारा आचरित पथ का अवलम्बन कर्ता व्यक्ति की आपत्ति (अवनति) किसी भी अपराधों का कारण नहीं होती और अदृष्ट ही उसका कारण होता है, तथा वह भी उन्नति के समान ही है॥ ३४॥

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥ ३५॥

शिवमिति । जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोधवेगाः सन्तो गरीयसीं प्रभूतामदूषितायतिमदुष्टोत्तरकालाम् । स्वन्ताभिप्रायः । फलनिष्पत्तिं फल सिद्धिं विगणय्य । फलवत्त्वं विनिश्चित्येत्यर्थः । पौरुषं पुरुषकारं नियमनुकूलमौपयि कमुपायम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । उपायाद्धस्वत्वं च । नयन्ति प्रापयन्ति । पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः । नानिश्चितफलं कर्म कुर्वत इति भावः । यथाऽऽह कामन्दकः— निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च । न कर्म कुर्यान्मतिमान्महद् वैरानुबन्धि च ॥ इति । नयतिः प्रापणार्थे द्विकर्मकः । अत्र पौरुषस्य कर्तृत्वकर्मत्वे अप्युपायस्यातत्पापरत्वात्कर्मत्वे विवक्षिते इत्यादिवत् कर्तृत्वे चाचारोरे कर्मणि इत्यात्मनेपदं न भवति ॥ ३५ ॥

विजयेच्छु पुरुष क्रोध के आवेग को जीत कर फलसिद्धि की बहुलता और उत्तर काल में उसकी स्थिरता का सम्यक् विचार करके पौरुषकार को उपाय से युक्त करते हैं ॥ ३५ ॥

पूर्वोक्त 'विजितक्रोधरयाः' इति तद्वाक्यमेकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ॥ ३६ ॥

अपनेयमिति । उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषात्मकं तिमिरं तम इति भयम् । तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणेनापनेयमपनोद्यम् । तथा हि—अंशुमताऽपि सूर्यः प्रभया तेजसा करणेन निशाकृतं तमो ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते । किन्तु विभिद्यैवेत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । वृत्तं भावे प्रत्ययः । पूर्वो भावे ल्युट् ॥ ३६ ॥

उदयाभिलाषी पुरुष को चाहिये कि सर्व प्रथम बुद्धि से अज्ञान को मार भगावे । अंशु माली (सूर्य) भी रात्रिजनित अन्धकार को नाश किये बिना उदित नहीं होते ॥ ३६ ॥

ननु पुनरप्येवमस्तु, बलीयसस्तु कोपादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥ ३७ ॥

बलवानिति । बलवान्प्रभुरपि यः कोपजन्मनः कोपाज्जन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः । बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपद इति वामनः । तमसो मोहस्य । कृत्यानां कर्तरि वा षष्ठी । अभिभवमाक्रमणं न रुणद्धि न निवारयति । स नृपः । क्षयस्य पक्षः क्षयपक्षः कृष्णपक्ष ऐन्दवीरिन्दुसम्बन्धिनीः कला इव । कला तु षोडशो भागः इत्यमरः । सकलाः समग्राः शक्तिसम्पदः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीर्हितवतोऽपि हन्ति नाशयति । स यस्य बलवत्त्वमपि कोपजन्यस्य लोकेश्वरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः ।

अत्र सर्वकारणत्वात्त्रयपथस्य कलात्रयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ॥ ३७ ॥

शूर होता हुआ भी जो पुरुष क्रोध से उत्पन्न होने वाले मोह की आक्रान्ति का अवरोध नहीं करता, वह कृष्णपक्षीय चन्द्रमा की कलाओं की भाँति अपनी प्रभु, मन्त्र, और उत्साह इन तीनों शक्तियों से हाथ धो बैठता है ॥ ३७ ॥

विजिगीषुरस्य कुर्वत क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥

समेति । यः समा आसिमृदुर्नातितिग्मा वृत्तिर्यस्य स समवृत्तिः सन् समये समवसरे मार्दवं मृदुप्रकृतित्वमुपैति तिग्मतां तीक्ष्णवृत्तित्वं च तनोति । स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव, ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति । सूर्योऽपि, ऋतुभेदेन समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥ ३८ ॥

वह भूमिपाल, जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है, यथासमय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता रहता है, वह सूर्य के समान अपने प्रताप से समग्र संसार पर आधिपत्य स्थिर रखता है ॥ ३८ ॥

कस्याप्यकारणेऽभिहमाह—

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

क्वेति । श्रियां सम्पदां चिराय बहुकालं परिग्रहः स्वायत्तीकरणं क्व ? इन्द्रियाणि वाजिन इवेत्युपमितसमासः । दुष्टानामसमार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्यो वशङ्गतस्तस्य भावस्तत्ता क्व ? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्माच्छरदभ्रवच्चलाश्चञ्चलाः । किञ्च बहुच्छलाः बहुस्खलाः । बहुरन्ध्रा इति यावत् । 'छलं तु स्खलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः सम्पदः । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैरसुरक्षा रक्षितुमशक्याः । कथञ्चित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३९ ॥

चिर काल तक सम्पत्तियों का वशीकरण कहाँ और उन्मार्गगामी घोड़ों की भाँति दुष्ट इन्द्रियों को अपने वश में करना कहाँ ? (क्यों कि) सम्पत्तियाँ शरत्कालीन मेघ की तरह चञ्चल और अनेक छिद्रों से पूर्ण हैं। चञ्चलेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा उनकी रक्षा होना सामर्थ्य के बाहर है ॥ ३९ ॥

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्याज्यतामुपदिशति—

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥

किमिति । उपात्तरंहसः प्राप्तवेगस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः सामयिकः । समयस्तदस्य प्राप्तम् इति ठञ् । स न भवतीत्यसामयिकस्तमप्राप्तकालं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया धैर्यगुणेन । मनसो निर्विकारत्वं धैर्य सत्स्वपि हेतुषु इति रसिकाः । अधरीकृतस्तिरस्कृतः । आगमिति शेषः । अपां पतिः समुद्रः किं किमर्थं मुच्चकैरधिकं क्रियते । न पराजितं पुनरुच्चैः कुर्यामिति भावः । अत्र वितन्वतेति धीमविशेषणस्येन अपामपतिपदार्थस्योच्चकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४ ॥

आपने अपने धैर्य के कारण जलराशि समुद्र को नीचा किया है फिर बेगवान् मन में असामयिक क्षोभ उत्पन्न करके उसे बढ़ने का अवसर क्यों प्रदान करते हैं ? अभिप्राय यह कि समुद्र अनन्त जलराशि प्राप्त करने पर भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता और श्रीमसेन ने भी अनेकानेक विपत्तियों से बाधा न होने पर भी धैर्य का परित्याग नहीं किया था अब समुद्र पर आप विजयी बने थे अब असामयिक क्षोभ के कारण धैर्य परित्याग करने से फिर समुद्र को ही विजयी बनने का अवसर प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः ।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

श्रुतमिति । किञ्च । ये नराः शास्त्रमधिगम्यापि शरीराज्जन्म येषां तान् शरीरजन्मनः रिपून् कामक्रोधादीन् विनयन्ते न नियच्छन्ति । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । ते खलु अचिराय सम्पदां चापलाश्रयमचापलमयशो दुष्कीर्तिं जनयन्ति । आश्रयदोषात्तस्यैवं सम्पदां च स्वदोषाविति भावः । अजितारिषड्वर्गस्य द्रुतं सम्पद इति भावः ॥ ४१ ॥

जो लोग शास्त्र के ज्ञाता होकर भी अपने शरीर से प्रादुर्भूत काम क्रोध लोभ मोह मद और अहंकार इन शत्रुओं को अपने वश में नहीं करते वे शीघ्र चपला सम्पत्तियों की अपकीर्ति के भागी होते हैं अर्थात् अल्पकाल में ही उनको सम्पूर्ण सम्पत्ति का अवसान हो जाता है ॥ ४१ ॥

तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

अतिपातितेति । अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साधनानि सहायादीनि यया सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्तरि ल्युट् । टित्वान्ङीप् । स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्तं जनवत्पृथग्जनमिव । 'तेन तुल्यम्—' इति वतिप्रत्ययः । तेनेवार्थो लभ्यते । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययम् । नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतुं पृथक्कर्तुं नार्हति । असमयकोपस्य तापमसन्तापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

समय और साहाय्य की अतिक्रमकारिणी और अपने ही इन्द्रियवर्गों की कष्टदायिनी, असहिष्णुता सामान्य व्यक्ति की भाँति तुम्हें न्याय के साध्य फल की सिद्धि से दूर करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

'कुरु क्रोधं' इत्युक्तम् । अथ क्षमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

उपकारकमिति । आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकं स्थिरफलहेतुरित्यर्थः । भूरिणः प्रभूतस्य कर्मफलस्य । प्रसूयतेऽनेनेति प्रसवः कारणम् । अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्वरमेव द्विषां निबर्हणं विनाशकमेवङ्गुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः । तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समासगा आर्थी लुप्तोपमा, भृशमायत्यनपायिशब्दैः साधनान्तरवैलक्षण्याद् व्यतिरेकश्च व्यज्यते । भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

भविष्य के लिये अत्यन्त उपकारिका और प्रचुर परिमाण में कर्मफल की जनयित्री शान्ति के सदृश स्वयं अविनाशी और शत्रुओं का विनाशकारी कोई अन्य साधन नहीं है ॥ ४३ ॥

ननु तितिक्षया कालक्षेपे सुयोधनः सर्वान्राज्ञो वशीकुर्यादित्यत आह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

प्रणतीति । सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढं बद्धचित्ताः । सुयोधने तु न तथेति भावः । किं च । मानभृतामहङ्कारिणां प्रथमेऽग्रेसराः । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो यादवाः प्रणतिप्रवणान्प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु न तथेति भावः । नोऽस्मान्विहाय सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति । किन्तु कार्यकाले स्वयमस्मानेवेत्यर्थः । सति यादवविग्रहे न किञ्चिद्दुस्साधं भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

यदुवंशी लोग अहङ्कारियों में सम्पन्न हैं इनका चित्त हम लोगों के स्वाभाविक प्रेम पाश में जकड़ा हुआ है हम लोग उनसे सर्वदा विनम्र रहते हैं । अतः वे हम लोगों के सिवा सुयोधन का अनुसरण सर्वथा नहीं करते रहेंगे । तात्पर्य यह कि अहङ्कार में सुयोधन उनसे बढ़कर है । वे लोग जितना हम लोगों से प्रेम करते हैं उतना उससे नहीं इसलिये वे लोग हमीं लोगों की सहायता करेंगे ॥ ४४ ॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

सुहृद इति । किं चैषां वृष्णीनां ये सहजाः सहभावाः । आप्तमित्रता इत्यर्थः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मतं वृष्णिमतं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति । ते द्वयेऽपि सुहृदः । दुर्योधनोपजीविनोऽपीति भावः । आत्मसिद्ध्यर्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं गमयन्ति । कालकाङ्क्षे तु वृष्णिपक्षमेवेति एकत्वम् । वालेन्य-आहर । अविरोधी—वृष्णादिना द्वुगाणाम ॥ ४५ ॥

तथा और जो इन यदुवंशियों के मित्रगण हैं और जो इनके मात-पितृपक्षीय हैं वे भी इनके मत के विरुद्ध नहीं जा सकते । वे केवल अपने समय को काटने के लिये धृतराष्ट्र के पुत्र सुयोधन के सामने विनम्र की तरह रहते हैं ॥ ४५ ॥

किञ्च नायमसंयोगकालः कृत्याकृत्येनाह—

अभियोग इमान् महीभुजो भवता तस्य ततः कृतावधेः ।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥

अभियोग इति । कृतावधेः परिमाणितकालस्य । अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च इति विश्वः । तस्य सुयोधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृतः । अभियोगः । अभियोगः आक्रमणमिति यावत् । 'अभियोगस्तु शपथे स्यादार्त्तौ च पराभवे' इति विश्वः । इमान्सर्वोऽपि महीभुजो राज्ञो हरिदश्व उष्णरश्मिः कमलाकरानिव समुत्पतन्नुद्यन्नेव प्रविघाटयिता भेत्स्यति । घाटयतेर्णौचादिकात्स्थुट चौरादिकस्य तु मितां ह्रस्वः इति ह्रस्वत्वं स्यात् ॥ ४६ ॥

सुयोधन ने जो त्रयोदश वर्ष की अवधि निश्चित की है उससे पहले यदि आप विग्रह करेंगे तो वह अभियोग यदुवंशियों को इस प्रकार छिन्न भिन्न कर देगा जिस तरह हरे रंग के घोड़े वाले सूर्य्य कमलसमूह की पखड़ियों को उद्भिन्न कर देता है ॥ ४६ ॥

अथ स ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—

उपजापसहान् विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

उपजापेति। मदोद्धतः स दुर्योधनो नृपतीनन्यान्नृपान्विकर्षयन्मदादवमानयन्। सहन्त इति सहाः पचाद्यच्। उपजापस्य सहान्भेद्यान्योग्यान्। 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः। विधाता विधास्यति। दधातेर्लुट्। अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः। न च ते सहिष्यन्त इत्याह—अल्पः प्राकृतोऽप्यन्यक्रियामपमानं न सहते। लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राज्ञां समूहः। 'गोत्रोक्षोष्ट्र—' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः। किमु। न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः। तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अहङ्कार से उद्दण्ड दुर्योधन राजाओं की अवमानना करके भेद योग्य बना देगा। एक साधारण व्यक्ति भी अपना तिरस्कार सहन करने में असमर्थ होता है तो जो लोकोत्तर प्रतापशाली राजन्यवर्ग है, उसकी कथा क्या कहना? अर्थात् वह अपमान कदापि नहीं सहन कर सकता॥

ननु 'लक्ष्मीनिवेशयोग्यामुपमेयशोभा'इत्युक्त्या तस्य मदसम्भावनाऽपि कथमित्याशङ्क्याह—

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

असमापितेति। असमापितकृत्यसम्पदामकृतकृत्यानामतोऽभिमानशालिनामहङ्कारिणां विभूतयः सम्पद एव तावता स्वल्पेन विनयेन। कार्यवशादारोपितेनेति शेषः। हतवेगं प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हतं मदमुत्तम्भयितुं वर्धयितुं प्रभवन्ति। सर्वथा दुर्जनसम्पदो विकारकारिणीति भावः ॥ ४८ ॥

कार्य को अधूरा छोड़ने वाले अहङ्कारियों की सम्पत्तियाँ कार्यवश कृत्रिम विनम्रता से, न्यूनवेग होने वाले अभिमान की वृद्धि करने में सहकारिणी होती हैं अर्थात् वह स्वार्थ साधन के लिये थोड़ा नम्र बना रहता है और अहङ्कार पर अधिक समय तक आवरण डालने में असमर्थ रहता है, अन्त में उसका अहङ्कार अपना रूप धारण कर ही लेता है ४८

अथ मदस्यानर्थहेतुतां सूचयन्नाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

मदेति। मदमानाभ्यां दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्यापरिज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न विमुञ्चति। अतिमूढो नयान्नीतिमार्गादुदस्यते उत्क्षिप्यते। कर्मकर्तरि लट्। नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽपरक्तो भवति। 'स्वरितञितः—' इत्यादिनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

अज्ञानता गर्व और अहङ्कार के कारण उद्दण्ड नरपति का कभी परित्याग नहीं करती। अत्यन्त अज्ञानी पुरुष नीतिपथ से भ्रष्ट हो जाता है। नीतिपथ से पराङ्मुख होने पर जनता भी उससे अलग हो जाती है॥ ४९॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अपरागेति । अपरागोऽप्रीतिः । द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेनेरितः प्रेरितः । अत एव क्रमेण शीर्णा शीर्णीभूताऽऽकुला चला च मूलसन्ततिः प्रकृत्यादिरूपजनवर्गः शिफासन्तानश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफायामन्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद् वृक्ष इव सहिष्णुना क्षमावतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः, सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र सपादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाला तस्याश्चोपमया चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

जैसे भीषण आँधी के प्रहार से धराशायी होने के कारण वृक्ष की जड़ें जर्जरित हो जाती हैं और वे वृक्ष आसानी से उन्मूलित हो जाते हैं; उसी तरह द्वेष से विचलित महान् शत्रु जिसके अमात्य वर्ग उसके विरुद्ध हो जाते हैं वह बिना परिश्रम के ही क्षमाशील पुरुष के द्वारा परास्त किया जा सकता है ॥ ५० ॥

मन्त्रभेदमात्रस्य कथं सुसाध्यत्वमाह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

अणुरिति । अणुरल्पोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽमात्यादिप्रकोपजः । प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । अमात्यादिषु ... अमात्यस्वाम्यादिकेष्वपि ॥ इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह—तरुशाखान्तानां निघर्षो घर्षणं तज्जोऽनलोऽग्निः । अखिलं गिरिमखिलं साकल्येन हिनस्ति हि दहतीत्यर्थः । अत्रोपमानोपमेयसमानधर्मयोः प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५१ ॥

अन्तरङ्ग अमात्यादिकों के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्पमात्र भी विरोध (विग्रह) राजा का नाश कर देता है जैसे वृक्ष की शाखाओं के परस्पर रगड़ने से जात दावानल समस्त पर्वतप्रदेश को भस्म कर डालता है ॥ ५१ ॥

तथाऽपि कथं सर्वभावं शत्रुमुपेक्षेतेत्यत्राह दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

मतिमानिति । मतिमान्प्राज्ञः । विनयं प्रमथ्नातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नतिं यदि समुपेक्षेत । उपेक्षायां कारणमाह—तादृगविनीतोऽन्तरे कश्चिद्रन्ध्रे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यः खलु । हि यस्मादविनीतसम्पदो विपदन्ता विपत्पर्यवसायिन्यः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि दुर्विनीत शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा कर दे। अत ऐसे शत्रु किसी न किसी दोष से सुजय होते हैं, क्योंकि दुर्विनीत मनुष्यों की सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में होता है ॥ ५२ ॥

कथ दुर्विनीतस्य शत्रो सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—

लघुवृत्तितया भिदा गत बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

लघ्विति । लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तत्वतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तरमात्यादिषु च भिदा भेद गतम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ् । नृपस्य मण्डल राष्ट्रमनन्तर सन्निहितो विजिगीषुरापगारयो नदीवेग शिथिलमन्तर्भेदजर्जर कूलमिवाभिभूयाक्रम्य हरति ॥ ५३ ॥

जैसे अन्तर्भेद से जर्जरित तट को नदी का प्रवाह नष्ट कर देता है, वैसे ही शत्रु के दुर्व्यवहार से मित्रादि प्रजावर्ग और अन्तरङ्ग मन्त्रिवर्ग भेद को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में समीपवर्ती राजा उस पर आक्रमण कर विजयी बन जाता है ॥ ५३ ॥

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

अन्विति । इतीत्थमाकुलमरिनिकारस्मरणात्क्षुभितमर्जुनाग्रज भीमसेन नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसङ्कीर्णं यथा तथाऽनुशासतमुपदिशन्तम् । 'अभिव्याप्य चरः' इत्यन्यस्यात्मनेपदम् । त युधिष्ठिर पराशरात्मजो वेदव्यास स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ इव । साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभीयाय प्राप ॥ ५४ ॥

शत्रु से किये गये अपकारों का स्मरण कर विक्षोभ को प्राप्त अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता भीमसेन को इस तरह विवेचनापूर्वक नीति मार्ग का उपदेश करते युधिष्ठिर के पास, स्वयं अभिलषित मनोरथ सिद्धि के सदृश पराशरपुत्र श्रीवेदव्यासजी का आगमन हुआ ॥ ५४ ॥

अथ युग्मेनाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

मधुरैरिति । मधुरैः शान्तैर्निरीक्षितैरवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न विद्यते वशः येषां तान्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च' इति विश्वः ।

तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं कम्मकल्यापयन् । 'शमेश्च' इति मुमागम । 'तात्पर्य—इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । पश्यति पदद्वन्द्वक्रमेणासाम् । वहतेऽनेनेति वहनं निवर्तकं तथाऽपि विलोकनवचन दर्शनीयम् । वहुधादिविकल्पमिति भावः । धाम तेजो बिभ्रत् ॥ २२ ॥

सहसेति । पुन सहसोपगतोऽकस्मादागतस्तपसां मूर्ति प्रभव आपदामस्तुतिर प्रभव । निवर्तक इति यावत् । स मुनिर्व्यासो वपुष्मान्देहधारी पुण्यसञ्चयः पुण्यरा शिरिवेत्युत्प्रेक्षा । जगतीभुजा राज्ञा सविस्मयं ददृशे ददृशे ॥ ११ ॥

तपोवच्यासजी सौम्य निरीक्षण से समस्त पशु-पक्षियों के हृदय में शान्ति स्थापित करते थे । उनका तेज-पुञ्ज अत्यन्त समुज्ज्वल तथापि अवलोकन योग्य दुष्कर्मों का नाशक था । विपत्तिनिवारक तपश्चर्या के उत्पादक अकस्मात् आये हुये वेदव्यास को राजा ने साक्षात् शरीरी सुकृत पुञ्ज की भाँति देखा ॥ ५५–५६ ॥

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरम् । उच्चकैरुन्नतात्परार्ध्याच्छ्रेष्ठात् । अर्घ्यार्हात् । 'परा-र्ध्याग्रप्रवरार्घ्यवर्याः' इति यादवः । आसनतः सिंहासनादुद्यन्नुत्तिष्ठन्नत एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः । स नृप कीर्णा विसृता आकपिशा-अंशुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः शृङ्गादुद्यन्तिग्मरश्मिरिव । रराज ॥ १७ ॥

पद्मोत्तर ऊँचे श्रेष्ठ आसन से (स्वागतार्थ) उठते हुये युधिष्ठिर के अरुण रंग के वल्कल कम्पित हो रहे थे । उस समय उन की शोभा कपिल वर्ण की किरणपुञ्ज को फैलाने वाले सुमेरुशिखर से उदय होते [illegible] भगवान् भास्कर की सी प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।
तदनुमतमलंचकार पश्चात्प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥

अवहितेति । स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽनन्यचित्तः सन् । ऋषिप्रवरे मुनिश्रेष्ठे, ऋषिवदृष्यर्हाम् । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । गुरूपदिष्टाम् । शास्त्रीयामित्यर्थः । अर्हां पूजाम् । 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययः । विधाय पश्चादनन्तरं तदनुमतं तेनानुज्ञात-मासनम् । प्रशमः शान्तिः श्रुतं शास्त्रज्ञानमिव । अलंचकार । उक्तं च— 'प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया' इति । तुल्यायोगोपमिकालङ्कारः ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर महाराज ने सावधान होकर शास्त्रीय विधि के अनुसार मुनिश्रेष्ठ व्यास

देव की ऋषियों के योग्य पूजा की। पुनः जिस तरह शम, शास्त्र को सुशोभित करता है, उसी तरह उन्होंने मुनि की आज्ञा से अपने आसन को सुशोभित किया॥५८॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः॥५९॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः॥२॥

व्यक्तेति। व्यक्तोदितैः स्फुटोद्गतैः स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तथोक्तः। विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः। इद्धं दीप्तमंशुजालं तन्वन्तं गुरुं गीष्पतिम्। 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः। 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया। अभितोऽभिमुखम्। तिष्ठत इति शेषः। सकलस्य सम्पूर्णस्य शशाङ्का मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म। अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्या साक्षात्सम्बन्धासम्भवात्सदृशीं लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपार्थवृत्तिर्निदर्शनालङ्कारः। तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्याकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन। तत्साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽभिमता' इति॥५९॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
किरातार्जुनीयमहाकाव्यव्याख्यायां घण्टा ख्यायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः॥२॥

मुनि का तेज सर्वत्र फैल रहा था। उनके समीप बैठे हुए युधिष्ठिर, जिनके अधर (होठ) मन्द हास के समय दन्तपंक्तियों से निःसृत परिस्फुरणकारी किरणपुञ्जों से उद्भासित हो रहे थे, चतुर्दिक् अपने प्रभापुञ्ज को बिखेरते हुए बृहस्पति के समीप समागत, सम्पूर्ण कला सम्पन्न शशलाञ्छन (चन्द्रमा) की शोभा को प्राप्त हुये॥५९॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ॥२॥

तृतीयः सर्गः ।

अथ त्रिभिर्मुनिं विशिंषंश्चतुर्भिः कलापकमाह । तदुक्तम्— द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥ इति ।

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥ १ ॥

तत इति । ततः उपवेशनानन्तरं धर्मात्मजो युधिष्ठिरः शारदचन्द्रकराभिरामैः आह्लादकैरित्यर्थः । उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिरंशुजालैः प्रांशुमुन्नतमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । पुनरानीलरुचं कृष्णवर्णं पिशङ्गीः पिङ्गवर्णाः । गौरादित्वान्ङीष् । जटा बिभ्राणं धारयन्तमत एव तडित्वन्तं विद्युद्युक्तमम्बुवाहमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

पाण्डवों आसनासीन होने पर (बैठ जाने पर) शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान मनोहर ऊर्ध्वप्रसरणशील तेज समूह से उन्नत (डील डौल में बड़े) मालूम पड़ते थे । उनके शरीर का रंग हल्का नीला था । उनके सिर पर पीली जटा थी । अतः वे बिजली से युक्त मेघ के समान दिखाई पड़ते थे ॥ १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥ २ ॥

प्रसादेति । पुनः समग्रां संपूर्णां प्रसादः सौम्यता तस्य लक्ष्मीं संपदं दधतम् । अत एव जनमतिगच्छतीति जनातिगेन लोकातिशायिना । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । वपुःप्रकर्षेणाकारसंपदाऽसंस्तुतानामपरिचितानामपि । अभ्यासोऽपरिचितानामपीत्यर्थः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । चेतःसु चित्तेष्वार्द्रं भावमभिप्रायं प्रसह्य बलात्समासजन्तम् । आसञ्जयन्तमिति यावत् । 'मृदावार्द्रस्त्वसौ चापि' इत्युभयत्रा कोशः । प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि विश्वसितीति भावः ॥ २ ॥

उनमें प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियाँ पाई जाती थीं । शरीर की स्थूलता में सबसे बढ़े-चढ़े थे । जिसके कारण अपरिचित लोगों के हृदय में भी अपने विषय में श्रद्धा और भक्ति का भाव स्थापित करा देते थे ॥ २ ॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेङ्गितेन ॥ ३ ॥

अनुद्धतेति । पुनरनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन विविक्तां तदन्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां पूताम् । शान्तामिति यावत् । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । तन्वन्तं प्रकटयन्तम् । आकृतिरेवास्य चित्तशुद्धिं कथयतीत्यर्थः । पुनर्माधुर्यं निसर्गसौम्यता

विस्रम्भो विश्वासः । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तयोर्विशेषमतिशयं भजतीति तथोक्तेनेक्षितेन दर्शनेनैव कृतोपसम्भाषां सम्भाष्यम् येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा । दृष्टिविशेषेणैवोपसम्भाषमाणमिव स्थितमित्यर्थः । काशिकायां तु 'उपसम्भाषणमुपसान्त्वनम्' इति भासनादिसूत्रे ॥ ३ ॥

उनका आकार शान्त था, जिससे उनके अन्तःकरण की सौम्यता के भाव स्पष्ट झलक रहे थे। सौम्यता और विश्वास पूर्ण अवलोकन से प्रतीत होता था कि इनसे कभी सम्भाषण हो चुका है ॥ ३ ॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥ ४ ॥

धर्मेति । धर्मं निबध्नन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादिकानाम् । एनः प्रणुदामघविघातिनाम् । क्विप् । श्रुतीनां वेदानाम् । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । प्रसूतिं प्रभवं सुखेनोपविष्टं मुनिं तदभ्यागमने तस्य मुनेरागमने हेतुं परीप्सुर्जिज्ञासुः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । आबभाषे उवाच ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रप्रभृति जो धार्मिक कृत्य हैं उनके प्रतिपादक और दुष्कृतों के विनाशक शास्त्रों के निर्माणकर्ता (रचयिता) थे। ऐसे मुनि के आगमन का कारण जानने की इच्छा से धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) ने मुनि से कहा ॥ ४ ॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री ।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ ५ ॥

अनाप्तेति । अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसमूहैर्दुरापा दुर्लभा फलस्य सवित्री श्रेयस्करी निर्धूतरजा हतरजोगुणा, अन्यत्र निरस्तधूलिः । 'रजो रजोगुणे धूलौ परागार्तवयोरपि' इति यादवः । एषा भवद्दर्शनसम्पत्तिः । सम्पत् इति यादवः । सम्पदादिभ्य क्विपो भावार्थत्वात् । वीतबलाहकाया गतमेघाया दिव आकाशस्य सम्बन्धिन्या वृष्टेस्तुल्येत्युपमालङ्कारः । अनभ्रवृष्टिवदतर्कितोपनतं भवद्दर्शनं सर्वथा कस्यचिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः । वारि वहतीति बलाहकः । पृषोदरादित्वात्साधु ॥ ५ ॥

आपकी यह दर्शन-सम्पत्ति, बिना पुण्य सञ्चय किये हुये पुरुषों के लिये दुष्प्राप्य है, यह रजोगुण से रहित है, और अभिलाषाओं को सफल बनाने में समर्थ है। यह मेघ-निर्मुक्त आकाश की वर्षा के सदृश है। मुझ-जैसे व्यक्ति के लिये आप का दर्शन असम्भावित था ॥ ५ ॥

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः ।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

अद्येति । अद्य कल्पतौ क्रिया मदनुष्ठानानि कामान् दुहन्तीति कामदुघाः । फलदा इत्यर्थः । दुहः कब् घश्च इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च । भूमिदेवा ब्राह्मणाः । 'द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः' विप्रश्च ब्राह्मणः इत्यमरः । तस्याशिषो जाताः । ब्राह्मणाशिषोऽद्य फलिता इत्यर्थः । यतस्त्वय्यभ्यागते सति । त्वदागमनेनैव निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । 'अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि' इति प्रयोगात् । आ संसृतेः संसारात् । आसंसारमित्यर्थः । अभिविधावाङ्विकल्पात् समासः । जगत्सु बहुमानपात्रं बहुमानस्थानमस्मि । आसम् । सकलकल्याणफलभूतं त्वदागमनं येन मे सम्पन्नमिति भावः ॥ ६ ॥

आज आप के शुभागमन से मेरे किये हुये कर्मानुष्ठान सम्पूर्ण कामनाओं के पूरक हुये । इस समय ब्राह्मणों का आशीर्वाद सत्य हो गया । जब से सृष्टि की रचना हुई है, तब से मैं ही आज इस संसार में सबसे अधिक सम्मान का पात्र हुआ ॥ ६ ॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्तिम् ।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

श्रियमिति । आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तवामोघमविफलं संदर्शनं श्रियं विकर्षत्याकर्षति । अघानि दुःखान्यपहन्ति । 'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः । श्रेयः सुकृतं परिस्नौति स्रवति । कीर्तिं च तनोति किं बहुना किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

जगद्गुरु आप का दर्शन स्वयम्भू (ब्रह्मा) के समान विफल नहीं हो सकता यह श्री की वृद्धि करता है पापों को निर्मूल करता है कल्याण की वर्षा करता है और कीर्ति का विस्तार करता है ॥ ७ ॥

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्संनिधावुच्छ्वसितीव चेतः ॥ ८ ॥

श्च्योतदिति । हे भगवन् ! श्च्योतन्मयूखे सुधाद्राविकरे हिमद्युतावपि हिमद्युतिबिम्बावपि विषये न निर्वृतम् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्संनिधौ निर्वृतिं सुखमेति । तथा चेतश्च समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहदुःखं सदुच्छ्वसितीव प्रीणाङ्कुरोदयेन प्राणितीवेत्युत्प्रेक्षा । पूर्वार्धे तु निर्वृतिकारणे सत्यपि तदनिर्वृतिकथनाद्विशेषोक्तिः । तदुक्तं—'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥ ८ ॥

अमृतमयी किरणों के परिस्रावकारी और शीतल ज्योतिःस्वरूप चन्द्रमा के दर्शन से मेरे नेत्र (तृप्त) नहीं होते थे वे (आज) आप के दर्शन से तृप्त हो गये । इस समय बान्धवोंके वियोगजनित दुःख का परित्याग कर मेरा हृदय पुनः जीवित हो उठा है ॥ ८ ॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

निरास्पदमिति । प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम् । त्वदागमनप्रयोजनप्रश्नो निरास्पदं निरर्थमित्यर्थः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रश्नानवकाशे हेतुमाह—निःस्पृहाणाम् । युष्मादृशामित्यर्थः । अस्मास्वधीनमायत्तं किमु । न किञ्चिदस्मत्तो लभ्यमित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । तथाऽपि कल्याणकरीम् । अस्मद्धितैकहेतुमित्यर्थः । निःस्पृहत्वे पारार्थ्यादिति भावः । 'कृञो हेतु—' इति टप्रत्यये ङीप् । अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम् । मुखं वागस्यास्तीति मुखरो निरन्तरभाषी । 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' इति रः । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । ततश्च्विप्रत्ययः । मुखरीकरोति । व्याहारयतीत्यर्थः । निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्मद्धितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ९ ॥

आप के आगमन के प्रयोजन की वार्ता सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि जिन्हें किसी तरह की इच्छा नहीं है उनका हम लोगों के साथ प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? । पर होते हुये भी आप के आगमनप्रयोजन की वार्ता जानने के लिए मेरी इच्छा मुझे प्रेरित करती है ॥ ९ ॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

इतीति । इतीत्थमुक्तिविशेषरम्यमुक्तिवैचित्र्यचारु यथा तथोक्तवान् । उदारचेता महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन । द्वीपमयनं स्थानं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः । स एव द्वैपायनस्तेन । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । नापत्यार्थे । 'नडादिभ्यश्च फक्' । तेष्वेव पाठाद्यापित्तार्थत्वात् । जयोपपत्तौ मनः समाधाय । जयसिद्धिमपेक्ष्येत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदारामर्थवतीं गिरमभिदधे उक्तः । दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' ॥ इति वचनात् ॥ १० ॥

उदार अभिप्राय वाले युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त प्रकार की उक्ति के वैचित्र्य से सुन्दर वचन कहे । फिर मन के विजय काम का ध्यान रखते हुये व्यासजी ने उदार वचनों में महाराज से कहा ॥ १० ॥

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थ्यमद्रोहमुखेन परिहरति—

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम् ।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥ ११ ॥

चिचीषतामिति । अलघ्वीं गुर्वीम् । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप् । यशो-

अवतंसां कीर्तिभूषणाम्। उभयलोकेऽपि च भूतिं श्रियमभिलषतां वेतुं सकामहीं गुणिष्वन्तराम् चिनोतेः समन्तात्प्रत्ययः। शरीरिणां बन्धुषु विषये तुल्यरूपैकविधा वृत्तिर्व्यवहारोऽभ्यर्हितोचिता। तपोधनानां त्वत्सदृशां विशेषेण नियमेनाभ्यर्हिता॥ ११॥

इस लोक तथा परलोक में कीर्ति और शोभा से युक्त महान् ऐश्वर्य की कामना करने वाले शरीरधारियों के लिये कुटुम्बियों के समक्ष समान व्यवहार करना उचित है तथा तपस्वियों के लिये तो विशेष प्रकार से समान व्यवहार करना उचित है॥ ११॥

तथापि निघ्नं नृप! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः॥ १२॥

तथापीति। तथापि तुल्यदृष्टित्वेऽपि। हे नृप! तावकीनैस्त्वदीयैः। 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति खञ्प्रत्ययः। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। गुणौघैः प्रह्वीकृतमायत्तीकृतं मे हृदयं निघ्नं स्वाधीनम्। 'अधीनो निघ्न आयत्त' इत्यमरः। ननु निःस्पृहस्य कोऽयं पक्षपात इत्याह—वीतेति। वीतस्पृहाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाम्। मुमुक्षूणामपीत्यर्थः। भवन्तीति भव्याः साधवः। 'भव्यगेय—' इत्यादिना कर्तरि निपातः। तेषु पक्षपाताः स्नेहा भवन्ति। न तु साम्यभङ्गो महतां माध्यस्थ्यभङ्ग इति भावः॥ १२॥

यद्यपि हमें दोनों को समान दृष्टि से देखना चाहिए तो भी हे राजन्! आप के गुण राशि से आकृष्ट होकर मेरा हृदय आप के वश में हो गया है। कामनारहित मुक्ति के चाहने वाले महात्माओं का भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है॥ १२॥

अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धार्तराष्ट्रस्य सुयोधनादुत्कर्षमाह—

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान् वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः॥ १३॥

सुता इति। यूयं तस्य राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु। अपि तु सुताः एवेत्यर्थः। गुणैः शान्तिदाक्षिण्यादिभिः सुयोधनं नातीता नातिक्रान्ता वा। अतीता एवेत्यर्थः। कर्तरि क्तः। अपुत्रत्वमगुणत्वं च त्यागे हेतुः। युष्मासु तथा सतीत्यर्थः। उपालम्भे कारणमाह—य इति। यो धृतराष्ट्रो वो युष्मान् वृथा निष्कारणमेव त्यक्तवान्। यदि भवन्तः सुता गुणाधिकाश्च तर्हि कथमत्याक्षीदित्याह—बलादिति। स विषयाभिलाषो लोभतृष्णा बलाद्वा बलादिव। 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वः। मोहमविवेकं विधत्ते। विषयाभिलाषातिरिक्तो न कश्चिद्युष्मत्त्यागहेतुरस्तीत्यर्थः। अत्र कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १३॥

क्या आप लोग उस धृतराष्ट्र के पुत्रों में से नहीं हैं? अथवा आप लोगों ने गुणों से सुयोधन को नहीं जीता है क्या? जिसने आप लोगों को व्यर्थ निर्वासित किया है, वे विषयेच्छुक धृतराष्ट्र हठपूर्वक अविवेकी बने हुये हैं ॥ १३ ॥

अथ राज्ञः स्वसाध्वर्द्धनाय शत्रोर्हानिं सूचयति—

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥ १४ ॥

जहात्विति। एनं धृतराष्ट्रमर्थसिद्धिः कथं न जहातु। जहात्येवेत्यर्थः। 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले लोट्। तस्य त्यागकालः प्राप्त इत्यर्थः। कुतः। यो धृतराष्ट्रः संशय्य संदिह्य कर्णादिषु तिष्ठते। कर्णादीन्दुर्मन्त्रिणः संदिग्धार्थे निर्णेतृत्वेनाश्रयत इत्यर्थः। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति स्थेयाख्यायामात्मनेपदम्। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णेता। तथा हि। असाधुयोगा दुर्जनसंसर्गा जयान्तराया जयविघातकाः। किंच प्रमाथिनीनामुन्मूलनकारिणीनां विपदां पदानि स्थानानि। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। न केवलं जयघातिनः किंत्वनर्थकारिणश्चेत्यर्थः। धृतराष्ट्रोऽपि दुर्जनविश्वासाद्विनङ्क्ष्यतीति भावः ॥ १४ ॥

अर्थ सिद्धि (प्रयोजन सिद्धि) उस धृतराष्ट्र से, जो सन्देह-ग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिये कर्ण प्रभृति दुर्मन्त्रियों का आश्रय लेता है, क्यों नहीं अलग हो जाती?। क्योंकि दुष्टों का संपर्क विजय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होता है ॥ १४ ॥

एवं शत्रोरनर्थं सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धिं सूचयति—

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥ १५ ॥

पथ इति। रिपूणां समितौ सभायाम्। 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पथश्च्युतायां मार्गाद् भ्रष्टायाम्। दुरात्मनो दुःशासनस्य द्रौपदीकेशग्रहणसाहसमङ्गीकृतवत्यामित्यर्थः। चिराय धर्म्यां धर्मादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। धुरं भारं दधानेन। कष्टेष्वपि धर्मानुवर्तिनेत्यर्थः। त्वया विपत्स्वपि, अविपत्स्विव विभावयत एव रम्यं गुणेषु शान्त्यादिषु विषये परमुत्कृष्टं प्रेमाविष्कृतम् प्रकटीकृतम्। दुःसहमपि सोढवता त्वया साधु कृतमिति भावः ॥ १५ ॥

जब आप के शत्रुओं की सभा पथभ्रष्ट हो चुकी (जिसके फलस्वरूप दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्रापहरण की चेष्टा की) थी, उस समय भी आप लोग बहुत कालतक धर्मपूर्वक

कार्यभार वहन करते रहे। आप ने विपत्ति के समय भी गुणों के प्रति स्थायी एवं प्रशंसनीय प्रेम प्रदर्शन किया है ॥ २५ ॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ २६ ॥

विधायेति । किं च शम एकैव वृत्तिर्यस्य तस्य शान्त्यापरोपकारिणो भवतश्छलेन कपटेन। आत्मने हितं आत्मनीनः। स न भवतीत्यनात्मनीनः। स्वस्यैवानर्थहेतुरित्यर्थः। तम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' इति खप्रत्ययः। विध्वंसमपकारं विधाय कृत्वा। प्रकाशिताः प्रकटीकृतास्त्वन्मतिशीलयोस्तव प्रज्ञावृत्तयोः सारः प्रकर्षो यैस्ते तथोक्ताः। ते तव विद्विषः कृतोपकारा इवोपकृतवन्त इव। अपकारोऽप्युपकारायैव संवृत्तः। यदेषां दौर्जन्यं युष्माकं सौजन्यं च ख्यापितं भुवनेऽस्मादीदृशमित्यर्थः। क्रियमाणस्यापि सुवर्णस्य तापनादिना इव गुणाः परीक्षित एव प्रस्फुटीभवन्तीति भावः ॥ २६ ॥

आप के शत्रुओं ने शान्ति के व्यापक आपका अपकार जो उनके स्वयं नाश का कारण है करके आपकी बुद्धि और शील का प्रकाश दिखलाते हुये मानो आपका उपकार ही किया है क्योंकि उन लोगों के किये हुये दुर्व्यवहार से उनके और आप के गुणों का यथार्थ परिचय मिल गया है ॥ २६ ॥

अथ प्रयोजनान्तरमाह—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥ २७ ॥

लभ्येति । तव । त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । धरित्री विक्रमेण लभ्या प्राप्तव्या । न च सुलभा सा किन्तु—विपक्षश्च शत्रुरपि । वीर्यं शौर्यं अस्त्राण्याग्नेयादीनि बलानि सैन्यानि तैर्ज्यायानधिकतरः । अधिकतर इति यावत् । 'ज्य च' 'ज्यादादीयसः' इति आत्वम् । अतः प्रकर्षायाधिक्याय विधिरुपायो विधेयः कर्तव्यः । कुतः । हि यस्माद्रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा प्रकर्षप्रधाना । प्रकर्षायत्तेत्यर्थः । 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इत्यमरः । अधिक एव जयी, न तु दुर्बलस्येति भावः ॥ २७ ॥

पराक्रम का आश्रय लेकर ही आप को पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त करना होगा। आप का शत्रु बल और शस्त्र में आपसे बढ़ा चढ़ा है। अतः शत्रु से बढ़ने के लिये उपाय करना होगा क्योंकि युद्धक्षेत्र में विजयलक्ष्मी उत्कर्षाधीन रहती है ॥ २७ ॥

अथ 'त्रि—'इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विपक्षव्यायस्त्य वर्णयति—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः ।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ॥ १८ ॥

त्रिःसप्तेति। त्रिरावृत्तान्सप्तवारास्त्रि सप्त त्रिःसप्त । एकविंशतिकृत्व इत्यर्थं । त्रि· सप्तशब्दयो 'सुप्सुपे'ति समास । 'संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच्प्रत्यय । जगतीपतीनां महीपतीनां हन्ता नाशको गुरुरस्त्रवेदोपदेष्टा । स प्रसिद्ध इत्यर्थं । अत एव यच्छब्दानपेक्षत्वम् । तदुक्त काव्यप्रकाशे—'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादान नापेक्षते' इति । जमदग्नेरपत्य पुमान् जामदग्न्य । 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्प्रत्यय । यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूत । अम्बिकास्वयंवर इत्यर्थं । तदा भङ्गप्राप्तिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीन विवेद ज्ञातवान् । स्म । स्वविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भाव.। 'स्म पादपूरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्व ॥

परशुराम जमदग्नि ऋषि के पुत्र थे, जिन्होंने इक्कीस बार राजाओं का वध कर डाला था तथा शस्त्रविद्या के वे आचार्य थे । वे भी अपने शिष्य भीष्म से पराजित हो गये (हार गये) तब उन्होंने समझा कि जैसा पात्र होगा वैसा ही गुणों का प्रकर्ष होगा ॥ १८ ॥

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि ।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः ॥ १९ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्भीष्मे विषये । अनीश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमसामर्थ्यम् । 'तत्र दृष्टीश्वरवरेन्द्रसङ्गुलकौशलकुशलनिपुणानाम्' इति विकल्पाभावात् पूर्वपदवृद्ध्यभावः । तेन कृतव्यलीको जनितवैलक्ष्य । 'तु से वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादव । अन्तकोऽपि यमोऽपि पराभव प्राप्त इव । भीष्मस्येच्छामरणत्वादन्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भाव । स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन्कम्पयन्कस्य मनो भयैकप्रवण भय एकप्रवणमेकोन्मुखम् । विषयभावावस्थासमास· । न कुर्यात् । सर्वस्यापि मनसि भय कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

जिन भीष्मपितामह के विषय में यमराज भी असामर्थ्य से दुखी होकर पराजित सा हो गया, वही भीष्म युद्धस्थल में धनुष्कम्पन करते हुये किस के मन में भय उत्पन्न नहीं करेंगे अर्थात् सभी लोग भय से व्याप्त हो जावेंगे अर्थात् भीष्म ऐसे वीर दुर्योधन के सहायक है, इसलिये वह आपसे बल में बढ़कर है ॥ १९ ॥

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः ।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥ २० ॥

सृजन्तमिति । आजौ रणे इषुसंहतीर्बाणसङ्घान् सृजन्तं वर्षन्तं कोपज्वलितमत एव परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिखाग्राण्येव जिह्वा यस्य तं तथोक्तम् । जगल्लोकं जिघत्सन्तमत्तुमिच्छन्तम् । अदेः सन्नन्ताल्लटः शतृप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घसॢ' इति घस्लादेशः । अन्तकाग्निं कालाग्निमिव स्थितं गुरुं द्रोणं वो युष्माकं मध्ये कः सहेत सोढुं शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् ॥ २ ॥

जिस तरह प्रलयाग्नि अपने प्रचण्ड ज्वाला से संसार को जलाने के लिये उद्यत होता है उस समय उसकी ज्वाला में सब लोग आहुति बन जाते हैं ठीक उसी तरह द्रोणाचार्य जब रण के मैदान में बाणों की वर्षा करते हुये क्रोध में आकर सम्मुख उपस्थित हो जावेंगे उस समय आपलोगों में से कौन व्यक्ति उनका सामना कर सकता है ?॥ २ ॥

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥ २१ ॥

निरीक्ष्येति । संरम्भेण कोपेन निरस्तं त्याजितं धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं येन स तथोक्तम् । लाभेनैव परधैर्यापहारिणमित्यर्थः । आराधितजामदग्न्यं शुश्रूषितभार्गवम् । जामदग्न्यादधिगतास्त्रसंहस्त्रमित्यर्थः । राधेयं राधासुतं कर्णम् । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । निरीक्ष्य मृत्योरप्यसंस्तुतेष्वपरिचितेषु । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । भयेषु प्रसभं बलात्कारः पक्षपातः परिग्रहो जायेत । मृत्युरप्यस्माद्बिभीयात्किमुतान्य इति भावः । संभावनायां लिङ् । अत्र भयक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियापेक्षया तत्सद्भावान्निरीक्ष्येति ल्यब्निर्देशः समर्थनीयः । प्रधानोपसर्जनभावस्य प्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः । अत्र अवसम्बन्धपरिहितस्य मृत्योरपक्षपातसम्भावनाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २१ ॥

जिस अधिरथ पुत्र कर्ण के कोपभाजन से धैर्य का भी धैर्य छूट जाता है । जिन्होंने यमदग्निकुमार परशुराम की अच्छी तरह शुश्रूषा की है अर्थात् उनकी सेवा करके सरहस्य अस्त्रों को पाया है, ऐसे कर्ण को देखकर मृत्यु को ऐसा भय का होता है जिसका स्वरूप उनको स्वप्न में भी दिखलाई न पड़ा होगा ॥ २१ ॥

अथानन्तरं करणीयमात्मप्रयोजनं च युग्मेनाह—

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम् ।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥ २२ ॥

ययेति । यया विद्यया करणेन सुदुश्चरामतिदुष्करां तपस्यां तपश्चर्याम् । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् । 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामकारप्रत्ययः । आचरता । पश्चात् भवित भावः कुर्वतेत्यर्थः । अत एव समासादितं प्राप्तं साधनं पाशुप-

ताम्ररूपं येन तेन । कपिहनुमान्केतन चिह्नं यस्य तेन । अर्जुनेनेत्यर्थः । दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेजः समवाप्य । एते पूर्वोक्ता भीष्मादय उन्मूलिताः उन्मूलयिष्यन्ते । उन्मूलयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुट् । अत्र चिण्वदिडागमेऽपि तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात् । उक्तं च—"चिण्वद् वृद्धियुंक्च हन्तेश्च घत्वं, दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति । इड् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वह्निमित्तो विघाती ॥" इति ॥ २२ ॥

जिस मन्त्रविद्या के अनुसार अर्जुन उग्र तपस्या करके पाशुपतास्त्र रूप साधन प्राप्त करेंगे और जिसके कारण दुष्प्राप्य पराक्रम प्राप्त करके वह इन भीष्म द्रोण और कर्ण प्रभृति वीरों का नाश करने में समर्थ होंगे ॥ २२ ॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप ! देवतानाम् ।
दातुं प्रदानोचित ! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ॥ २३ ॥

महत्त्वेति । हे नृप ! महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्नां महानुभावानां देवतानामिन्द्रादीनाम् । आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम् । प्रसादयित्रीमित्यर्थः । करणे ल्युट् । ङीप् । भूरिधाम्नीं महाप्रभावाम् । 'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति विश्वः । 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वा ङीप् । तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपां सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिमिवेति विद्याया अमोघत्वोक्तिः । हे प्रदानोचित ! दानपात्रभूत ! फललोभनहेतुत्वादस्य पात्रत्वोक्तिः । दातुमुपागतोऽस्मि ॥ २३ ॥

हे प्रदानपात्र ! यह मन्त्रविद्या—जिसके द्वारा महामहिमशाली इन्द्रादिक देवताओं का आराधन किया जाता है, जिसका पराक्रम अतुल है और जो साक्षात् अणिमा, महिमा लघिमा इत्यादि सिद्धिस्वरूपा है, उसी मन्त्रविद्या का प्रदान करने के लिये आप के यहाँ उपस्थित हुआ । इससे आप लोगों के प्रभाव (बल और पराक्रम) की अभिवृद्धि होगी ॥

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः ।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥ २४ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवांसं प्रसन्नम् । ' । सदवसश्रुवः ' इति क्वसुः । तं मुनिं जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनः । 'ग्लाजिस्थश्च—' इति ग्स्नुप्रत्ययः । व्रज साधय साधनानुतिष्ठेत्येवरूपम् । अजातशत्रोर्धर्मराजस्य । स्वयमविद्वेषणशीलत्वादियं संज्ञा । वाक्यं प्रमाणयन् । तदादिष्टं सन्नित्यर्थः । अन्ते वसतीत्यन्तेवासी इव 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । विनयेनानौद्धत्येनोपाससाद समीपं प्राप ॥ २४ ॥

अर्जुन, शिष्यों की तरह (ज्येष्ठ भ्राता) युधिष्ठिर की 'जाओ, तपस्या करो' इस आज्ञा का स्वीकार कर विनम्र भाव से, विद्या का महात्म्य समझाते हुये तथा प्रसन्नमुख वेदव्यास के समक्ष उपस्थित हुये ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

निर्यायेति । अथ वह्निकणावदाता स्फुलिङ्गवदुज्ज्वला । देवतासान्निध्यादिति भावः । विद्येन्द्रस्य प्रकृता । दिनादिरम्यादर्कस्य प्रभातभास्करस्य बिम्बादिव महर्षेर्व्यासस्य मुखान्निर्याय निर्गत्य । 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' । दीप्तिरर्कदीधितिः स्फुरद्विकसत्पद्ममिव । पार्थाननमर्जुनस्य मुखमभिपेदे प्रविष्टा ॥ २५ ॥

जैसे दिन के प्रथम भाग के पश्चात् भास्कर के बिम्ब से निकल कर दीप्ति विकसित कमलों का आश्रय ग्रहण करती है वैसे ही अग्नि की चिनगारियों के समान अत्यन्त प्रकाशमान विद्या ने महर्षि व्यास के मुख से निकल कर अर्जुन के मुख का आश्रय प्राप्त किया ॥२५॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्विततार सद्यः ।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

योगं चेति । योग्यतमायातिसमर्थाय तस्मै पार्थाय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योगं ध्यानविधिं च । योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु इत्यमरः । तपःप्रभावात् सद्यो विततार ददौ । चिरकालप्राप्यमपीति भावः । येन योगेन तत्त्वेषु प्रकृतिमहदादिषु । तथा च—मूलप्रकृतिर्महानहंकारो मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति तत्त्वानि । अवभासे साक्षात्कारे कृते सत्यस्यार्जुनस्य चक्षुरपि चिराय समुन्मिमीलेवोन्मिषितमिवेत्युत्प्रेक्षा । तदा तस्य योऽपि महानविद्यान्धकारस्तिरोहितः प्रकाश इवाभवदिति भावः ॥ २६ ॥

व्यासजी ने अपने तपोबल से अचिर काल अर्जुन को शीघ्र ही योगविधि को बतला दिया जिससे चौबीसों तत्त्वों के ज्ञान में उनकी आँखें बहुत समय के बाद खुली हुई सी भाँति हो गई ॥ २६ ॥

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति । आशंसितः प्रार्थितो भूरिलाभोऽनेकलाभप्राप्तिर्येन तं तथोक्तम् । महाभाग्यसूचकमित्यर्थः । अन्तःकरणस्य चित्तस्योत्साहो लक्ष्यते । तदनुरूपं तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणव्यापारसमर्थमित्यर्थः । आकारं मूर्तिं दधानं तमर्जुनं मुनिर्विजयोदये विजयफलके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधिर्नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने' इति विश्वः । नियोजयिष्यन् नियोजयितुमिच्छन्नित्यर्थः । लृट् शेषे च इति लृट् । 'लृटः सद्वा' इति शत्रादेशः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

अर्जुन के अन्तःकरणमें उत्साह झलक रहा था। उनकी आकृति महान् लाभ की सूचना दे रही थी। उन्हें विजयलाभ दिलाने वाले तपोनियम में लगाते हुये व्यासजी ने कहा—

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन्।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम्॥ २८॥

अनेनेति। अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मा अयच्छन्। परस्य प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः। उपात्तशस्त्रो निगृहीतायुधः सन्। जपोपवासाभिषवैः स्वाध्यायानशनस्नानैर्मुनीनामाचारं समाचरानुतिष्ठ॥ २८॥

तुम (इस मेरे द्वारा उपदिष्ट) योग से अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि करके, अपने मार्ग को किसी को प्रदर्शन न कराते हुये (अर्थात् गुप्त रूप से) हाथ में शस्त्र धारण कर मन्त्र जप, आहार परित्याग और अभिषेक पूर्वक ऋषियों की वृत्ति को धारण करो॥ २८॥

क्षेत्रविशेषे तपःसिद्धिरित्याशयेन तं निर्दिशन्नाह—

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम्॥ २९॥

करिष्यस इति। यत्र शिलोच्चये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसत्तये प्रसादाय सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे, चारुशिलोच्चयं रम्यशिखरं तं शिलोच्चयं गिरिमिन्द्रकीलकम्। 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः। एष गुह्यको यक्षः। अनन्तरमेवास्य पुरः प्रादुर्भावादेष इति निर्देशः। क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति॥ २९॥

जिस पर्वत पर इन्द्र के प्रसादार्थ तुम्हें उग्र तपश्चर्या करनी है, उस रम्य शिखर युक्त पर्वत पर यह यक्ष तुम्हें क्षणमात्र में पहुँचा देगा॥ २९॥

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ॥ ३०॥

इतीति। इतीत्थं महेन्द्रसूनुमर्जुनं ब्रुवाणेनोक्तवता। 'वर्तमानसामीप्ये' इति भूते वर्तमानप्रत्ययस्तिरो क्षिप्रत्वसूचनार्थम्। तेन महर्षिणा तिरोबभूवेऽन्तर्दधे। भावे लिट्। राजराजो यक्षराजः। 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः। तस्यानुचरः पूर्वोक्तयक्षोऽस्य मुनेरादेशं साक्षादिव तं प्रदेशमर्जुनाधिष्ठितस्थानमधितष्ठौ। प्राप इत्यर्थः। 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम्॥ ३०॥

व्यासजी, इन्द्रपुत्र अर्जुन से पूर्वोक्त प्रकार का वार्तालाप समाप्त कर अन्तर्हित हो गये। इसके पश्चात् कुबेर का अनुचर (यक्ष) मुनि के मूर्तिधारी आदेश की तरह अर्जुन के पास आ खड़ा हुआ॥ ३०॥

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ।
इयाय सख्याविव संप्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः॥ ३१॥

कृतेति। स पुण्यजनो यक्षः कृतानतिः कृतप्रणामः सन् व्याहृतसान्त्ववादे उक्तप्रियवचने। 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः। जिष्णावर्जुने जातस्पृहो जातानुरागः सन्। सख्यौ सुहृदीव। 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। संप्रसादं विश्रम्भमियाय प्राप। तथा हि—सतां साधूनां योगः संगतिराशु विश्वासयति विश्वासं जनयति हि। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ३१॥

यक्ष ने प्रणाम किया और मधुरभाषी अर्जुन में प्रेम उत्पन्न कर मित्र की तरह विश्वास किया क्योंकि सज्जनों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करा देता है॥ ३१॥

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे॥ ३२॥

अथेति। अथोष्णभासा सूर्येणोदयाय पुनरुदयाय विहीयमानांस्त्यज्यमानानिति तमःप्राप्तिकारणोक्तिः। बृहद्द्युतीन् सौवर्णत्वाद्दीप्यमानानित्यर्थः। इति तमसः संकोचकारणोक्तिः। सुमेरुकुञ्जानिव। अत्र सुमेरुग्रहणं कुञ्जानां सौवर्णत्वोक्ति-समाधम्। तेनार्जुनेनोदयाय श्रेयसे विहीयमानान्बृहद्द्युतीनित्येकमुद्रिमभावात्। पूर्वाद्विशेषणद्वयोक्तमनुसन्धेयम्। पाण्डुसुतान्। चतुर इति शेषः। दुःखेन कृच्छ्रेण कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम्। तेषां विवेकित्वात्कष्ट-सिद्धत्वोक्तमित्यर्थः। तमः शोकोऽन्धकारश्च। तमोऽन्धकारे स्वर्भानौ तमः शोके गुणान्तरे इत्युभयत्रापि विश्वः। शनैर्मन्दं प्रपेदे। तेषां विवेकित्वाच्छनैरित्युक्ति-भावः। अत्र तमःपाण्डवस्य विशेषणसाम्याच्छ्लेषानुप्राणितोपमा॥ ३२॥

जिस तरह सूर्य उदय होने के लिये प्रकाशमान सुमेरु के शिखरों को पीछे छोड़ देता है फिर क्रमशः अन्धकार उन्हें व्याप्त कर लेता है ठीक उसी तरह अर्जुन अभ्युदय के लिये अनेकविध बुद्धिचातुर्य से प्रकाश रखने वाले अपने चारों भाई पाण्डुपुत्रों से जिस समय अलग होने लगे उस समय दुःख के द्वारा उत्पन्न होने वाले शोक ने धीरे २ उन्हें घेर लिया॥

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने॥ ३३॥

असंशयेति। असंशयमसंदिग्धं यथा तथाऽऽलोचितं विवेचितं यत्कार्यं तेन नुन्नो निरस्त इति कर्तृत्वहेतुर्भिः '...आदिभ्योऽप्युपसंख्यानम्' इति विज्ञा-तव्यम्। कार्यगौरवमालोच्य निरस्त इत्यर्थः। तथाऽपि प्रेम्णा भ्रातृवात्सल्येन कर्त्रा समानीय पुनराहृत्य विभज्यमानः अवशेषयितुमिष्यमाणः। तुल्येन प्रेम्णा तुल्य-

दुःखत्वं भवतीति भावः । पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि । अतिभारभूतमपि दुःखमित्यर्थः । सन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुल्यादिविभागादिव पूर्वोक्तार्थेनकृतात् समविभागादिवेत्यर्थः । वस्तुतस्तु विवेकादेवेति भावः । पुनर्विभागग्रहणं तस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षार्थमनुवादत्वाददोषः । लघुर्मेने मतः । यथैकोऽनेकधा विभज्य बहुभिरुह्यमानो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

चारों भाइयों ने चित्त से सद्भाव का परित्याग करके कार्य्य भार के ऊपर विचार किया था, अतः दुःख का भार दूर हो गया था, परन्तु आतृप्रेम के कारण फिर उसे उन्होंने एकत्रित कर के मन से समान भागों में मानो विभक्त कर लिया, जिस के कारण वह हल्का मालूम पड़ने लगा ॥ ३३ ॥

अथैषां प्रेम्णाऽऽक्रम्यमाणमपि शोकं विवेको निर्वासयतीत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः ।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥ ३४ ॥

धैर्येणेति । धैर्येण तेषां निसर्गतो निर्विकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य । प्रवर्तकस्येति शेषः । वि　　　 । । अदेयवचनत्वेनेत्यर्थः । अरातिप्रभवादरातिहेतुकात्तीव्रात् दुःसहान्मन्यो क्रोधाद्धेतोस्तथाऽर्जुनप्रभावपरिज्ञानाच्चेति हेत्वन्तरं विशेषणमुखेनाह—मघोनः सुतेऽर्जुने वीर्यं च । 'न लोके—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । विद्वत्सु । जानत्सु इति यावत् । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वस्वादेशः । तेषु पार्थेषु स शोकः स्थानं स्थितिं नावाप न प्राप ॥ ३४ ॥

वे चारों भ्राता स्वाभाविक धैर्यशाली थे, महर्षि वेदव्यास के वचनों में श्रद्धा रखते थे, शत्रु के दुर्व्यवहार से उन के क्रोध की मात्रा भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, और इन्द्र के पुत्र अर्जुन के शौर्य को वे जानते थे, अतः वह उन पाण्डवों के पास शोक ठहर न सका ॥ ३४ ॥

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरी ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

तानिति । तस्यार्थोऽस्य सकलक्रमं सुगमम् । 'अशर्मसातसुखानि च' इत्यमरः । तद्धित　　 दुःखम् । 'नञ्' इति नञ्समासः । भूरिधाम्नोऽतितेजस्विन इति हानिहेतुत्वोक्तिः । चतुरस्तान्पार्थानपि वासरस्य भूरिधाम्नश्चतुरो यामान्प्रहरानिव । दूरं विहाय त्यक्त्वैकौघभूतमेकराशिभूतं सत् । 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्मधारयः, 'श्रेण्यादिराकृतिगणः' इति शाकटायनः । कृष्णां विभावरी कृष्णपक्षरात्रिर्ध्वान्तमिव । कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप ॥ ३५ ॥

जैसे अन्धकार परम प्रकाशमान दिन के चारों पहरों का अतिक्रमण कर एकत्र होकर

कृष्णपक्ष की रात्रि के पास पहुंच जाता है, उसी तरह अर्जुन के विरह से उत्पन्न शोक प्रतिभाशाली चारों भाइयों का अतिक्रमकर एक राशि बनकर द्रौपदी के पास पहुंचा ॥ ३५ ॥

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ ३६ ॥

तुषारेति । सा द्रौपदी विलोकनेऽनुयानकालेऽगूढभावाऽप्रकाशिताभिप्रायाऽपि । दुःखाभिलाषिणीति यावत् । यात्रो वीक्षा क्रियाचेदमूल्यभिप्रायमनश्रु इति वचनत्वात् । मङ्गलभङ्गभीरुरमङ्गलहानेर्भीता सती । पर्यश्रुणी परिगलदश्रुके । बाष्पप्लुते इत्यर्थः । अत एव तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे हिमबिन्दुसहिते इन्दीवरसन्निभे इत्युपमाऽलङ्कारः । लोचने मीलयितुं न विषेहे न शशाक । अश्रुणो मङ्गलाचरणेऽपि सन्निपातदर्शनान्न त्वासक्तिपूर्वक निमीलनं सा न चकारेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अर्जुन के अवलोकन के लिये द्रौपदी का अभिप्राय प्रकट था तो भी उसने हिमकण से युक्त कमल के सदृश अश्रुपूर्ण अपने नेत्रों को अपमङ्गल हो जाने के डर से निमीलन करने में अपने को असमर्थ पाया (कहीं आंखों की ज्यों ही रहता । यात्रा के समय भी का आंख बहाना यात्रा को विफल कर देता है) ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

अकृत्रिमेति । इन्द्रसूनुरर्जुनः । कृत्रिमा निर्वृत्तः कृत्रिमः । द्वितः क्त्रिः इति क्त्रिः । मकारेऽक्रिमत्वम् इति मकारागमः । तद्धितत्वम् । प्रेमैव रसः । अकृत्रिमेण प्रेमरसेनाभिरामम् । अन्यत्र—प्रेमरसेन मधुरादिना चाभिरामम् । रामया रमण्याऽर्पितम् । दृष्टिं विलोभयतीति दृष्टिविलोभि । दृष्टिप्रियमित्यर्थः । दृष्टं दर्शनं नपुंसके भावे क्तः । मनःप्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिरिवेत्युपमितसमासः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साधु पाथेयं शम्बलमिव । पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् इति ढञ्प्रत्ययः । निकामं जग्राह । रामार्पितं पाथेयं पथि क्षेमाय भवतीत्याशयः ॥ ३७ ॥

इन्द्रनन्दन अर्जुनने पत्नि से की गई द्वारा समर्पित किये गये सम्बल (रास्ते का कलेवा) की तरह स्वाभाविक प्रेम रस से मनोहर दृष्टिविलोभी दर्शन को प्रसन्न मन से ग्रहण किया अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक देखा ॥ ३७ ॥

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥

धैर्येति । वन्यद्विपेन । वन्यगजेनानुकूलतयाऽवगाह्यमानः । निदाघसिन्धुर्ग्रीष्मनदीव । निदाघग्रहणं तोयस्याल्पत्वार्थम् । धैर्यावसादेन धैर्यभ्रंशेन कर्त्रा हृतप्रसादा

क्षतनैर्मल्या । क्षोम गमितेत्यर्थः । राजपुत्री क्षत्रियसुता द्रौपदी । अतः धात्त्र्युक्तमेव यथ्यतीति भाव । निरुद्धबाष्पोदय सन्नदरोदय सक्षामकण्ठ क्षीणस्वरम् । अथ तयोरुभयो कृतबहुव्रीह्योः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः । कृच्छ्रात्कथंचिदिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥

जिस तरह जङ्गली हाथी ग्रीष्म काल में नदियों की निर्मलता का अपहरण कर लेता है, उसी तरह धैर्य्य की न्यूनता ने राजकुमारी को प्रसन्नता का अपहरण कर लिया । अश्रुवेग के निरोध से उनका स्वर क्षीण हो गया था, इस लिये वह कष्ट के साथ बोली—॥ ३८ ॥

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥ ३९ ॥

मग्नामिति । पङ्कभूते पङ्कोपमिते । 'भूत प्रमाऽऽत्मौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयो' इति विश्व । द्विषच्छद्मनि शत्रुकपटे मग्नाम् । बुद्धामित्यर्थः । सम्भावनां पौरुषताम् । गौरवमिति यावत् । भूतिं सम्पदमिव । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमर । उद्धरिष्यन् । उद्धारकस्त्वमिति शेष । आधिद्विषा तु आधिहृदा तपसामा प्रसिद्धेः सम्यक्सिद्धिपर्यन्तमस्मद्विना । अस्माभिर्विनेत्यर्थः । 'पृथग्विना—' इत्यादिना विकल्पात्तृतीया । भृशं मोन्मनीभूः । अस्मद्विरहाद् दुर्मना मा भूरित्यर्थः । दौर्मनस्यस्य तप परिपन्थित्वादिति भाव । 'माङि—' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेध । अनुन्मना उन्मना सम्पद्यमान उन्मनी । अभूततद्भावे च्वि । 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च' इति सकारलोप । 'च्वौ च' इतीकार ॥ ३९ ॥

शत्रु के कपटरूप कीचड़ में फंसे हुवे सम्पत्तिरूप गौरव के आप ही उद्धारकर्ता हैं, इसलिये मानसिक व्यथा के दूर करने में समर्थ तपस्या की सिद्धि पर्य्यन्त हम लोगों के विरह से आप व्यथित न हों ॥ ३९ ॥

अथानौत्सुक्यमवलम्ब्यार्थं तस्य सर्वार्थसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥ ४० ॥

यश इति । यशोऽधिगन्तुम् । कीर्तिं लब्धुमित्यर्थः । सुखस्य लिप्सया लब्धुमिच्छया वा । मनुष्यसंख्यां मनुष्यगणनामतिवर्तितुमतिक्रमितुं वा । अमानुषं कर्म कर्तुं चेत्यर्थः । अभियोगभाजामभिनिवेशवतां निरुत्सुकानामनुत्सुकानाम् । अनुर्मनायमानानामित्यर्थः । सिद्धिः पूर्वोक्तस्य सुखाद्यर्थसिद्धिः । समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेवाङ्कमुत्सङ्गमन्तिकं वोपैति । तस्मादस्मद्विरहदुःखमा तपःसिद्धेः सोढव्यमिति भावः ॥

कीर्तिलाभ करने के लिये, सुख को पाने की, तथा मनुष्य की संख्या को उल्लंघन करने (सब से बढ़कर कहे जाने) की इच्छा से कार्य्य करने के लिये उद्यत जो पुरुष उत्कण्ठा का परित्याग कर देते हैं, उनको सिद्धि उत्कण्ठित रमणी की तरह अङ्कस्थ ` होती है ॥ ४० ॥

अथास्य मन्यूद्दीपनद्वारा तत्प्रवृत्तिं प्रकटयितुमविकारं तावच्चतुर्भिराह—

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोजः ।
तेजस्वितायां विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥

लोकमिति । विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोप्तुं विहितस्य सृष्टस्य क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः सम्बन्धि । जयनशीलं जेतृ तदेव जैत्रम् । जेतृशब्दात्प्रज्ञाद्यण् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । ओजो बलं दीप्तिर्वा । 'ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः । तदेव वसु धनमिति रूपकालङ्कारः । मुष्णन्नपहरन् । अतिनिराकृतस्य कुतः क्षात्रं तेज इति भावः । किञ्च विजयैकवृत्तेर्विजयैकजीविकायाः । 'वर्तिर्जीवनम्' इति अमरः । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः । तेजस्वितायाः तेजस्विनां भावस्यार्थः । तेजःप्राधान्ययोतनार्थं भावप्रत्ययनिर्देशः । प्रियं प्राणसममित्यर्थः । अभिमानमहङ्कारं निघ्नन् घ्नन् । तेजस्विनो मानहानिरेव प्राणहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

(आगे श्लोक ४१ से लेकर ४४ तक का सम्बन्ध एक दूसरे से जुड़ा हुआ है अर्थात् क्रिया श्लोक सं० ४४ के तीसरे चरण में 'नाशीशमत्' पद है और इसका कर्ता श्लोक सं० ४१ के अन्तिम चरण में 'विकार' पद है)। ब्रह्मा ने लोक की रक्षा के लिये क्षात्र तेज की रचना की है। विजयशील पराक्रम इसका सर्वस्व है। इस तरह के क्षात्र तेज की सम्पत्ति का अपहरण करता हुआ यह शत्रु पराभव रूप क्षत्रिय जाति के अहङ्कार का जो प्राणों से भी बढ़ कर है नाश करता है ॥ ४१ ॥

अविक्षेपायसहन तेजः भासमानेऽपि च त्यक्तमित्याह—

व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्या यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥ ४२ ॥

व्रीडेति । नृपैः । आप्तजनोपनीतः आप्तैः । प्रापित इत्यर्थः । तथा अपि संशय्य संदिह्य । नासंभाव्यमुपनमतीति भावः । व्रीडानतैः । जुगुप्सितवृत्तान्तश्रवणादिति भावः । नृपैर्बान्धवैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः । कथमेवमस्माकमापन्न इत्यर्थः । न भवतामपि दुःसहः किमुतास्माकमिति भावः । इत्येषा पूर्वोक्ता व्याख्या । अन्यथा च व्याख्यायते—आप्तजनोपनीतो धार्तराष्ट्रैः संशय्य कथमिदम् स्यादित्यनुपेक्ष्यमिति विचार्य व्रीडानतैः । जुगुप्सितकर्मदर्शनादिति भावः । नृपैस्तत्र स्थैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽङ्गीकृतः । गोत्रजत्वेन मध्यस्थैरुदासितव्यमिति बुद्ध्योपेक्षित इत्यर्थः । पक्षद्वयेऽपि प्रपन्नः इत्यत्राप्तजनोपनीतत्वस्य पदार्थभूतस्य विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः । पृथिव्यां विततमत्युत्कृष्टोपचितम् । अत एव वितान भूते वितानसमम् । उल्लोचतुल्यमिति यावत् । 'तुच्छे मन्दाऽऽदावृते भूते प्राणदर्शिते समे त्रिषु' इत्यमरः । अथवा वितानमुल्लोचः इत्यमरः । दिग्विकीर्णं दिगन्तव्याप्तम् ।

वितानमपि दिगन्तलग्नमिति भावः । वितत्य प्रथितं यश समुद्रमिव संकोचयन्निवे-त्युत्प्रेक्षा । अरातिपरिभूतस्य कुतः कीर्तिरिति भावः ॥ ४२ ॥

(दुर्योधन के समक्ष दुःशासन के द्वारा जो मेरा केशाकर्षणरूप निन्दित कर्म किया गया है) उस से और देशान्तर स्थित राजाओं ने पहले तो विश्वास नहीं किया फिर आप लोगों के मुख से निकलने के कारण किसी तरह विश्वास कर लज्जा से शिर झुका लिया। तथा उस सभा में उपस्थित आतीय और सम्बन्धी राजाओं ने इस कुत्सित कर्म को देख लज्जित हो कर किसी तरह उस की उपेक्षा की'—इस तरह का जो शत्रुकृत पराभव है, वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक चंदोवे की तरह फैले हुये आप के यश को सङ्कुचित करते हुए की तरह है ॥ ४२ ॥

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम् ।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः ॥ ४३ ॥

वीर्येति । पुनश्च । वीर्याण्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षं कृतास्कन्दनः । पुराकृत-पराक्रमकार्याण्यपि प्रमृजन्नित्यर्थः । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । अत एव सम्प्रतीतिं ख्यातिम् । 'ख्यातिः प्रथितख्यातविक्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । अभूतान् निवेत्युत्प्रेक्षा । सतोऽप्यसत्त्वमुत्प्रेक्षते—तन्वन्कुर्वन् । पुनश्चाह्नोऽवशेषो दिनान्तोऽर्कत्विषामिवायतीनामुत्तरकालानां प्रयामक्षयं दैर्घ्यनाशं कुर्वन्निति श्रौती पूर्णोपमा । अरिभिराक्रान्तस्य कुतश्चिरावस्थानमिति भावः ॥ ४३ ॥

यह शत्रुकृत पराभव, आप लोगों के पूर्व कृत पराक्रम के कार्य्यं पर परदा डालता हुआ, 'आपने पराक्रम का कार्य्यं कभी किया ही नहीं है' इस तरह की प्रसिद्धि (ख्याति) लोगों के बीच में फैलाता है और जैसे दिन का अवशिष्ट भाग दिशाओं में फैले हुये सूर्य्यं की किरणों का संहार कर डालता है वैसे ही यह निकार (पराभव) आप के उत्तर काल की स्थिरता का संहार कर रहा है ॥ ४३ ॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम् ।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥ ४४ ॥

प्रसह्येति । पुनश्च । परैः शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकारः परिभवः केशाकर्षणरूपः स्मर्तुं न शक्यः । अधिकर्तुमनुभवितुं किमुत । यस्य स्मर्तुमपि दुःसहत्वमनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । स निकारस्त्वद्विना त्वया विना 'पृथग्विना–' इत्यादिना पञ्चमी । आर्द्रः सन्कुठारच्छिन्नमूलस्यारुणप्रहार इव । त्वद्विरहदुःखात् पुनर्नवीकरिष्यति । नवीभविष्यतीत्यर्थः । उपशुष्यत् । त्वया विना शुष्कमिति भावः । दुःखसन्तप्त कोपपदार्थों मे हृदयं नवीकरिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति ।

व्रणमिवेति भावः। दुःखितस्य पुनर्दुःखोपचयः प्रशान्तप्रायमपि दुःखहेतुं पुनरुद्बोधयतीत्यर्थः। अत्र क्षोदादिविशेषणसाम्यात् प्रस्तुताप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥

बलपूर्वक शत्रुओं ने हम लोगों पर जो अत्याचार किया है उसकी स्मृति ही असह्य है फिर उसकी अनुभूति के विषय में कहना ही क्या? । यह आप की अनुपस्थिति में सूखते हुवे घाव की तरह हृदय का दुःख जो सूखता गया था फिर हरा करा देगा॥ ४४॥

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम्।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्घनाकीर्णं इवादिरह्नः॥ ४५॥

प्राप्त इति। अभिमानस्य व्यसनाद् भ्रंशाद् 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः। दन्तव्यसनाद् दन्तभङ्गाद्दन्तीवासह्यं विकारं वैरूप्यं प्राप्तः। अतो न सम्भाव्यस इति भावः। एवमुत्तरश्लोकद्वयेऽप्यनुसन्धेयम्। पुनश्च। द्विषत्प्रतापेन शत्रुतेजसा अन्तरितं तिरस्कृतमुरु तेजः प्रतापो यस्य स तथोक्तः। अत एव शरद्घनाकीर्णः शरन्मेघच्छन्नोऽह्न आदिः प्रभात इव स्थितः। अह्न एवाऽऽद्यत्वमभिसम्बन्धः इत्यर्थः। मध्याह्नस्य मेघावरणेऽपि कथंचिदालोकसम्भवात् पूर्वाह्णग्रहणमुक्तमाद्यहीति॥ ४५॥

दाँतों के टूट जाने से जिस तरह गजराज विकल हो जाता है उसी तरह (आप कल) मान मर्यादा के नष्ट हो जाने से आप भी विरूप–से हो गये हैं। आप का प्रताप शत्रु के प्रताप से आच्छादित हो गया है अतः आप शरत्काल के मेघ द्वारा आच्छन्न प्रातः काल की तरह हतप्रभ हो रहे हैं॥ ४५॥

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः।
यशःक्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः॥ ४६॥

सव्रीडेति। पुनश्च। निष्क्रियत्वाद् व्यापारशून्यत्वात् सव्रीडमन्दैरिव सव्रीडैरत एव मन्दैरपटुभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः। अस्त्रैरत्यर्थं नावभासमानो न प्रकाशमानः। एवं तु नैवमिति भावः। किं तु यशःक्षयाद्धेतोः क्षीणजलो योऽर्णवस्तदाभस्तत्सदृशस्त्वमन्यमाकारमभिपन्नः प्राप्त इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा। अत्र क्षीणजलार्णवाभ इत्युपमासंसृष्टिः॥ ४६॥

कर्म में न लाने के कारण ये अस्त्र लज्जित की तरह कुण्ठित हो गये हैं इनसे आप का तेज मन्द पड़ गया है। आप यश के नाश हो जाने के कारण बिना जल के अर्थात् सूखे हुये समुद्र की तरह सुन्दर नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं मालूम पड़ता है आपने अपना स्वरूप बदल दिया है॥ ४६॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनार्थैरिव भाग्यनाथैः।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम्॥ ४७॥

दुःशासनेति । पुनश्च । दुःशासनस्य कर्तुरामर्षं आमर्षेणमाकर्षण स एव रजो धूलिः । मालिन्यहेतुत्वादिति भावः । तेन विकीर्णैर्विक्षिप्तैरत एव धिनायैरिव स्थितवतां युष्माकमसत्त्वप्रायत्वादनाथैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमियं दुर्दशेति भावः । किन्तु भावयनायैदवमाग्रसरणै । अन्यथा स्वरूपमपि लुप्येतेति भावः । एभिः परिदृश्यमानैः । असत्यमितैरिति भावः । केशैः शिरोरुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कदर्थं । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'को कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थीकृतौ गर्हार्थीकृतौ वीर्यसारौ शौर्यबले यस्य स तथोक्तः । इत्थं पूर्वविलक्षणस्त्वं स एव धनञ्जयोऽसि कच्चित् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स एव नैव नैवमस्मानुपेक्षस इति भावः ॥ ४७ ॥

दुःशासन के क्रोधरूप (घसीटे जाने के कारण) धूल से भरे हुये, असहाय की तरह ईश्वर के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशपाशों से जिस आपका पराक्रम और बल–दोनों जुगुप्सा को प्राप्त हुए हैं, क्या आप वही अर्जुन हैं ? ॥ ४७ ॥

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

> स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः ।
> वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ॥ ४८ ॥

स इति । क्षतात्त्रायत इति क्षत्रः क्षत्रियकुलकम् । 'सुपि' इति योगविभागात्क प्रत्ययः । पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्यान्त्यलोपः । अथवा क्षदिति क्विबन्तोपपदात्क प्रत्ययः । क्षत्रे जातः क्षत्रियः । 'क्षत्राद् घः' इति घप्रत्ययः । कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम् । 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः । एवं स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते । यः सतां साधूनाम् । सहत इति सहः । पचाद्यच् । त्राणस्य सहस्त्राणसहो रक्षणक्षमः स एव क्षत्रियशब्दवाच्यः । तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु शक्तिः । अस्तीति शेषः । तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम् । अन्वर्थौ शब्दौ मुख्यौ । नान्यथेत्यर्थः । एवं स्थिते द्वयीं द्विविधामुक्तिम् । द्वाविमौ क्षत्रियकार्मुकशब्दावित्यर्थः । अफले । पूर्वोक्तावयवार्थशून्ये, अर्थजाते । स्वाभिधेयसामान्यजातिमात्र इत्यर्थः । 'जातं जात्योघजन्मसु' इति विश्वः । वहन्वर्तयन् । असंस्कारहतामव्युत्पत्तिदूषितामिव करोतीत्युत्प्रेक्षा । तस्मात्त्वमस्मद्रक्षणेनोक्तदोषादात्मानं मोचयस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय है । जिसकी कर्म (कार्य्य) करने में अर्थात् संग्राम में कार्य्य करने की शक्ति हो, उसी का नाम कार्मुक है । यदि इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों के होते हुये भी व्युत्पत्ति का अर्थ सुसघटित नहीं होता अर्थात् ये दोनों (क्षत्रिय और कार्मुक) अपने अवयवार्थ के अनुकूल कार्य्य करने में असमर्थ पाये जाते हैं तो व्याकरण शास्त्र के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति कर के इन का साधन

करना सब व्यर्थ है अर्थात् क्षत्रिय को सज्जनों की रक्षा अवश्य करनी चाहिये और शत्रु को समर में कार्य्य कुशलतः प्रबल मनस्क करना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ त्वद्गुणा अपि नोऽस्मानिवैतुरित्याह—

वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः ।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥ ४९ ॥

वीतेति । हे पार्थ ! वीतौजसो निस्तेजसः सन्निधिमात्रशेषाः सत्तामात्रावशिष्टाः भवत्कृतां भवता करिष्यमाणाम् । वर्तमानसामीप्ये भूतवच्च इति भूतवत्प्रत्ययः । भूतिमभ्युदयमपेक्षमाणास्त्वदीया गुणाः समानदुःखाः समदुःखसमाज इव नोऽस्माकं सरूपतां वीतौजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्युपमा । सा च समानदुःखा इवेत्युत्प्रेक्षया वीतौजस्त्वादिसमभावितयाऽनुप्राणितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! जिस तरह हम लोग पराक्रमहीन हो गये हैं । सब गुण नष्ट हो गया केवल हम लोग एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं (अर्थात् एक साथ निवास करते हैं) यही अवशेष रह गया है । हम लोग आप के द्वारा किसित अभ्युदय की अपेक्षा (प्रतीक्षा) कर रहे हैं वही तरह आप के प्रभाविक गुण भी निस्तेज हो कर सत्तामात्र अवशिष्ट हैं आप के द्वारा होने वाली उन्नति की प्रतीक्षा कर रहे हैं । वे हम लोगों की ही तरह दुःखी भी हो रहे हैं । इन सब बातों से हम लोगों की बराबरी करते हुये की तरह आपके ये गुण हैं ॥ ४९ ॥

तथाऽपि सर्वेषु लोकेषु भार इत्याह—

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥ ५० ॥

आक्षिप्येति । प्रमादात्स्वाधीनत्वात् । न तु दौर्बल्यादिति भावः । रिपुभिराक्षिप्यमाणमभिभूयमानमत एव प्रमादात् । नागैर्गजैः । महेभमाहिनाका नागाः इति वैजयन्ती । आलूनसटमाच्छिन्नकेसरम् । सटा जटाकेसरयोः इत्यमरः । मृगेन्द्रं सिंहमिव स्थितम् । त्वामियं धूः कार्यभारः । तिग्मरश्मिं सूर्यं दीप्त्या दिनश्रीरिव योग्यतया निर्वाहकत्वादधिरूढाऽऽक्रान्तवती । कर्तरि क्तः । त्वद्धीनेत्यर्थः ॥ ५० ॥

असावधानी के कारण हाथियों के द्वारा जटा के बाल नोचाने वाले सिंह की भाँति शत्रुओं से आप अपमानित हुए हैं । जिस तरह दिनश्री अपनी कान्ति से प्रखर किरण वाले सूर्य का आश्रय प्राप्त करती है उसी तरह कार्यभार सम्पूर्ण दुर्दशा के दूर करने का भार आप को योग्य समझ कर आप पर निर्भरित है । (हम लोगों की इस विपत्ति का नाश करने में आप ही समर्थ हैं) ॥ ५० ॥

पूर्वं निर्व्यवसायस्य 'स क्षत्रियः' इत्यादिना दोष उक्तः। सम्प्रति व्यवसायिनो गुणमाह—

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या॥ ५१॥

करोतीति। यः पुमान् अशेषजनादितरजनादतिरिक्तामधिकाम्। सर्वातिशायिनीमित्यर्थः। सम्भावनां योग्यतां क्रियाभिर्व्यापारैरर्थवतीं सफलां करोति। तं पुमांसं संसत्सु सभासु 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति पूर्यतेऽनयेति पूरणी संख्या। द्वित्वादिसंख्या। न समुपैति न गच्छति। अद्वितीयो भवतीत्यर्थः। तस्मादसाधारणलाभाय त्वयाऽपि महानुत्साह आस्थेय इति भावः॥ ५१॥

जो व्यक्ति, अपने कर्तव्यों से (अपनी) सब श्रेष्ठ योग्यता को सफल बनाता है, सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित हो जाने पर उस पुरुष की समानता के लिये फिर दूसरी संख्या उस के पास नहीं आती अर्थात् वह वा एक (अद्वितीय) गिना जाता (सर्व प्रथम होता) है॥ ५१॥

अथ द्वाभ्यां युद्धाभियुक्तस्य प्रोषितस्यार्जुनस्य कर्तव्यमुपदिशति—

प्रियेषु यैः पार्थ विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मघवा विघातम्॥ ५२॥

प्रियेष्विति। हे पार्थ! प्रियेष्वस्मासु विषये। उपपत्तेः कारणाद्विनैव विचिन्त्यमानैर्यैर्दोषैश्चेतः क्लमं खेदमेति। जयाय प्रयातस्य तव सम्बन्धिनां तेषामघानां व्यसनानाम्। 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। मघवेन्द्रः। योऽस्माभिरुपास्यत इति भावः। विघातं निवारणं क्रियात्करोतु। आशिषि लिङ्। तस्मादस्मच्चिन्तया न चेतः खेदयितव्यं जयार्थिना त्वया। अन्यथा तत्क्षतत्वादिति भावः॥ ५२॥

हे पृथापुत्र! विजयार्थ प्रस्थान करने वाले आप के उन [illegible]ओं का नाश देवराज इन्द्र करें, जो प्रिय लोगों के विषय में बिना किसी कारण के दोषे [illegible] भी चिन्तन किये जाते हैं, जिनसे चित्त व्यथित होता है॥ ५२॥

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि॥ ५३॥

मा गा इति। असम्बाधोऽसङ्कटः। विजन इत्यर्थः। 'सङ्कटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः। शिवो निर्बाधः। द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षायां विशेषणसमासः। तस्मिन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकमात्रौ चरतीत्येकचरः एकाकी वसन्

प्रमादं धैर्यच्युतिं मा गाः । इणो गा लुङि इति गाऽऽदेशः । ननु निःस्पृहस्य ममा-किञ्चित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्याशङ्क्याह—मात्सर्येति । मत्सर एव मात्सर्यं द्वेषो रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतात्मनां रागद्वेषदूषितस्वभावानां मानसानि मनांसि साधुषु सज्जनेष्वपि विषये स्खलन्ति विकुर्वते हि । अत्र प्रमादनिषेधलक्षणप्रमादरूपकार्ये-णाधाभिरूपकारस्य व्यतिरेककारणसमर्थनाद्वैधर्म्येण कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्था-न्तरन्यासः ॥ ५३ ॥

मनःप्रसादरहित (चंचल) और विघ्नबाधा युक्त स्थान में अधिक दिन तक भी निवास करते हुए भी आप असावधानी न करना अर्थात् सतर्क रहना क्योंकि राग-द्वेष से आकृष्ट व्यक्तियों के चित्त महात्माओं के विषय में भी विकृत हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तदाशु कुर्वन् वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥ ५४ ॥

तदिति । तत् तस्मात्कारणात् । आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कुर्वन् । तपस्यन्नित्यर्थः । नोऽस्माकं मनोरथान्सफलीकुरुष्व । अरिनिर्यातनेनास्मत्प्रतिज्ञापयेत्यर्थः । आत्मनोऽ-प्याह । किञ्च कृतार्थं कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वाऽऽदेशः । स्तनयोरुपपीडं स्तनोपपीडम् । 'सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः' इति णमुल् । परिरब्धुं कामो यस्याः सा परिरब्धुकामाऽस्मि । आलिङ्गितुमिच्छामीत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । प्रागकृतार्थस्य आलिङ्गनमपि न प्रीतिद-मिति भावः ॥ ५४ ॥

अतः व्यास जी के आदेश का पालन करते हुए शीघ्र ही हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाइये । कार्यसिद्धि करके लौट आने पर तुम्हें स्तन से आलिङ्गन करने की मैं अभिलाषुक हूँ ॥ ५४ ॥

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम् ।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ॥ ५५ ॥

उदीरितामिति । सोऽर्जुन इतीत्थं याज्ञसेनस्यापत्येन स्त्रिया याज्ञसेन्या द्रौपद्या उदीरितामुक्ताम् । नवीकृत पुनरुक्तत्वेन तथा प्रत्यायितोऽत्र एवोद्ग्राहितो मनसि निर्वापितश्च विप्रकारः परिभवो यया तां तां वाचमासाद्य आकर्ण्येत्यर्थः । उदीचीं काष्ठां दिशम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । तिग्मरश्मि-रिव । भृशं दिदीपे जज्वाल । उपमालङ्कारः ॥ ५५ ॥

द्रौपदी के कहे हुये वचन को नवीन से होकर अहङ्कार अपकार को अर्जुन के हृदय में जमा दिये थे सुनकर अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सूर्य की तरह प्रकाशित होने लगे ॥ ५५ ॥

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः ।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अथेति । अथ विद्विषः शत्रून् पुरोऽभिपश्यन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येनारोपिता समन्त्रमाहिता हेतिसंहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्तः । 'हेतिर्ज्वालाऽङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्यः सौम्यः सन्नपि । अभिचारः परहिंसा प्रयोजनं यस्याः साऽऽभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तां क्रियां गतः । अभिचारकर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्यः प्रकृत्या रमणीयः । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । वपुर्बभार । शान्तो मन्त्रः प्रयोगभेदादिव सोऽप्यवस्थाभेदाद्भीषणो बभूवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शत्रुओं को सम्मुख उपस्थित की भाँति देखते हुये अर्जुन के समीप पुरोधा (धौम्यने) समन्त्र आहित शस्त्रों को स्थापित कर दिया । उस (अर्जुन) ने, स्वाभाविक सौम्य मूर्ति होने पर भी मारण क्रिया में प्रयुक्त सुरम्य मन्त्र की तरह भयङ्कर आकृति को धारण किया ॥५६॥

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् ।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

अविलङ्घ्येति । परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं विकर्षणं यस्य तत् । अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनिः कर्म बाणमोक्षणादिकं च यस्य तत्कार्मुकं चोद्वहन्नित्यन्वयः । तथाऽरीणां दृष्टिगोचरं दृष्टिपथमगतौ । आहवेष्वनिवर्तित्वादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । डच्प्रत्यये संख्याया अतत्पुरुषस्योपसंख्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युज्येते इति शितनिस्त्रिंशयुजौ । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महानिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽनयोरिति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' । तूण्यां खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षती: ।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥

यशसेति । किञ्च । गोत्रभिद इन्द्रस्यायुधक्षतीर्वज्रप्रहारव्रणानि । खाण्डवदाहसम्भवादिति भावः । महसा स्वकान्त्या यशसेव मूर्तया कीर्त्येव मुहुस्तिरोदधदाच्छादयन् । सरत्नं रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दीप्तताराकम् । 'ज्योतिस्ताराऽग्निभाज्वालादृक्पुत्रात्मधरासु च' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तरं नभो मध्यमिवावस्थितम् । 'अन्तरं परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । छिद्रे मध्ये प्रकाशे च' इति वैजयन्ती । कवचं चोद्वहन् ॥ ५८ ॥

जब अर्जुन ने गाण्डीव धनुष, दो तरकस और कवच को (सन्नाहबन्धन) धारण कर लिया उस समय वे आकाश मे रात्रि के प्रदीप्त नक्षत्र (तारा) की तरह प्रकाशित हो उठे। शत्रुओं के लिये उनका धनुष अजेय था। उसकी टङ्कार विश्वविदित थी। उनके तरकस शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे (अर्थात् शुभ्र रूप से पीछे की तरफ धारण किये जाते थे जिससे उन पर शत्रुओं की निगाह नहीं पहुँच पाती थी) प्रत्येक विपत्ति में तीक्ष्ण खड्ग को रक्खा गया था। वे बाणों से कभी रिक्त होने वाले नहीं थे। कवच उनका रत्नों से जड़ा हुआ था। अर्जुन वाण्डवदनदाह के समय इन्द्र के वज्र से होने वाले घाव को याद २ अपने तेज से आच्छादित कर रहे थे जैसे कोई अपनी कीर्ति से आच्छादित कर देता हो ॥ ५७-५८

अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान् ।
हृदयानि समाविवेश स व्यथामुद्बाष्पदृशां तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अलकेति । सोऽर्जुनोऽलकाधिपभृत्येन यक्षेण दर्शितमत एव शिवं निर्बाधमुर्वीधरवर्त्म हिमवन्मार्गं प्रति सम्प्रयान् गच्छन् व्यथामुद्बाष्पदृशां वियोगदुःखादश्रुनेत्राणां तपोभृतां द्वैतवननिवासिनां तपस्विनां हृदयानि समाविवेश । वैतालीयमेतत् ॥५९॥

कुबेर के भृत्य (यक्ष) से दिखलाये हुये निष्कण्टक हिमालय के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अर्जुन ने जटाधारी तपस्वियों (द्वैतवननिवासियों) के हृदय को दुःख भार से पीड़ित कर दिया अर्थात् अर्जुन के वियोग से वे सब दुःखी हुए ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने ।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः ॥ ६० ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः ।

अनुजगुरिति । अथाशाः दिशः । दिवि भवं दिव्यम् । 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' । दुन्दुभिध्वानमनुजगुरनुचक्रुः । प्रावर्तयन्निति । व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैर्लक्ष्मीर्वितेने । पुष्पवृष्टिर्व्याजनिष्ठेत्यर्थः । किञ्च । अनिभृताश्चञ्चला वेलायां कूले या वीचयस्ता एव बाहवो यस्य स पयोधिः । 'वेला कूलविकारयोः' इति शाश्वतः । 'पयोधिः' स्फुरन्तीं हर्षोत्कम्पमानां च भुवं प्रियमिव भाविकल्याणवृत्तं कथयिष्यन्निव । कथयितुमिवेत्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । आलिलिङ्ग । सर्वथेदं शिवं दैवकार्यमनुत्साहतेति भावः । अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वात्समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र नायकत्वेनोपमितसमुद्रयोः प्रतिपत्ताभ्यां नायकाभ्यां

भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिबलादाश्लिष्टोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समासोक्तिः । प्रियकथनात्स्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभावं भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर इति विवेचनीयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

अर्जुन के प्रस्थानकाल में स्वर्ग में देवताओं ने दुंदुभि बजायी, जिससे सम्पूर्ण दिशायें गूँज (झङ्कृत हो) उठीं । देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, जिससे आकाशमण्डल अलङ्कृत हो उठा । समुद्र अपनी चञ्चल तरङ्ग रूप भुजाओं से शुभ सन्देश सुनाते [illegible] की तरह उल्लास से भरी पृथ्वी का आलिङ्गन किया अर्थात् समुद्र में भी तूफान आगया ॥ ६० ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥ १ ॥

तत इति । ततः प्रस्थानानन्तरं जनप्रियः सोऽर्जुनः । कलहंसा मेखला इवेत्युपमित । अन्यत्र कलहंसा इव मेखलेति विशेषणसमासः । कूजन्ती कलहंसमेखला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तैः सस्यैराहित उपाहितः पाण्डुतैव गुणो यस्यास्ताम् आसादितयौवनां प्राप्तयौवनां प्रियामिव । उपजनं जनसमीपे । अन्यत्र सखीसमक्षम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । उपाससादोपगतवान् । उपमालङ्कारः ॥ १ ॥

प्रस्थान के बाद लोकप्रिय (अर्जुन) सखियों के समक्ष कलकूजन करते हुये राजहंस की तरह निस्वन (शब्द) कारिणी मेखला (करधनी) धारण की हुई, तथा (युवावस्था को प्राप्त) प्रौढा रमणी की भाँति, मेखला की तरह कलकूजन करने वाले राजहंस जहाँ विचर रहे थे, ऐसी और परिपाक दशा को प्राप्त धान्यराशि के कारण गौरवर्णा भूमि के पास पहुँचे, जहाँ कृषक निवास करते थे ॥ २ ॥

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

विलसदिति । सोऽर्जुनो विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरवनतशालिफलस्तोमशोभि नीरपेतपङ्का निष्पङ्काः ससरोरुहाण्यम्भांसि यासु तास्तथोक्ता उपायनीभूता अर्जुनं प्रत्युपहारीभूताः शरद्गुणा इव पूर्वोक्ताः शरत्समसंपदो यासु ता । उपसीम ग्रामसीमासु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । समासान्तविधेरनित्यत्वात् अनव् इति समासान्तो न भवति । केचित्तु— अव्यन्तेषो कल्पितयुक्तं सुगमे ग्रामसीमि इत्यादौ नपुंसकप्रयोगदर्शनात् 'न संकादन्यतरस्याम्' इति विकल्पात्साधुरित्याहुः । स्थलीरकृत्रिमा भुव । जानपद—इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । परत्वमनन्तु ददर्श । अत्र शरद्गुणेषु तादात्म्येनारोप्यमाणस्योपायनत्वस्य प्रकृते नम्रत्वक्रियोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः ॥

ग्राम की सीमा के समीप के भूमिखण्ड झुके हुए धान की बालों से सुशोभित हो रहे थे । वहाँ कीचड़ नाममात्र को भी नहीं था । वहाँ कहीं जल था भी वहाँ जलमें कमल सुशोभित हो रहे थे । अर्जुन उन सम्पूर्ण शरद् ऋतु की सम्पत्तियों को अपने प्रति उपहार की हुई के समान देखकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति । विस्मयाकुलैराश्चर्यसाचिव्यैरत एवोन्मीलितानि पद्मानीव लोचनानि येषां तैः पयोभिरम्भोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिताः । हृतः प्रियादृष्टिविलासानां विभ्रमः शोभा याभिस्तास्तथोक्ता इति मनोहरत्वे हेतूक्तिः । विभ्रमः संशये कान्त्यौ शोभायां च इति वैजयन्ती । शफरीविवृत्तयो मत्स्यीस्फुरितान्यस्यार्जुनस्य मनो जह्रुः ॥ ३ ॥

कहीं कहीं जलाशयों में मछलियाँ चिलक रही थीं । सरोवर आश्चर्य में पड़कर विकसित कमल रूप नेत्रों से मानों उन्हें देख रहा था । (मछलियों की चिलकें) सुन्दरियों के अभिप्रेतपूर्वक दृष्टिपात के विलासका अपहरण कर रही थीं । उन्होंने अर्जुन के मन का भी अपहरण कर लिया ॥ ३ ॥

तुतोष पश्यन् कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥ ४ ॥

तुतोषेति । सोऽर्जुनः सवारिजे साम्बुजे वारिणि कलमस्य शालिविशेषस्य । शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ् । पश्यन्नधिकं तुतोष । अनुरूपसंगमादिति भाव । तथाहि । सुदुर्लभेऽनुरूपसंगमे योग्यसमागमे सति शेषः । प्रकर्षलक्ष्मीं योग्यसमागमनिमित्तामुत्कर्षसम्पदमभिनन्दितुं स्तोतुं कोऽर्हति । सर्वोऽप्यभिनन्दत्येवेत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४ ॥

अर्जुन कमलयुत जल में धान की शोभा का अवलोकन करते हुये इतना प्रसन्न हुये जितना हो सकते थे। दुष्प्राप्य तथा योग्य सम्बन्ध प्राप्त होने पर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो उत्कृष्ट सम्पत्ति का स्वागत न करे ? ॥ ४ ॥

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसन्तति ।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः ॥ ५ ॥

नुनोदेति । आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसन्ततिर्डिण्डीरसमूहो यस्य तत्तथोक्तम् । 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । अवाप्तः किञ्जल्कविभेदः केसरोपगमो येन तत्तथोक्तम् । उच्चकैरुच्चं यथा तथा विवृत्तेन लुठितेन पाठीनेन मत्स्यविशेषेण पराहतं ताडितम्, 'सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः' इत्यमरः । पयः कर्तृ तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मिनीगतम् । तद्गोचरमित्यर्थः । वितर्कं संशयं नुनोद चिच्छेद । पाठीनपराहत्या किञ्जल्कापायेन जलपद्मीमात्स्यकपद्मिनीशङ्का निवृत्तेत्यर्थः । अत्र निश्चयोत्तरसन्देहालङ्कारः ॥

कहीं २ सरोवरों के जल, जिनमें विकचारविन्द (खिले हुए कमल) सुशोभित हो रहे थे, फेन और कमलपराग से आच्छादित थे जिन्हें देख कर अर्जुन को पृथ्वी पर खिले हुये गुलाब के पुष्प का भ्रम हो रहा था। ऊपर की ओर उल्लुण्ठन करते हुये पाठीन (हजार दाँत वाली मछली) से अभिताडित होकर पुष्पपराग और फेनराशि के हट जाने से जल दिखलाई पड़ने लगता था, जिससे अर्जुन का सन्देहविच्छेद हो गया ॥ ५ ॥

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा ।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम् ॥ ६ ॥

कृतेति । सोऽर्जुनः शिथिलत्वमायता गच्छता । शनैः शनैः क्षीयमाणेनेत्यर्थः । अतएव शनैः शनैः शान्तरयेण । अल्पयोर्मिरेखानुवृत्तिरिति भावः । वारिणा कृता ऊर्मय पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य तत्तथोक्तम् । तरङ्गा अस्य सञ्जातास्तरङ्गितं भङ्गिमत् । 'तदस्य सञ्जातं-' इतीतच् । तरङ्गितक्षौमं दुकूलं तद्वद्विपाण्डु शुभ्रमित्युपमालङ्कारः । समुद्रयोषितां नदीनाम् । सिकताः सन्त्यस्मिन्निति सैकतं पुलिनम् । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । निरीक्ष्य रेमे तुतोष ॥ ६ ॥

क्रमशः क्षीणोन्मुख वेगरहित, जलने निहित तरङ्ग रेखाङ्कित और भङ्गिमायुक्त क्षौम वस्त्र के सदृश शुभ्र, सिकताराशि (बालू का ढेर) को देख अर्जुन बहुत प्रसन्न हुये ॥ ६ ॥

तत्रस्थितां शालिगोप्त्रीं वर्णयति—

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलङ्कृतं केसररेणुनाणुना ।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम् ॥ ७ ॥

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालङ्कृतमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तताम्रस्य लाक्षारागरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं समीकुर्वतीमिव । साम्यपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७ ॥

(कवि आगे आगे [illegible] तीन श्लोकों से धान की रक्षा करने वाली स्त्रियों का वर्णन करता है।—) धान की रक्षा में लगी हुई स्त्रियोंने सूक्ष्म केसरकिञ्जल्क (पराग) से बन्धूकपुष्प को विभूषित करके भौंहों के मध्य में स्थित किये थे वे मनोभिराम दिखाई पड़ते थे। उसे यावक (महावर) की कान्तिमा से रञ्जित अधर पल्लव की शोभा से मानो वे तुलना कर रही हैं (ऐसा मालूम पड़ता था) ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति । महान्निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ परितः । समन्तादित्यर्थः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपलाक्षमरविन्दजं रजः परागं सर्वतः प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्बिन्दुनेव चकासयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अलङ्करणं कुर्वतीम् । तथापि विभूषयतीति भावः ॥ ८ ॥

वे (शालिगोप्त्री) स्त्रियाँ अपने पीन पयोधरों (स्तनों) में प्रातःकालीन आतप के समान किञ्चित् लालिमा लिये कमलपुष्पपराग लगाये हुई थीं। वे उस पुष्पधूलि को बहते हुये स्वेदबिन्दुओं से सुशोभित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥ ९ ॥

कपोलेति । पुनः कपोलसंश्लेषि अवतंसकोत्पलं कर्णोत्पलं विलोचनत्विषा विभूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिकां शालिगोप्त्रीम् । ण्वुल्प्रत्ययः । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेनार्जुनेन । शरदः कृतार्थता भावः कृतार्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसम्पत्तिसिद्धिनियोगात्प्राप्तिरिति भावः । स्वतल्लोऽर्जुनस्य पुरुषार्थो वक्ष्यमाणः । मेनेऽमानि । मन्यतेः कर्मणि लिट् ॥ ९ ॥

वे (कलमपालिकायें) अपने नेत्र की कान्ति से कपोल (गाल) तक लटकते हुये कर्णोत्पलों को अलङ्कृत करती थीं (भूषण को भूषित करती थीं) धान खेत की रक्षा करने वाली उन स्त्रियों को देखकर अर्जुनने शरद् ऋतु को सफल माना ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः ॥ १० ॥

उपारता इति। पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेषणसमासः। अपररात्र इत्यर्थः। "पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः" इत्यादिवदेकदेशिशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम्, न तु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः। तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिमशब्दाग्रहणात्। अत एव 'अहःसर्वैकदेश-' इत्यादिना न समासान्तोऽपि। तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति। प्रकाशवर्षस्तु एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समासान्तमाह, तन्मृग्यम्। गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवां चरणस्थानं वनम्। पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताः सन्निवृत्ता जवेन गां भुवं पतितुं धावितुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः प्रस्नुतपीवरौधसो वत्सस्मरणात्स्रवत्पीनापीनाः। 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। 'ऊधसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानङादेशः। उत्सुका वत्सेषूत्कण्ठिता गवां गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनकाङ्क्षं चक्रुः। 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्युभयत्राप्यमरः। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः—'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गायें रात के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नहीं सकती थीं क्योंकि वे अपने २ बच्चों का स्मरण करके उत्कण्ठित हो गईं थीं जिसके कारण उनके पीन पयोधरों से (भरे २ थनों से) दूध बह रहे थे। वे अर्जुन को अपनी तरफ देखने में समुत्कण्ठित कर दीं (अर्थात् उन्हें देखने के लिये अर्जुन को प्रबल लालसा हुई) ॥ १० ॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम्।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति। सोऽर्जुन उक्षावजये उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं वेष्टितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टिमवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम्। 'कायो देहः क्लीबपुंसोः शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा। ददर्श ॥ ११ ॥

अर्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ अन्य वृषभ के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर, विजय लाभ कर गम्भीर गर्जन करता हुआ नदी के तट को ढहा रहा था। वह गायों का राजा अत्यन्त हृष्टपुष्ट मानों साक्षात् दर्प महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥ १२ ॥

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालङ्कृतमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । कर्मण्यण् इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तकाभस्य लाक्षारागरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं सखीकुर्वतीमिव । साम्यपरीक्षां कुर्वतीमित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ७ ॥

(कवि आगे आगे हुये तीन श्लोकों से धान की रक्षा करने वाली स्त्रियों का वर्णन करता है:-) धान की रक्षा में लगी हुई स्त्रियोंने सूक्ष्म केशरकिञ्जल्क (पराग) से बन्धूपुष्प को विभूषित करके भौंहों के मध्य में लिपटा लिये थे वे मनोभिराम दिखाई पड़ते थे । उसे यावक (महावर) की अरुणिमा से रंजित अधर पल्लव की शोभा से मानो वे तुलना कर रही थीं (ऐसा मालूम पड़ता था) ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति । महान्निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ परितः । समन्तादित्यर्थः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपारक्तमरविन्दजं रजः परागं सर्पता प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्गमेन चकासयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ताल्लटः शतरि ङीप् । अनुकूलं कुर्वतीम् । तत्रापि विकुर्वतीति भावः ॥ ८ ॥

वे (शालिगोपी) स्त्रियाँ अपने पीन पयोधरों (स्तनों) में नव बालातप के समान चिह्नित लालिमा लिये कमलपुष्पपराग लगाये हुई थीं । वे उस पुष्परज को बहते हुये स्वेदकणों से सुशोभित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥ ९ ॥

कपोलेति । पुनः कपोलसंश्लेषि गण्डसंसक्तमवतंसकोत्पलं कर्णोत्पलं विलोचनत्विषा वि भूषयन्तीम् । आभरणस्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिकां शालि गोपीम् । पचाद्यच् । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेनार्जुनेन शरदः कृतार्थता कृता र्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसम्पत्तिनियोगकामावित्ति भाव । 'स्वतलोर्गुण वचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' । मेनेऽमंस्त । मन्यतेः कर्मणि लिट् ॥ ९ ॥

वे (हस्तपालिकायें) अपने नेत्र की कान्ति से कपोल (गाल) पर लटकते हुये कर्णोत्पलों को अलंकृत करती थीं (भूषण को भूषित करती थीं) उस धान की रक्षा करने वाली उन स्त्रियों को देखकर पाण्डवने शरद् ऋतु को सफल माना ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः ॥ १० ॥

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेषणसमासः । अपररात्र इत्यर्थः । "पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः" इत्यादिवदेकदेशिसमासस्यैकदेशसमानाधिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम् , न तु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः । तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिमशब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहः सर्वैकदेश—' इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समासान्तमाह, तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवां कवलस्थानं वनम् । पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताः संनिवृत्ता जवेन या भुवं पतितुं धावितुमपारयन्त्योऽशक्नुवन्त्यः प्रस्नुतपीवरौधसो यस्रवत्स्तनाः स्थूलापीनाः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानङादेशः । उत्सुका वत्सेषूत्कण्ठिता गवां गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनकौतुकं चक्रुः । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः ।' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः —'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गायें रात के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नहीं सकती थीं क्योंकि वे अपने २ बच्चों का स्मरण करके उत्कण्ठित हो गई थीं जिसके कारण उनके पीन पयोधरों से (बड़े २ थनों से) क्षीर बह रहे थे । वे अर्जुन को अपनी तरफ देखने में समुत्कण्ठित कर दीं (अर्थात् उन्हें देखने के लिये अर्जुन को प्रबल लालसा हुई) ॥ १० ॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽर्जुन उक्षावजये उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं वेष्टितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टिमवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥ ११ ॥

अर्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ जो न वृषभ के साथ युद्ध कर के उसे पराजित कर, विजय लाभ कर गम्भीर गर्जन करता हुआ नदी के तट को ढहा रहा था । वह गायों का राजा अत्यन्त हृष्टपुष्ट मानों साक्षात् दर्प महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥ १२ ॥

विलुप्यमानैरिति । हिमानीविशदैर्हिमसंघातशुभ्रैः । हिमानी हिमसंहतिः इत्यमरः । इ म्रमकण- इत्यादिना ङीष् । वातनिर्योगाद्युगाणमम्भ । मन्दं कदम्बकैः कदम्बैः । कदम्बकं समूहे स्यात्कदम्बः पुष्पविशेषके इत्यमरः । मन्थरं मन्दं विलुप्यमानैरपि किमुताविलुप्यमानैरिति भावः । सरस्वतीनां सम्बन्धिभिः । शरद्ग्रहणं प्रागनिष्पत्त्यर्थम् तत्र पुलिनाद्धसनादिति भावः । पुलिनैः कलमैः गलद्दुकूलैर्जघनैरिव तस्यार्जुनस्य कुतूहलं कौतुकमावृथ आहितम् ॥ १२ ॥

बरफ की चट्टान के समान सफ़ेद कासों के गुच्छ धीरे धीरे शरद काल की नदी के बालुकामय तट को छोड़ते हुये चले जाते थे उन्हें देख कर अर्जुन को ऐसा कुतूहल उत्पन्न हुआ जैसा कि रमणी के वसन अंशुक से सरकती हुई साड़ी के समय किसी (कामुक) व्यक्ति को होता है ॥ १२ ॥

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥ १३ ॥

गतानिति । पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम् । सह जन्म येषां ते सहजन्मानः सोदरास्त एव बन्धवस्तेषां भावस्तत्ता तां गतान् । पशुषु सोदराभिमानवत इत्यर्थः । गृहाश्रयं गृहविषयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः । वनेषु गृहाभिमानिन इत्यर्थः । आर्जवे विषयत्वे गोभिः पशुभिः कृतानुकारानत्कृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । ततो विशेषाभिरप्यर्थः । गाः पान्तीति गोपाः गोपालकाः । आतोऽनुपसर्गे कः इति कप्रत्ययः । धेनूपधेनु धेनुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । ददर्श । अत्रोत्प्रेक्षानुमाणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३ ॥

अर्जुनने गायों के पास अहीरों (गोपालकों) को देखा । वे साथ साथ जन्म लेने के कारण गायों के (उनके) कुटुम्बी बन गये थे । उन्हें घर पर से भी अधिक प्यारा था । स्वभाव की कोमलता (भोलापन) तो वे मानो गायों से सीख रहे थे ॥ १३ ॥

अथ चतुर्भिर्गोपाङ्गनावर्णनमाह—

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥ १४ ॥

परिभ्रमदिति । मूर्धजाः षट्पदाः इवेत्युपमितसमासः । सरोजचारुभिरित्युपमानुसारात् । परिभ्रमन्तिश्चलन्ति मूर्धजा षट्पदास्तैराकुलानि ते । दन्ता केसरा इवेति पूर्ववत्समासः । स्मितोदयेनादर्शिता ईषत्प्रकाशिता दन्तकेसरा येषां तैस्तथोक्तैः । चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैरुक्तकुण्डलप्रभानुलिप्तैरत एव नवातपाहत नवातपस्पृष्टसरोजैः सह चारुभिर्मुखैरुपलक्षिताः ॥ १४ ॥

अर्जुन नृत्य करती हुई चार वधूटियों की भाँति गोपिकाओं को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे ।

उन गोपियों के मुखमण्डलपर बिखरे (विथुरे) [redacted] केश कलाप भ्रमरों की तरह दिखाई पड़ते थे। मन्द हास से पुष्प पराग की तरह दशन पंक्तियाँ दिखलाई पड़ती थीं, हिलते हुवे कानके कुण्डलों की दीप्ति से उनका मुख मण्डल चमक रहा था और प्रभात काल के सूर्य्य की किरणों से विकसित कमल की शोभा को प्राप्त हो रहा था। (इस श्लोक में मुख की उपमा कमल से दी गई है। दाँत को कमल का केशर माना गया है। ग्वालिनियों के केश को कमल पर घूमने वाले भ्रमर की उपमा दी गई है) ॥ १४ ॥

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥ १५ ॥

निबद्धेति । निबद्धेनावरुद्धेन निःश्वासेन विकम्पिता अधरा यासां तास्तथोक्ताः । अतएव प्रस्फुरितैकपल्लवा । प्रचलितैकपल्लवा इत्यर्थः । 'कचित्तस्याप्यदन्तस्य वृत्ति विषये वीप्सार्थस्य सप्तपर्णोविषय' इति कैयट । लता इव स्थिताः । दैवादेकपल्लव स्फुरणस्यापि लोके सम्भवादुपमेवेयं नोत्प्रेक्षा । किञ्च । व्यपोढानि विपरीतानि पार्श्वानि येषु तैः पाणिविहारहारिभिः पाणिविक्षेपमनोहरैः । 'भङ्गहारोऽङ्गविक्षेप' इत्यमरः । विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैरपवर्तितत्रिका सवलितनितम्बा । यद्यपि 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः, तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तन्नैकटयादिति भावः ॥ १५ ॥

दधि मन्थन कार्य्य में लगी हुई उन ग्वालिनियों के होठ (अधर) श्वास के रुक जाने से प्रकम्पित हो रहे थे, जिससे वे, उस लता के सदृश मालूम पड़ती थीं जिसका एकाही पत्ता किसी तरह हिलगया हो। हाथों से मन्थन के दण्ड के सञ्चालन से उनका पार्श्व प्रदेश विवृत दिखलाई पड़ रहा था। और उनके नितम्ब भी झुकाव रहे थे ॥ १५ ॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥ १६ ॥

व्रजेति । व्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु । अधिकरणे सप्तमी । 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इति विश्वः । अम्बुदनादशङ्किनीर्गर्जितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमदलङ्कारः । शिखण्डिनां योषितो मयूरीः । योषिद्ग्रहणं मौग्ध्यातिशयार्थम् । उन्मदयत्सून्मदाः कुर्वत्सु । 'तत्करोति—' इति ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः । मथां मन्थनदण्डानाम् । 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः । विवर्तनैः परिभ्रमणैर्मुहुः प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वभावोक्तिः । कुम्भेषु कलशेषु मृदङ्गवन्मन्थरं मन्दं नदत्सु सत्स्विति चाधस्ताम्योक्तिः । मा वलक्षणे सप्तमीयम् ॥ १६ ॥

अहीर टोलियों में मन्थनदण्डों के घूमने से (वे घड़े, जिनमें दधि विलोडन की जाती थी) दधि भाण्ड मृदङ्ग के सदृश मधुर ध्वनि करते हुवे, मयूरियों को मेघ गर्जन का भ्रम उत्पन्न कर उन्मादित कर रहे थे ॥ १६ ॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥ १७ ॥

स इति । मन्थरं मन्दमावल्गिताश्चलिताः पीवराः स्तना यासां तास्तथोक्ताः । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् इति ङीष् । परिश्रमेण क्लान्तानि ग्लानानि विलोचनोत्पलानि यासां तास्तथोक्ता बल्लवीर्गोपीः । गोपे गोपालगोसंख्यगोधुगाभीरबल्लवाः इत्यमरः । अभिप्रनृत्ता नृत्यन्तीः । गत्यर्थाकर्मक- इत्यादिना कर्तरि क्तः । मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च इति चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । वारयोषितो वेश्या इव । वारस्त्री गणिका वेश्या इत्यमरः । सोऽर्जुनो निरीक्षितुम् । ईक्षतेस्तुमुन् । नोपरराम न विरराम । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । अत्र [illegible] स्वभावोक्त्योः संसृष्टिः ॥ १७ ॥

गोपिकाओं के स्थूल स्तन (दधिमन्थन करते समय) हिलते थे परिश्रम से थक कर उनकी आँखें अलसा रही थीं । (ऐसी गोपवधुओं को नृत्य किया है जिन्होंने वेश्याओं की तरह देखने से अर्जुन का मन विरत न हुआ ॥ १७ ॥

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः ।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान् प्रसक्तसम्पातपृथक्कृतान् पथः ॥ १८ ॥

पपातेति । सोऽर्जुनः पूर्वां प्राक्तनीं विजिह्मतां वक्रतां जहतस्त्यजतः । सरलत्वेन समत्वमापन्नत्वेन सुगमत्वादिति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदो वृषभैर्भक्षितसमीपसस्यसम्पदीन् । सुकृते वृषभे वृषः इत्यमरः । सीमन्ता इव सीमन्ताकाराः पङ्क्तयः सीमन्तास्ताः कृताः सीमन्तिताः । णिजन्तात् 'तत्करोति' इति णिचि क्तः । तारकादित्वादितच् वा । रथाङ्गैश्चक्रैः सीमन्तिताः सान्द्राः कर्दमा घनीभूताः पङ्का येषु तान् प्रसक्तसम्पातेन लोकसंचारेण पृथक्कृतान् पथो मार्गान्पपात जगामेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

अर्जुन जिन २ मार्गों का अवलम्बन करके चलते थे वे सम्पूर्ण मार्ग जो वर्षा के कारण टेढ़े मेढ़े हो गये थे सीधे और सुगम बन गये थे । उनके दोनों बगल के खेतों के धान्यों को बैलों ने भक्षण कर डाला था । गाड़ियों के पहियों के चलने से मार्ग में कहीं २ कीचड़ जम गये थे । लोगों के सतत आने जाने से सब मार्ग स्पष्ट दिखलाई पड़ते थे ॥ १८ ॥

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥ १९ ॥

जनैरिति । सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनिन्द्यकर्मभिरनिषिद्धवृत्तिभिः । [illegible] । विविक्तान्येकान्तानि भावो अभिप्राय इङ्गितं चेष्टा भूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्जनैर्वृताः । अधिष्ठिता इत्यर्थः ।

अत एवाश्रमेषु मुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदुपमा । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः । सपुष्पहासा पुष्पविकाससहिता । 'तेन सह—' इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवी-रुधो गृहगुल्मिनी । 'वीरुधो गुल्मिन्युलपः' इति वैजयन्ती । स्नेहात् सादरं ददर्श । उपमाऽलङ्कारः ॥ १९ ॥

जाते समय मार्ग में जो २ ग्राम पड़ते थे, अर्जुन ने उनका निरीक्षण किया । गाँव के प्रत्येक घरों के लता कुञ्ज, जिनमें पुष्प विकसित होरहे थे और लता कुञ्ज ग्रामनिवासियों से, (जिनके, आचार, विचार, वेष भूषा तथा हाव और भाव सब व्यक्त थे), अधिष्ठित होकर मण्डप के समान सुन्दर प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

ग्राम निवासियों से अधिष्ठित थे, आश्रम में बने हुए मण्डप की शोभा धारण कर रहे थे । जन (ग्राम निवासियों) के कर्म शुद्ध थे । उनके भाव, वेश और आभरणादि उनकी कर्म के द्योतक थे, उन्हें अर्जुन ने बार २ अवलोकन किया ॥ १९ ॥

ततः स सम्प्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥ २० ॥

तत इति । ततः स पूर्वोक्तो यक्षः शरद्गुणश्रियं सम्प्रेक्ष्य । दर्शनीयाः दर्शनीयाश्च विचार्येत्यर्थः । शरद्गुणालोकने लोलचक्षुषं सतृष्णदृष्टिम् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गां वाचमुवाच । तथाहि । इङ्गितज्ञो भावज्ञः । 'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति विश्वः । अवसरे उचितयोग्ये काले नावसीदति न बाधं प्राप्नोति । 'अपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति निषेधस्यकालविदोऽविषयत्वमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

उस यक्ष ने शरत्काल के गुणों की शोभा देख कर, शरत्काल की शोभा देखने में सतृष्ण नेत्र, अर्जुन से बिना कुछ पूछे ही बोला क्योंकि अभिप्राय का ज्ञाता व्यक्ति समय पर कभी नहीं चूकता । अर्थात् यक्ष अर्जुन के मनोगत भाव को समझ कर उससे वार्तालाप करने के लिये कुछ कहा ॥ २० ॥

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।
जयश्रियं पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

इयमिति । हे पार्थ, शिवायाः कल्याणकारिण्या नियतेः । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । शुभावहदैवस्यायतिः फलदानकाल इव जगतः क्रियाः कृष्यादिकर्माणि फलैः सस्यैः । 'कामो निष्पत्तिभोगेषु बीजभावे धने फलम्' इति वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुर्निर्मलोदकाऽनम्बुवारिदा निर्जलमेघा । अनेन विशेषणद्वयेन यात्राप्रतिबन्धोराहित्यं सूचयति । इयं शरत्ते जयश्रियं पृथूकरोतु । आशीरर्थे लोट् ॥ २१ ॥

यह शरदृतु मङ्गलमय मानव के फल दान का काल है। यह सस्यादिके सम्पूर्ण क्रियाओं को फल प्रदान करके सफल बनाती है। इस ऋतु में जल निर्मल हो जाता है। बादल भी जल हीन हो जाते हैं। हे इन्द्रसुत ! यह शरत्काल आप को यशसे सुशोभित [illegible]। इदानीं आप के विजय की अनुकूलता भी प्रतीत हो रही है ॥ २१ ॥

उपैति सस्यं परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कता मही।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥ २२ ॥

उपैतीति। सस्यं ब्रीह्यादिकं परिणामेन परिपाकेन या रम्यता सोपैति। नदीर्नौद्धत्यं रम्यत्वमुपेति। मही चापङ्कतां निष्पङ्कत्वमुपैति। तथाहि। सम्प्रति नवैर्गुणैः पूर्वोक्तैः शरद्गुणैः संस्तवेन परिचयेन स्थिरं दृढमपि घनागमश्रियः प्रावृड्लक्ष्म्याः प्रेम तिरोहितम्। तद्विषयमित्यर्थः। प्रेम तिरोहितम्। निरस्तं कृतमित्यर्थः। गुणवत्ता प्रमाणे न परिचयस्तस्य हृदि भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २२ ॥

(इस शरदृतु में) धान्य परिपाक से सुरम्य प्रतीत होते हैं। नदी अपनी उद्दामता का परित्याग कर देती है अर्थात् वर्षा काल में नदी प्रबल वेग के कारण भयानक मालूम पड़ जाती है कहीं पेड़ों को उखाड़ डालती है कहीं तटों को ढहा देती है कहीं किसी को अपनी धारा में विलीन कर देती है वही नदी का औद्धत्य है उसका परित्याग कर अपने शान्त वेग धारण कर देती है पृथ्वी पर कीचड़ नाम मात्र भी नहीं रह जाता है। वर्षा काल के गुणों से परिचित होने वालों का प्रेम भी परिचय के कारण दृढ़ रहता है उसे भी शरदृतु अपने नवीन गुणों से आच्छादित कर देती है ॥ २२ ॥

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्त्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥२३॥

पतन्तीति। अस्मिञ्शरदि विशदाः पतत्त्रिणो बलाका न पतन्ति न प्रसरन्ति। धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्क्तयश्च न पतन्ति। तथापि शोभाकारणाभावेऽपि नभः परां श्रियं शोभां पुष्णाति। तथाहि। रम्यं स्वभावसुन्दरं वस्तु आहार्यमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते। तत्र स्वभावरम्यत्वेन रमणीयत्वादिति भावः। अर्थान्तरन्यासः ॥ [illegible] ॥

वर्षा काल में स्वच्छ (सफेद) पक्षी (बगुलों) की पङ्क्तियाँ और इन्द्रधनुष ऋतु की शोभा बढ़ाते हैं) इस शरदृतु में न तो सफेद पक्षी ही आसमान में उड़ते हैं और न मेघ मालायें इन्द्रधनुष से सुशोभित होती हैं तथापि यह (शरदृतु आकाश [illegible] सर्वोत्तम शोभा को पुष्ट कर रही है जो स्वाभाविक सुन्दर वस्तु और बाह्यकृत्रिम सामग्रियों की अपेक्षा नहीं रखता ॥ २३ ॥

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते ॥ २४ ॥

विपाण्डुभिरिति ॥ कदम्बानिलशब्देन वर्षर्तुरुपलक्ष्यते। स एव भर्ता तदपाये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाण्डुभिस्त्युतानि रहितान्यचिराभासुणा विद्युल्लता एव हेमदामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येभ्यस्तैः पयोधरैस्तमोदैः, अन्यत्र स्तनैः। उपलक्षितानाम्। 'स्तनाम्भोदौ पयोधरौ' इति वैजयन्ती। दिशा एव वधूस्तासामिव कृशता न शक्यत इति च। किंतु शक्यत एव वियुक्तत्वात्। 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा' इति स्मरणादिति भावः। सामान्यतः प्रसक्तमर्हान कार्श्यस्यैकेन नञा सम्भाव्य द्वितीयेन निषेधति। यथाह वामनः—'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति। अत्र रूपकालङ्कारः स्फुट एव ॥ २४ ॥

वर्षाऋतु रूप पति के चले जाने पर, उन दिक् सुन्दरियों की कृशता (दुर्बलता) निर्जलता रूप खिन्नता से विद्युल्लता रूप सुवर्ण सूत्र विनिर्मित भूषणों से रहित होकर भी मेघ रूप स्तनमण्डलों से क्या नहीं सुशोभित होती है? किन्तु सुशोभित होती है। (इस पद्य में कवि वर्षाऋतु को पति माना है, दिशाओं को स्त्री माना है और मेघ को स्तन माना है बिजली को सुवर्ण का आभूषण माना है। अर्थात् पति के विरह में स्त्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उपभोग के कारण स्तन म्लान हो जाते हैं और वर्ण पयोधर मण्डल से, जिन पर स्वर्ण के आभूषण भी न हों, स्त्रियों की खिन्नता भी उनको शोभा की वृद्धि करती है

इसी तरह इस शरद्‌ऋतु में भी वर्षा ऋतु के बीत जाने पर निर्जल मेघ जो थोड़ी पीली सी किये चमक रहा है है और उनकी बिजली की चमक समाप्त हो गई है अब उन से दिशायें सुशोभित नहीं होती है ऐसा नहीं उनकी शोभा और बढ गई है)। ॥ २४ ॥

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥ २५ ॥

विहायेति। मदात्ययान्मदव्यपायादरक्तकण्ठस्यासंपन्नस्वरस्य। कण्ठशब्देनात्र लक्षणया स्वरो लक्ष्यते। शिखण्डिनो मयूरस्य सर्वजनानुदितं उत्पन्नेऽतरे रुते कूजिते वाञ्छा विहाय। श्रुतिः श्रोत्रम्। 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः' इत्यमरः। उन्मदहंसानि स्वनं मत्तमरालकूजितं श्रयन्ति भजते। सन्नकाण्डे परिचितपरिहारेणापरिचिते कथं प्रीतिरुदय इत्याशङ्कयार्थान्तरं न्यस्यति—गुणा इति। प्रीणातीति प्रियः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता नियुक्ताः। संस्तवः परिचयो नाधिकृतो न समर्थः। प्रेमायाने गुणवत्त्व प्रयोजकं न परिचय इत्यर्थः॥

इसमें (शरद्‌ऋतु में) वर्षा काल के बीत जाने पर मयूरों (मोर) का मद क्षीण हो जाता है अतः उनकी वाणी कम मधुर प्रतीत होती है जब कभी इस ऋतु में ये बोलते हैं तब कान उससे निस्पृह हो उन्मत्त हंसो की ध्वनि श्रवण करते हैं। मन के प्यारे होने में गुण ही कारण है जिसमें अधिक गुण होगा वही प्रिय होगा चिरपरिचित कोई वस्तु नहीं है ॥ २५ ॥

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥२६॥

अमी इति । अमी पृथूनस्तम्बान्गुच्छान्बिभ्रतीति पृथुस्तम्बभृतः । "स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः" इत्यमरः । फलस्य सस्यस्य विपाकेन परिणामेन पिशङ्गतां गताः शालयो व्रीहिविशेषाः । वप्राम्भसि केदारोदके । "स्त्रीपुंसयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्" इत्यमरः । विकसतीति विकासि विकसितं गन्धेन सूचितं ज्ञापितमसितोत्पलं निघ्रातुमाघ्रातुमिव नमन्ति । निघ्रातुमिव इति पाठे घ्रातुमित्यर्थः । निघ्राणमपि वा । निघ्राणं तु निघ्राणं दृष्टवालोकनेऽव्ययम् इत्यमरः । अत्र फलभारात् नमनस्य निघ्राणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति फलोत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

ये धान के परिपाक से पीलिमा धारण करने वाले गुच्छेदार धान के पौधे मानो ऐसी हैं मानो प्रफुल्ल सुगन्ध-युक्त-सुवास नील कमल को सूँघने के लिये झुक रहे हैं ॥ २६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकमाह—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥ २७ ॥

मृणालिनीनामिति ॥ मृणालिनीनां पद्मिनीनां त्विषा हरितवर्णेनानुरञ्जितम् । अनुरञ्जनमापादितमित्यर्थः । तथाम्भोजपलाशशोभया पद्मदलकान्त्या । आरक्तयेत्यर्थः । विभिन्नं मिश्रितम् । तथा स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं स्फुरद्भिः कलमाग्रैः पिशङ्गीकृतमित्थं नानावर्णत्वाद् द्रुतं पक्वमित्यहिविद्विषो वृत्रशत्रोरिन्द्रस्य । सर्वे वृत्रासुरेऽप्यहिः इति वैजयन्ती । धनुष्खण्डमिव स्थितम् । स्थित समासेऽनुपपदत्वम् इति विशेषणीयस्य पयस् । पयो वाम्भोऽप्यहिरस्य धनुरीकृत्य जातमित्यर्थः । मित्रा योजना । अत्र धनुष्खण्डस्य द्रुतस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वादुत्प्रेक्षैव नोपमा ॥ २७ ॥

जल कमलिनी लता की कान्ति से (हरियाली से) मिश्रित, तथा कमल दल की शोभा से मिश्रित और झूमते हुए धान की बालों से पीले वर्ण को धारण करता है जिससे वृत्रासुर के शत्रु (इन्द्र) के धनुष के समान अनेक वर्ण युक्त हो गया है (कमलिनी—लता का रंग हरा, पद्म पुष्प का रंग लाल और पके हुये धान के पौधों का रंग पीला होता है, इनसबकी छाया पड़ने से जल में अनेक वर्ण प्रतीत होते हैं अतः वह इन्द्र धनुष को छटा धारण करता है ॥ २७ ॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥ २८ ॥

विपाण्ड्विति । विपाण्डु शुभ्रमनिलोद्धतं वायुनोत्क्षिप्तम् । सप्त सप्त पलाशानि

पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षा सप्तपलाशा । 'क्वचित्सङ्ख्यावाक्कस्य वृत्तिविषये वीप्सा यथैवं सप्तपर्णादि' दित्युक्तम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । द्विहीन प्रसवे सर्वस्' इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जात सप्तपलाशज रजः परागं सन्ध्यानुसुतरीयमिव । 'सन्ध्यानुसुरीय च' इत्यमरः । निरुन्धतीनिवारयन्ती । प्रावृतवतीरिति यावत् । अनाविलान्यकलुषाण्युन्मीलितानि च बाणानि नीलसैरेयकाणि चक्षूंषीव यासां तास्तथोक्ता । 'नीलस्सवर्णगलो दासी बाण ओदनपाक्यपि' इति धन्वन्तरिः । पुष्पाणि हासा इव तैः सह वर्तन्त इति सपुष्पहासा । वनराजयो योषित इव वनराजियोषित । ता अपविद्धयेरवन्यव । अत्र सन्ध्यानमिवेत्युपमेयानामुत्प्रेक्षमितसमासे विरुम् । यथा कार्त्तिकेनांशुकामुकेमापिव स्वनामुक निरुन्धे तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥

वन राजियाँ कामिनी रूप हैं । उनके विकसित पुष्प (कामिनियों के) हास्य के समान हैं । इन वन राजियों में बाण वृक्ष (कट सरैया) निर्मल खुली हुई आँखों के सदृश हैं । सात सात पत्तों से युक्त छितौन का पराग पाण्डु वर्ण के अञ्चल के सदृश है । जब वे हवा के झोंके से उड़ने लगते हैं तो स्त्रियाँ उन्हें सम्हालने लग जाती हैं । जिस प्रकार कामिनियाँ मन्द हास करती हुई अपने निर्मल नेत्रों से अवलोकन करती हैं और उनका बसन्ती रंग का अञ्चल हवा के झोंके से उड़ता रहता है । और वे उसे सम्हालने लग जाती हैं । उसी तरह ये वन पंक्तियाँ फूलों के भार से भरी हुई हैं । [redacted] में फूले हुये कट सरैया (बाण) के फूल और छितौन के जो वृक्ष हैं (छितौन के पेड़ के हर एक डन्ठी में सात २ पत्ते होते हैं । छितौन के पराग हवा के झोंके से उड़ रहे हैं उस समय इन (वन राजियों के) वृक्ष भी हवा के झोंके से झकोरे ले रहे हैं ॥ २८ ॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।
ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥ २९ ॥

अदीपितमिति । वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्युत्प्रकाशस्य दृष्टिविघातकत्वात्तद्रहितं शुभ इति भावः । सिताम्बुदानां छेदैः खण्डैस्तिरोहितातपम् । न दृष्टिबाधो नाप्यातपबाध इति भावः । सान्तरवारिसीकरैर्विरलाम्बुकणैस्ततान्तरं व्याप्तमध्यं सरोजवायुभिः शिवं रम्यं नभोवर्त्म चापदिति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

आकाश मार्ग विद्युताग्नि से उद्भासित नहीं हो रहे हैं । और शुभ्र बादलों के खण्डों से सूर्य का आतप भी छिपा हुआ है । (जिससे आकाश मार्ग में चलने से न तो आँखें चकाचौंध होती हैं और न धूप ही सताती है) आकाश का अन्तराल विरल २ जल कणों से व्याप्त हो रहा है । कमलों की सुरभित वायु से आकाश पथ बहुत रमणीय हो गया है ॥ २९ ॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतां रुतैरमीषां ग्रथिता पतत्रिणाम् ।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥ ३० ॥

सितेति । अपदिश्य धावतामिति पूर्वश्लोकवदेव पदप्रवृत्तिमुद्दिश्य धावता समीपां सितच्छदानां पतत्रिणां हंसानाम् । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । रुतैः शब्दैर्ग्रथिता रचिता । 'ग्रथितं गुम्फितं दृब्धम्' इत्यमरः । वारिदरोधनिर्गता मेघोपरोधविमुक्ता अत एवामला प्रसन्ना दिशः परस्परालापं प्रकुर्वत इव । दिशां मेघोपरोधनिर्मुक्तानां चिरादुत्कण्ठितानां हंसकूजितव्याजेन परस्परमालपन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ २० ॥

इन सब सुन्दर वस्तुओं का अपदेश कर दौड़ते हुए इन धवल पक्ष वाले हंस पक्षियों की कल कूजन से गुम्फित हो कर दिशाएं मेघों के अवरोध से छुटकारा पाकर निर्मल हो गई हैं और वे मानो अन्योन्य सम्भाषण कर रही हैं ॥ २० ॥

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।
असक्तमूधांसि पयः क्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥ २१ ॥

विहारेति । विहारभूमेः । चरणस्थानादित्यर्थः । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका व्रजं प्रत्युत्कण्ठिताः । वत्सलत्वेनेति भावः । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । च्युता त्रुटिता यूथानां कुलानां पङ्क्तिः श्रेणीर्याभिस्ता धेनवः । 'सजातीयैः कुलं यूथम्' इत्यमरः । अमूर्धेनवोऽसक्तमप्रतिबन्धं यथा तथा पयः क्षरन्ति स्रावयन्ति । वत्सस्मरणादिति भावः । क्षरते अनुभ्रमणम् । ऊधांसि शरीरजेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीवाभिलाषकारिणीभिरुत्प्रेक्षा । नयन्ति प्रापयन्ति । यथा लोके ह्यतिप्रवासादेत्य मातरः किञ्चिदुपायनमानयन्ति तद्वदिति भाव ॥ २१ ॥

अर्जुन ने देखा—ये गायें विहार भूमि से (वन के प्रदेश से) अहीर स्थान (घोष) के लिये उत्कण्ठित हो अपने झुण्ड से अलग हो गई हैं और वे (अपने बच्चों का स्मरण कर) लगातार क्षीर वर्षण कर रही हैं । अपने थनों को मानो वे अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले (बच्चों) के लिये उपहार ला रही हैं (अर्थात् जैसे माता अगर कहीं बाहर घूमने के लिये जाती है तो वह लौटते वक्त अपने बच्चों के लिये खाने की कुछ न कुछ सामान अवश्य लाती है उसी तरह गायें भी अपना थन बच्चों के लिये ला रही थीं) ॥ २१ ॥

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥ २२ ॥

जगदिति । जगतः प्रसूतिर्जगत्कारणम् । आज्यादिहविर्द्वारेणेति भाव । जगतामेकपावनी मुख्यशोधनी व्रजोपकण्ठं घोषान्तिकम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा' इत्यमरः । तनयैर्वत्सैरुपेयुषी सङ्गता । उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । उगितश्च इति ङीप् । असौ

गवा समिति संहतिः । मन्त्रैर्ऋग्यजुःसामादिभिः । 'मन्त्रो ऋगादिगुह्योक्ति—' इति वैजयन्ती । सहिता योजिताहुतिरिव । समग्रां द्युतिमुपैति । आहुतिरपि जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी च । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति स्मरणादिति भावः ॥ ३२ ॥

संसार की रक्षा करने में समर्थ, दुनियाँ को अपवित्रता से शुद्ध करने वाली गायें अपने बछड़ों के संग गोष्ठ (गोशाला) के समीप खड़ी थीं । उनका झुण्ड (अपनी पूर्ण शोभा के साथ) ऋक्, यजु, और सामादि मन्त्रों से युक्त हव्यादि प्रक्षेप रूप आहुति (जो संसार के रक्षा में समर्थ और संसार को पवित्र करने वाली है) की तरह, अपनी पूर्ण शोभा को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने ।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥ ३३ ॥

कृतेति । जितबर्हिणध्वनौ । केकानुकारिणीत्यर्थः । एतेन षड्जस्वरप्राय गायन्तीति गम्यते । यथाह मातङ्गः—'षड्जं मयूरो वदति' इति । गाः पान्तीति गोपाः तेषां भार्या गोप्यः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष् । ता एव जनः । सुरक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो बल्लवीजनस्तस्य गीतनिःस्वने गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तमिदं पुरोवर्ति मृगीकदम्बकं कर्तृ भूयसीमतिमहतीं जिघत्सामत्तुमिच्छाम् । अदेः सन्नन्तादप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः । अपहाय हित्वा सस्यं नाभ्येति नोपैति । गीतासक्त्या क्षुधामपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अर्जुन ने देखा—हरिणियों का झुण्ड, मयूरों का षड्ज ध्वनि को जीतने वाली (मधुर-कण्ठ-गोपियों के गान में दत्त चित्त होकर अधिक खाने की इच्छा से विरत हो घास चरना भूल गया है (अर्थात् गीत में आसक्त हरिणियाँ भूख प्यास को भी भूल गई हैं) ॥ ३३ ॥

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि ।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥३४॥

असाविति । शिरसाऽग्रेण मूर्ध्ना च नमन्नप्यनास्थया दरपरया सरोरुहिण्यावधीरितोऽवज्ञातः । अम्भसा सह । सहभूतेनेति भावः । शुष्यन्नसौ कलमः शालिविशेषः । मनोभुवा तप्त इव कामार्त इव । अभिपाण्डुतामुपैति । अत्रानास्थापरयेति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः । असिद्धमात्राया सरोरुहिण्या प्रतीयमानया नायिकया शुद्धभेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमहिम्नावधीरणक्रियासम्बन्धाभिर्वहन्ती मनोभुवा तप्त इवेत्युत्प्रेक्षानिर्वाहिकेत्यतिशयोक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३४ ॥

अनाचारकारिणी कामिनियों से निरन्तर हो कर यह शालि (धान) जल के साथ साथ स्वयं सूख कर कठिन हो रहा है और काम से पीड़ित हो कर दिन दिन पीला पड़ता जा रहा है ॥ ३४ ॥

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना ।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥ ३५ ॥

अमी इति । समुद्धूतसरोजरेणुनेति सौरभ्योक्तिः । हृतासारकणेनोपात्तासारकणेनेति शैत्योक्तिः । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । वायुना हृता आकृष्टा अमी शिलीमुखा भृङ्गाः । आपदामुपागमे राजादिकृतापदागमे दुश्चरिता दुष्कर्माणश्चोरादय इव । गतिं गन्तव्यदेशम् । 'देशोपायगमेषु गतिः' इति वैजयन्ती । निश्चेतुं नालं न समर्थाः । पवनस्य वायोः सार्वत्रिकत्वेनावस्थानादनिश्चयात्स्वस्य अवस्थानासामर्थ्यादिति भावः ॥ ३५ ॥

ये भ्रमर उड़ते हुए कमल-परागों को धारण करते हुए तथा वर्षा के जल कणों से युक्त (त्रिविध—शीतल मन्द सुगन्ध वायु कमल पराग से सुगन्धि और उसके भार से मन्दता तथा जल कण से शैत्य का ग्रहण करता है) शीतल मन्द सुगन्ध पवन के द्वारा आकृष्ट हो कर आपत्ति में पड़े हुये तस्करों (चोर डाकुओं) की तरह 'कहाँ जायें' कहाँ भाग कर जाँय इस का निश्चय नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥ ३६ ॥

मुखैरिति । विद्रुमभङ्गलोहितमुखैः पिशङ्गीः पिशङ्गवर्णाः कलमस्य शिखाः शालिप्राणि बिभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला विकसितशिरीषवर्णासौ शुकावलिर्गोत्रभिद इन्द्रस्य धनुःश्रियमनुगच्छत्यनुकरोति । नानावर्णत्वादिन्द्रधनुरिवाभातीत्युपमाऽलङ्कारः ॥ ३६ ॥

यह (शुकावलि) (शुक=तोता । आवलि=पंक्ति) अपने प्रवाल के टुकड़े के समान लाल वर्ण के चञ्चुओं से पीले रंग की धान की एक समूह शिखा धारण करती हुई विकसित शिरीष के पुष्प समवर्ण इन्द्र के धनुष की शोभा का अनुकरण कर रही है। जैसे इन्द्र धनुष में विविध प्रकार के रङ्ग पाये जाते हैं उसी तरह इन तोतों के समूहों में विविध रङ्ग (चोंच का लाल धान की बाल पीली और उनके बदन का रंग हरा तथा उन के गलों में जो रेखा पड़ी हुई होती है वह अनेक रंग की होती है) होने से उसकी भी इन्द्रधनुष की समानता हो रही है ॥ ३६ ॥

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः ।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥ ३७ ॥

इतीति । तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते यक्ष इतीत्थं कथयति सति नातिदूरादनतिदूरात्। ईषद्दूर इत्यर्थः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । पिहितोऽपवारितोऽर्कमण्डलस्ति- रोहितार्कमण्डल इत्यौपम्योक्तिः । नगाधिराजो हिमाद्रिर्विगलितो जलभारो येषां ते तथोक्ताः अतएव शुक्लभासः । द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षया विशेषणसमासः । सेषां विगलितजलभारशुक्लभासां शुभ्राणामम्बुमुचां निचय इव मेघवृन्दमिव ददृशे दृष्टः ॥

इस तरह वार्तालाप करते हुये (यक्ष) ने सन्निकट से, भगवान् भास्कर के मण्डल को तिरोहित करनेवाला पर्वत राज हिमालयको उन मेघों के समूह के सदृश देखा जिनके जलभार परित्याग करने से वर्ण शुभ्र हो गये हैं ॥ ३७ ॥

समतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः ।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मीमसितमम्बरवाससो बिभ्रतः सीरपाणेः ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थः सर्गः ।

समितिं । जिष्णुरर्जुनोऽतनुभिर्महतीभिर्वनराजिभिः श्यामिता श्यामला उपत्य- कान्ता आसन्नभूमिप्रदेशा यस्य तं तथोक्तम् । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः । उपरि हिमानीभि- र्हिमसङ्घातैर्गौरं शुभ्रं नगं हिमाद्रिमासाद्य । व्यपगतो निवृत्तो मदरागो यस्य तस्य । असितं नीलमम्बरं वासः उत्तरीयं बिभ्रतो वहतः । सीरं हलं पाणौ यस्य तस्य सीर- पाणेर्हलायुधस्य । 'हलायुधः । नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली । सङ्क- र्षणः सीरपाणिः' इत्यमरः । 'सप्तमीविशेषणे—' इति ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्याः परनिपातः । लक्ष्मीं शोभामनुस- स्मार स्मृतवान् अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणात्स्मरणालङ्कारः 'सदृश सदृ- शानुभवादन्यस्मरणम्' इति विद्याधरः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य- व्याख्यायां-घण्टापथसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः ।

सुन्दर विस्तृत वनों की पंक्तियों से नील वर्ण के उपत्यका (पहाड़के समीपकी नीची भूमि) प्रदेश से घिरे हुये, बर्फ के चट्टानों से ढके हुये शुभ्र हिमालय पर पहुँच कर, अर्जुन को हाला के राग से मुक्त, नीलाम्बरधारी, सीरपाणी बलभद्रजी की शोभा का स्मरण हो आया ॥ ३८ ॥

॥ चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चम सर्ग ।

अथ हिमवद्वर्णनमारभते । तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया ।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितुं नभः ॥ १ ॥

अथेति । अथानन्तरं सोऽर्जुनो मेरुमहीभृतो हेमाद्रेर्जयाय नु जयाय वा । नु इति वितर्के । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । रभसो वेगः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति वैजयन्तीविश्वप्रकाशौ । तद्रूपया रभसया । औत्सुक्येनेति यावत् । बहुव्रीहिः(?) ... दिगन्तानां दिदृक्षया नु द्रष्टुमिच्छया वा । नभोऽन्तरिक्षं विलङ्घयितुमतिक्रमितुं वा । समुदितम् । समुत्पतितमिव स्थितमित्यर्थः । नु इव । उच्छ्रितमुन्नतं हिमाचलमभिययौ । अत्र विचारितानेकपक्षकोटिकत्वात्संदेहालङ्कारः । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानेति सङ्क्षेपः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्— 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(सरोवर की शोभा का अवलोकन करते हुए अर्जुन ने दूर से हिमालय को देखा) उसके अनन्तर हिमालय की ओर प्रस्थान किया। हिमालय इतना ऊँचा है कि जिससे मालूम पड़ता था कि वह सुमेरु पर्वत को जीतने के लिये इतना ऊँचा हो रहा है या यह मालूम पड़ रहा था कि वह दिशाओं का अवसान देखने के लिये समुत्कण्ठित है। अथवा उसके औन्नत्य से यह भी प्रतीति होती थी कि वह आकाश लाँघ कर आगे बढ़ना चाहता है ॥ १ ॥

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥ २ ॥

तपनेति । पुनः एकत एकस्मिन्भागे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । तपनमण्डलेन दीपितं प्रकाशितम् । अन्यतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनाविच्छिन्नेन नैशेन निशाभवेन तमसा वृतम् । एकप्रान्ता रात्र्या चान्यत्र सङ्गतमित्यर्थः । अत एव पुरोऽग्रे हसितेनाट्टहासेन भिन्नतमिस्रचयं निरस्तसमस्तोमं तथा गजचर्मणानुगतं पश्चाद् व्याप्तम् । 'पश्चाद्व्याघ्रयोरनु' इत्यमरः । शिवमिव स्थितम् । तपनोऽत्रासाट्टहासोऽन्धकारस्य कर्म इव कुत्रचित्परिसमाप्यत इति महत्त्वातिशयोक्तिः ॥ २ ॥

इस की ऊँचाई के कारण सूर्य जिस तरफ रहता है उस तरफ प्रकाश रहता है और दूसरी तरफ रात्रि की तरह घना अन्धकार से आच्छादित रहता है अर्थात् एक ओर दिन और दूसरी ओर रात्रि रहती है इससे मालूम पड़ता है कि वे हाथी की खाल ओढ़े और अट्टहास करते हुये साक्षात् शिव जी हैं क्योंकि शिवजी के सामने का भाग उनके हास से प्रकाशित रहता है और पीछे का भाग हाथी की खाल से अन्धकाराच्छन्न रहता है ॥ २ ॥

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ॥ ३ ॥

क्षितीति । परस्परेऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्या त्परशब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य' इति वक्तव्यात्प्रथमैकवचनम् । सुट् । कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वम् । बहुवचनं चान्योन्यशब्दवत् । यथा माघे—'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परे यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तैस्तथोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तथोक्तैः । भूर्भुवःस्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अतएव शम्भुना विभुतां स्वसामर्थ्यं प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः । त्रैलोक्यशलाकोपममपरिच्छेद्यं चेति भावः ॥ ३ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग लोक के निवासी एक दूसरे से अदृष्ट होकर इस हिमालय पर निवास करते हैं। अतः मालूम पड़ता है कि शङ्कर भगवान् ने अपने बल के प्रचार के लिये संसार भर का प्रतिनिधि इसे (हिमालय को) बनाया है ॥ ३ ॥

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥ ४ ॥

भुजगेति । पुनश्च । भुजगराजसितेन शेषाहिधवलेन नभः श्रिता गगनस्पृशा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन तथोक्तेन । अतएव तडित्वतीं शरदम्बुदसंहतिं शारन्मेघचयं लघयता लघूकुर्वता । तिरस्कुर्वतेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । निचयेन शिखरसमूहेन समुदितं समुन्नतम् । निचयेनेति । यद्यपि निचयशब्दः शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वतवर्णनप्रकरणोक्तत्वात्तत्पर्याय इव' प्रकरणात्तद्वाची भवितुमर्हति । यथा—'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति कूटशब्दः समूहापरपर्यायः । अतएव लक्षणाप्रमाणीया । अतएवावाच्यवचनं न दोषः ॥ ४ ॥

इसका (हिमालय का) गगनचुम्बी, शेषनाग के समान शुभ्र और सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित शिखर समूह इतना ऊँचा है कि वह विद्युल्लतासे युक्त शरद् कालके मेघमालाओं को अपने औन्नत्य से तिरस्कृत कर रहा है ॥ ४ ॥

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥ ५ ॥

मणीति । पुनः । मणिमयूखचया अंशुकानीव पताकादीनीव तैर्भासुराः । सुरवधूभिः परिभुक्ता लता गृहा इव यासु तास्तथोक्ताः । उच्चानि शिलान्तराणि गोपुरा-

नीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः । उद्भिन्नान्यूर्जितानि पुष्पाणी वनानि यासु ताः । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिताः । द्रुतो दृष्टवम् ॥ ५ ॥

इस हिमालय के भूभाग नगर के समान हैं । ये नगर विविध रत्नों की किरणों से व्याप्त हैं । भवनाकृतियों से संयुक्त गुफायें इस नगर के भवन हैं । कभी २ शिलाओं के बीच के [illegible] स्थान नगर के फाटक हैं । अच्छे २ फूलों के वन पुष्पोद्यान हैं । (इस तरह, ये नगर वाले भूखण्डों को यह हिमालय धारण करता है) ॥ ५ ॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥ ६ ॥

अविरतेति । पुनश्च । अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारत्वात् । अथ हिमवन्त इत्यर्थः । अतएव विपाण्डवश्च तेरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः । अतएव हिमवत्पक्षत्व सम्भवतीति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तेजोरहितैः । आरतनिःस्वनैः शान्तगर्जितैश्च । अन्यथा पक्षव्यवहारो न स्यादिति भावः । पृथुनितम्बविलम्बिभिर्महाकटकस्थितैः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । अम्बुदैरुदितपक्ष सञ्जातपक्षमिव स्थितम् । प्रतिपक्षपक्षस्यापि हिमाद्रेर्जलदच्छलादुद्धताः पक्षोत्पत्तिरुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६ ॥

इस हिमालय के विपुल नितम्ब के समान मध्यभाग पर मेघ आ लटकते हैं । (अब वे मेघ पानी बरसा चुके हैं किन्तु) खूब जलवर्षा कर विमुक्त हो जाने से धवल वर्ण के हो गये हैं । अब इन में बिजली का प्रकाश बिल्कुल नहीं रह गया है । वे (मेघ) गर्जना भी न कर रहे हैं । इन बादलों से यह हिमवान् सपक्ष दिखायी पड़ता है । पहले तो पर्वतों के पक्ष होते थे जिनसे वे उड़ते थे । उड़ते २ जहाँ बैठ जाते थे वहाँ के जन धन को नष्ट कर देते थे इस लिये इन्द्र ने पर्वतों का पक्ष काट डाला । यद्यपि यह पक्ष रहित है तो भी इन मेघों से पक्षवान् सा प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकाममहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥ ७ ॥

दधतमिति । पुनश्च । आकराः खनिभिरस्य सन्तीत्याकरिभिरुत्पत्तिस्थानवद्भिः । 'आकरिः' स्यादाकरश्च इत्यमरः । करिभिर्गजैः क्षतैः । समवतारेषु समेषु समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैरसमैरसदृशैः । अनुपमैरित्यर्थः । तटैरुपलक्षिताः । महिताम्भसः श्लाघ्योदकाः अतएव विविधेभ्यः कामेभ्योऽभिलाषेभ्यो हिता अनुकूलाः । चतुर्थी तदर्थ— इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ताः । जवना वेगवतीः । जुचङ्क्रम्य— इत्यादिना युच् । नदीर्दधतम् । यमकमनुप्रासश्च इत्यनयोरेकाश्रयानुप्रवेशात् । यमकालङ्कारः । तत्पादेषु कतिपयवर्णावृत्तिरूपोऽनुप्रासोऽपि आश्रियते । तदुक्तम्—'आवृत्तौ यमके पादे लाटानुप्रासरूपता' इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं। उनके तट अनेक रत्नों की खानि हैं। वे हाथियों के द्वारा ध्वस्त कर के समस्थल बना दिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं। इसलिये स्नान मज्जनादि अनेक विध कार्य्यों के लिये ये नदियां हितकारिणी हैं। इनका जल अत्यन्त पवित्र है। इनमें कमल विकसित हो रहे हैं। ऊँचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रवाह प्रखर (तीव्र) है। (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है)॥७॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमतां निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति । द्रुतम् । नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विष इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओड्रपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति शाश्वतः । द्युतिमतां महाश्मनां मणीनाम् । पद्मरागाणामित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यात् । निकरेण समूहेन हेतुना क्वचिन्निचिताः सङ्घटिताः काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सान्ध्या सन्ध्यासम्बन्धिनो मयूखा यस्मिंस्तमिव स्थितम् । काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसरात्संवलितसन्ध्याराग इवाभातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

इस हिमालय पर अभिनव विकसित जपाकुसुम पुष्प के समान (अरुण) कान्ति युक्त पद्मरागादि महामणियाँ विराज रही हैं। प्रकाशित होते हुए इन महा मणियों के समूह से खचित होकर हेममय शिखरों पर सायं काल की किरणों के सदृश परिस्फुरण करती हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है। (सूर्य्य की किरणें सायङ्काल को पीला और लाल वर्ण मिश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीला और पद्म राग का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायङ्कालीन द्युति धारण करता है॥ ८॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति । द्रुतम् । पृथुभिः कदम्बकैः कदम्बकनीपकुसुमसमूहै राजितम् । 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः । ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । लघुतुषारमल्पशीकरं यत्तुषारजलं हिमोदकं तच्च्योतति वर्षतीति तं तथोक्तम् । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । सदानाः समदाः सदाननाः शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते सन्त्यस्येति तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय बड़े २ कदम्ब के पुष्पों से सुशोभित हो रहा है। यह गुथे हुवे पुष्प माल्य के सदृश तमाल के वनों से व्याप्त हो रहा है। बिन्दु बिन्दु हिमजल इस परसे परिस्रवण कर रहा है। इस हिमालय पर मदस्रावी, और सुन्दर मुख, सुमुख वाले हाथियां विचरण करते हैं॥ ९॥

णीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः । उदितान्यूर्जितानि पुष्पाणां वनानि यासु ताः । अत एव पुर इव नगराणीव स्थिताः । भुवो दधतम् ॥ ५ ॥

इस हिमालय के भूभाग नगर के समान हैं ये नगर विविध रत्नों की भित्तियों से मण्डित हैं । भ्रमराङ्गनाओं से उपयुक्त लताएँ इस नगर के भवन हैं । कहीं २ शिलाओं के बीच के रिक्त स्थान नगर के फाटक हैं । कहीं २ फूलों के वन पुष्पोद्यान हैं । (इस तरह के नगर वाले भूखण्डों को यह हिमालय धारण करता है) ॥ ५ ॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥ ६ ॥

अविरतेति । पुनश्च । अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारय इत्यर्थः । अत एव विपाण्डवस्तैरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः । अत एव हिमवत्पक्षवत्त्वं लक्ष्यत इति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तोरहितैः । आरतनिःस्वनैः प्रशान्तगर्जितैश्च । अन्यथा पक्षस्य हानिः स्यादिति भावः । पृथुनितम्बविलम्बिभिर्महाकटकव्यापिभिः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । अम्बुदैरुदितपक्षमुत्पन्नपक्षमिव स्थितम् । वाणिभूतपक्षमपि हिमाद्रिं पक्षवन्तमम्बुदास्तुनः पक्षोदयमनुत्प्रेक्षते ॥ ६ ॥

इस हिमालय के विपुल नितम्ब के समान मध्यभाग पर मेघ अब लम्बित हैं । (जब ये मेघ वाले पक्ष के नहीं हैं किन्तु) बहुत जलवर्षा कर निरुद्ध हो जाने से धवल वर्ण के हो गये हैं । अब इन में बिजली का प्रकाश बिलकुल नहीं रह गया है । वे (मेघ) गम्भीर गर्जन न कर रहे हैं । इन बादलों से यह हिमवान् सपक्ष दिखाई पड़ता है । पहले तो पर्वतों को पक्ष होते थे जिनसे वे उड़ते थे । उड़ते २ जहाँ जाते थे वहाँ के जन जन को नष्ट भ्रष्ट कर देते थे इस लिये इन्द्र ने पर्वतों का पक्ष काट डाला । यद्यपि यह पक्ष रहित है तो भी इन मेघों से पक्षवान् अवेक्षित होता है ॥ ६ ॥

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकाममहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥ ७ ॥

दधतमिति । पुनश्च । आकरः खनिरेषामस्तीत्याकरिणस्तैराकरिभिराकरजैः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । करिभिर्गजैः क्षतैः । क्षतैः दन्तैः समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैरसमैरसदृशैः । अनुपमैरित्यर्थः । तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भसः श्लाघ्योदका अत एव विविधेभ्यः कामेभ्योऽवगाहनाचमनादिभोगेभ्यो हिताः अनुकूलाः । 'चतुर्थी तदर्थ-' इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ताः । जवना वेगवती । 'जुचङ्क्रम्य-' इत्यादिना युच् । नदीर्दधतम् । यमकमृत्यनुप्रासभेदत्वादस्यपमेवालङ्कारः । अर्थालङ्कारस्त्वस्फुटः । तस्यातितुच्छत्वाद्रसपोषोऽपि न क्रियते । तदुक्तम्— यमको यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं । उनके तट अनेक रत्नों की खानि हैं । वे हाथियों के द्वारा क्षत कर के समस्थल बना दिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं । इसलिये स्नान मज्जनादि अनेक विध कार्य्यों के लिये ये नदियाँ हितकारिणी हैं । इनका जल अत्यन्त पवित्र है । इनमें कमल विकसित हो रहे हैं । ऊंचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रवाह प्रखर (तीव्र) है । (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है)॥७॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमतां निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति । पुनश्च । नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विष इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओड्रपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति वाग्भटः । द्युतिमतां महाश्मनां मणीनाम् । पद्मरागाणामित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यात् । निकरेण समूहेन हेतुना क्वचिन्निचिता सङ्घटिता काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सान्ध्या सन्ध्याकालीना मयूखा रश्मयस्तमिव स्थितम् । काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसराद्गुदितसन्ध्यारागा इव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

इस हिमालय पर नवीन विकसित जपाकुसुम पुष्प के समान (अरुण) कान्ति युक्त पद्मरागादि महामणियाँ विराज रही हैं । प्रकाशित होते हुए इन महा मणियों के समूह से सङ्घटित होकर हेमयुक्त शिखरों पर सायं काल की किरणों के सदृश परिस्फुरण करती हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है । (सूर्य्य की किरणें सायङ्काल को पीला और लाल वर्ण मिश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीला और पद्म राग का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायङ्कालीन द्युति धारण करता है ॥ ८ ॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदाननदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति । पुनश्च । पृथुभिः कदम्बकानां कदम्बकैर्नीपकुसुमसमूहै राजितम् । 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः । ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिञ्छवनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । लघुतुषारमल्पशीकरं यत्तुषारजलं हिमोदकं श्च्योतति वर्षति तं तथोक्तम् । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । सदाना समदाः सदाननाः शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय बड़े २ कदम्ब के पुष्पों से विशोभित हो रहा है । यह गुंथे हुवे पुष्प माल्य के सदृश तमाल के वनों से व्याप्त हो रहा है । बिन्दु बिन्दु हिमजल इस परसे परिस्रवण कर रहा है । इस हिमालय पर मदस्रावी, और सुन्दर शुण्ड, मुखवाले हाथियां विचरण करते हैं ॥ ९ ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः ॥ १० ॥

रहितेति । पुनश्च । रहितरत्नचयान् रहिता वर्जिताः रत्नचया यैस्तान् रत्नराशिर हिताञ्छिलोच्चयान्शिखराणि च दधतम् । अपलताभवना लतागृहरहिता दरीभुवो गुहाप्रदेशांश्च दधतम् । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः । विपु लानि पुलिनाम्बुरुहाणि च याभ्यस्ताः । सरितो वध्व इव ताः सरिद्वधूः दधतम् । अत्र सरितां वधूपम्यात्पुलिनानामम्बुरुहाणां च पद्मत्वमर्थाद्गम्यते । अकुसुमा न्महीरुहो वृक्षांश्च दधतम् किन्तु रत्नादिसम्पन्नानेव शिलोच्चयादीन्दधतमित्यर्थः । महाविभावनया नाम लक्षणम् ॥ १० ॥

इस हिमालय के शिखर रत्न राशियों से खाली नहीं हैं (अर्थात् अनेकविध रत्नों की खानि इसके शिखर हैं) इस के कन्दरा के अनेक लतागृहों से शून्य नहीं हैं । इस (हिमालय) की नदियाँ वधूविभूषिता रमणी की तरह हैं । वे नदियाँ पुलिनराशि और कमलों से रहित नहीं हैं । इस पर के जितने वृक्ष हैं वे पुष्प और फलों को धारण न करते हों वो भी नहीं (अर्थात् सब रत्न सम्पन्न यह हिमालय है) ॥ १० ॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः ॥ ११ ॥

व्यथितेति । पुनश्च । अनीरशनैरनीरैर्मेखलाभिः । शनैरित्यर्थः । घनैर्विपुलैरमरलोक वधूजघनैः शनैर्मन्दं व्यथितसिन्धुं क्षोभितनदीकम् । अथवासरः स्वर्गं इति नाम । ये रम्या लताश्च बकुला केसराश्च ते दयिताः प्रिया येषां तैस्तथोक्तैः । फणभृतां नागानां कुलैः स च केसरः इति वैजके । अमरस्त्रीणां सर्पाणां कुलैरभितस्ततं व्याप्तं तथा विततं विस्तृतम् ॥ ११ ॥

इस हिमालय की नदियों का प्रवाह देवसुन्दरियों के बाली सहित बड़े-बड़े जघनों से धीरे-धीरे क्षुब्ध होता रहता है (अर्थात् वे आकर यहाँ नदियों में जलक्रीडा करती हैं जिससे प्रवाह क्षुब्ध होता है) और यह (हिमालय) सर्पों के कुलों से व्याप्त होकर विस्तृत हो पड़ा है। सुन्दर कोमल लता और पुष्प बकुल ही इनकी प्रियतमायें हैं ॥ ११ ॥

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः ।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ॥ १२ ॥

ससुरेति ॥ अनेका विविधा मणिप्रभा येषां तैस्तथोक्तैः । हिमेन पाण्डुभिः शिखरैः कृत्वा ससुरचापं सेन्द्रचापम् । अपस्या निर्जलोऽसावपि विशदः समयपयोविशदम् । अविचलं दैवाचिरकम् । अतः शिखराकारत्वात्सुस्थिरार्थः । किन्तु ध्वनितेन गर्जितेन

सूचितं ज्ञापितमम्बुमुचां चयमविरतमुपविज्ञातम् । अत्र किल कवि इत्याचित्र-खरमेघसन्देहो मेघनिश्चयान्त. सन्देहालङ्कार ॥ १२ ॥

हिमालय के शिखर अनेक मणियों की प्रभा से रंजित रहने के कारण तथा बर्फ से ढके होने के कारण शुभ्र दिखलाई पड़ते हैं । उन पर मेघमण्डल भी धवल वर्ण तथा इन्द्र धनुष के संग होता हुआ व्यक्त नहीं हो पाता है जब कभी वह गम्भीर गर्जन करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय के शिखर पर मेघ भी है ॥ १२ ॥

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम् ।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥ १३ ॥

विकचेति ॥ पुनश्च । विकचवारिरुहम् । नित्यविकसितारविन्दमित्यर्थः । इतिशा समर्थात् । कलहंसगणैः सह वर्तत इति सकलहंसगणम् । 'कादम्ब. कलहंस स्यात्' इत्यमर । यद्वा । सकला सर्वे हंसगणा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । शुचि नित्यनिर्मलं मानस मानसाख्यं सरो दधतम् । किञ्च । कृतेर्ष्यया । कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितयेत्यर्थः । अगात्मजया पार्वत्या सकलहं सविवादम् । सगणं सप्रमथम् । 'गणा' प्रमथसंख्यौघा.' इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्तं शिवं च दधतम् । पुनेन कवैषम्यमस्योक्तम् ॥ १३ ॥

यह निर्मल जल युक्त, उस 'मानसरोवर' (तालाब) को धारण करता है । जिसमें कमल खिले [illegible] रहते हैं और इसमें कल हंसों का निवास है या सम्पूर्ण जाति के हंसों का निवास है । यही नहीं किन्तु किसी कारण से कुपित पार्वती के साथ, अपने प्रमथादि गणों के साथ, सम्पूर्ण अविद्याओं से निर्मुक्त अतएव शुद्ध चित्त शंकर जी को भी धारण करता है ॥ १३ ॥

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभित. परित.—' इत्यादिना द्वितीया । ग्रहाश्चन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमर । तेषां गणान्ज्वलयता प्रदीपयता । 'मितां ह्रस्व' इति ह्रस्वः । ओषधिजेन तृणविशेषजन्येन कृशानुना वह्निना कृत्वानुक्षपं प्रतिक्षपम् । वीप्सायामव्ययीभाव । उमापतिसेविन. प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समास । 'पात्रादिभ्य प्रतिषेधो वक्तव्य' इति स्त्रीलिङ्गप्रतिषेध । तस्य दाहं त्रिपुरदाहं मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ—' इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्या शेषार्थे विधानाच्छेषत्वस्याविवक्षितत्वात् । अत्र 'कविसम्मतसादृश्यात्स्मृति' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

इस हिमालय पर स्वर्ग के चतुर्दिक (प्रति भाग) मणि (पद्मराग) और देवताओं के विमानों का प्रकाश एवं विशेष से उत्पन्न अग्नि से उमापति (शङ्कर) के सेवकों (अर्थात् शङ्कर भगवान् के गणों) को त्रिपुरासुर के नगर के दाह का बारम्बार स्मरण हो जाता है तात्पर्य यह कि यह अनेक प्रकार की औषधियों का बड़ा भण्डार है ॥ १४ ॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥ १५ ॥

विततेति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतकणसमूहैरुच्छ्रितैरुत्पतितैः । कुतः । उपलरोधेन विवर्तिभिरम्बुभिर्हेतुभिर्धृतसितव्यजनामिव गृहीतचामरामिव स्थिताम् । उन्नतसानुसमुद्धतां जाह्नवीं गङ्गां दधतम् ॥ १५ ॥

इस हिमालय के उन्नत शिखरों पर गङ्गा प्रवाहित होती हैं । पत्थरों के ढेर के कारण जल उनका बड़ा प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है । पुनः जब पत्थरों के ढेरों पर से उछलने लगता है उस समय उसका जल कण ऊपर्व गति से फुव्वारे की तरह छूटते हैं उस समय गङ्गा श्वेत चामर धारण की हुई की भाँति प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
[illegible] जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरतावसरे हि विराजते ॥ १६ ॥

अनुचरेति ॥ अथोऽनन्तरम् । नगविलोकनविस्मितमानसो जय इत्यर्थः । धनाधिपतेरनुचरेण यक्षेण नगविलोकनेन विस्मितमानसः । सोऽर्जुनः । आदरात्प्रियं वचनं जगदे गदितः । मुखरतावसरे हि विराजते । अप्रष्टपरिभाषणदोषं परिहरति—मुखरतेति । मुखरता वाचालत्वम् । अप्रष्टपरिभाषित्वमिति यावत् । अवसरे योग्यकाले विराजते हि । काकाक्षिन्यायेन उभयत्र सम्बन्धः इति भावः ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् कुबेर के भृत्य ने हिमालय के दर्शन से आश्चर्य चकित अर्जुन से आदर पूर्वक मधुर शब्दों में कहा क्योंकि यदि मनुष्य अवसर समझ कर बिना पूछे भी कुछ कहता है तो उसकी शोभा होती है ॥ १६ ॥

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम् ।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन् हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥ १७ ॥

अलमिति ॥ हिमेन गौरैः शुभ्रैः शिरोभिः शिखरैर्घनवर्त्म खं सहस्रधा कुर्वन्निव दर्शयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । एषोऽचलाधिपो हिमवान् विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामंहसां संहतिं पापसङ्घातं सहसा विहन्तुमलं समर्थः । दर्शनमात्रेण पापहर इति तात्पर्यम् ।

औपच्छन्दसिक वृत्तम्—'पर्यन्तेर्यो तथैव शेषं चौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति स्मरणात् ॥ १७ ॥

यवने क्षा—यह नगेन्द्र हिम धवल अपने शिखरों से मेघ मार्ग अर्थात् आकाश मण्डल को मानों असख्य भागों में विभक्त कर दिया है। दर्शन मात्र से ही यह लोगों के पाप पुञ्ज का नाश करने में समर्थ है। ॥ १७ ॥

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् ॥१८॥

इहेति ॥ इहास्मिन्पर्वते । सुतरं न भवतीत्यसुतरम् । सुदुस्तरमित्यर्थः । ततते सततमव्ययं । अन्तरं मध्यमन्तरम् । पुरुषे त्वन्तरं तत्वम् । दुरधिगमैर्दुर्बोधैरन्यत्र दुष्प्रवेशैरागमैर्वेदैरन्यत्र पुराणादिभिः । 'पुराणेऽप्यागमो वृत्ते' इति दक्ष । किञ्चिदेव सततं वर्णयन्ति न तु सम्यग्विशदरूपेणापि ति शेष अमुमध्यमध्यमादिति भाव । किंरवतिविपिनमतिगहनं दिग्व्यापिनमुभयत्रापि समम् । अमुं गिरिं परं पुरुषं परमात्मानमिव परं केवलम् । 'परमव्ययमित्कृष्ट केवले' इति विश्व । पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः । 'विदो लटो वा' इति णलादेश । अत्रोपमायमकयोः संसृष्टिः । क्षमा वृत्तम्—'तुरगरसयतिर्नौ भरौ ग. क्षमा' इति लक्षणात् ॥ १८ ॥

इस (हिमालय) के दुस्तर अभ्यन्तर तत्त्व का वर्णन, दुरूह पुराणों की सहायता से थोड़ा बहुत किया जाता है। दिगन्तव्यापी, इस पर्वत को, जिसमें बहुत से घने २ जङ्गल हैं, और जो परम पुरुष भगवान के सदृश अचिन्त्य है, केवल ब्रह्मा ही जानते हैं। ॥ १८ ॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेति ॥ अयं गिरिः रुचिराणि पल्लवानि पुष्पाणि च येषां ते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्तयोर्फैरुपलसज्जलजैः शोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्तं कान्तसमीपे धृतिमतीर्धैर्यवतीरपि समीपस्थानपि प्रियान्न गणयन्ती । मानिनीरित्यर्थः । स्त्रियः सन्ततमुत्सुकतां नयति । तासां मानग्रन्थिं शिथिलयतीत्यर्थः । अथवा । उपकान्तं धृतिमतीस्तुष्टिमतीरपि सुरततृप्ता अपि पुनरप्युत्सुकता नयतीत्यर्थः । उभयत्राप्युद्दीपकत्वात्प्रतिवार्तोक्ति । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

कोमल किसलय और पुष्पों से युक्त लताओं के कुञ्जों से, तथा कमल पूर्ण सरोवरों से सुशोभित होता हुआ, वह (हिमवान्) प्रियतम के समीप, मानिनी भी स्त्रियों को उत्कण्ठित कर देता है (अथवा रति सुख से तृप्त भी स्त्रियों को अपने २ पतियों से रमण करने के लिये बार २ लालायित कराता है) ॥ १९ ॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृताऽतिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥ २० ॥

सुलभैरिति ॥ नयवता नीतिमताऽयवता भाग्यवता च सदा सुलभैः । नान्यैरित्यर्थः । अयः शुभावहो विधिः इत्यमरः । निधीनां महापद्मादीनाम् । महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥ इत्यमरः । गुह्यकानामधिपः कुबेरः रमयन्तीति तथोक्तैः । कर्तर्यण् । परमैरुत्कृष्टैर्धनैः करणैः । अमुना क्षितिभृता हिमाद्रिणातिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गपातालरूपौ लोकौ समतीत्यातिक्रम्य भाति । अन्यानुत्तरेष्वपि दुर्लभाः सम्पदोऽत्र सम्भवन्तीति भावः । अत्र अयवतेति पदार्थस्य विशेषणगत्या जगदतिक्रमणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् । तच्च यमकेन संसृज्यते । प्रमिताक्षरावृत्तम्— प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता इति लक्षणात् ॥ २० ॥

इस भूलोक की भूमि नीतिमान तथा भाग्यवान पुरुषों से सुलभ निधि और यक्षों के स्वामी (कुबेर) की मनोरम धन राशि सम्पन्न हिमवान् से पूर्ण हो कर अन्य लोकों की भूमि पर विजय प्राप्त कर सुशोभित हो रही है। अर्थात् प्रचुर सम्पत्ति सम्पन्न इस हिमवान से इस लोक की पृथ्वी सबसे बढ़कर है ॥ २० ॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥ २१ ॥

अखिलमिति । अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनमपि । तद्धितार्थ— इत्यादिना समासः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तुलां साम्यं नैतीति मन्ये । यद्यतो जनैरविदितविभवोऽज्ञातमहिमा भवानीपतिः शिवः सदैनं गिरिमधिवसति । अस्मिन्वसतीत्यर्थः । उपान्वध्याङ्वसः इति कर्मत्वम् । अतोऽस्य श्रैष्ठ्यमिति भावः । प्रभावृत्तम्— स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण यह त्रिभुवन (आकाश पाताल और मर्त्यलोक) इस भवानी (पार्वती) के पिता हिमालय के समान नहीं टिक सकता। क्योंकि इस पर भगवान् शङ्कर सर्वदा निवास करते हैं जिनकी महिमा साधारण पुरुषों को अविदित है ॥ २१ ॥

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥ २२ ॥

वीतेति । वीते निवृत्ते जन्मजरसी यस्य तद्वीतजन्मजरसम् । जराया जरसन्यतरस्याम् इति जरसादेशः । अत्र तद्धर्मविशेषणमाहात्म्यलक्षणेन स्थानेऽवधायकत्वाच्च ।

तथा हि—'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति स्यादेशबाधनात् । परत्वाज्जस्सादेशो बभाषे माप्यकृत्स्वयम् । सूत्रकारमते यत्तु ज्ञापकात्परबाधनम् । भवेत्तदपि टाङस्योर्नं पुनर्ङसि सम्भवि । मतद्वयेऽपि तत्तुल्य ङसि यत्पूर्वबाधनम् । परत्वाज्जस्सादेशस्तत्रभास्त्यादेशबाधनात् । ज्ञापकं यच्च टाङस्योर्यादेशाविनाविति । ईकारदीर्घयोस्तत्र वैयर्थ्यं तत्तु तौ विना । पुत्वे सवर्णे दीर्घे च रूपसिद्धिर्भवेत्ततः । अर्थवत्त्वात्परत्वाच्च ज्ञापकं फणी । स्यादन्यात्रजस्सादेशः स्यौ पूर्वस्य बाधनात् । समर्थनमपव्यस्तु भाष्यकैयटयोः स्फुटः ॥' एवं च यज्ञ आस इति केषाञ्चित्पाठान्तरकल्पनं तदज्ञानविजृम्भितमेव । ब्रह्मण परमात्मनः सम्बन्धि परमुत्कृष्टं श्रुचि निष्कलङ्कम् । पदं इति पदं स्थानं तावात्म्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थः । उपैतुं प्राप्तुमिच्छता मुमुक्षूणामागमा इवागमा इव । समोपहन्तीति समीपहादविद्यानिवर्तकात् । 'अपे क्लेशतमसो' इति डप्रत्ययः । इतोऽस्माद्गिरेः । भवं छिन्दन्तीति भवच्छिदः संसारनिवर्तकाः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । भवच्छिदस्तत्साधनानि सम्यग्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते । क्षेत्रविशेषस्यापि ज्ञानोपायत्वादित्याशयः । न केवलमियं भोगभूमिः किन्तु मुक्तिक्षेत्रमपीति तात्पर्यार्थः । श्लोकतालोपमम् । तल्लक्षणम्—'सादृश्यादिह यथोक्तस्वा क्यौ' इति ॥ २२ ॥

ब्रह्म और परा रहित, पवित्र, और सर्वोत्तम मोक्ष धाम के चाहने वालों के लिये, ज्ञान-निवर्तक शास्त्र की तरह इस हिमालय से संसार के बन्धन से मुक्त हो जाने की सद्बुद्धि उत्पन्न होती है । अर्थात् यह मुमुक्षुओं के लिये शास्त्र का काम करता है । जैसे शास्त्र के अध्ययन से बुद्धि का झुकाव मोक्ष की तरफ हो जाता है वैसे ही इस पर निवास मात्र से बुद्धि सन्मार्ग का अवलम्बन करती है ॥ २२ ॥

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ॥ २३ ॥

दिव्येति । अस्मिन्गिरौ । चरणलाक्षारागैः सह वर्तन्त इति सलाक्षारागाः । चेष्टाकृतमर्दनेषु स्त्रियः पादतलस्पर्शात्तद्रागाङ्किता इत्यर्थः । निपतिताः भ्रष्टाः करणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद्भ्रष्टाः पुष्पापीडाः कुसुमशेखराः यासु तास्तथोक्ताः । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । पीडाभाजो विमर्दभाजः । भग्निमत्य इत्यर्थः । अमरप्रेङ्खोलितत्वाद्धि सर्वांसकटीपरिभ्रमणसम्भवादिति भावः । कुसुमैश्चिताः कुसुमव्याप्ताः । इममार्गादिकरणेषु स्तनमुखाद्यस्पर्शाताम् अभ्यासवशाद्विस्तारात्पदर्शनात्कुसुमाचिता इत्यर्थः । दिव्यस्त्रीणां सम्बन्धिन्यः । शेरते आस्वित्ति शय्यास्तल्पानि । 'संज्ञायां समजनिषद—' इत्यादिना क्यप् । रागायाते रागोद्रेके सति च साशंसं सस्पृहं सुरतविशेषं तास्तावेकवचनम् । सुरतविशेषाविरत्यर्थः । शंसन्ति सूचयन्ति । विवृण्वन्तीत्यर्थः । अत्र लाक्षारागादिपदार्थानां सुरतविशेषशंसनं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन संसृज्यते । अक्ष्यकरमालावृत्तम्—'म्भौ स्मौ

समासोक्तिरलङ्कारः । स च यमकेन संसृज्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ २७ ॥

इस हिमालय पर सुर रमणीयों का निवास है । इस का मध्य भाग जो नितम्ब है वह [illegible] होता है बहुत सुन्दर है । [illegible] [illegible] करते हुवे बहुत से नद इस पर प्रवाहित होते हैं । पाताल [illegible] वासुकी के लिये [illegible] प्रिय और समस्त स्वादों को फीका करने वाली सुधा का इस पर वास है अर्थात् सुधा यहीं मिलती है और कहीं नहीं ॥ २७ ॥

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।
अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः स्मर्तुं दिशन्ति न दिवं सुरसुन्दरीभ्यः ॥ २८ ॥

श्रीमदिति । अस्मिन्नद्रौ श्रीमल्लताभवनमेव भवनम् । ओषधयस्तृणज्योतींष्येव प्रदीपाः । नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतरुपल्लवान्येव शय्या । 'हरिचन्दनमस्त्रियाम् गोशीर्षे सुरपादपे' इति विश्वः । रतिश्रमनुदः सुरतश्रमहारिणः सरोजवाताश्च । सुरसुन्दरीभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । दिवो दिवम् । अधीगर्थ— इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । स्मर्तुं न दिशन्ति । विस्मारयन्तीत्यर्थः । स्वर्गादप्यतिरिच्यते अयमद्रिरिति भावः । अत्र पूर्वार्धे [illegible] स्फुटमेव ॥ २८ ॥

इस पर अनेक शोभा सम्पन्न [illegible] [illegible] ही [illegible] भवन हैं । औषधियाँ दीप [illegible] हैं । [illegible] वृक्ष के नये २ पल्लव [illegible] हैं । कमल वन का स्पर्श करने के कारण रति जनित खेद को दूर भगाने वाला वायु भी इस पर सतत वर्तमान है । जिससे अमर [illegible] अपने स्वर्ग को भी भूल बैठी हैं अर्थात् स्वर्ग में भोग विलास की सम्पूर्ण सामग्री [illegible] रहती है । इस हिमालय पर भी किसी वस्तु की न्यूनता नहीं है । [illegible] में स्वर्ग से [illegible] [illegible] समझती हैं ॥ २८ ॥

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः ।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्याः
श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥ २९ ॥

ईशार्थमिति । ईशायेतीशार्थं यथा भवति क्रियाविशेषणम् । अर्थेन सह नित्य समासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या । चिराय चिरमम्भसि तपश्चरन्त्या अतएव यादो विलङ्घनविलोलविलोचनायाः जलजन्तुविलङ्घितचकितलोचनायाः । तपसोऽप्यधिके ह [illegible] त्रपैव विलोभयन्त्येति भाव । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । भवान्याः भवपत्न्याः । प्रयोगकालापेक्षोऽयं निर्देशः । इन्द्रवरुणभव— इत्यादिना ङीप् । आनुगागमश्च । करैकदेशस्यापि करत्वादग्रश्चासौ करश्चेति समानाधिकरणे समासः । अतएव वामनः— हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ इति । [illegible] [illegible] भवः शिवः श्च्योतन्निदाघस-

लिलाङ्गुलिना सवल्ववेदाङ्गुलिनेति सात्त्विकोद्बोधः । करेणाग्र गिराबालम्बत गृहीतवान् । अत्रातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालङ्कार —'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षवदलङ्कृते । अत्यद्भुतार्थकार्यत्वाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति लक्षणात् । वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥ २९ ॥

यहीं (हिमालय) पर शिव के लिये बहुत समय तक जल में भवानी ने तपस्साधन किया था । उस समय जब कभी अकस्मात् हरिस्फुरण करते थे तो उनके नेत्र सचकित हो जाते थे । (आशुतोष) शङ्कर ने भी अपने हाथ से इनके हाथ का अग्रभाग ग्रहण किया था । अनन्तर शङ्कर के हाथ की अङ्गुलियों से ओस जल के स्वेद बिन्दु टपक रहे थे ॥२९॥

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥

येनेति । देवासुराश्च तैर्देवासुरैः । 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति नैकवद्भावः । येषां पत्र शाश्वत एव विरोधो न सोऽन्याभाविनिवृत्तिः शाश्वतिक इत्यादि । येन मन्दराद्रिणा । मन्थदण्डीकृतेनेति भावः । अपविद्धसलिलः विक्षिप्तजलोऽत एव स्फुटनागसद्म पाताल यस्मिन्सोऽम्बुनिधिरमृत ममन्थे मथितः । मन्थनार्थमूर्मिकल्पा बहुविधाद्यमाने कर्मणि लिट् । अहिपतेः मन्थगुणीकृतस्य वासुकेरित्यर्थः । 'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारतवचनात् । व्यावर्तनैः वेष्टनैराहिताङ्कः कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः खमाकाशं व्यालिखन्व्याप्तावसानयन्निव विभाति । अत्रोत्प्रेक्षा उपादानेनैव जलेलेखोल्लेखाद्गुणगतगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

जिस मन्दर गिरि से देवता और दैत्यों ने अमृत के लिये समुद्र का मन्थन किया था । (मन्थन करते समय) समुद्र से जल के उछलने के कारण पाताल लोक दृष्टि गोचर हो रहा था । और वह रज्जु भूत सर्पराज (वासुकि) के बारम्बार विवर्तन से अङ्कित होकर इस प्रकार विभोभित हो रहा है मानों आकाश मण्डल का भेदन कर रहा है ॥ ३० ॥

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रैरानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः ।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ॥

नीतेति । इहाद्रावशिशिररश्मेरुष्णांशोरुस्रैर्मयूखैः । सकाशैरित्यर्थः । नीतो च्छ्रायमुच्छ्रायं नीता । विस्तारितेत्यर्थः । तथानीलाभैरसितप्रभैः रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचितपरभागा । सवर्णनिधानासन्नोत्कर्षैरित्यर्थः । हंस इव श्येनी श्वेतवर्णा । 'विशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति श्येतशब्दान्ङीप् । तकारस्य च नकारः । स्फटिकाना रजतानां च भित्तयस्तासां छाया कान्तिः । अह्नो मध्ये । मध्याह्नेऽपीत्यर्थः । मुहुर्ज्योत्स्नाशङ्कां ज्योत्स्नाभ्रान्ति वितरति जनयतीति भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३१ ॥

इस नगाधिराज पर स्फटिक और रजत के दीवार की आभा सूर्य की किरणों से सम्पन्न होकर ऊँची हो गई है । नीले मणियों की प्रभा पुञ्ज से उन्हें [illegible] मिल गया है और वे हंस की भाँति उज्ज्वल हैं । जिससे उन्हें देख कर सन्ध्याह्न काल में ही [illegible] का भान होता है ॥ ३१ ॥

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि ।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥ ३२ ॥

दधत इति । इहाद्रौ मृदु पतता मन्दं वहता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनीजनस्य भ्रूगतिवत्कुटिलेषु । [illegible] । पयःसु विलासशालि नृत्यं दधत इव । [illegible] । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

इस (हिमालय) पर [illegible] सुन्दरियों के भौंह के समान कुटिल जल में [illegible] चलते हुए वायु से कमल जो कम्पित होते हैं ऐसा प्रतीत होता है मानो वे हाव भाव पूर्वक नृत्य कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलमाबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः ।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥३३॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्नद्रौ पिनाकभृता शिवेनाधीरविलोचनायाः [illegible] । [illegible] भावः । ईश्वरायाः गौर्याः । [illegible] । [illegible] । [illegible] इति [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] प्रतिसरो हस्तसूत्रे [illegible] इति विश्वः । करेण [illegible] देवस्य पार्वतीपरिणयवर्णनम् । [illegible] ॥ ३३ ॥

इसी पर्वत पर पिनाक पाणि (शङ्कर) ने अपने हाथ से चितोक नेत्रा पार्वती के [illegible] शुभलक्षण [illegible] पाणि का ग्रहण किया था । उस समय शङ्कर भगवान् के हाथ से कौतुक सूत्र [illegible] था [illegible] सर्प सरक [illegible] ॥ [illegible] ॥

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यैस्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः ।
उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः पर्यस्यन्निह निचयः सहस्रसंख्याम् ॥३४॥

क्रामद्भिरिति । घनपदवीमाकाशं क्रामद्भिर्व्याप्नुवद्भिरनेकसंख्यै । [illegible] । क्वचित् 'अनेकवर्णै' इति पाठस्तु [illegible] एव । [illegible] । शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जन्म येषां तैः । [illegible] । तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रो [illegible] सप्तसप्तेः

सवितुस्तासां किरणानां निकयो निकर । सहस्रमिति सङ्ख्या सहस्रसङ्ख्या ताम् । स्वनियतामिति शेष. । स्वभिव्यस्यतिक्रमतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

इस पर्वत पर स्फटिक मणि से परिस्फुरण कारिणी असङ्ख्य किरणें, जो आकाश पथ में सञ्चरण कर रही हैं, सामूहिक रूप से, सप्ताश्व (सूर्य) की किरणों के समूह की सहस्र सङ्ख्या को अतिक्रमण करती हुई की तरह दृश्यमान सत्य कर रही हैं ॥ ३४ ॥

उपधत्ते यस्मिन्पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः ।
स एष कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः ॥ ३५ ॥

उपधत्तेति । यस्मिन्कैलासे धनाधिपः कुबेरः पुरां विजेतुः शिवस्य धृतये प्रीत्यै उच्चगोपुरमुन्नतपुरद्वारम् । 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः । पुरमलकाख्यां पुरीं उपधत्ते निर्मितवान् । तत्रसन्निधानादिति भावः । स एष कैलास उपान्तसर्पिणः प्रान्त चारिणो विवस्वतः सूर्यस्याकाले प्रमितेतरकालेऽस्तमयं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुत स्तु तत्कारणाभावाद्व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा । साचोपान्तवर्तितयाऽस्तमयं सम्ब न्धलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितेति विवेकः । अस्तमिति मकारान्तमव्ययम् । तस्य पञ्चा ननस्येनापशब्देन षष्ठीसमासः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३५ ॥

जिस पर कुबेर ने त्रिपुर विजेता भगवान् शङ्कर के सन्तोषार्थ बड़े २ फाटकों से युक्त नगर निर्मित कराया था वह यही कैलास है जो समीप में सञ्चरित सूर्य भगवान् को समय के पहले ही अस्त की तरह बना देता है ॥ ३५ ॥

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वन्तः सानु वप्रान्तरेषु ।
बद्धां बद्धां भित्तिशङ्काममुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ॥ ३६ ॥

नानेति । अमुष्मिन्कैलासेऽन्तः सानु । सानुष्वित्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । नानारत्नज्योतिषां अनेकमणिकान्तीनां सन्निपातैर्व्यतिकरैश्छन्नेषु छादितेषु । 'वा छान्तध्वान्त—' इत्यादिना निपातः । वप्रान्तरेषु कटकान्तरेषु बद्धां बद्धामभीक्ष्णं बद्धाम् । दृढीकृतामित्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः । नित्य- मभीक्ष्णम्' इति काशिका । एवमग्रे चैतत् । भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीक्ष्ण- मापतन् । आकपूर्वाद्वाधातो शतृप्रत्ययः । द्विर्भावादि पूर्ववत् । मातर्यन्तरिक्षे गच्छतीति मातरिश्वा वायुः । कनिन्प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । निहन्ति निवर्तयति वायुसञ्चारान्नित्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः । अतो निश्चयान्त सन्देहालङ्कारः । शालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

इस कैलाश के शिखर पर विविध रत्नों की प्रभा पुञ्ज से ढकी के अन्तराल आच्छादित होनेपर सुदृढ़ दीवाल की शङ्का उत्पन्न करते हैं । आकाश सञ्चारी वायु बार २ सञ्चरित हो भित्ति की शङ्का का विच्छेद कर देता है । ॥ ३६ ॥

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तबकाचितानां शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥

रम्येति । अस्मिन्नद्रौ । शादाः शष्पाणि सन्त्येष्विति शाद्वलास्तेभ्यः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । नडशादाद् ड्वलच् । रम्या नवा द्युतिर्नापैति । किन्तु स्थिरैवेत्यर्थः । नलिनीवनान्यनुदिनं सर्वदा श्यामीभवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरीभवन्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तबकैराचितानां व्याप्तानां शाखाभृतां तरूणां पल्लवानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वदा नूतनमेव सर्वं वर्तत इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्वस्तुगतकान्तिस्थैर्यरूपकार्यस्य वर्णनात्प्रस्तुतमिव कारणं किञ्चिदसाधारणं कैलासस्य महिमानमवगमयतीति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्— कार्यतो गम्यते यत्र प्रस्तुतं कारणात्मकम् । प्रस्तुतस्यैव गम्यस्य पर्यायोक्तमुच्यते ॥ इति ॥ ३७ ॥

इस कैलाश पर घास (दूब) समूह अपनी अभिनव रमणीयता का परित्याग नहीं करता (सर्वदा हरा भरा रहता है) और कमल के वन अनुदिन अपनी नीलिमा की वृद्धि करते रहते हैं (वे म्लान होने के कारण सूख नहीं जाते) और रंग बिरंगे के पुष्प समूह से समन्वित वृक्षों के पत्ते भी क्षीण जीर्ण हो कर झड़ते नहीं (यह यहां हिमालय पर सदा फल वाले होते हुए अपने पत्तों का त्याग नहीं करते) ॥ ३७ ॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः ।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ॥३८॥

परिसरेति । इहाद्रौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । विषयो देशे इति विश्वः । मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशङ्कया नीलतृणाङ्कुरभ्रान्त्येति भ्रान्तिमदलङ्कारः । लीढाः पूर्वमास्वादिताः पश्चान्मुक्ताः लीढमुक्ताः । स्नातानुलिप्तवत् इत्यादिवत् पूर्वकाल— इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुकवर्णाः मणीनां मरकतमणीनां भासो रविकरैः संवलिता मिश्रिताः सत्यः फलन्ति सम्पद्यन्ते । वर्धन्त इति यावत् ॥ ३८ ॥

इस कैलाश के प्रान्त भाग की भूमि पर शुक के पंखों के सदृश मनोरम मरकत मणि की किरणें अभिनव हरित तृणांकुर की सी भ्रान्त होती हैं। उन्हें हरिणियाँ घास समझकर खाने के लिये मुख में लेती हैं फिर छोड़ देती हैं। ये किरणें सूर्य की किरणों से सम्वलित होकर अधिक प्रकाश धारण कर लेती हैं ॥ ३८ ॥

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥३९॥

उत्फुल्लेति। अस्मिन्नद्रौ वात्याभिर्वातसमूहैः। 'पाशादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। अमुष्माद्दृश्यमानादुत्फुल्लस्थलनलिनीवनात्। जलपतितस्य परागस्योत्थानासम्भवात्स्थलग्रहणम्। उत्फुल्लपदमुत्फुल्लस्यैव परागसम्भवाभिप्रायम्। उद्धूत उत्थापितो वियति समन्ताद्विवर्तितः परिमण्डलितः। अन्तराले तु दण्डायमान एवेति भावः। सरसिजसम्भवः पद्मोद्भवः परागः। स्थलस्याभिप्रायेणात्र सरसिजशब्दप्रयोगो द्रष्टव्यः। कनकमयातपत्रलक्ष्मीमाधत्तेऽनुकरोति। अत्र परागस्यातपत्रलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपादसम्भवद्धर्मसम्बन्धेयं निदर्शना। तदुक्तम्—'असम्भवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः। प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सास्यान्निदर्शना॥' इति॥ ३९॥

(यहाँ से कहा)—यह जो स्थल कमलों का वन दृष्टिगोचर हो रहा है वहाँ से पद्म पराग के वात्या (बवंडर) के द्वारा उड़ाये जाने पर आकाश मण्डलाकार बन जाता है उस समय सुवर्णरचित निर्मित आतपत्र (छाता) की शोभा का अनुकरण करने लगता है ॥३९॥

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं विषमपदा पदवी विवर्तनेषु॥ ४०॥

इहेति। इहाद्रावुषसि प्रभाते सुरापगायाः स्वर्णद्यास्तत्कूले सयावका सालक्तका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्रा यस्यां सा। 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः। तथा विषमाणि न्यूनाधिकानि पदानि यस्यां सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु पदवी। शिवयोः प्रदक्षिणपद्धतिरित्यर्थः। सनियमयोः सन्ध्यायाः प्रणमतोरित्यर्थः। शिवा च शिवश्च तयोः शिवयोरुमाशङ्करयोः। 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः। शरीरयोगमर्धाङ्गसङ्घटनारूपं कथयति। सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विरहासहाविह विहरतः शिवाविति भावः। अत्र पदवीविशेषणपदार्थयोः कथनं प्रति हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ ४०॥

इस कैलास पर अत्यन्त प्रभात काल में (सुरनदी) सुरधुनी (गङ्गा) के तट पर सन्ध्या वन्दन क्रियाप्रभृत अर्धचिह्न के कारण जो उमा और शङ्कर के पद चिन्ह व्यक्त होते हैं उन में से वाम चरण रेखा महावर से रची हुई और विषमा है अर्थात् वाम पद चिन्ह रक्त वर्ण और छोटा है। दक्षिण पद चिन्ह बड़ा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव और पार्वती अर्धाङ्गी स्वरूप हैं (शिव का वामाङ्ग पार्वती रूप है और दक्षिणाङ्ग शिव स्वरूप है)॥ ४०॥

सम्मूर्छतां रजतभित्तिमयूखजालैरालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम्।
घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्नामादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ४१

सम्मूर्छतामिति। इहाद्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः सम्मूर्छतां बहुलीभवतामा

कोकानां पादपकलानां सकाशस्थानामन्तरेषु रन्ध्रेषु विवर्तितानां प्रसृतानां चमयुते कुम्भोयोगीनां तेजसामादृशमपलक्षनिभानि रूपाणि विभसदयानीत्युपमालङ्कारः। पटलानि मण्डलानि मुहुर्मुहुरन्तरं लब्धवसन्ति पुनःपुनः स्फुरन्ति न तु सातत्येन। लतानामालोकनाभावात्। तत्र चान्यत्र स्तम्भाद्याविष्माये सम्भवतीति भावः ॥४१॥

[illegible] कैलास शिखर पर रजतभित्ति (चाँदी की दीवार) के किरणपुञ्जों से लाकर्षे जाली वाले २ कम्पित होते हुए वृक्षों की शाखाओं के रन्ध्र से पल २ पर निकले हुए सूर्य की किरणों के समूह जो रूपमालुकारी हैं अधिकाधिक परिशोभित हो रहे हैं ॥ ४१ ॥

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिर्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः।
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥४२॥

शुक्लैरिति। शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुक्लकिरणसमूहैः परिवीतमूर्तिर्व्याप्तदेहः। वप्राभिघातेन वप्रक्रीडया परिमण्डलितो वर्तुलीकृत उरुर्देहो बृहच्छरीरं यस्य तथोक्तो गणभर्तुः प्रमथनायकस्येशस्य उक्षा वृषभः। 'उक्षा भद्रो बलीवर्दः' इत्यमरः। वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां चन्द्रभ्रान्तिं कुर्वन्। तेषां मौग्ध्यादिति भावः। अमुष्याद्रेः शृङ्गाणि भजते सेवते। अत्र वधूजनस्य सन्देहार्थत्वेन सन्देहालङ्कारः। भ्रान्तिमत्त्वे भ्रान्तिमदलङ्कारः। वधूष्वपि तथास्तु। तथोक्तविशेषणोपमेन काम्यस्य विवक्षाभिप्रायेण सङ्कीर्यते ॥ ४२ ॥

जब यह प्रमथाधिप (शङ्कर) का महोक्ष (नन्दी) शुभ्र किरण पुञ्जों [illegible] व्याप्त होकर वप्र-क्रीडा-प्रवृत्ति के कारण अपने अङ्गों को वर्तुल करके इस कैलास के शिखरों का आश्रय लेता है उस समय सुन्दरि स्त्रियों के मन में शशाङ्क (चन्द्र) का भ्रम होने लगता है ॥४२॥

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले।
खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥ ४३ ॥

सम्प्रतीति। इहाद्रौ विविधा नानावर्णाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति शरदि स्थय। लघुनि अल्पे। कुतः। क्षीणपयस्यत एव भिदां भेदम्। विच्छित्तिमुपेयुषि प्राप्ते जलधरपटले मेघमण्डले कथमपि शनकैर्लब्धजन्म। खण्डितविग्रहं खण्डितस्वरूपं बलभिदः इन्द्रस्य धनुः पूरयितुं विभवः समर्था भवन्ति। अनेनाद्रेरनुपमे मणिरुचीनामसम्बन्धे सम्बन्धकथनादतिशयोक्त्यलङ्कारः। चन्द्रप्रभरीति वृत्तम्—'लिखितमिह चन्द्रप्रभावृत्तं भरनभरसौ' इति लक्षणात् ॥ ४३ ॥

इस शरत्काल में जब मेघमण्डल जलरहित हो कर खण्ड २ हो जाता है उस समय इन्द्र धनुष जो आकाश में प्रायः कम उदित होता है अत्यन्त सूक्ष्म और खण्डित सा दृष्टिगोचर होता है। इस कैलाश शिखर के विविध रत्नों की कान्ति उस को पूर्ण कर देती है ॥

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥ ४४ ॥

स्नपितेति। इहाद्रौ शम्भोरिन्दुलेखा। स्नपितानि सिक्तानि नवानि लतानां तरूणां च प्रवालानि यैस्तैः अमृतलवस्रुत्यामृतबिन्दुनिःस्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखैः सततं सर्वकालमसितयामिनीषु कृष्णपक्षरात्रिष्वपि वनान्त ति धवलयति। अन्यत्र नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यज्यते ॥ ४४ ॥

इस कैलास पर भगवान् शंकर के शिर स्थित चन्द्र लेखा अपनी पीयूष बिन्दु स्रावी किरणों से, जो छोटे २ वृक्ष और नूतन लताओं का सिञ्चन करती हैं, कृष्ण पक्षकी रात्रि में वनान्त प्रदेश को धवलित कर देती है ॥ ४४ ॥

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम् ।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥ ४५ ॥

क्षिपतीति। अयं योऽनुवनं विततां रौचनिकीं रुचम्। सौवर्णीं कान्तिमित्यर्थः। रोचनया रक्तां रौचनिकीम्। 'कासारोचनशकलकर्दमाट्ठक्'इति ठक्। 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। उत्तरीयवस्त्रे—'बृहती चाली बृहतिका च सा महोत्तरासङ्गमिव। द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः। क्षिपति प्रसारयति। अनेका हिरण्मय्यः कन्दरा यस्य सः। हिरण्मयशब्दो 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात्साधु। अयम् पुरोवर्ती गिरिरित्यर्थः। तव पितुरिन्द्रस्य दयितः प्रियः। जगत्या धरो जगतीधरः। पर्वते गन्धस्य सुवर्णकोशत्व इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यह (इन्द्रकील) नाना प्रकार की सुवर्ण मयी कन्दरा वाली, धराधर, (पहाड़ आपके पिता इन्द्र का परम मित्र है जो अपनी सुनहली दीप्ति को खूब फैलाकर लम्बी चौड़ी चादर (उत्तरीय) के समान प्रत्येक वनों के ऊपर डाल देता है ॥ ४५ ॥

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः ।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥

सक्तिमिति। अमुत्रामुष्मिन्नद्रावनिले जवाद्वेगादिति लतानां सक्तिमन्योन्यसङ्गमपनयति सति। सहसा हठाद्वैरोचनैः सावित्रैर्मयूखैर्द्विगुणाः द्विरावृत्ताः कृता इति द्विगुणिताः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। हिरण्मयीनां हिरण्यविकाराणाम्। 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात्साधु। रोधो-

ध्रुवो तटभुवो भासो भ्रुकुटिविडम्बितानि विडम्बयन्ति । अनुकुर्वन्तीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४६ ॥

इस (इन्द्रकील गिरि) पर वायु भवन वेग से चल कर लताओं की परस्पर संगति को दूर कर देता है तब सुवर्ण मयी तट भूमि तथा एक रत्न समवाय की किरणों से विभूषित हो बिजुली की छटा को मात करती है (अनुकरण करती है) ॥ ४६ ॥

कपणाकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥ ४७ ॥

कपणेति । इहाद्रौ कपणेन कण्डूयनेन य आकम्पस्तेन निरस्ता महाहयो महासर्पा येभ्यस्तैः । क्षणे विमत्तमतङ्गजवर्जितैर्मत्तमातङ्गरहितैः । कुतः । मदस्नपितैः । ऐरावतमदसिक्तैरित्यर्थः । स्नितौ स्नपः' इति ह्रस्वः । हरिचन्दनैर्हरिचन्दनाख्यैर्देवतरुभिः सुरगजस्यैरावतस्य गतं गमनमनुमीयते । हरिचन्दनविशेषणैः काव्यलिङ्गमुक्तम् ॥ ४७ ॥

इस पर्वत पर कम्पनद्वारा ऐरावत के कण्डू खुजाने पर कम्पन से भीषण भुजङ्गमों (महासर्पों) से रहित हो गये हैं । मदपान के लिये मदोन्मत्त हाथियों भी इनसे दूर हो गये हैं । ये ऐरावत के मद से भागे हैं इनके देखने से अनुमान होता है कि इस मार्ग से देवताओं के हाथी (ऐरावत) गमन किया है ॥ ४७ ॥

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

जलदेति । इहाद्रौ जलदजालघनैर्मेघवृन्दसान्द्रैरसिताश्मनामिन्द्रनीलानां मरीचिभिर्दीधितिभिः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । उपहतप्रचया विहितसङ्कोचा अत एवादीपितकन्दरा अप्रकाशितगुहा विवस्वतो दीप्तिस्तिमिरः संवलिता सहसा व्यामिश्रितेव भवतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

(इस इन्द्रकील पर) मेघ माला के सदृश इन्द्रनील मणि की किरणों से सूर्य की किरणें परस्पर समन्वित होकर कन्दराओं को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं और इस तरह दीख पड़ती हैं मानों अन्धकार से मिली हुई हैं ॥ ४८ ॥

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः ।
प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ४९ ॥

भव्य इति । इहाद्रौ भव्यः शान्तो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेनैवमाराधनरूपेण क्षात्रे पथि क्षत्रियमार्गे स्थितः । पूर्वोक्तस्य पूर्वोऽन्वयः । हतप्रमादोऽप्रमत्तः सन् ।

सरस्य तपश्चर्यां कुरु । तपस्येति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् । तद्-न्ताद्धातोर्लोट् । न च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रमादः किं करिष्यतीति विश्वसितव्य-मित्यर्थान्तरन्यासेनाह—हि यस्मात्प्रायेण बाहुल्येन । 'प्रायो वयस्यनशने मृतौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति हेमचन्द्रः । हितमर्थं करोतीति हितार्थकरे विधौ व्यापारे सति । अन्तरायैर्विघ्नैर्विना श्रेयांसि कल्याणसुखानि । अप्राप्यानीत्यर्थः । अतएव 'शकटप-' इत्यादिना समानकर्तृकेषु तुमुन् । अप्राप्यत्वेऽपि सर्वत्र सर्वस्यापि सन्तीति भावः ॥

(यक्षने अर्जुन से कहा)—आप सम्यक् धारण करते हुए श्री व्यास मुनि के निर्देश से सद्धर्म का पालन करते हुए अर्थात् सदाचरण करते हुए सावधान होकर तपश्चर्या कीजिये । यद्यपि अनुकूल (कल्याणकारी) भाग्य होते हुए भी विघ्न बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन है । अर्थात् कल्याण प्राप्त होने में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं अतः विघ्न निवारणार्थ सदा धारण करना आपके लिये अत्यावश्यक है ॥ ४९ ॥

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
सन्तापे दिशतु शिवा शिवां प्रसक्तिम् ।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥ ५० ॥

मा भूवन्निति । तवेन्द्रियाण्येवाश्वास्ते । अपथेन हरन्तीत्यपथहृतो मा भूवन् । न्मार्गगमा मा भिनीषुरित्यर्थः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । सन्तापे तप क्लेशे सति शिवा शिवा साध्वीमसक्तिं प्रवृत्तिमुत्साहं दिशतु । किंचेति चार्थः लोकपाला इन्द्रादयस्तपसि विषये बलं शक्तिं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः कल्याणीं साध्वीं क्रियां मनुष्ठानमधिकफलां क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराशिषि लिङ् ॥ ५० ॥

आप के इन्द्रिय रूपी घोड़े के सदृश कुमार्गगामी नहीं हैं आप की कष्टावस्था में भगवान् आत्मसाधन समर्थ उत्साह प्रदान करें । लोकपाल आप के तप साधन में शक्ति की अभिवृद्धि करते हुए आप के शोभन धर्मानुष्ठान को सफल बनावें ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।
सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
सन्धत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥ ५१ ॥

इतीति ॥ प्रियार्हे राजराजभृत्य इति पूर्वोक्तम् । हितं प्रियं वचनमिति शेषः । उक्त्वा सपदि स्वकीयं धाम स्थानं गतवति सति । पृथासुतोऽर्जुनः सोत्कण्ठं सौत्सुक्यं किमपि प्रदध्यौ चिन्तयामास । तथाहि । सद्वियोगः सुजनवियोगो भृशमरतिं मनसो दुःखं सन्धत्ते । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

इसप्रकार प्रिय और हितकर भाषण करकर अंतर्धान गुह्यकराजपुत्र (यक्ष) के चले जाने पर अर्जुन ने उत्कण्ठा पूर्वक तपस्या के लिये वन का आस्थान किया क्योंकि सुजन वियोग दुःख भारी होता ही है ॥ ५१ ॥

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥ ५२ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चमः सर्गः ।

तमिति । अकृशाः पूर्णाः लक्ष्म्यः शोभा यस्य सोऽकृशलक्ष्मीरिति बहुवचनान्तो बहुव्रीहिः । पूर्वे च 'उरःप्रभृतिभ्यः' इति कप्प्रत्ययाभावात् । तत्र लक्ष्मीशब्दस्ये कवचनान्तस्यैव पाठात् । नापि नद्यृतश्च इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिषु लक्ष्मीशब्दस्य वैकल्पिकत्वं यथाविध इत्यविरोधः । सोऽर्जुनः सर्वतः सर्वत्र सारयोगादुत्कृष्टांशयोगात् । सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु इत्युभयत्राप्यमरः । अनति शयनीयमनतिक्रमणीयमनेकेन बहुनाङ्कभाजा समीपगतेन । अङ्कभागिनेति यावत् । फलेन काम सिद्ध्याऽविरहितमशून्यम् । कार्यसिद्धस्थानं स्थानकमित्यर्थः । अकृशमतुच्छं चेतसाशंसितं प्राप्तुमिष्टं शैलमिन्द्रकीलं स्वमात्मीयम् । पुरुषस्य कर्म पुरुषकारं पौरुषमिवाभ्याससादाससाद प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ।

जिसप्रकार अर्जुन का पुरुषार्थ सबका अनतिशयनीय आनुगामी अनेक प्रकार के फल से युक्त और महान् था उसी प्रकार रमणीक पहाड़ चोटी सबका पकप्रयोग सेठ से कोई मान नहीं कर सकता था । उस पर रहकर साधन करने वाले पुरुष की अनेक-विध-फल-सिद्धि आशु भाविनी थी । बहुत दिनों से अर्जुन उस (पहाड़) को चित्त से चाहते थे । उसी रमणीक पवन आश्रय (अवलम्ब) उन्होंने (पूजा न यत्न) ने लिया । उस समय वे भी पूर्ण तथा सुशोभित होरहे थे ॥ ५२ ॥

पञ्चम सर्ग समाप्त

षष्ठः सर्गः ।

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परमः पुमानिव पतिं पतताम् ।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ॥ १ ॥

रुचिराकृतिरिति । अथो आसादनानन्तरं रुचिराकृतिः सौम्यविग्रहो धृतसत्पथोऽवलम्बितसन्मार्गः । आकारानुरूपगुणवानित्यर्थः । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इति सामुद्रिकाः । उपमानेऽपि समानमेतत् । स पुरुहूतसुतोऽर्जुनः । कनकस्य विकाराः सानवो यस्य स कनकसानुः । पतत्साम्यार्थं विशेषणमेतत् । 'समुदाये विकारषष्ठ्याः' इति बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । तमिन्द्रकीलम् । परमः पुमान्विष्णुः पतताम् पक्षिणां पतिं गरुडमिव । त्रिभिः पथिभिर्गच्छतीति त्रिपथगा भागीरथी । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । उपपदसमासः तत्पुरुषसमासश्च । तामभितोऽभिमुखमारुरोह । 'समीपोभयतःशीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः' इत्यमरः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इन्द्रकील पर्वत के समीप पहुँचने के बाद, सुन्दर शरीर धारी तथा 'सन्मार्गानुवर्ती, इन्द्रपुत्र (अर्जुन) ने त्रिपथगा भागीरथी के सामने से सुवर्ण—शिखर से युक्त इन्द्रकील पर आरोहण किया जिस तरह विष्णु भगवान् अपने पक्षिराज गरुड़ पर आरूढ़ होते हैं ॥ १ ॥

अथास्य कार्यसिद्धिनिमित्तानि सूचकान्भावान् वर्णयति—

तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्रसुतं विहिताऽलिनिक्वणजयध्वनयः ।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः ॥ २ ॥

तमिति । विहिता अलिनिक्वणा एव जयध्वनयो यैस्ते तथोक्ताः पवनेन वायुनेरिता आकुला लोलाः विजिह्मा वक्राः शिखा शाखाग्राणि येषां ते तथोक्ताः । 'शिखाः स्याज्ज्वाला केकिशिखायां शिखाशाखाग्रमैलिषु' इति वैजयन्ती । जगतीरुहो भूरुहः क्विप् । अनिन्द्याः प्रशस्ता ये बन्दिनः स्तुतिपाठकास्त इव । तमिन्द्रसुतमर्जुनं कुसुमैरवचकरुः । अभिवृष्टवन्तः । 'कॄ विक्षेपे' इति धातुः । अत्र किरः पुष्पवर्षणमात्रकुसुमानां करणत्वम् । विवक्षायां तु कर्मत्वमेव । यथा 'कदाचान्धासा किरति' इति । उपसर्गे च धातूनामर्थभेदात्सकर्मकत्वम् । यथा सिञ्चते. चरणादीकरणयोरन्येयोर्विवक्षायाम् कर्मत्वकरणत्वे । यथा—'सोऽसौ सिञ्चति गौ पयसा' सिञ्चति पयस्तैर्वा ' इति च । अत्र वाक्ये समासगतयोरुपमयोः साध्यसाधनभावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २ ॥

जयध्वनि की तरह भ्रमर-गुञ्जार-ध्वनि, वृक्षों ने जिनके शिखाग्र वायु से कम्पित हो रहे थे प्रशस्य बन्दी जनों की तरह अर्जुन को पुष्प के प्रक्षेप से आच्छन्न कर दिया ॥ २ ॥

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिदः ।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृदः सखायमिव तं मरुतः ॥ ३ ॥

अवधूतेति । अवधूताः पङ्कजपरागकणा यैस्ते तथोक्ता इति सौरभ्योक्तिः । तनु जाह्नव्याः सलिलवीचीर्भिन्दन्तीति तथोक्ता इति शैत्योक्तिः । सुखयन्तीति सुखाः । पचाद्यच् । सुखस्पर्शा इति मान्द्योक्तिः । मरुतो वाताः सख्यमर्हन्तः सुहृदः सखायमिवाभिमुखमेत्यागत्य परिरेभिरे आलिङ्गितवन्तः ॥ ३ ॥

जिस तरह एक मित्र अपने मित्र से मिलता है उसी तरह कमल के पुष्परजकणों को बिखरते हुए अतएव सुगन्ध छोटी २ गङ्गाजल लहरियों का संपर्क करते हुवे अतएव शीतल सुखदायी अतएव मन्द पवनों ने सम्मुख उपस्थित होकर अर्जुन का आलिङ्गन किया । अर्थात् वहाँ शीतल मन्द और सुगन्ध वायु से अर्जुन खुश हो गये ॥ ३ ॥

उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः ।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ॥ ४ ॥

उदितेति । उदितोपलस्खलनेषु स्खलनेन प्रतिघातेन संवलितास्सम्मिलिताः । अतएवोद्भूता इव मुरजमुरवादिध्वनयः । स्फुटहंसानां सारसानां च विरावैर्युक्ता इति तथोक्ताः । किंच । अनुवप्रमपाम् । अम्भः पयःकीलालमिति वैज० । ध्वनयोऽस्य अर्जुनस्य प्रयोजनमेषां ते माङ्गलिकाः । प्रयोजनम् इति ठञ् । तैस्तूर्यैः कृतां मुदं प्रतेनुः । अत्रान्यस्यान्यकार्यकरणसम्भवात् तूर्यध्वनितुल्यामिति अर्थ निदर्शनाविशेषोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

उभरे उठे हुए पत्थरों से टकरा कर खाकर चूर चूर की तरह होने वाली जल की कल २ ध्वनियाँ राज-हंस और सारस के कूजन से युक्त होकर अर्जुन को मंगल-सूचक तूर्यादि-घोष-जनित प्रसन्नता की वृद्धि करने लगीं ॥ ४ ॥

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरित्पयसाम् ।
स ददर्श वेतसवनाचरितां प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥ ५ ॥

अवरुग्णेति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रेऽवरुग्णास्तुङ्गाः सुरदारुतरवो यस्मिंस्तस्मिन् बलीयसि बलवत्तरे । मतुबन्तादीयसुनि मतुपो लुक् । सुरसरित्पयसां निचये पूरे विषये वेतसवनेन वानीरवनेनाचरिताम् । अत्र वेतसे । "रथाभ्रपुष्पविदुरशीतवानीरवञ्जुलाः" इत्यमरः । समृद्धिकरीं श्रेयस्करीम् । लोके यथार्थनिदर्शः । प्रणतिं ददर्श । या सबलोद्धतस्यानर्थमूलेति भावः ॥ ५ ॥

अर्जुन ने मार्ग (अथवा मेघ युक्त) वानीरों-वन-राजि के विषय में देखा कि छोटे २ पेड़ रखी तो जल में नीचे झुका रहे थे और कभी २ ऊपर उठ आते थे यह उनकी दशा

मधुकरों के द्वारा आस्वादन की हुई विकसित की सी शोभा को लिये (विकसित से) सर्वेश ऐश्वर्य्य की अभिवृद्धि होती है ॥ ५ ॥

प्रथभूय नालयवकोऽभवितु परित सरोजरेणुपिशङ्गितम् ।
सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत् स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ॥ ६ ॥

प्रथमूयेति । सोऽर्जुनः परितः सरोजरजसा कमलरेणुनाऽभित पाटलितम् । अव-धीय च कुसुमादिगन्धमिति भवति । संहतिमत्सन्निहितं तरङ्गरङ्गि घर्षितरङ्गशोभि सरि-दुत्तरीय स्नानार्द्रवसित्र स्थित कलहंसकुलं घासहसकुलमवलोकयितुमनवसरमयं न प्रब-भूव न शशाक । तत्सौन्दर्य्येक्षणासक्तोऽभूदिति भाव ॥ ६ ॥

अर्जुन ने चारों ओर (पद्म कमल) पराग से रंगे हुए तथा भासित, अत्यन्त से शोभित, राज-हँस-कुल को जो नदी के उत्तरीय वस्त्र के सदृश थे, बड़ी देर तक निरीक्षण करने में अपने को असमर्थ पाया ॥ ६ ॥

दधति क्षतीः परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदस्रुतिभिः ।
अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रुजन्नपि गुणाय महान् ॥ ७ ॥

दधतीति । सोऽर्जुनः क्षतीः क्षतानि दधति धारयति । कुत्र । परिणतद्विरदे-ष्वाघातकारिणो द्विरदा यस्मिंस्तस्मिन् । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । मदस्रुतिभिर्मुदितालियोषिति रोधस्यधिकां धृतिं प्रीतिं बबन्ध । विकारी-कृतकूलत्वादित्यर्थः । तथाहि । महान् रुजन्नपि महते गुणायोत्कर्षाय भवति । महतः का पीडापि शुभायैवेत्यर्थः । तस्मात् गजकृतक्षतयापि रोधसः प्रीतिकरत्वमिति भाव ॥ ७ ॥

अर्जुन के लिये गजों का तट अधिक प्रीति (आनन्द) हुआ । (क्योंकि) वह तट हाथियों के तिर्यक् दन्तप्रहार से क्षत पद को धारण करता था । क्योंकि (हथियों) के मदस्राव से वह (तट) मुदित भ्रमरियों से व्याप्त था । क्योंकि बड़े लोग कष्ट सहन कर के भी महान् कार्य्य के लिये कल्याणकारक रहते हैं ॥ ७ ॥

अनुहेमवप्रमरुणैः समतां गतमूर्मिभिः सहचरं पृथुभिः ।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिननन्द रुतैः ॥ ८ ॥

अनुविति । सोऽर्जुनोऽनुहेमवप्रं कनकसानुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । कनकवप्रानुपतत्त्वादिति भावः । पृथुभिरूर्मिभिः समतां तुल्यवर्णतां गतम् । साह-चर्याद्वर्णविशेषणमित्यर्थः । सह भूतः सहचरः प्रियः । तमरुणस्य पचाद्यजन्तेन षष्ठी-समासः । करुणैर्दीनै रुतैः कूजितैरनुबध्नतीमनुसरन्तीं रथाङ्गनामवनितां चक्र-वाकीमभिननन्द । अभिप्रसन्नतया ननन्द इति भावः । अत्र ताम्रभूमीनां स्व भावरूपस्थानीयस्वच्छतारूपसङ्गमालंकारः —'कमतुग. स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणा-

अर्जुन ने, चञ्चल लहरियों से आवृत जलजन्तु का आश्रय करके जल के ऊपरी सतह पर उठे हुए हाथियों के आकृति रूप बलोपलब्धु जो मनि नियों को तरह से सम्मुख युद्धार्थ आये हुए हाथियों के समान देखा ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुरः सहसा समुत्पिपतिषो फणिनः ।
प्रहितं दिवि प्रजविभिः श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ॥ १५ ॥

स इति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रे सहसा समुत्पिपतिषो रुत्पतितुमिच्छोः । पते सन भावुमल्पया । सनिपतितयिद्धातिक्य सन इत्वा वक्तव्य इति विकल्पादिडाग म । फणिन सर्पस्य प्रजविभिरतिवेगवद्भि श्वसितैः फूत्कारैर्दिव्याकाशे प्रहितं प्रेरितं शरदभ्रस्य विभ्रम इव विभ्रम सौन्दर्यं यस्य तत् । शुभ्रमभ्रमपापर्व मेत्यर्थ । अपां पटलं पुर उदीक्ष्य विस्मयं जगाम । अत्रोपमालङ्कारः ॥ १५ ॥

अर्जुन सहसा उड़ने की इच्छा वाले सर्प के वेगवाली फुफकार के द्वारा आकाश में प्रेषित शरत्कालीन मेघ के सदृश स्वच्छ जल बिन्दुओं को देख कर विस्मयान्वित हो गये ॥

स ततार सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः ।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघना सुरनिम्नगामुपयती सरितः ॥ १६ ॥

स इति । सोऽर्जुनः सैकतवतीः पुलिनवतीरभितः शफरीभिः मत्सीभिः परिस्फुरितैः चारवो दृशो यासां ताः । सुरनिम्नगां गङ्गामुपयतीर्गच्छन्ती । इत्यर्थः । ललिताः बृहज्जघना कान्ताः सखीरिव स्थिता सरितस्ततार ॥ १६ ॥

अर्जुन ने सुरसरिता (गङ्गा) से संगम करने वाली उन नदियों को पार किया जिनमें चारों तरफ थिरकती हुई मछलियाँ सुन्दर नेत्र से शोभित होती थीं और वे (सहायक नदियाँ) पुलिन सहित युक्त होने के कारण स्थूल जघना परम सौन्दर्य युक्त सखियों की समानता कर रही थीं ॥ १६ ॥

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः ।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम् ॥ १७ ॥

अधिरुह्येति । सोऽर्जुनोऽधिरुह्य । आरुह्येत्यर्थः । पुष्पभरेण नम्रशिखैर्नताग्रैस्तरुभिः परितः परिष्कृततलां भूषितस्थलाम् । मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिं शुद्धाम् । अतएव मनसः प्रसत्तिमिव मूर्तं मनःप्रसादमिव स्थिताम् । गिरेर्मूर्ध्नि वनान्तभुवमाससाद । अत्र उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन ने पहाड़ पर चढ़कर, इन्द्रकील गिरि के शिखर पर रम्य वनस्थली को साक्षात् मूर्ति धारिणी मनकी प्रसन्नता के समान देखा जो (वनस्थली) पुष्प सम्भार से भव नव शिखा वाले पादपों (वृक्षों) से कांड बोहार कर साफ सुथरा हो गई थी ॥ १७ ॥

अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥ १८ ॥

अनुसान्विति । अनुसानु प्रतिसानु । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । पुष्पिता सञ्जातपुष्पा लताविततयो यस्मिन्स । फलिता उरवो भूरुहा येषु तानि विविक्तानि विजनानि पूतानि वा वनानि यस्मिन्स तथोक्तः । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । अचल इन्द्रकीलो हरेस्तनयस्यार्जुनस्य तपसे तपश्चर्यार्थमधिवस्तुमधिष्ठातुम् । तुमर्थाच्च भाववचनात्-इति चतुर्थी । क्रियार्थोपपदस्य-इति तुमुन् । अचलां स्थिरां धृतिं सन्तोषमाततान । अत्रानेकविशेषणपदार्थस्य धृतिकरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १८ ॥

जिसके प्रत्येक चोटियों पर पुष्पित लताओं के वितान झूम रहे थे, और फलभार से लदे हुए विशाल वृक्षों से युक्त जाले पवित्र वनप्रदेश थे उस इन्द्रकील पर्वत ने इन्द्र तनय (अर्जुन) को तपश्चर्यानुष्ठान में अविचल उत्साह बढ़ाया ॥ १८ ॥

प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥ १९ ॥

प्रणिधायेति । अथ तत्राद्रौ विधिना योगशास्त्रानुसारेण धियं चित्तवृत्तिं प्रणिधाय ध्येयविषये धियं नियम्य । 'सेर्विद्-' इत्यादिना णत्वम् । मुनितां दधतः । तपस्यत इत्यर्थः । पुरातनमुनेः । अर्जुनस्येत्यर्थः । असुकरं दुष्करं तपः श्रमं खेदं नादधौ न चकार । तथाहि आत्मवतां मनस्विनामवसादकरमशान्तिजनकं किमिव । न किञ्चिदित्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ १९ ॥

उस (इन्द्रकील) पर्वत पर सर्व प्रथम योगशास्त्रानुकूल चित्त-वृत्ति का नियमन करके, मुनियों की वृत्ति धारण किये हुए अर्जुन को दुष्कर तपश्चर्या से किञ्चिन्मात्र भी खेद नहीं हुआ क्योंकि मनस्वियों के लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो चित्त में उद्वेग उत्पन्न करे ॥ १९ ॥

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः ।
प्रतिवासरं सुकृतिभिर्ववृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥ २० ॥

शमयन्निति । धृतमिन्द्रियशमो विषयव्यावृत्तिरेवैकं मुख्यं सुखं येन स तथोक्तः । आत्माराम इत्यर्थः । अन्यत्र धृत इन्द्रियाणां शमः सन्तापनिवर्तनमेकमद्वितीयं सुखमाह्लादश्च येन स तथोक्तः । शुचिभिर्निर्मलैर्गुणैर्मैत्र्यादिभिः । अन्यत्र कान्त्यादिभिः ।

अघमयं पापरूपं तमोऽज्ञानम् । अन्यत्रान्धकारं च समस्यन्निवर्तयन् । विमलोऽमलिनः पापरहित शुभ्रोऽन्यत्र । सोऽर्जुनः प्रतिवासरं सुकृतैभि सुकृतैः । अन्येभिरिस्थर्थः । क्षिपां किन् । कलाभिः शीतरश्मिरिन्दुः इव । ववृधे २० ॥

जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा इन्द्रिय सन्ताप निवारण कर अद्वितीय सुख उत्पन्न करता हुआ, और अपने शुभ्र किरणों से अन्धकार का नाश करता हुआ अपनी सुन्दर कलाओं से प्रतिदिन बढ़ता रहता है उसी तरह किरीटी (अर्जुन) इन्द्रियों को विषयों की ओर से व्यावृत्त करना परम सुख समझने वाले अपने परम पवित्र मैत्र्यादि गुणों से पापरूप अज्ञान नाश करते हुए, सुकृतों से प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त होने लगे ॥ २० ॥

अपरीचकार च विवेकगुणाद्गुणेषु तस्य धियमस्तवतः ।
प्रतिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः ॥ २१ ॥

अपरीचकारेति । विवेकेति पाठः । विवेकस्तत्त्वावधारणं स एव गुणस्तस्मात् । तेन हेतुनेत्यर्थः । विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् इति पञ्चमी । अगुणेषु कामक्रोधादिदोषेषु विषये। अविरोधेन नञ्समासः । धियं चित्तवृत्तिमस्तवतो निवारितवतस्तस्यार्जुनस्याविरुपप्लवो निर्बाधः शमसुखानुभवः शान्त्यानन्दानुभवः प्रतिघातिनीं लोपकर्त्रीं विषयसङ्गरतिं शब्दाद्युपभोगस्पृहामपरीचकार । विषयनिःस्पृहं चकारेत्यर्थः । तत्कृतसुखकामस्य महावैराग्यहेतुत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

[अर्जुन शान्ति सुखोपभोग ने पवित्रों तत्त्वों का अवधारण रूप गुण के द्वारा उस अर्जुन की बुद्धि को कामक्रोधादि दोषों से दूर रखते हुए विविध विषयजनित विषय/ वासनाऽभिरुचि को नीचा दिखला दिया ॥ २१ ॥

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः ।
सहजेतरौ जयशमौ दधती बिभरांबभूव युगपन्महसी ॥ २२ ॥

मनसेति । प्रयतोऽहिंसादिनियतो मनसा ध्यानेन जपैर्विहितमन्त्राभ्यासैः प्रणतिभिर्नमस्कारैः । एव मनोवाक्कायकर्मभिर्दिवोऽधिपतिमिन्द्रं समुपेयिवानुपसेदिवान्सोऽर्जुनः सहजेतरौ नैसर्गिकागन्तुकौ । जीयतेऽनेनेति जयो वीररस । शम्यतेऽनेनेति शमः । जयशमौ वीरशान्तिरसौ दधती पुष्णती महसी तेजसी युगपद्बिभरांबभूव बभार । 'भीह्रीभृहुवाम्' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र युगपद्वीरशान्ताधिकरणत्वाभिधानादस्य लोकाद्भुतमहिमत्वं व्यज्यते ॥ २२ ॥

उस (अर्जुन) ने स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की प्राप्ति के लिये योगहिंसादिकों से विरत होकर ध्यान पूर्वक मन्त्रों का जप और नमस्कारों के द्वारा स्वभाव सिद्ध वीर और शान्त रस रूप तेज को उनके पोषक थे धारण किया । अर्थात् परस्पर विरुद्ध वीर और शान्त दोनों रसों का पुट अर्जुन के देखने से मिलता था ॥ २२ ॥

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन्कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः ।
उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥ २३ ॥

शिरसेति ॥ हरिन्मणिनिभो मरकतमणिश्यामोऽभिषवणेन स्नानेन कृतजन्मनो जनिता । अत. पिशङ्गीरिति भाव. । जटा शिरसा वहन्सोऽर्जुनोऽरुणस्यानूरोर्दीधितिभि परिमृष्टमूर्धनि व्याप्तशिरसि तमालतरावुपमा तमालतरो सादृश्य ययावित्यर्थमुपमा । तरोरौपम्याधिकरणत्वात्तदपेक्षया सप्तमी ॥ २३ ॥

मरकत मणि के तुल्य अर्जुन के शरीर का रङ्ग था । नियमानुकूल अभिषेक करने से पैदा हुई जटा को धारण करते हुए तमालवृक्ष से उपमित होते थे, जिसके शिखाग्र पर अंशुमाली (सूर्य) की किरणों से व्याप्त हो रही थीं ॥ २३ ॥

नोट —श्लोकाङ्क २५—२७ तक उपमिति दिखलाई गई है । इन तीनों पद्यों में 'तपसा' पद तृतीयान्त कर्ता है, इसका कर्म 'स' यह पद है जो अर्जुन [illegible] लिये आया है ॥ २३ ॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभिः ।
रमयाञ्चकार विरजाः स मृगान्कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥ २४ ॥

धृतेति । धृतहेतिर्धृतायुधोऽप्यधृता जिह्मा मतिः कुटिलमतिर्येन स । शुचिभिश्चरितैर्मुनीनधरयंस्तिरस्कुर्वन् । वेषेणैव भीषणो न तु कर्मणेति भाव । कुत । विरजा रजोगुणरहित सोऽर्जुनो मृगान्रमयाञ्चकार रमयामास । 'रजोगुणे स्त्रीपुष्पे रजो परागे पुंसि' ... इति नकोप' । तथाहि । गुणा दयादय कमिव रमयितुं नेशते । न कं वा वशी कर्तुं न शक्नुवन्तीति भाव । शुचिरेव हि पर विश्वासभीक परस्य न वेषो नापि सत्त्व इति भाव ॥ २४ ॥

यद्यपि अर्जुन ने शस्त्रधारण किया था तथापि वे सरलस्वभाव थे । उन्होंने अपने शुद्ध आचरणों से ऋषियों को भी जीत लिया था तथा रजोगुणों से विमुक्त हो कर हरिणों को रमण कराया क्योंकि दया-दाक्षिण्यादि गुण किसको अपने वश में नहीं ला सकते ॥ २४ ॥

अथास्य त्रिभिस्तपःसिद्धिमाह—अनुकूलेत्यादिना ॥

अनुकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥ २५ ॥

अनुकूलेति । अनुकूलपातिनं न तु प्रतिकूलपातिनमचण्डगतिं मन्दगामिनं सुगन्धिम् । गन्धस्यैकत्वे तदेकान्तग्रहणेऽपि कवीना निरङ्कुशत्वात्समासान्त. । अथवा केचिदागन्तुकत्वेऽप्येकवचनेन समासान्तमिच्छन्ति । पवनमभित किरता । प्रवर्तयतेत्यर्थ. । अंशुमत आर्तव. । 'ऋतोरण्' इत्यण्प्रत्यय । स चासौ गुणश्चेतिम-

स्वरूपा सोऽवधीरितस्तिरस्कृतो यस्य तमंशुमतो रवेः विपर्य [illegible] सुखस्पर्शतां नयता प्रापयता । नयतेर्द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

तपश्चर्या ने अनुकूल [illegible] सुगन्धियुक्त वायु को अर्जुन के समीप विकीर्ण कर दिया [illegible] (सूर्य) की किरण [illegible] को जिसकी [illegible] अत्यन्त तिरस्कार हो गई थी सुख कर दिया ॥ २५ ॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरोर्गमयतावनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥ २६ ॥

नवेति । प्रचये पुष्पावचयप्रसङ्गे नवपल्लवा एवाञ्जलयस्तान्बिभ्रतीति तथोक्तान् [illegible] अवनतिं नम्रत्वं गमयता । गतिबुद्धि— इत्यादिना तरूणां कर्मत्वम् । प्रतिनिशं निशि निशि शयनीयतामुपयतीम् । [illegible] । वसुधां मृदुभि स्तृणैः [illegible] ॥ २६ ॥

जिस (तप) ने अर्जुन के पुष्प चयन काल में नूतन किसलयाञ्जलिधारी बड़े २ वृक्षों को अवनत बना दिया था (जिससे अर्जुन को पुष्प के लिये वृक्ष पर चढ़ना न पड़े) और प्रतिरात्रि शयन स्थान की भूमि को तृणों से आच्छादित कर दिया था (अर्थात् शयन के लिये बिस्तर न होने पर भी कोमल तृण ही बिस्तर का काम कर रहे थे) ॥ २६ ॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥ २७ ॥

पतितैरिति । अपेतजलदात्रिरभ्रान्नभसः पतितैरपां पृषतैर्बिन्दुभी रजश्च शमयता तपसा कर्त्रा दयालुनेवानुकम्पिना । दयालुत्वे हेतुं सूचयति—परिगाढः कृशोऽतिक्षीणः सोऽर्जुनः परिचर्ययोपासनया [illegible] अनुजगृहेऽनुगृहीतः । अनुग्रहोऽत्र [illegible] तपोऽस्येति भावः । अत्र श्लोकत्रये [illegible] ॥ २७ ॥

जिस (तप) ने निरभ्र आकाश से गिरते हुए जल बिन्दुओं की वर्षा करके धूलि का शमन कर दिया था इस प्रकार की सुश्रूषा से दयालु व्यक्ति की तरह अत्यन्त दुर्बल अर्जुन को उसने अनुगृहीत किया ॥ २७ ॥

महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः ।
न जगाम विस्मयवशं वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणाः ॥ २८ ॥

महत इति । सोऽर्जुनो महते फलाय श्रेयसे [illegible] विकसत्पूर्वोक्तं शिवं शुभं [illegible] कुसुमं पुरोऽग्रेऽवेक्ष्य विस्मयवशं न जगाम । तथाहि । वशिनामनुभाव

एव गुणः स च धैर्यं न निहन्ति । विस्मयादिविकारं न जनयतीत्यर्थः । जननेवा तपः क्षीयेत । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मरणादिति भावः ॥ २८ ॥

[कृपक बडे २ फल होने की आशामें पड़ा हुआ सुन्दर विकसित पुष्पको देख कर कभी २ आश्चर्य में पड जाता है] परन्तु अर्जुन यद्यपि महती सिद्धि रूप फल के लिये उद्यत थे तथापि विकसित होते हुए कार्य्य–सिद्धि–निमित्त कुसुम रूप जो लक्षण दिखलाई पड़ते थे उससे उनके मनमें रत्ती भी विस्मय न हुआ, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के अनुभाव रूप गुण उन्हें धैर्य्य से च्युत नहीं करते ॥ २८ ॥

तदभूरिवासरकृतं सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम् ।
उपतस्थुरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम् ॥ २९ ॥

तदिति ॥ सुकृतैस्तपोभिः करणैः अभूरिभिः कतिपयैरेव वासरैः कृतं तत्पूर्वोक्तं वैभवमन्योऽन्यस्य न भवतीत्यनन्यभवम् । अन्यस्यासम्भवतीत्यर्थः । पचाद्यजन्तोत्तरपदेन नञ्समासः । उपलभ्य निश्चित्यास्थितविषादाः प्राप्तखेदा धियो येषां ते वनचराः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणादलुक् । शतेन शतस्य वा मखानां यज्वनः शतमखस्य । अत्र तत्प्रत्येकविशेषणाभो यजिसमिद्धत्वादनाम्नात्वम् । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' । वसतिमुपतस्थुः प्रापुः ॥ २९ ॥

वनचरों ने देखा कि इने गिने समयों में ही सुकृतों के सहारे जो ऐश्वर्य इन्हें (अर्जुनको) प्राप्त हुआ है वह किसी अन्य के लिये असम्भव है अतः वे खिन्न होकर शतक्रतु इन्द्र के निवास स्थान (अमरावती) में पहुँचे ॥ २९ ॥

विदिताः प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयांबभूवुरिति गोत्रभिदे ॥ ३० ॥

विदिता इति ॥ वनचरा इत्यनुवर्तनीयम् । विदिता ज्ञाताः । अनुमतप्रवेशाः सन्त इत्यर्थः । प्रविश्य विहितानतयः कृतप्रणामाः अधिकृतकृत्यस्य नियुक्तकर्मणः शैलरक्षणात्मकस्य विधावनुष्ठाने शिथिलीकृते सति । अनपेतकालमनतिक्रान्तकालं यथा तथा गोत्रभिदे शक्रायेति वक्ष्यमाणप्रकारेणाभिरामकथाः आचख्युः । 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्प्रत्ययः । कथयाम्बभूवुः ॥ ३० ॥

उन वनचरों ने अनुमति लेकर प्रवेश किया फिर हाथ जोड कर इन्द्र देवको नमस्कार किया । वे शैल–रक्षा रूप कार्य्य छोड कर आये हुए थे अतः समय का अतिक्रम न करते हुए श्रवण सुखद वचनों से इन्द्रको सूचित किया ॥ ३० ॥

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः ।
महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तपज्जगतीम् ॥ ३१ ॥

शुचीति ॥ शुचिना वल्केन वल्कलेन चीराच्छादिता तनुर्यस्य सः । तिमिरच्छिदो सूर्यबिम्बमन्यतम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । असकौ पुरुषः । मघवन्, भवतो गिरावि न्द्रकीले जगतीं भुवं तपस्तापयन्महते जयाय तपस्यति तपश्चरति । कर्मणो रोमन्थ इत्यादिना क्यङि रूपम् ॥ ३१ ॥

(वनवासियों ने कहा) हे महाराज इन्द्र ! एक पुरुष आपके पर्वत (इन्द्रकील) पर वसुधा को तपाता हुआ महान् विजय लाभ के लिये तपःसाधन कर रहा है । वह सर्वथा निष्पाप है । उसका शरीर स्वच्छ वल्कल से आच्छादित है । और अन्धकार निवर्तक तेज-धारियों में से एक सा भी मालूम पड़ता है ॥ ३१ ॥

जयाय तपस्यतीत्युक्तम् । तत्र हेतुमाहुः—

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनुः ।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनयः ॥ ३२ ॥

स इति ॥ भीषयेते इति भीषणौ । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । तौ च तौ भुजङ्गौ च ताविव भुजौ यस्य स तथोक्तः । पुरुषो विद्विषां भयविधायि पृथु धनुर्बिभर्ति । अतो जयार्थीत्यर्थः । अमलेन तस्य पुरुषस्य चरितेन वृत्तेन धृतानि सच्चरितानि येषां ते मुनयोऽतिशयिता अतिक्रान्ताः ॥ ३२ ॥

उस (तपस्वी) की भुजायें भयङ्कर सर्प के समान हैं । शत्रुओं को भय दायक एक महान् धनुष भी उसके पास है । उसके शुद्धाचरण से सच्चरित्र-युक्त मुनि भी जीत लिये गये हैं ॥ ३२ ॥

अथास्य तपःसिद्धिं वर्णयति—

मरुतः शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम् ।
गुणसम्पदानुगुणतां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः ॥ ३३ ॥

मरुत इत्यादिना ॥ मरुतो वाताः शिवाः सुखाः । जगती पृथ्वी नवतृणा । शयनास्तरणाद्यनुकूलेत्यर्थः । नभो विमलं नीहारादिरहितम् । रजसि सत्यपां वृष्टिर्भवतीति शेषः । किं बहुना । अस्य पुरुषस्य गुणसम्पदा मूलभूताहिंसादिगुणसम्पत्त्या अनुगुणतामनुकूलतां गमितः । वशीकृत इत्यर्थः । भूतगणः पृथिव्यादिपञ्चकं भक्तिं सेवां कुरुत इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

और क्या तक कहें पञ्च महाभूत भी उसके दास बन गये हैं इसलिये —पवन देव अनुकूल होकर सुखकर हो गये हैं । भूमि हरे भरे तृण से आच्छादित हो गई है (जिससे उसे बिस्तर की भी आवश्यकता नहीं है) आकाश बिना बादल के है । धूलि शान्त करने के लिये वृष्टि कर देता है । वह पुरुष जीवों के ऊपर दयादाक्षिण्यादि रूप अपने गुण सम्पत्ति से पृथ्वी जल तेज वायु आकाश इन पञ्च महा भूतों को अपने अनुकूल बना लिया है अत वे उसके वश होकर उनकी सेवा करते हुए की तरह मालूम पड़ते हैं ॥ [illegible] ॥

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः ।
विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान्स तेन भवतेव नगः ॥ ३४ ॥

इतरेतरेति ॥ किं च । मृगाः पशवस्तम् । अन्तेऽन्तिके सीदन्तीत्यन्तसदोऽन्तेवासिनः । 'सत्सूद्विष-' इति क्विप् । गुरुमिवेतरेतरेषामनभिभवेनाद्रोहेणोपासते सेवन्ते । प्रचये पुष्पावचये तरवोऽस्य विनमन्ति । करप्रचेया भवन्तीत्यर्थः । तस्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । किं बहुना । स नग इन्द्रकीलो भवतेव तेन पुरुषेण परवान्पराधीनः । सात्त्विकस्यापि तवेव स्थातिशयो वर्तत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

और क्या कहें महाराज ? परस्पर द्रोह बुद्धि रखने वाले वन्य पशु भी उसकी सेवा करते हैं —

परस्पर वैमनस्य का परित्याग करके पशु वर्ग उसकी सेवा करता है जैसे विद्यार्थी लोग अपने गुरु की सेवा करते हैं। जब उसे फूलों की आवश्यकता पड़ती है तब वहाँ के वृक्ष उसके सामने झुक जाते हैं। इन्द्रकील भाव तक आप के अधीन था अब वह उसके अधीन हो गया सा प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

उरु सत्त्वमाह विपरिश्रमता परमं वपुः प्रथयतीव जयम् ।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जनः ॥ ३५ ॥

उर्विति ॥ किं च । विपरिश्रमतायासेऽपि श्रमराहित्यमुरु महत्सत्त्वमस्य सारमाह । दुर्बलस्य श्रमजयासम्भवादिति भावः । परममुत्तमं वपुर्जयं प्रथयतीव । आकारेणैव जिष्णुत्वं गम्यत इत्यर्थः । शमिनः शान्तस्यापि तस्य नवसङ्गमनेऽपूर्वप्राप्तौ जनो विभुतायाः प्रभावस्यानुषङ्गि व्यापकम् । न तु हिंसकत्वादनुषङ्गीति भावः । भयमेति । शान्तोऽप्यस्य प्रभावो भयमुत्पादयतीति भावः ॥ ३५ ॥

थोड़ा उसके बल पौरुष का भी अनुमान कर लीजिये —उसे परिश्रमके कार्यों में लेशमात्र भी थकावट नहीं आती इसीसे उसके बल का अनुमान किया जाता है। उसके विशाल आकार के देखने से मालूम पड़ता है कि वह बड़ा विजयी पुरुष है। यद्यपि वह शम का अवलम्बन करता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम समागम होता है उस समय उस व्यक्ति को उस के विभुता से भय उत्पन्न हो जाता है ॥ ३५ ॥

अथेदृशोऽसौ क इति चेत्तत्र विद्म इत्याहुः —

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमिभृताम् ।
चरतस्तपस्तव वनेषु सदा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ॥ ३६ ॥

ऋषीति ॥ स पुरुषः । ऋषिवंशजो, वेति शेषः । काकुर्वा । यदि वा दैत्यकुले । जात इति शेषः । यदि वा महति भूमिभृतामन्वये जातः । तव वनेषु तपश्चरतोऽस्य गतिं स्वरूपं निरूपयितुं वयम् । सहन्त इति सहाः । पचाद्यच् । न सहाः स्म इति

शेषः ॥ ३६ ॥

हम लोग यह भी अनुमान न कर सकने के यह देवता है या दैत्य है अथवा कोई राजा है,—इसने ऋषि कुल में जन्म लिया है अथवा किसी भूमिपाल के उच्च वंश में जन्म लिया है ? आप के वन में यह तपस्यासाधन कर रहा है हम लोग उसके भेद जानने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ३६ ॥

अयुक्तपरिभाषणापराधं परिहरन्ति—

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया ।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ॥ ३७ ॥

विगणय्येति ॥ अनेकगुणं बहुप्रकारम् । इन्द्रत्वाद्यनेककल्पनात्मकत्वेन योग्यमित्यर्थः । कारणं तपोऽवस्थानस्य विगणय्य विचार्य । अथवा निजया नैसर्गिक्याऽल्पतया शक्तिरपेक्षाज्ञत्वेन वा कथितं नोऽस्माकमदः इदम् । वचनमित्यर्थः । असदसाध्वपि सहितुं सोढुम् । 'षीपसह— इत्यादिना विकल्पादिडागम । अर्हसि योग्योऽसि । तर्हि सर्वेषु किं नोक्तं तत्राहु वनेचराः क्व । निपुणा यतयो विवेकयुक्ता क्व । नोभयं सङ्गच्छत इत्यर्थः । अज्ञानं नापराध्यतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

उसके तपश्चर्या करने का क्या प्रयोजन है ? इसका हम लोगों ने अनेक प्रकार से अनुमान कर के अथवा अपनी समझ से जो यह बात चाहे अनुचित भले ही हो कहा है आप उसे क्षमा करने के योग्य हैं। जङ्गली जातियों की बुद्धि कहाँ और कुशाग्र मति तपस्वी कहाँ (दोनों में बहुत अन्तर है) ॥ ३७ ॥

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥ ३८ ॥

अधिगम्येति ॥ मघवेन्द्र इति पूर्वोक्तं गुह्यकगणात्तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्यास्य तपोऽधिगम्य ज्ञात्वा । गुह्यकापेक्षया समानकर्तृकत्वात्क्त्वानिर्देशः । उदितं तत्तपसो देवकार्यपरत्वादुत्पन्नं [illegible] निजुगोप गोपयामास । तथा हि । प्रभवतां प्रभूणां धियो नयवर्त्मगा नीतिमार्गानुसारिण्यो हि । अन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

इन्द्र ने अपने प्रिय पुत्र अर्जुन के इच्छानुकूल तपस्साधन की बात गुह्यकों (वनेचरों) के मुख से सुनकर उत्पन्न होने वाले हर्षातिरेक को छिपा लिया (किसी को विदित होने न दिया) क्योंकि बड़े लोगों की बुद्धि सर्वदा नीतिमार्गावलम्बिनी होती है ॥ ३८ ॥

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरिः ।
उपलब्धुमस्य नियमस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ हरिरिन्द्रश्चित्तं प्रणिधाय विषयान्तरपरिहारेणात्मन्यवस्थाप्य तत्र तस्मिन्नर्जुने भक्ततया विविते सत्यपि । उपलक्षणे तृतीया । अपूर्वं इव । अविदित इवेत्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पाभ्यां स्मिन्नादेशः । अस्याऽर्जुनस्य नियमस्थिरतां दार्ढ्यमुपलब्धुम् । परीक्षितुमित्यर्थः । लोकप्रतीत्यर्थमिति भावः । सुरसुन्दरीरिति वक्ष्यमाणप्रकारं वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

यद्यपि उन्होंने समाधिस्थ हो कर देखा तो अर्जुन को अपना अनन्य भक्त पाया तथापि अपरिचित की भाँति तपस्यामें दृढ सङ्कल्प की परीक्षा के लिये अमराङ्गनाओं से कहा—॥३९॥

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया ।
अविपक्षमस्त्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥ ४० ॥

सुकुमारमिति ॥ मर्मभिदां मर्मच्छेदिनाम् । अस्त्राणां मध्य इत्यर्थः । 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अपरमन्यत्कतमत् । 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' । यूयमिव सुकुमारं कोमलं न तु कठिनम् । अन्यत्तु कठिनं भवति । तथैकं न बहु । तदनेकं भवति । तथाणु सूक्ष्मं न स्थूलम् । अलक्ष्यलक्ष्यप्रवेशित्वादिति भावः । अन्यत्तु लक्ष्यलक्ष्यप्रवेशि । तत्तु समीपलक्ष्यभेदि । तथातिदूरगं दूरलक्ष्यभेदि, तथाऽमोघतयाऽमोघत्वगुणेन युतं युक्तम् । न कदाचिदप्यपचरतीति भावः । अन्यत्तु कदाचिदपि लक्ष्यादपराध्यति । तथाऽविपक्षमसत्प्रतीकारम् । अन्यत्तु विद्यमानप्रतीकारम् । चित्तभुवः कामस्य । कर्तरि षष्ठी । विजयाय । एतद्विशेषणविशिष्टमस्त्रमस्तीति शेषः । न किंचिदस्तीत्यर्थः । अत्रोपमालङ्कारः । साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारश्च । तयोश्चानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४० ॥

और अस्त्रों की अपेक्षा कामदेव के बाण की महत्ता बहुत बातों में बढी चढी है क्यों कि —सुर सुन्दरियो, मनोभव का अस्त्र आप लोगों की तरह सुकुमार है (और अस्त्रतो ऐसे कभी नहीं देखने में आये क्यों कि वे सर्वथा कठिन होते हैं) मर्म स्पर्शी अस्त्रों में से यह एक है। और अस्त्रों की तरह आकार में बहुत बडा नहीं है बिल्कुल अणु है। और प्रकार के अस्त्र तो लक्ष्य के दूर होने पर कदाचित् विफल भी हो सकते हैं, परन्तु यह तो अमोघ है और अस्त्र से रक्षा के लिये बहुतसे साधन वर्तमान हैं, परन्तु इससे (कामदेव के बाण से) बचने का कोई उपाय ही नहीं है। (अब आपही लोग बतलाइये कि) विजय प्राप्ति के लिये इस से बढकर दूसरा और कौन अस्त्र हो ही सकता है ? ॥ ४० ॥

असामर्थ्यशङ्कां परिहरति—

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसः शमनम् ।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥ ४१ ॥

प्रयेति ॥ जन्मनीतये संसारनिवृत्तये कृतप्रयत्नानां विरतमहामोहानां योगिनां संस्थम्भि रजो गुणः । रजो धूलिरिति विकल्पस्यमन्त्र । तस्य शमन निमर्तोकमवबोध स्तत्त्वज्ञानमेव वारि तदो युष्माकममकठोरसमभ्यर्णवगाम्भेवाज्ञस्मर्टो परिपोषमाण मिवेत्युत्प्रेक्षा । अवसादं यस्यतीति । मुक्तानपि अस्मान्नीतो च कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकयोः संकरः ॥ ४१ ॥

आप लोग सचमा यह बात को भूल जाय कि आप लोग तपस्वियों के समक्ष कुछ नहीं कर सकतीं क्योंकि—

जन्म मरण से छुटकारा पाने के लिये काम क्रोध मोह मद आदि महामोह से पराङ्मुख मुनियों का तत्त्वज्ञान जो कि रजोगुण का विनाशक है तथा जल रूपादि (जल से रज = धूलि शान्त हो जाती है) जो आप लोग आपके सम्मुख नेत्र रूपी अञ्जलियों से मानो पान कर चुकी और वह आपु क्षीण होजायगा ॥ ४१ ॥

बहुधा गता जगति भूतसृजा कमनीयता समभिहृत्य पुरा ।
उपपादिता विदधता भवतीः सुरसद्मयानसुमुखी जनता ॥ ४२ ॥

बहुधेति ॥ किं च । पुरा जगति बहुधा गतां नानारूपेण विप्रकीर्णां कमनीयतां कान्तिं समभिहृत्य सङ्गृह्य भवतीर्विदधता सृजता भूतसृजा ब्रह्मणा जनता जनसमूहः । ग्रामजन— इत्यादिना तल् । सुरसद्मयानसुमुखी स्वर्गगमनोन्मुखी उपपादिता कृता । स्वर्गस्यापि कामसाध्यत्वं, तासां च कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ४२ ॥

आप लोग यह कह सकती हैं कि जिस पद्म आदि भूत से आप सभी की रचना होती है वही से हमलोगों की भी रचना हुई है फिर हम लोग कोमल और सुन्दर हो गईं ! परन्तु यह बात नहीं है इस में कारण दूसरा है —

जब ब्रह्मदेव आप लोगों का निर्माण करने के लिये उद्यत हुए तब उन्होंने संसार भर की कमनीयता (कोमलता) जो इधर उधर बिखरी हुई कहीं चन्द्रमा में भी कहीं कमलों में कहीं वैसे ही बहुत सी जगह में थी उसे पहले एकत्रित करके आप लोगों की रचना की है यही कारण है कि जनता स्वर्लोक की प्राप्ति के लिये लालायित रहती है ॥ ४२ ॥

अथ कार्यमाह—

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हृतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः ॥ ४३ ॥

तदिति ॥ तत्तस्मात्कारणात्कलासु गीतवाद्यादिषु कृतिभिः कुशलैः सचिवैः

न्धर्वैः सहिता उपेत्य गत्वा तस्य तपो विघ्नयत विघ्नवत्कुरुत । विहतेत्यर्थः । विघ्नय-च्छब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति-' इति णिचि लोट् । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । न चात्रासामर्थ्यशङ्का कार्येत्यर्थान्तरन्यासेनाह—हृतेति । ननु सम्बोधने । हे अप्सरस, हृतानि वशीकृतानि वीतरागाणा नि स्पृहाणां मुमुक्षूणां मनांसि चित्तानि याभिस्तासां वो युष्माकमप्सरसां सुखसङ्गिन पुरुष प्रति सुखाभिलाषिण प्रत्यवजितिर्विजय सुखा सुखसाध्या न तु दुष्करा खलु । एतेनाय सखार्थो न रित्युक्तम् । अर्थान्तरन्यास ॥ ४३ ॥

क्या आप लोग इस बात को समझ गईं कि आप लोगों की इतनी प्रशंसा क्यों की गई कदाचित् आप लोग अपने २ विचारों से अनेक प्रकार के कार्यों का अनुमान करेंगी इस लिये मैं आप लोगों को स्वयं बतलाये देता हूं सुनिये —आप लोग वादन कलाओं में कुशल गन्धर्वों को साथ लेकर इन्द्रकील गिरि पर जांय (जहां एक पुरुष तपश्चर्या कर रहा है) और उस पुरुष की तपश्चर्या को भ्रष्ट करें । आप लोग तो मुमुक्षुओं के चित्त को भी आकर्षित कर लेती हैं अत सुखाभिलाषी पुरुष तो आसानी से वश में आसकता है ॥ ४३ ॥

अथ सुखसङ्गित्वमेवाह—

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधि क्व शरासन क्व च विमुक्तिपथ ॥४४॥

अविमृष्यमिति ॥ हे अप्सरस ,स पुरुषो द्विषतां शत्रूणां वधेन शत्रुहननद्वारा विषयाभिरतिं विषयसुखमभिलष्यति वाञ्छति । 'वा भ्राश-' इत्यादिना श्यन्प्रत्यय । एतद्विषयासक्त्वमविमृष्यमविचार्यम् । अविमृष्यमसन्दिग्धमित्यर्थ । 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृते' इति क्यप् । भवतीभिर्न सन्दिग्धव्यमित्यर्थ । हि यस्मात्स विधि 'स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुज ' इत्यादिश्लोकोक्तोऽनुष्ठानप्रकारो भववीतये संसारमुक्त्यै न भवति । कुत इत्याह—शरासन धनु क्व, विमुक्ते पन्थाश्च क्व । द्वय परस्पर विरुद्ध-मित्यर्थ । न खलु हिंसासाध्या मुक्तिरिति भाव । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥४४॥

आप लोग यह भी नहीं कह सकतीं कि वह सुखार्थी नहीं है यदि है तो आपने (इन्द्रने) कैसे जाना ? मैं इसे भी आप लोगों से बतला रहा हूँ थोडा ध्यान दीजिये —वह तपस्वी शत्रुका विच्छेद कर के विषय सुख की अभिलाषा करता है । वह 'विषयासक्त नहीं है' इसकी शङ्का ही दूर रखना चाहिये क्योंकि मुक्ति की कामना करने वालों के लिये इस तरह का तपस्साधन किस लिये हो सकता है । धनुष कहां और मुक्ति का मार्ग कहां (अर्थात् वह सशस्त्र तपश्चरण कर रहा है और मुक्ति मार्गमें शस्त्र की आवश्यकता नहीं है) इससे विदित होता है कि वह मुमुक्षु नहीं ॥ ४४ ॥

न च शापभयमपि सम्भाव्यमस्मादित्याह—

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृतिः ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृशन्ति धियः ॥४५॥

पृथ्विति ॥ पृथुधाम्नि महातेजसि तत्र तस्मिन्पुरुषविषयेऽन्यमुनिवदन्यस्मिन्मुनाविव । तत्र तस्येव इति वतिप्रत्ययः । विकृतिः कोपविकारश्च भवतीभिर्मा परिबोधि मा विज्ञायि । मा शङ्कीति यावत् । बुध्यतेः कर्मणि लुङ् । माङ्योगादाशीरर्थेऽडागमाभावश्च । तथा हि—स्वयशांस्यवतां रक्षताम् । यशोधनानामित्यर्थः । विक्रमवतां धियश्चित्तानि वधूषु स्त्रीविषयेष्वघानि व्यसनानि । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । न विमृशन्ति । अर्थान्तरन्यासः । स्त्रीहिंसायाः शूराणां यशोहानिकरत्वात्सर्वथा वो हिंस्रः स इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सम्भव है आप लोग शाप से डरती हों किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि —यद्यपि वह महा तेजस्वी है तथापि अन्य ऋषियों की तरह उसमें कोप विकार का भी आप लोग ख्याल न करें, क्योंकि जो पराक्रमशाली पुरुष हैं और अपने यश की रक्षा करते हैं वे स्त्रियों के प्रति हिंसा बुद्धि नहीं रखते ॥ ४५ ॥

आशासितापचितिचारु पुरः सुराणामादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः ।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥४६॥

आशासितेति ॥ अमर्त्यवधूसमूहोऽप्सरसां गणः सुराणां पुरोऽग्रे आशासितापचितिभिरपेक्षितसम्भावनाभिश्चारु यथा तथा । 'पूजानमस्यापचितिः' इत्यमरः । अभिमुखं समक्षं भर्तुः स्वामिन इति पूर्वोक्तमादेशं नियोगं समवाप्य परां द्युतिं लेभे । तथा हि । अधिकृतस्य कस्मिंश्चिदधिकारे नियुक्तस्य सम्भावना स्वामिकृता पूजा तेजः कान्तिं तनोति ॥ ४६ ॥

अमर ललनाओं का समूह स्वामी के आदेश को मान कर देवताओं के समक्ष पूर्वोक्त प्रकार की प्रशंसा से अधिक सुन्दर कान्ति को प्राप्त हुआ क्योंकि किसी अधिकार में लगाये गये पुरुष की यदि प्रशंसा की जाय तो उसके तेज की अभिवृद्धि होती है ॥ ४६ ॥

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सद्मनस्ताः स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः ।
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षष्ठः सर्गः ।

प्रणतिमिति ॥ अथ प्रणतिं विधाय सद्मन इन्द्रभवनात्प्रस्थिताः प्रचलिताः स्तनभरैर्नमितान्यङ्गानि यासां ताः । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीष् ।

प्रीतिभाज स्वामिसम्भावनया सन्तुष्टास्ता अङ्गना अचलनलिनानां स्थिरकमलानां लक्ष्मीं हरतीति तच्छ्रीहरम् । तन्मनोहरमित्यर्थं । कुत । स्तिमित विस्मयनिश्चलमसुरभर्तुरक्ष्णां सहस्र कर्तृ द्रष्टुमल समर्थं न बभूव । तासां सौन्दर्यसागरस्योद्वेलत्वादिति भाव । अत्रोपमालङ्कार ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षष्ठ सर्गं समाप्त ।



वे अप्सरायें इन्द्र को प्रणाम कर घर से चलीं । वे (पीवर) स्तनों के भार से झुकी हुई थीं । स्वामी की स भावना से वे खूब तृप्त हो चुकी थीं । उनके सौन्दर्य को अविचल कमल की शोभा अपहरण करने वाले सुरराज के सहस्रों नेत्र भी एकटकी बाँध कर देखने में समर्थ न हो सके अर्थात् हजार आँखें भी उन ललनाओं के सौन्दर्य देखने के लिये जहां कमी पडती, वे वहाँ की शोभा देखने से तृप्त नहीं होती थीं ॥ ४७ ॥

इति षष्ठ सर्ग ।



स : सर्गः ।

श्रीमद्भि सरथगजै सुराङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तु ।
समूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्न प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनाद ॥१॥

श्रीमद्भिरिति ॥ अथ प्रस्थानानन्तरं श्रीमद्भि शोभावद्भि । सह रथगजेन सरथगजास्तै । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि । त्रयाणां लोकानां भर्तुस्त्रिलोकभर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमास । सचिवैर्गन्धर्वैर्गुप्तानां सुराङ्गनानां प्रस्थानं गमनमलघुषु महत्सु विमानरन्ध्रेषु विमानानां कुक्षिकुहरेषु भिन्न प्रतिध्वानैरनेकीभूतोऽत एव समूर्च्छन्व्याप्नुवन्मृदङ्गनाद समभिदधे आचख्यौ । पौरेभ्य इति शेष । अस्मिन्सर्गे प्रहर्षिणीवृत्तम्—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

त्रिलोकेश (इन्द्र) की अप्सरायें, सुन्दर २ रथ और हाथियों के साथ गन्धर्वों से सुरक्षित होकर प्रस्थान कीं । उस का सूचना मृदङ्ग घोष ने दिया जो (मृदङ्ग घोष) विमानों के बड़े २ झरोखों से प्रतिध्वनित होने के कारण अनेक होकर सर्वत्र व्याप्त हो गया था ॥२॥

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुच पुरान्मघोन. ।
रामाणामुपरि विवस्वत स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रै ॥२॥

सोत्कण्ठैरिति ॥ सोत्कण्ठैः । सवेदनैरुत्सुकैरित्यर्थः । अमरगणैरनुप्रकीर्णोदाकीर्णोज्ज्वलितरुचो दीप्तप्रभाः प्रस्थानघोषं श्रुत्वा पुरादमरावत्या निर्याय निर्गत्य । पादे ल्यपो ल्यप् । विवस्वत उपरि स्थितानां रामाणाम् । आतपात्त्रायन्त इत्यातपत्त्रे । सुपि—' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । परिलघुत्वं साध्यत्वं नासेदे न प्राप । तासां सूर्योपरिस्थितत्वादातपासम्भवादिति भावः ॥ २ ॥

उनके प्रस्थान की सूचना पाते ही अमरावती में इधर उधर देखना लोग उत्कण्ठित हो घूमने लगे। उस समय इन्द्र पुरी का प्रभाव बढ़ गया था। वहां से सुर वनिताएं चल कर जब सूर्य मण्डल के ऊपर पहुँच गईं तब वहां उनके आतपत्र (छाते) व्यर्थ हो गये कारण यह है कि सूर्य की किरणें तो सीधे पृथ्वी की ओर पड़ती हैं अतः सूर्य मण्डल के ऊपर उन के पहुँच जाने के कारण उन पर किरणें नहीं पड़ती थीं अतः जिसका अर्थ है—आतप=धूप त्र=रक्षा करना, धूप से रक्षा करने वाले छत्र उन के व्यर्थ ही हो रहे थे क्योंकि जिससे रक्षा करना उस वस्तु का अभाव ही था तो फिर रक्षा किससे ? ॥ २ ॥

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविशदलोचनोत्पलानाम् ।
आनिन्ये मदजनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः ॥३॥

धूतानामिति ॥ अभिमुखपातिभिः समीरैः प्रतिकूलवायुभिर्धूतानामिति दुर्निमित्तसूचनम् । आयासात्परिश्रमादविशदलोचनोत्पलानां वधूनामुष्णांशुद्युतिजनित आतपकृतः कपोलानां रागः पाटलत्वम् । मदेन जनितां श्रियम् । तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । आनिन्ये आनीतवान् । वधूरिति शेषः । आङ्पूर्वान्नयतेः कर्तरि लिट् । नकाराद्युपलक्षणत्वादात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

(मार्ग में) प्रतिकूल वायु के कारण उन के (सुर कन्याओं) के अङ्ग शिथिल हो गये। मार्ग जनित श्रम के कारण उनके नेत्र कमल भी मुरझाये [illegible] थे। (परिश्रम के कारण जो उन के कपोल की लालिमा नष्ट हो गई थी) वह कपोल की लालिमा जो सूर्य के किरणों से फिर लौट आई थी उन अमर कन्याओं का मदों से उत्पन्न शोभा को पहले की भाँति कर दिया ॥ ३ ॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टे प्रजविभिरायतं तुरङ्गैः ।
नेमीनामसति विवर्तने रथौघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥४॥

तिष्ठद्भिरिति ॥ कथमपि बाढम् । कथमादि तथाप्यन्ते यत्ने गौरवबाढयो इति वैजयन्ती । देवतानामनुभावात्तिष्ठद्भिः । अपतद्भिरित्यर्थः । रथविशेषणमेतत् । प्रजविभिर्वेगवद्भिस्तुरङ्गैरायतं दूरमाकृष्टे रथौघैर्वियत्याकाशे नेमीनां चक्रधाराणाम् । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । विवर्तने भ्रमणेऽसति विमानवद्वि

मानानामिवेत्युपमा । 'तत्र तस्येव' इति वतिः । प्रवृत्तिर्गतिरासेदे प्राप्ता । सदेः कर्मणि लिट् ॥ ४ ॥

सुर बालाओं के रथ समूह देवताओं के प्रभाव आकाश मण्डल में टिके हुए थे। अत्यन्त वेग शाली अश्व उनका सञ्चालन करते थे। निराधार होने के कारण उन के चक्र की भ्रान्ति रुक गई थी जिस से वे अन्तरिक्ष में जाते हुए साक्षात् विमान बन गये थे ॥४॥

कान्तानां कृतपुलकः स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः ।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषा रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥

कान्तानामिति ॥ कान्तानां स्तनानामङ्गरागे कृतपुलकः जनितोद्भेदः । कृतरोमाञ्च इत्यर्थः । च्युताः प्रमृष्टास्तिलका येषां तेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः श्रमसलिलोद्गमः स्वेदोद्भेदो विभूषा भूषणं सम्पेदे सम्पन्नः । कर्तरि लिट् । तथाहि । रम्याणां स्वभावसुन्दराणां विकृतिरपि श्रियं तनोति । अतः स्वेदस्यापि विभूषणत्वमुपपन्नम् इति भावः ॥ ५ ॥

देव वधूटियों का श्रम जल कण उन के स्तनों को रोमाञ्चित कर दिया था । उससे उनके भाल के तिलक भी मिट रहे थे । वे मोती की तरह झलक रहे थे । उस समय वे (श्रम कण) उन के अलङ्कार का कार्य कर रहे थे । क्योंकि स्वाभाविक मनोरम वस्तुओं में यदि कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो उससे उनकी शोभा ही होती है ॥ ५ ॥

राजद्भिः पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चिः स्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम् ।
तेजोभिः कनकनिकाषराजिगौरैरायामः क्रियत इव स्म सातिरेकः ॥६॥

राजद्भिरिति ॥ मरुतां पथ्याकाशे राजद्भिर्दीप्यमानैरभिन्नरूपैरविच्छिन्नाकारैरत उल्कानामर्चीषीव स्फुटगतीनि दीप्तमार्गाणि येषां तैः । कनकस्य निकाषः कषणं तस्य राजी रेखा तद्वद्गौरैररुणैः । 'गौरः पीतेऽरुणे श्वेते' इति विश्वः । ध्वजांशुकानां तेजोभिः पताकाकान्तिभिरायामस्तेषामेव दैर्घ्यं सातिरेकः सातिशयः क्रियते स्मेव कृत इव । दीर्घा ध्वजपटाः स्वतेजःप्रसारेण दीर्घतमा इव कथ्यन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । सा चोल्कायुपमानुप्राणिता ॥ ६ ॥

विमानस्थ पताकाओं के वस्त्रों की दीप्तियां नील नभ में विशोभित हो रही थीं । सबों के आकार एक से थे । तारों की गति सदृश उनकी भी गति व्यक्त थी । वे कसौटी पर घिसी हुई सुवर्ण रेखा के सदृश अरुण वर्ण की थीं । वे (पताकाओं की कान्तियाँ) उन पताकाओं के वस्त्रों की लम्बाई और चौड़ाई को अधिक विस्तृत की तरह बना रही थीं ॥ ६ ॥

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य ।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ॥७॥

रामाणामिति ॥ मास्यैव मास्य तस्य सौकुमार्यमवर्जितं यम तस्मिन्। कुसुमादपि सुकुमार इत्यर्थः। रामाणां वपुष्यातपस्य। कृयोगे कर्मणि षष्ठी। सहत इति सह सम पचाद्यच। तस्य भाव सहत्वम्। तत्सम्बन्धे सत्यधिगतविस्मये सम्प्राप्ताश्चर्यं गन्धर्वविधातुर्विधिषु सृष्टिषु कल्याणी साधीयसी। उपकारकत्वादिति भाव। विधिज्ञता नानाविधत्वं प्रतीयेऽनागता ज्ञाता। प्रतिपूर्वादिण कर्मणि लिट् ॥ ७ ॥

गन्धर्वों ने देखा कि स्त्रियों की शरीर ने सुकुमारता में फूलों को भी मात किया है तथापि धूप सहने की शक्ति इनमें कापी वर्तमान है। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें यह प्रतीति हुई कि ब्रह्मा को सृष्टि-रचना-कुशलता बड़ी कलाव प्रशंसनीय है ॥ ७ ॥

सिन्दूरैः कृतरुचय सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्त ॥
सादृश्य ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदै पयोदैः ॥ ८ ॥

सिन्दूरैरिति ॥ सिन्दूरैर्नागसम्भवाख्यै रागद्रव्यै। सिन्दूर नागसम्भवम् इत्यमर। कृतरुचय। अलङ्कृता इत्यर्थ। सह हेम्न कक्ष्याभिर्मध्यबन्धनै सहेमकक्ष्या। तेन सहेति तुल्ययोगे इति बहुव्रीहि। कक्ष्या प्रकोष्ठ हर्म्यादे काञ्च्यां मध्येभबन्धने इत्यमर। स्रोतोभि कटविवरनिर्गतैर्धाराभि। कराटकटाभ्यां नेत्राभ्यां च मदच्युति इति यादवकाव्ये। मदासारभ्राम्यामित्यर्थ। मद क्षरन्तो वर्षन्त्रिदशगजा अरुणस्यार्कस्यांशूनां रागेणारुण्येन भिन्नै संसृष्टैर्वर्षद्भि स्फुरितशतह्रदै स्फुरिततडिद्भि पयोदै सादृश्य ययुरित्युपमालङ्कार ॥ ८ ॥

(जब देवताओं के हाथी जो सिन्दूर से सुशोभित किये गये थे और सोने की सांकल से जिनकी पेटी बंधी हुई थी वे अपने अङ्गों से मद स्राव करते हुए उन मेघमण्डलों के सदृश दिखलाई पड़ते थे जिन पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों और रह रहकर चपला (बिजली) चमक जाती हो तथा जो वारि धारा वर्षण कर रहे हों तात्पर्य यह है कि हाथी काले २ बादल के समान थे उनका सिन्दूर रञ्जित अलङ्कार सूर्य के किरणों की समानता कर रहा था और सोने की सांकल बिजली के समान थी और मद स्राव जल वृष्टि सदृश था ॥ ॥

अत्यर्थ दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य।
आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मिं त्रिदशनदीं ययुर्बलानि ॥ ९ ॥)

अत्यर्थमिति ॥ बलानि सैन्यान्यत्यर्थं दुरुपसदादुष्प्रसहादहिममयूखमण्डलस्य सूर्यबिम्बस्य पर्यन्तात्समीपाद्दूरमुपेत्यागत्याशानामुपरचितां गुम्फितामेकवेणीमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा। रम्या ऊर्मयस्तरङ्गा यस्यास्तां त्रिदशनदीं मन्दाकिनीं ययु प्रापु ॥ ९ ॥

वह सुरसाजनों की सेना प्रखर सूर्यमण्डल के समीप से दूर जाकर देव सरिता (गङ्गा) के पास पहुंची जिसमें मनोहर तरङ्ग उठ रहा थीं। आकाश गङ्गा का जल स्वच्छ

नील वर्ण दिखलाई पड़ता था जिससे वह (आकाश गङ्गा) दिशा रूपी सुन्दरी की उपरचित एक वेणी की भांति प्रतीत होती थी ॥ ९ ॥

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि ।
कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः सन्तापं विरमयति स्म मातरिश्वा ॥

आमत्तेति ॥ आमत्तैर्भ्रमरकुलैराकुलान्युद्धूतान्युत्थापितानि ग्रथितान्यन्योन्यसम्बद्धानि च रजांसि येषु तानि पङ्कजानि धुन्वन्कम्पयन् । सुरभिरित्यर्थः । गगननदीतरङ्गैः शीतो मातरिश्वा वायुः । कान्तानां सन्तापं विरमयति स्म शमयामास । मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा श्वयतीति वेति मैत्रका ॥ १० ॥

उसके (आकाश गङ्गा के) लहरों से शीतल वायु, जिस पर मतवाले भ्रमरों के समूह से व्याप्त कमलों के जमे हुए पराग उद्विग्न हो गये थे, उड़ता हुआ अबलाओं के सन्ताप को शान्त कर दिया ॥ १० ॥

सम्भिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनुपदवीं विमानपङ्क्तीः ।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभिः ॥११॥

सम्भिन्नैरिति ॥ इभतुरगावगाहनेन हस्त्यश्वावलोडनेन सम्भिन्नैः संक्षुभितैः सुरापगायाः पयोभिः कर्तृभिः । पदवीमनु । पदव्यामित्यर्थः । 'कर्मणेत्यनुसूत-' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । उर्वीर्विपुला विमानपङ्क्तीः प्राप्य । तदेव पूर्वं तत्पूर्वमिव प्रथमं यथा तथाकाशगङ्गायास्तटाभावादिति भावः । वप्रान्तेषु रोधोभूमिषु स्खलितानि तैर्विवर्तनं मत्स्यावृत्तिर्वप्रान्तस्खलितविवर्तनं तटान्तर तिवर्तनम् । 'वप्र पितरि केदारे वप्रः प्राकाररोधसोः' इति वैजयन्ती । प्रतिविदधे चक्र इत्यतिशयोक्तिः ॥ ११ ॥

सुरनदी (आकाश गङ्गा) के जल, हाथी और घोड़ों के जल क्रीडा से क्षुब्ध होकर रथों की पंक्तियों से, जो तट पर अवस्थित थीं, टकरा कर लौट आये, यह तट जाकर टकराना और फिर लौट आना उनके लिये बिल्कुल नया था (क्योंकि आकाश गङ्गा तो आकाश में प्रवाहित होती है । आकाश में तट कहाँ ? उन देव वधूटियों के रथ पंक्तिबद्ध होकर खड़े थे वैही तट के समान बन गये जिससे गङ्गा के जल क्षुब्ध होकर टकराये) ॥ ११ ॥

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु ॥१२॥

क्रान्तानामिति ॥ ग्रहैः सूर्यादिभिश्चरिताद्गाहितात् । कर्मणि क्तः । पथो मार्गात्क्रान्तानां निष्क्रान्तानामक्षाग्रकाधारा दार्वविशेषास्तेषामग्रैः क्षता दारिताः सुरवेश्मवेदिका यैस्तेषां रथानां प्रधिभिर्नेमिभिश्चक्रान्तैः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । संपीडेन नोदनेन क्षुभितानि जलानि येषां

नेतु तोपदेषु निःसङ्गप्रसक्तिभावात् यथा तथा विवृत्तिं परिक्रमणमुपाददे स्वीकृतेत्यर्थः । स्वभावोक्त्या लक्ष्यते ॥ १२ ॥

सूर्यादि ग्रह जिस मार्ग से घूमते हैं उसे पार करके रथों ने अपने धुरियों से उभय पार्श्व के देवताओं के भवनों के चबूतरों को भ्रष्ट भ्रष्ट कर दिया । उनको नेमिधाराओं ने (पहियों ने) बादलों को रगड़कर उनके जल को चूस कर बड़े वेग से आगे बढ़ना शुरू कर दिया ॥ १२ ॥

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ॥ १३ ॥

तप्तानामिति ॥ विषाणभिन्नाः शृङ्गक्षतास्तटाः । विषाणं दन्तश्रृङ्गयोः' इति हलायुधः । अतएव क्षरन्तः स्रवन्तो घनास्तेषां सुरकरिणां प्रह्लादमुपदधिरे चक्रिरे । तथाहि । परोपकारे युक्तानामासक्तानां महतां सतां रुजत्स्वपि पीडयत्स्वपि विषये कल्याणी हितकारिणी खलु प्रवृत्तिर्व्यापारो भवतीत्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । ततो युक्तं मेघानां गजदन्तक्षतानामपि तदाह्लादकत्वमिति भावः ॥ १३ ॥

रथ की पहियों ने तो उन्हें केवल रगड़ कर छोड़ ही दिया परन्तु देव-हाथियों ने बादलों को दन्त प्रहार से क्षत कर दिया जिससे जल स्रवण करने लगा (चूने लगा) वे हाथी धूप तपे हुए थे अतः उसी जल से शान्त होकर अतीव प्रसन्नता को प्राप्त हुए । सत्य है जो लोग दूसरों के उपकार करने के लिये तत्पर रहते हैं वे महानुभाव कष्ट दिये जानेपर भी अपने विचार में परिवर्तन नहीं करते ॥ १३ ॥

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं संजज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः ॥ १४ ॥

संवातेति ॥ संवाता सम्यग्वहता । वातेर्गत्यर्थाच्छतृप्रत्ययः । अनिलेन । कामिनेवेति भावः । दिव्यस्त्रीणां जघनेषु वरं श्रेष्ठे वरांशुके तस्मिन्विवृत्तिमपसारं मुहुर्नीयमाने सति पर्यस्यत्प्रसरत्पृथु विशालं मणिमेखलांशुजालमूर्वोर्युतकं वस्त्रान्तरमिव । युतकं संशये युग्मे यौतके चलनेऽपि च इति विश्वः । अन्तरे भवमन्तरीयमधोंऽशुकम् । 'गहादिभ्यश्च' इति छप्रत्ययः । अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके इत्यमरः । संजज्ञे संजातम् । जनिधातोः कर्तरि लिट् । उपमालङ्कारः ॥ १४ ॥

गतिशील पवन ने कामी पुरुष की तरह देव सुर रमणियों के जघनाच्छादी वस्त्रों को बार २ उड़ाकर दूर हटा दिया फिर भी रत्न जटित मेखला से स्फुरण करता हुआ महान् प्रभासमूह उनके जघन प्रदेश को ढकने (साया) की तरह ढक लिया (जिससे वे नग्न न होने पायें) ॥ १४ ॥

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः ।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान्बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः ॥

प्रतीति ॥ तुषारपातैः शीकरवर्षैः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति विश्वः । प्रत्यार्द्रीकृततिलका मार्जितविशेषका अपि शमितपरिश्रमाः प्रह्लादमानन्दं दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् । कर्तरि षष्ठी । बहुमतिं सम्मानमाययुः । तथाहि । अल्पीयानल्पो दोषो बहु प्रभूतं सुकृतमुपकारं न हिनस्ति न हन्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

वारिदों (बादलों) ने वृष्टि करके सुर वधूओं के तिलक को मिटा दिया था (यह तो उन्हों ने अपराध किया) और उनके थकावटों को दूर कर आनन्द पहुँचाया इससे वे उनके अतिशय सम्मान के पात्र बन गये क्यो कि अल्प अपराध प्रभूत उपकार को नष्ट नहीं करता ॥ १५ ॥

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले ।
आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां संधानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम् ॥१६॥

यातस्येति ॥ ग्रथिततरङ्गः बद्धोर्मिः यत्सैकतं तस्यामेवाभा यस्य तस्मिन्निभासानि पयांसि यस्मात्तस्मिन्विपयसि निर्जले । 'शेषाद्विभाषा' इत्यादिना विकल्पात्स समासान्तः । उर प्रभृतिपाठस्तु पय शब्दस्यैकवचनान्तस्यैवेति न कश्चिद्विरोधः । वारिवाहजाले मेघवृन्दे विच्छेदं त्रुटिं यातस्य सुरधनुषः इन्द्रचापस्य त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां अङ्गसक्तिनिभूषामणीनामित्यर्थः । प्रभा कान्तयः सन्धानमातेनुश्चक्रुः । अत्राभरणप्रभाणामिन्द्रधनुः सन्धानासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ।

निर्जल मेघ मण्डलों पर जो लहरियों के बार २ लहराने से लहरों के चिह्न से चिह्नित पुलिन प्रदेश के सदृश खण्ड २ हो गये थे, उनपर इन्द्रधनुष खण्डित की तरह हो गया था । उसे देवताओं की रमणियों के शरीर पर धारण की हुई मणियों की प्रभाओं ने पूरा कर दिया ॥ १६ ॥

संसिद्धाविति करणीयसंनिबद्धैरालापैः पिपतिषतां विलङ्घ्य वीथीम् ।
आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः ॥१७॥

संसिद्धाविति ॥ संसिद्धौ कार्यसिद्धिविषये इतीत्थम्भाविना प्रकारेण । कर्तव्यमिति करणीयं तेन संनिबद्धैः । तद्योग्यैरित्यर्थः । आलापैराभाषणैरुपलक्षितया । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । दशशतानि संख्या येषु तानि लोचनानि यस्य सः । सहस्रलोचन इत्यर्थः । तस्य ध्वजिन्या सेनया पिपतिषतां पक्षिणां वीथीं मार्गम् । 'पतत्रिणो नभसङ्गमाः' इत्यमरः । 'तनिपति-' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । विलङ्घ्य जीमूतैर्जीवस्योदकस्य मूतः पटबन्धो येषां तैः । पृषोदरादित्वात्साधुः ।

अपिहितसानुराश्चाक्रितटः । उभत इत्यर्थ । इन्द्रकील आसेदे प्राप्तः । सीदते कर्मणि लिट् ॥ १७ ॥

मरुत्सख (इन्द्र) की सेना कार्य सिद्धि के लिये—कैसे ? और क्या ? करना चाहिये ? इस तरह का परस्पर वार्तालाप करती हुई पक्षियों के मार्ग को पार करके इन्द्रकील पहाड़ पर पहुंची जिसके शिखर बादलों से आच्छन्न थे ॥ १७ ॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।
सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ॥१८॥

आकीर्णेति ॥ विलासिनीनां मुखनलिनैः । उपमितसमास । आकीर्णा व्याप्ता उद्धूतान्यूर्ध्वमुत्क्षिप्तानि स्फुटान्यसङ्कुचितानि विशदातपत्राणि श्वेतच्छत्राणि फेना इव यस्यास्तथोक्ता तूर्यध्वनितवत्कल्लोलगभीरं यथा स्यात् तथा भूभर्तुरिन्द्रकीलस्य शिरस्यापतन्ती सा सेना नभोनदीव रेजे ॥ १८ ॥

इन्द्रकील के शिखर पर उतरी हुई वह (अप्सराओं की सेना) आकाश गङ्गा की तरह सुशोभित होने लगी । वह सेना युवतियों के मुखकमल से व्याप्त हुये [illegible] शुभ्र आतपत्र (सफेद छाते) रूप फेन से युक्त और अनेक प्रकारके तूर्यादि बाजाओं की गम्भीर ध्वनि से गूंजती हुई सी थी ॥ १८ ॥

सेतुत्वं दधति पयोमुचां विताने संरम्भादभिपततो रथाञ्जवेन ।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गाः ॥१९॥

सेतुत्वमिति ॥ पयोमुचां विताने सेतुत्वं दधति सति संरम्भादाटोपाज्जवेनाभिपततः । मेघवृन्दमध्वरीकृत्य धावत इत्यर्थः । तथाभूतान्रथानियमितैराकृष्टै रश्मिभिः प्रग्रहैर्भुग्ना आकुञ्चिता घोणाः प्रोथा येषां ते । कुटिलितमुखाः । आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यमरः । किरणप्रग्रहौ रश्मी इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अवनमन्तीत्यवनामिनोऽवनतपूर्वकायास्तुरगाः कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेन क्षितिमानिन्युरिति स्वभावोक्तिः ॥ १९ ॥

वे (रथ में जुते हुए) घोड़े बादलों के पुञ्ज पर से जो पुल सा अन्तरिक्ष से इन्द्रकील तक विस्तृत था शीघ्रता होने के कारण अत्यन्त वेग से उतरते [illegible] रथों को बड़ी कठिनाई से भूमि पर पहुँचाये । रास के अधिक खिंचाव के कारण उन घोड़ों के नासिका का अग्रभाग टेढ़ा हो रहा था और वे अपने सम्पूर्ण अङ्गों का बल अग्रभाग के अङ्गों पर सम्हाले हुए थे ॥ १९ ॥

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ॥२०॥

माहेन्द्रमिति ॥ माहेन्द्रं नगमभित इन्द्रकीलाभिमुखम् । अभितः परितः इत्या-

दिमा द्वितीया। विदोऽन्तरिक्षात्पतन्तोऽवतरन्त पर्यन्तस्थिता पार्श्वस्था जलदा येषा ते करेणुवर्या करेणुषु वर्या । श्रेष्ठा इत्यर्थ । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् 'सप्तमी' इति योगविभागात्सप्तमीसमास । निलयने स्थाने निष्प्रकम्पपक्षैर्निश्चलपक्षैर्जलनिधिशायिभिर्गिरीन्द्रैर्मैनाकादिभि साधर्म्यमाजग्मुरित्युपमा ॥ २० ॥

इन्द्र कील (गिरि) की तरफ नभोमार्ग से अवतरण करते हुए मतवाले हाथी, जिनके अगल बगल में बादलों के टुकड़े चिपक रहे थे, समुद्र में शयन करने वाले सपक्ष पर्वतों की तरह दिखलाई पडते थे। जिन (पर्वतों) के पक्ष आश्रय स्थान में निश्चल रहते हैं अर्थात् आकाश से उतरते हुए हाथी बादलों के पटलों को तोडफोड कर आ रहे थे ऐसा अवस्था में कुछ टुकडे उनके दोनों तरफ चिपके हुए थे जो सपक्ष मैनाक पहाड के सदृश मालूम पड़ते थे ॥ २० ॥

उत्सङ्गे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्ताना वियदभिपातलाघवेन ।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्री खुरपदवी तुरङ्गमाणाम् ॥ २१ ॥

उत्सङ्ग इति ॥ महाद्रेरुत्सङ्गे मूर्ध्नि समसमविषमे सम च विषम च निम्नोन्नत तस्मिन् । द्वन्द्वैकवद्भाव । वियदभिपातलाघवेन गगनसञ्चारपाटवेन सममेकरूपम् । आरोहावरोहरहितमित्यर्थ । क्रान्ताना गच्छता तुरङ्गमाणा खुरपदवी खुरपङ्क्तिरुपनदि नदीसमीपे । 'अव्ययीभावश्च' इति नपुसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । सैकतेष्वामूलामूलमारभ्य । आदित आरभ्येति यावत् । समग्रस्य भाव सामग्री साकल्यम् । भावे ष्यञ् । ङीप् । लेभे । सैकतादन्यत्र निम्नेषु गगनचारेण समखुरस्पर्शाभावाद्विच्छिन्ना खुरसरणि । सैकतेषु तु सर्वत्र समत्वादविच्छिन्नेत्यर्थ ॥ २१ ॥

उस महान् पर्वत (इन्द्रकील) के ऊबड खाबड (ऊँचे नीचे) शिखर पर पहुँच कर आकाश मार्ग से चलने में सुविधा के कारण चढाव उतराव से रहित आकाश पथ से पारकर के घोडे सुरनदी के तट पर पहुचे वहाँ बालुका प्रदेश में उनके खुरों के चिह्न प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दिखलाने लगे और उन्नत अवनत भूमि पर उनके खुरों की छाप नहीं पडती थी क्योंकि वे उस मार्ग को त्याग कर आकाश मार्गानुसरण करते थे ॥ २१ ॥

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः सम्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥ २२ ॥

सध्वानमिति ॥ सध्वान सशब्द निपतिता निर्झरा प्रवाहा यासु तासु । 'प्रवाहो निर्झरो झर' इत्यमर । अधित्यकासु नगोर्ध्वभूमिषु । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमर । 'उपाधिभ्या-' इत्यादिना त्यकन्प्रत्यय । मन्द्रैर्गम्भीरै । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमर । प्रतिनिनदै प्रतिध्वानै सम्मूर्च्छन्वर्धमानो रथाना ध्वनिर्घनरवशङ्कया मेघगर्जितभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कार । उद्ग्रीवैर्मयूरै सोत्कण्ठमुपशुश्रुवे उपश्रुत । शृणोते कर्मणि लिट् ॥ २२ ॥

उस महान पर्वत की चोटियों पर शब्द करते हुए झरने प्रवाहित हो रहे थे उनके गम्भीर प्रतिध्वनियों से सम्वर्धित रथों की घर्घराहट को मयूरों ने मेघ गर्जन के भ्रम में पड़कर अपनी गर्दन ऊपर उठाकर बड़ी उत्कण्ठा से सुना ॥ २२ ॥

सम्भिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भःस्रुतिमवलोकयाम्बभूवुः ॥ २३ ॥

संभिन्नामिति ॥ अविरलपातिभिर्निरन्तरप्रसारिभिरुपमेखलम् । तटेष्वित्यर्थः । अथ मेखला । श्रोणिस्थानेऽद्रिकटके कविबन्धेऽसिबन्धने इति यादवः । नीलानां मणीनां मयूखैर्भृशं सम्भिन्नामेकीभूतामत एव नभोन्तराले विच्छिन्नामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । वप्राम्भःस्रुतिं वप्रोदकधारां वनिता अवलोकयाम्बभूवुः । वप्राम्भःस्रुते स्वधवलिमत्यागेन मणीकान्तौ नीलिमस्वीकाररूपतद्गुणोत्थापिता विच्छेदोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । तेन च नैल्यविच्छेदभ्रमरूपो भ्रान्तिमान्व्यज्यते ॥ २३ ॥

देव वधुओं ने ऊपर से नीचे के गड्ढे में गिरते हुए निर्झरों के प्रवाह को आकाश के अन्तराल में देखा कि वे बीच से टूट हो गये हैं क्योंकि उस स्थल के निचले भाग में नील मणियों की किरणें लगातार निकल रही थीं उनसे प्रवाह भी नीले रंग का हो गया था (जिससे उन्हें यह भ्रम हुआ । वस्तुतः प्रवाह कहीं से खण्डित नहीं था) ॥ २३ ॥

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
सव्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथञ्चिदीषुः ॥ २४ ॥

आसन्नेति ॥ धुरं गतास्तेषां धूर्गतानां नियन्तॄणां धियमवमत्यावज्ञायासन्नायां द्विपपदव्यां वनगजमार्गे यो मदानिलस्तस्मै क्रुध्यन्तस्तं प्रति कुप्यन्तः । 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । सव्याजं सकपटं निजकरिणीभिरात्तचित्ता आकृष्टचित्ताः सुरकरिणो देवनागाः प्रस्थानं गमनं कथञ्चित्कष्टेनेषुरभिलेषुः ॥ २४ ॥

(उन अप्सराओं की सेना के) मतवाले हाथी समीप के जङ्गली हाथियों के मार्ग के मदों से अति क्रुद्ध होकर अपने महावतों की आज्ञा की अवज्ञा कर अपनी हथिनियों के द्वारा कपट किये जाने पर आसक्ति से आकर्षित होकर बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ने के लिये तैयार हुए (अर्थात् मार्ग में जङ्गली हाथियों के मद गिरे हुए थे उन्हें सूँघकर वे हाथी मतवाले होकर अपने महावत की बात पर ध्यान नहीं देते थे । तब उनके महावत (छलकपट ने) हथिनियों को उनके आगे कर देते थे और वे अपने हथिनी प्रेम से उनके चित्त को अपनी तरफ खींच लेती थीं फिर उनकी लालच में पड़ कर वे किसी तरह आगे बढ़ने के लिये तैयार होते थे ॥ २४ ॥

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्गक्लृप्तं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती ।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या ॥ २५ ॥

नीरन्ध्रमिति ॥ नीरन्ध्रं सान्द्रं पथिषु रथाङ्गैश्चक्रैर्भृशं प्रेरितम्। 'धुतत्नुघास्त-निष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः। पर्यस्तप्रसर्पन्नवसलिलमिवारुणं रजो वहन्ती सा वाहिनी सेना। घर्मान्ते प्रावृषि क्षुभितकूला। कलुषोदकेत्यर्थः। जह्नुकन्या गङ्गेव। वनानि फलकुसुमप्रधानानि, गहनानि जीर्णारण्यानि च तानि वनगहनान्या-न्नैने व्यानशे। अत्र समासगतवाक्यगतोपमयोः सजातीययोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥२५॥

वह देवसेना मार्ग में रथों के पहियों से उड़ी धूल से खूब व्याप्त होकर प्रवहणशील नूतन जल के सदृश धस्त वर्ण की हो गई थी। वह ग्रीष्मावसान काल में कलुषितजला जाह्नवी की तरह फलफूल से भरे हुए तथा बहुत प्राचीन वने जङ्गलों में चारों तरफ फैल गई ॥ २५ ॥

सम्भोगक्षमगहनामथोपगङ्गं बिभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि।
अध्यूषुस्च्युतकुसुमाचिता सहाया वृत्रारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम् ॥२६॥

सम्भोगेति॥ अथ वृत्रारे शक्रस्य सहायाः सचिवा गन्धर्वा उपगङ्गं गङ्गासमीपे। अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम्। सम्भोगक्षमगहनामुपभोगयोग्यवना ज्वलिता मणयो येषु तानि सैकतानि बिभ्राणाम्। कृग कर्तरि शट प्रत्ययः। च्युतैः स्वयं पतितैः कुसुमैराचिता व्याप्तामविरला सान्द्रा शाद्वलाः शाद्वमायप्रदेशा यस्यां सा ता धरित्रीमध्यूषुरधितस्थुः। वसतेर्लि आधिक्यात्सम्प्रसारणम्। अत्र धरित्रीविशेषणा-र्थानामधिवाससहेतुत्वादनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २६ ॥

इन्द्र के सचिवों ने गङ्गा के समीप एक जगह, जहाँ की भूमि उपभोग्य वनों से युक्त थी शिविर बनाया उस भूमि में बहुत से बालुकामय प्रदेश थे जिनमें चमकदार बहुत से रत्न पड़े हुए थे। स्वयं वृक्षों से गिरे [illegible] फूल उसपर बिखर रहे थे उस पर खूब घने तृण भी उगे हुए थे ॥ २६ ॥

भूभर्तुः समधिकमाद्धे तदोर्व्यां श्रीमत्ता हरिसखवाहिनीनिवेशः।
संसक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयापि योगः ॥२७॥

भूभर्तुरिति ॥ तदा हरिसखवाहिनीनिवेशो गन्धर्वसेनाशिबिरम्। 'निवेशः शिबि-रोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति यादवः। भूभर्तुः पर्वतस्योर्व्यां समधिकं पूर्वस्मा-दभ्यधिकं यथा तथा श्रीमत्तां श्रियमित्यर्थः। आदधे जनयामास। तथा हि महोदयानां महात्मनां संसक्तौ सम्यक्सम्बन्धे। 'सम्पृक्तौ' इति पाठे तु सम्यक्संसे-वायाम्। किमसुलभम्। न किञ्चिद्दुर्लभमित्यर्थः। यतः—यदृच्छया दैवाद्योगोऽप्यु-च्छ्रायमुत्कर्षं नयति। अत्र प्रकृतयदृच्छया योगस्योत्कर्षाभिधानादप्रकृतशक्तियोग-स्योत्कर्षाधायकत्वे कैमुतिकन्यायेनार्थापत्तिरिति प्राकरणिकादप्राकरणिकरूपार्थापत्तिर-लङ्कारः। तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा पतेत्। कैमुत्येन यतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ २७ ॥

उस समय इन्द्र के मित्रों की सेना का शिविर इन्द्रकील पर्वत की भूमि की शोभा को पहले से भी अधिक मनोरम बना दिया। क्योंकि महापुरुषों के संसर्ग होनेपर कौन ऐसी वस्तु है जो दुर्लभ है। आकस्मिक सम्पर्क भी उत्कर्ष की वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

सामोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः सम्पत्तिः किसलयशालिनी लतानाम् ।
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥२८॥

सामोदा इति ॥ सामोदाः ससौरभाः कुसुमप्रधानास्तरवः । शाकपार्थिवादिवत् समासः । तेषां श्रियः सम्पदो विविक्ता विजनप्रदेशाः । विविक्तौ पूतविजनौ इत्यमरः । किसलयशालिनीलतानां सम्पत्तिरेताः अमराङ्गनोपभुक्ताः सत्यः साफल्यं ययुः । तथा हि । यया लक्ष्म्या करणेन परेषामुपकुरुते । लक्ष्मीवानिति शेषः । सा लक्ष्मीर्नान्येति भावः । परेषामित्यत्र 'उपकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यादिवत्क्रियायोगे हि सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ॥ २८ ॥

सौरभसम्पन्न पुष्पप्रधान वृक्षों की शोभा तथा निर्जन प्रदेश और नूतनपल्लवों से युक्त लताओं की सम्पत्ति ये सब सुरसुन्दरियों के उपभोग से सफल हो गये (नहीं तो जंगल में इन्हें कौन पूछता? और ये यों ही अपनी शोभा और सम्पत्ति को खो बैठतीं) वही सम्पत्ति सम्पत्ति है जो औरों का उपकार करे ॥ २८ ॥

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तात् लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम् ।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् ॥२९॥

क्लान्त इति ॥ क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तादग्रे लीनानां संश्लिष्टानामहीनां श्वसितैर्निःश्वासैर्विलोलाः पल्लवा येषां तेषां चन्दनानां सम्पर्कं हतविनयैर्दुर्जनैरिवावृतानां सेव्यानां प्रभूणां सम्पर्कमिव परिहरति स्म । दुर्जनयुक्ताः सद्गुणाढ्या अपि त्याज्या इति भावः ॥ २९ ॥

जिस तरह दुष्टों के साथ रहने के कारण सज्जनों का भी लोग परित्याग कर देते हैं वैसे ही थकी हुई भी देवाङ्गनायें आगे के समस्त चन्दन वृक्षों का सम्पर्क छोड़ दीं क्योंकि उसपर लिपटे हुए सर्पों के फुफकार से उसके पल्लव चञ्चल हो रहे थे। (इस बात को सभी लोग जानते हैं कि चन्दन के पेड़ पर सर्प का वास रहता है) ॥ २९ ॥

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम् ।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ॥ ३० ॥

उत्सृष्टेति ॥ उत्सृष्टा आक्षिप्ता ध्वजाः कुथा आस्तरणानि कङ्कटास्तनुत्राणानि च येभ्यस्ते । प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः इत्यमरः । विदितनयैः शिक्षाभिज्ञैर्यन्तृभिः श्रमं विनेतुं श्रममपनेतुं धरित्रीमानीता । निवेश्यमाना इत्यर्थः ।

द्विपा युगान्तवातैरारिक्ताद्युद्धृतानि द्रुमाणां गहनानि वनानि येभ्यस्ते पर्यस्ता विपर्यासिता गिरय इव विरेजुः शुशुभिरे ॥ ३० ॥

गज शास्त्र वेत्ता महावतों ने हाथियों की थकावट दूर करने के लिये उन पर से ध्वजा, झूल, कवचादि सामग्रियों को उतार कर पृथ्वी पर रख दिया। उस क्षण वे उन पर्वतों की तरह इधर उधर पड़े रहे जिनके घनेरे वृक्षों के वन प्रलय कालीन झञ्झावात से उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं और पर्वत भी उठाकर जहां कहीं भी फेंक दिये जाते हैं ॥ ३० ॥

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिना क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे ॥ ३१ ॥

प्रस्थानेति ॥ गजपतिना प्रस्थानश्रमेण गमनक्लेशेन जनितां निद्रां विहायामुक्तेऽत एव सदानपङ्के गजमदयुक्ते शय्यान्ते शयनीयप्रदेशे क्षणं विलीनं लग्नमलिना कुल संरम्भेणोत्थानसम्भ्रमेण च्युतं भ्रष्टं शृङ्खलं निगडमिवेत्युत्प्रेक्षा। 'अथ शृङ्खले। अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः। चकाशे शुशुभे ॥ ३१ ॥

(सेना के पक्ष) गजराज को मार्ग की थकावट से निद्रा आगई। निद्रा भङ्ग के बाद उसने शयन प्रदेश का परित्याग किया। वहां पर मद के बहने से कीचड़ हो गया था। उसपर भ्रमर टूट पड़े थे। उस समय भ्रमरों की पंक्ति इस प्रकार सुशोभित होने लगी मानों गजराज के वेग से उठने के कारण उनके पग की शृङ्खला टूट कर पड़ी हुई हो ॥ ३१ ॥

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा सम्प्राप्तुं वनगजदानगन्धि रोधः।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधुन्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः ॥ ३२ ॥

आयस्त इति ॥ वनगजदानस्य गन्धोऽस्यास्तीति तथोक्तं रोधः। परकूलमित्यर्थः। सम्प्राप्तुं गन्तुमायस्त उत्सुकः। प्रयत्नं कुर्वाण इत्यर्थः। 'यसु प्रयत्ने' इति धातोः कर्तरि क्तः। किन्तु सुरसरिदोघेन गङ्गाप्रवाहेण रुद्धं वर्त्म यस्य सः। नागो गजो निहितो धृतः शितस्तीक्ष्णोऽङ्कुशो यस्मिन्। 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। तं मूर्धानं विधुन्वन्। रोषादिति भावः। यन्तारं न विगणयाञ्चकार न विगणयामास ॥ ३२ ॥

दूसरा हाथी गङ्गा के अपर तट को जो जङ्गली हाथी के मद से सुरभित था पाकर (उनसे लड़ने के लिये) उस तट पर पहुंचने के लिये परमोत्सुक हो गया फिर गङ्गा के प्रवाह से उसका मार्ग रुका हुआ था (अतः उस पार न जा सका) उसके शिर पर (महावत के द्वारा) तीक्ष्ण अङ्कुश प्रहार होते समय वह (केवल) शिर हिलाता हुआ महावत को कुछ नहीं समझा ॥ ३२ ॥

आरोढुं समवनतस्य पीतशेषे साशङ्कं पयसि समीरिते करेण।
सम्भालक्षणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकरः करेणोः ॥ ३३ ॥

आरोढुरिति ॥ समयवशस्य जलपानसमानतपुष्करस्य करेणोर्गजस्य । 'करेणु रिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । करेण पीतस्य तोये पयस्यारोढुर्हस्तिपकात्साशङ्कं समय समीरिते । स्थिते सतीत्यर्थः । शीकरोऽम्बुकणः । अरुणे मदस्रुती मदधारे ययोस्तौ । कपोलौ संमार्जन् प्रमृजन् । 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते' इति वृत्तिः । मद इव सस्यन्दे सुस्राव । मदसंस्कस्य मदस्राववत्त्वान्मदोपमा ॥ [illegible] ॥

जलपानार्थ झुके हुए तीसरे हाथी ने अपनी सुण्ड से जल पान किया । फिर हाथ वाले महावत से डरते हुए उसने ऊपरको उठा दिया । उस जल के कण अरुण-मद-धारी कपोलों को धोते हुए मद के सदृश टपकने लगे ॥ २३ ॥

आघ्राय क्षणमतितृष्यतापि रोषादुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन ।
सम्पृक्तं वनकरिणा मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ॥२४॥

आघ्रायेति ॥ अतितृष्यताप्यतिपिपासतापि क्षणमाघ्राय रोषादुत्तीरं परतीरे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निहिते विवृत्ते घूर्णिते लोचने यस्य तेन । सविलासदृष्टिपातेनेति भावः । वारणेन हिमं शीतलमपि वनकरिणो मदाम्बुसेकैर्नाचेमे सम्पृक्तं वारि नाचेमे न पीतम् । 'चमु अदने' इति धातोः कर्मणि लिट् ॥ २४ ॥

(इस सेना का कोई और) हाथी जो अत्यन्त तृषार्त था तो भी जङ्गली हाथियों के मद से मिश्रित जलको सूंघ कर (इस सरिता के) दूसरे तट की तरफ क्रोध पूर्ण दृष्टि से घूरने लगा । उसने शीतल जल होते हुए भी उसे न पिया ॥ २४ ॥

प्रच्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा ।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥२५॥

प्रच्योतन्निति ॥ क्रीडन्तो विहरन्तो गजपतयो निम्नगाया नद्याः पयांसि प्रच्योतद्भिः क्षरद्भिर्मदैः सुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कैः केसरैर्व्यवहितास्तिरोहितास्ताम्रास्ताम्रवर्णा दानलेखा मदराजयो येषु तैरत एव सरसिजगन्धिभिः कपोलैरुपलक्षिताः सन्त उत्तेरुर्निर्जग्मुः । अत्र मदसरसिजयोर्गन्धयोः समयोर्विनिमयोक्त्या समपरिवृत्तिरलङ्कारः । तेन च गजानां निम्नगायाश्च परिमलव्यत्ययान्तरसरम्भो व्यज्यते ॥ [illegible] ॥

(कुछ) हाथियों के राजाओं ने नदी भागीरथी के जलको अपने क्षरण करते हुए मद [illegible] सुगन्ध पूर्ण बनाते हुए जल से बाहर आ गये उनके कपोलों की अरुण मद रेखा कमल-केसर से आच्छादित हो गई और उन कपोलों से कमल की गन्ध आने लगी ॥ २५ ॥

आकीर्णं बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गितं तटेषु ।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे ॥२६॥

आकीर्णमिति ॥ घनारुणेन सान्द्रलोहितेन । विशेषणसमासः । बलरजसा सेनापरागेणाकीर्णं सपदि प्रक्षोभैरास्फालनैस्तटेषु तीरेषु तरङ्गितं सञ्जाततरङ्गम् । [illegible]-

द्विवादितच्। यद्वा। तरङ्गकल्कुतम्। मत्वन्तात् 'तत्करोति—' इति णिचि कर्मणि क्तः। णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक्। तथा मातङ्गैरुन्मथितानां लुलितानां सरोजानां रेणुभिः पिङ्गं पिशङ्गमम्बु माञ्जिष्ठेन महारजनेनारक्तं माञ्जिष्ठं वसनमिव निर्बभासे 'तेन रक्तं—' इत्यण्। 'कौशेयम्' इति वा पाठे 'कोशाड्ढञ्'। 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः ॥ ३६ ॥

जाह्नवी का जल, जो अत्यन्त अश्व वर्गों की सेनासम्बन्धिनी धूल से भर गया था, और क्षुब्ध होने से तट पर हिलोरें ले रहा था, राक्त वर्ण हो गया फिर हाथियों की क्रीडा से उन्मथित कमल के पीले पराग से मिश्रित होकर वह मजीठ के रङ्ग में रंगे हुए वस्त्र की तरह दिखलाई पड़ने लगा ॥ ३६ ॥

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तैः संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम्।
सम्प्रापे निसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा॥ ३७॥

श्रीमद्भिरिति ॥ श्रीमद्भिः शोभावद्भिर्नियमिता कन्धरा अपरान्ताश्चरमपादाश्च येषां तैः। 'अपरं पश्चिमं पादः' इति वैजयन्ती। अगुरुवनेषु साङ्गहारं साङ्गविक्षेपं यथा तथा संसक्तैर्निसृतानि प्रसृतानि मदाम्बूनि येषां तैर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिनो जलस्राविणः प्रचलिता ये गण्डशैलाश्च्युतोपलास्तेषां शोभा सम्प्रापे प्राप्ता। कर्मणि लिट्। 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः। अत्रान्यशोभामाप्यसम्भवात्तत्सदृशी शोभेति प्रतिबिम्बनाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ३७ ॥

(सेना के) वे गजराज, जो पिछले पैर और कन्धे में जंजीर लगाकर चन्दन के वृक्षों में बांध दिये गये थे (किसी तरह छुटकारा पाने के लिये) प्रयत्न कर रहे थे। उनसे मद की धारा बह रही थी। उस समय उनकी शोभा उन पर्वतों के समान हो रही थी जिनसे बड़े २ पत्थर की शिला टूट २ कर गिरती हो और साथ ही साथ झरने भी झरते हों

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम्।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ॥३८॥

निःशेषमिति ॥ गन्धं वहतीति गन्धवाहो वायुः। कर्मण्यण्। निःशेषं यथा तथा प्रशमितो रेणुर्येन तन्मदजलं स्रोतोभिर्मदनाडीभिरजस्रमुज्झतां वर्षतां वारणानां सम्बन्धिनं व्यवहितस्तिरस्कृतो भूरिर्बहुलः पुष्पगन्धो येन सः। भिन्नाः फुल्ला एला लताविशेषाः। 'पृथ्वीका चन्द्रवालैला' इत्यमरः। तत्पुष्पाणि चैलाः। 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीह्यः फले' इत्यमरः। भिन्नैलावत्सुरभिं घ्राणेन्द्रियतर्पणमित्युपमा। आमोदं परिमलमुवाह वहति स्म ॥ ३८ ॥

उस देवसेनाके हाथी निरन्तर अपने सातों नाड़ियों के द्वारा मदक्षरण कर रहे थे जिससे सम्पूर्ण धूलि शान्त हो गयी। उस मदगन्ध से बहुत सी फूलों की सुगन्धि छिप गई थी और वह इलायची के गन्ध से मिलती जुलती थी। उसे गन्ध के वोढा (ढोने वाले) पवनदेव ने ग्रहण किया ॥ ३८ ॥

सादृश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि ।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकण्ठान्कच्छान्तानमरमहेभबृंहितानि ॥ ३९ ॥

सादृश्यमिति ॥ गभीरमेघघोषैः सादृश्यं दधति सादृश्यं दधतीत्युपमा। दधतीति शतृप्रत्ययः। 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पान्नुमभावः। उन्निद्राः प्रबुद्धाः क्षुभिताः संरब्धाश्च ये मृगाधिपाः सिंहास्तैः श्रुतान्याकर्णितानि। न तु प्रतिशब्दानीति भावः। अमरमहेभबृंहितानि सुरगजगर्जितानि कच्छान्तानन्पप्रदेशान्। 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः। चकिता गर्जितशङ्कया सम्भ्रान्ताश्चकोराः पक्षिविशेषा नीलकण्ठा मयूराश्च येषु तांस्तथाभूतानातेनुः। भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३९ ॥

देवताओं के विशाल हाथियों की चिंघाड़ जिन्हें निद्रा का परित्याग करके भय क्षुब्ध होकर सिंहों ने सुना गम्भीर मेघ गर्जन के सदृश थी। इसने सुरसरिता के कच्छ में निवास करने वाले चकोर और मयूरादि पक्षियों को भी आश्चर्य चकित कर दिया ॥ ३९ ॥

छायावसक्तकमनीयपरिच्छदानामध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम्।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां लक्ष्मीः पुरोपवनजा वनपादपानाम् ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तमः सर्गः ।



छायेति ॥ परिच्छदः परिकरे वस्त्रादावपि। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः। 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इति ह्रस्वत्वम्। छायास्ववसक्ताः कमनीयाः परिच्छदा येषां तेषामध्वश्रमेणातुरैः पीडितैर्वधूजनैः सेवितानां निवेशनविभागरचनाविशेषैः परिष्कृतानामलङ्कृतानाम्। 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इत्यादिना सुट्। वनपादपानामरण्यवृक्षाणां पुरे पत्तने उपवनं कृत्रिमवनं तत्र जाता पुरोपवनजा लक्ष्मीः शोभा जज्ञे जाता। अत्रान्योन्यलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो निदर्शना। वसन्ततिलकावृत्तम्— 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

वनवृक्षों की डालियों में (सुराङ्गनाओं के) सुन्दर २ परिधान लटक रहे थे। मार्ग की थकावट से चूर-चूर होकर सुरवधुयें उन्हीं वृक्षों के नीचे विश्राम कर रही थीं। वृक्षों के नीचे की भूमि का भाग जितने में वे लोग वास करना चाहती थीं झाड़ बुहार कर साफ कर दिये गये थे। अतः उनकी शोभा नगर के उपवनों के सदृश हो गई ॥ ४० ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त ।



अ : सर्गः ।

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनम् ।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ निवेशनानन्तरं सुराङ्गना अप्सरसः स्वमायया स्वेच्छाविशेषेण कृतैर्निर्मितैर्मन्दिरैरुज्ज्वलं दीप्तम् । ज्वलन्तो मणयो यस्मिंस्तद्व्योमसदां गन्धर्वाणां सनातनं सदातनम् । 'सायंचिर-' इत्यादिना भवार्थे ट्युप्रत्ययः । गौर्वज्रं तत्पतिरिन्द्रस्तच्चापवर्णानि गोपुराणि यस्य तत्तथोक्तमित्युपमा । पुरं नगरं वनानां विजिहीर्षया वनानि विहर्तुमिच्छया । कर्मणि षष्ठी । जहुस्तत्यजुः ॥ जहातेर्लिट् । अत्र ज्वलज्ज्वलदिति पुरंपुरमिति चासकृद्व्यञ्जनद्वयावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र तद्विपरीत्यावृत्त्यनुप्रास इति तयोपमायाश्च संसृष्टिः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

पक्षों की छाया में निवास करने के अनन्तर सुरकामिनियों ने वन में विहार करने की कामना से अपने नगर का परित्याग किया था । उनका नगर उनकी माया से निर्मित भवनों से दीप्त था । उसमें चमकते हुए रत्न भरे थे । यह गन्धर्वों का सनातनी नगर था । इसके फाटक इन्द्रधनुष के समान विविध रत्नों से विभूषित थे ॥ १ ॥

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुधः ।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणाः क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम् ॥ २ ॥

यथायथमिति ॥ यथास्वं यथायथम् । स्वकीयमनतिक्रम्येत्यर्थः । 'यथास्वं तु यथायथम्' इत्यमरः । अव्ययीभावस्तु इत्यार्थम् । नभश्चरैर्गन्धर्वैः सहिता प्रभाभिः स्वदीप्तिभिरुद्भासिताः शैलवीरुधो याभिस्ताः पूर्वोक्ता वनजायतेक्षणाः पद्मलोचनाः स्त्रियो वनं विशन्त्यः । क्षणं द्युतिर्यासां तासां क्षणद्युतीनां विद्युतामेकरूपतां समानरूपतां दधुः । मुहुर्मुहुर्मध्यान्तरालेऽपि तासां स्फुरणस्य क्षणिकत्वादिति भावः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा । श्लेषत्वमिति केचित् । उभयथाप्यनुप्रासेन संसर्गः ॥ २ ॥

कमल के सदृश विशाल नेत्रों वे सुरसुन्दरियाँ अपने अपने (प्रिय) गन्धर्वों के साथ अपनी कान्तियों से पर्वत और वृक्ष-लताओं को उद्भासित करती हुई वन में जिस समय (विहारार्थ) प्रवेश कर रही थीं उस समय विद्युल्लता की सी शोभा वहन करती थीं ॥ २ ॥

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः ।
नितम्बिनीनां भृशमादधे धृतिं नभःप्रयाणादवनौ परिक्रमः ॥ ३ ॥

निवृत्तेति ॥ निवृत्तो गतो वृत्तस्य वर्तुलस्योरुपयोधरस्य क्लमो यस्मिन्सः । पादप्रक्षेपेषु विश्रान्तिसम्भवादिति भावः । किञ्च । प्रवृत्तो जातो निर्ह्रादिविभूषणानां नूपुरादीनामारवो यस्मिन्सः । अवनौ पृथिव्यां परिक्रमः सञ्चारो नितम्बिनीनां नभःप्रया-

णादृष्टशमधिकम् । पञ्चमी विभक्ते इति पञ्चमी । इति सन्तोषमादधे । अत्र विधि रूप रसस्य सम्पादानहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३ ॥

जिन वनाङ्गनाओं को आकाश में । से यात्रा करने की अपेक्षा भूमि पर परिभ्रमण करना अधिक सुखावह हुआ । उस भूमी के परिक्रम से उनके गोद गोद ओर और स्तनों की थकावट दूर हो गई थी । वनमें उनके नूपुरों की मधुर ध्वनि हो रही थी ॥३॥

धनानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः ।
पुरोऽभिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥ ४ ॥

धनानीति ॥ धनानि सान्द्राणि । न तु विरलानि । करप्रचेयानि हस्तमात्राण्य पुष्पाणि । 'कृत्यैरधिकार्थवचने' इति तृतीयासमासः काम कुसुमानि बिभ्रतो नव कुसुमिताञ्छाखिनस्तरूनपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरोऽग्रेऽभिसस्रेऽभिसृतम् । भावे लिट् । तथा हि । कामिनो गुणेष्वतिशयवत्सु विषय उत्तरमुत्तरम् । वीप्सायामव्ययीभावः । यथोत्तरमिच्छा येषां ते यथोत्तरेच्छा उत्तरोत्तराभिलाषुका हि । अत्र परिकरोऽर्था पितोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

उन हौल्के वन पथ के वृक्ष मधुर परिमाण में पुष्प धारण कर रहे थे । उनके पुष्प हाथ से उपलब्ध हो सकते थे । तथापि सुरसुन्दरी जना ने उन पुष्पों का परित्याग कर आगे चलने के लिये ही यत्न किया कारण यह है कि कामी जन सर्वदा गुणों की अधिकता की खोज में लगे रहते हैं (उपस्थित गुणों से उन्हें सन्तोष नहीं होता) ॥ ४ ॥

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः ।
विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहृताः सिषेविरे ॥ ५ ॥

तनूरिति ॥ विलेपनामोदैर्हृता आकृष्टा वनालयो वनभ्रमरास्तनूः कृशा अलक्तैररुणाः पाणय एव पल्लवा यासां ताः स्फुरन्तो नखांशूत्करा शुभ्रा एव मञ्जरीस्ता बिभ्रतीति तथोक्ताः । क्विप् । विलासिनीनां बाहव एव लतास्ताः सिषेविरे । अत्र समस्तवस्तुविषयरूपकालङ्कारः । बाहूनां लतात्वेन पल्लवादीनामपि निरूपणादिति ॥ ५ ॥

वनके भ्रमरों ने सुगन्धिपूर्ण अङ्गरागों से मुग्ध होकर उन सुराङ्गनाओं की कृश भुजलताओं का सेवन किया । जिसमें महावर के लेप से अरुण वर्ण के पल्लव के समान हथेलियाँ थीं । जिनके नखों से किरण मञ्जरी की तरह निकल रही थीं ॥ ५ ॥

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥ ६ ॥

निपीयमानेति ॥ शिलीमुखैरलिभिः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । निपीयमानाः स्तबका गुच्छा यस्याः सा । चला बालपल्लवा यस्याः सा । अतएवामन्द दष्ट ओष्ठो यस्मिंस्तत्करावधूननं करकम्पनं विडम्बयन्ती । स्तबकपानेनौष्ठदशनं

पल्लवचलनेन करावधूननमनुकुर्वतीत्यर्थः । धूञो भ्वन्ताल्लट् । विधि धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्य । अशोकयष्टि अशोकशाखेत्यर्थः । मधुपवेदेः संघे घञ । अत्र विडम्बयन्तीति प्रस्तुताशोकशाखाविशेषणभूतोपमामहिम्नाप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरुपमानतयैवोपमयाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ ६ ॥

भ्रमरों ने अशोकलता के पुष्प गुच्छों का मकरन्द पान कर लिया था। उस (अशोक लता के कोमल पल्लव विशाल इस तरह हिल रहे थे जैसे तोषक कोप-दशा के कारण (भ्रमरों को दूर भगाने के लिये) का मनियों के हाथ इधर-उधर सञ्चालित होते हैं। (यह दृश्य सुरवधुओं के लिये बड़ा ही मनोरम था) ॥ ६ ॥

अथ कश्चिन्मधुकराक्रान्तां काञ्चिदाह—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथ न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः ॥ ७ ॥

करावित्ति ॥ मानपरिहारेण मधुपापनयने तु न कश्चिदुपाय इत्याशयेन सम्बोधयति—हे मानिनीति । नवपल्लवस्याकृतिरिवाकृतिर्ययोरित्युपमा । तौ करौ धुनाना । धूञ कम्पने शानच् । वृथा व्यर्थं परिश्रम मा कृथा मा कुरुष्व । करोतेराशीरर्थे माङि लुङ् । वृथात्वे हेतुमाह—कल्पलताभिशङ्कया कल्पवल्लिभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः । उपेयुष्युपगता षट्पदावलिः कथं न्वितस्त्रस्यति बिभेति । न त्रस्यत्येवेत्यर्थः । 'वा भ्राश-' इत्यादिना विकल्पेन श्यन्प्रत्ययः । अत्र कान्तापरिश्रमवैयर्थ्यरूपवाक्यार्थस्य षट्पदावलेः कल्पवल्लीभ्रमनिबन्धनवित्रासरूपकारणस्यसमर्थनात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासो भ्रान्तिमताङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्णः । स चोपमया संसृज्यते ॥

किसी युवती को भ्रमर पंक्ति घेरे हुई है उस पर कोई व्यक्ति कह रहा है —

हे मानशालिनि, अपने हाथों को नये नये पल्लवों के समान इतस्ततः सञ्चालन करके व्यर्थ का कष्ट मत उठाओ। यह भ्रमर पंक्ति कल्पलता के भ्रम में पड़कर तुम्हारे समीप आई हुई है। क्यों डरती हो ॥ ७ ॥

अथ काञ्चिदसखी काञ्चिदनयकुपितामाह—

जहीहि कोप दयितोऽनुगम्यता पुरानुशेते तव चञ्चल मन ।
इति प्रिय काञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः ॥ ८ ॥

जहीहीति ॥ प्रियमुपैतु स्वयमेवानुसर्तुमिच्छतीम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । काञ्चिन्नायिकां निपुणश्चतुरः सखीजनः । कोपं जहीहि त्यज । 'आ च हौ' इति विकल्पादीकारादेशः । दयितोऽनुगम्यतामनुसृज्यताम् । उभयथापि प्रार्थनायां लोट् । अन्यथा चञ्चलमस्थिरं तव मनः पुरानुशेतेऽनुशयिष्यते । अनुतप्स्यत इत्यर्थः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् । इत्थमनेन प्रकारेण पुरः पूर्वमेवानुनिन्ये प्रसादयामास ॥ ८ ॥

एक रमणी अपने प्रिय से क्रुद्ध हो गई है इस पर एक सखी कह रही है —

मान छोड़दो। प्रिय का अनुसरण करो। तुम्हारा मन छो एक पहलू पर नहा रह मग्ता आगे चल कर मालूम होगा इस प्रकार से एक चतुर सखी ने अपनी सखी को जो अपने प्रिय के पास जाना [illegible] चाह ी थी समझा बुझाकर पहिल ही से प्रसन्न कर दिया ॥ ८ ॥

अथ चतुर्भिः श्लोकैः कलापकमाह—

समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः ।
प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः ॥ ९ ॥

समुन्नतैरिति॥ समुन्नतैः काशाख्यतृणकुसुमानि तानि दुकूलानीव तैः शालन्त इति तथोक्तैः। सारसपङ्क्तयो मेखला इव ताः परिक्वणन्त्यो येषु तैस्तैः स्वेषां कल आणि श्रोण्यास्तद्वच्चारवस्तैः । कलत्रं श्रोणिभार्ययो इत्यमरः । प्रतीरदेशैर्विभूषिता- स्तत्प्रदेशैर्भूषिताः । कुञ्जसमुद्रयोषितः । नद्य इत्यर्थः । अत्र तीरादीनां कलत्रादी- पम्योपमेयत्वाद्योषित्वशब्दसामर्थ्याच्च नदीनां योषिदौपम्यं गम्यते ॥ ९ ॥

नौ सरित थें अपने ऊँचे २ तटप्रदेश से सुशोभित हुई। वे त निर्मलिनम्प्रा से जो वस्त्र के समान था सुशोभित हो रहे थे। उस तट पर कलकूजन करती [illegible] सारसों की पंक्ति करधनी के समान शोभित हो रही थी। वे तट नितम्बिनी के नितम्ब के समान सुशोभित हो रहे थे॥ ९ ॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुषश्च्युताः प्रवाहादभितः प्रसारिणः ।
प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः ॥१०॥

विदूरेति ॥ विदूरपातेन भिदां भेदम् । विच्छिदादिभ्योऽङ् । उपेयुष उपगताय प्रवाहाच्च्युता अतएवाभितः प्रसारिणः प्रसर्पन्त इति प्रियाया अङ्क उत्सङ्ग इव शीता शीतलाः शुचीनां मौक्तिकानां त्विष इव त्विषो यषां ते किञ्च वनस्य प्रहासा इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । वारिबिन्दवः । अत्रोपमयोत्प्रेक्षयोरपेक्षाभावात्संसृष्टिः ॥ १० ॥

उन्नत प्रदेश से गिरने के कारण सरिता–प्रवाह खण्ड खण्ड हो रहे थे। उन प्रवाहों से च्युत होकर चलकण इतस्ततः फल रहे थे। वे मनोरमा प्रिया के अङ्क के समान शीतल थे। उनमें शुभ्र मोती की कान्ति के सदृश कान्ति थी जिससे वे वना के प्रहास के सदृश लक्षित हो रहे थे ॥ १० ॥

सखीजनं प्रेम गुरूकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तयः ।
स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभिः पुष्पविलोचनैर्लताः ॥ ११ ॥

सखीति ॥ द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ येषां ते द्विरेफाः । भ्रमरशब्देन तदर्थो लक्ष्यते । 'द्वयक्षरं मासमिति विदधाति' इति भाष्यकारः । स्थिरा निश्चला द्विरेफा एवाञ्जनानि तैः शारितानि शबलीकृतान्युदराणि येषां तैः । 'शार शबलवातयोः' इति विश्वः ।

विसारिभिर्विस्तृतैः पुष्पाण्येव विलोचनानि तैः प्रेम्णा गुरुकृत आदरो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा सखीजनं निरीक्षमाणाः पश्यन्त्य इव स्थिताः । कुतः । नम्रमूर्तयोऽवनताङ्ग्यो लताश्च । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ११ ॥

लतायें फूली हुई थीं । वे पुष्पों से लदी हुई थीं । पुष्पों पर मधुकर मुग्ध होकर अविचल भाव से मकरन्द पान कर रहे थे । इस दृश्य के देखने से यह मालूम पड़ता था कि मानो लतायें, निश्चल भ्रमरालि रूप अञ्जन से अञ्जित, विशाल, पुष्प रूप नेत्रों के द्वारा प्रेमाधिक होने के कारण अतिशय आदर के पात्रभूत सखी वर्ग को देख रही हैं ॥ ११ ॥

उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जह्रुः सुरराजयोषिताम् ।
कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दनाः ॥ १२ ॥

उपेयुषीणामिति ॥ मदेनारुणैरव्यक्तरागैः । 'अव्यक्तरागस्त्वरुणः' इत्यमरः । करिणां कपोलानां काषैः कषणैरुपाहितश्यामरुचो जनितकृष्णवर्णा इति तद्भूषणालङ्कारः । चन्दना मलयजाः । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । बृहतीरधित्यका ऊर्ध्वभूमीरुपेयुषीणां सुरराजयोषितां मनांसि जह्रुः । अत्र चतुरस्रशोभया मधाक्षीणां विविधानामेवाप्सरोमनोहरणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमुक्तमेयम् ॥ १२ ॥

इन्द्रकील पर्वत की विस्तीर्ण चोटी पर पहुँचकर सुराङ्गनाओं का मन वृक्षों की कान्ति को देखकर आकृष्ट हो गया मद से अरुण कपोलों के घर्षण से हाथियों ने उन चन्दनों की कान्ति को श्यामवर्ण कर दिया था ॥ १२ ॥

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमाना प्रसवेन शाखिनाम् ।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छया प्रियाणि चक्रुः प्रणयेन योषितः ॥ १३ ॥

स्वगोचर इति ॥ चित्तहारिणा मनोहरेण शाखिनां प्रसवेन पुष्पजातेन विलोभ्यमाना आकृष्यमाणा योषितः स्वगोचरे स्वविषये । स्वकरप्राप्ये सत्यपीत्यर्थः । प्रसव इति शेषः । उपकर्तुं परिचरितुमिच्छया नभश्चराणां गन्धर्वाणां प्रणयेन सहायहेतुना प्रियाणि चक्रुः । स्वकरग्राह्यमपि प्रसवं स्वकान्तप्रियार्थं तदीयमानमेवाग्रहीषुरित्यर्थः ॥

उस इन्द्रकील की अधित्यका पर वृक्षों में सुन्दर सुन्दर फूल खिले हुए थे सुराङ्गनायें वृक्षों के मनोहर पुष्पों से मोहित हो गयी थीं । उनके करों द्वारा वे पुष्प सुलभ्य थे तथापि वे (अप्सरायें) परिचर्याभिलाषी गन्धर्वों की सहायता स्वीकृति द्वारा उन्हें (गन्धर्वों को) प्रसन्न की अथात् स्वय पुष्प चयन न करके अपने प्रिय सहचरों के द्वारा चुने हुए पुष्पों को ही ग्रहण करती थीं ॥ १३ ॥

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥१४॥

प्रयच्छतेति ॥ कुसुमानि प्रयच्छता ददता दयितेनोच्चैरुच्चैस्तरां विपक्षगोत्रं सप-

स्त्रीनामधेयं लम्भिता प्रापिता । तन्नाम्नाहूतेत्यर्थः । 'नाम गोत्रं कुलं गोत्रम्' इति शाश्वतः । मानिन्यत एव न किंचिदूचे । कर्तरि लिट् । किन्तु केवलं बाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुवं लिलेख । योषित्सकलजनितेर्ष्यानिमित्तनिर्वेदादिति भावः । मानिन्यत एव न किञ्चिदूच इत्युक्तम् । तदुक्तं दशरूपके— तत्त्वाज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमानना । तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता ॥ इति ॥ १४ ॥

एक अप्सरा जिस समय उसका प्रेमी भ्रम से उसकी सपत्नी के नाम से उसे पुकार रहा था, मानकर कुछ भी नहीं बोली और आँखों में आँसू भरकर केवल पैर से भूमि खोदने लगी ॥ १४ ॥

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया ।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥ १५ ॥

प्रिय इति ॥ वाचं यच्छति ददाति । सम्भाषमाणेऽपीत्यर्थः । दाञः शत्रुप्रत्ययः । पाघ्रा— इत्यादिना यच्छादेशः । प्रिये निबद्धदृष्टिरत एवोन्मुखी । शिथिलः श्लथ आकुलितश्च तारला उच्चयो नीवीबन्धो यस्याः सा । 'नारीकट्यस्त्रबन्धे नीवी स्यादुच्चयोऽप्ययम्' इति माधवः । अपराऽन्या स्त्र्यंशुकं न समादधे न बबन्ध । रागपारवश्यादिति भावः । पुष्पेषु वृथा व्यर्थमाहितमारोपितम् । अवचाये प्रसारितमित्यर्थः । पाणिपल्लवं च न विवेद । प्रियासक्तचित्तत्वादिति भावः । एषा च प्रगल्भा नायिका । पाणिपल्लवम् इत्यत्रान्तरसादृश्यान्मास्त्यर्थसमासाश्रयणसमासस्य सन्देहसङ्करः ॥ १५ ॥

कोई सुन्दरी अपनी प्रिय के वार्तालाप में तन्मनस्क होकर एकटक देखती रही और उसकी तरफ मुख किये खड़ी हो गई । उसकी नीवी (स्त्री के कमर में की वस्त्र की ग्रन्थि) खिसक गई । वह उसे सम्हालना भूल गई । फूलों की तरफ पल्लव के सदृश उसका हाथ ठीक नहीं पड़ रहा था यह भी उसे न मालूम हो सका अर्थात् इतना वह उसकी मधुर आलाप में आसक्त थी कि अपने शरीर की तथा कार्य की भी सुधि उसे न रही ॥ १५ ॥

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम् ।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ॥ १६ ॥

सलीलमिति ॥ आसक्ता लतान्ताः पल्लवा भूषणं यस्य तत् । पल्लवैः सह ग्रथितमित्यर्थः । कुसुमावतंसकं पुष्पशेखरम् । कामप्रचुरमिति भावः । सलीलं सविलासं समासजन्त्या शिरसि प्रतिबध्नत्या । 'इकारस्य बाधितः' इति नलोपः । कान्तया कश्चित्स्तनाभ्यामुपपीड्येति स्तनोपपीडम् । 'सप्तम्यां च—' इत्यादिना णमुल्प्रत्ययः । नितम्बिना । प्रशंसायामिनिः । घनेन निबिडेन जघनेन । पश्चादितरस्य स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः इत्यमरः । नुनुदे नुन्नः । कंदर्पकारित्वादिति भावः । एषा च प्रगल्भैव ॥ १६ ॥

किसी और सुराङ्गना ने प्रियतम के द्वारा समर्पित अत्यन्त कोमल पत्तों से युक्त पुष्पाभरण को शिर पर धारण करती हुई वक्षस्थल की शोभा में न्यूनता देख अपने मनोरम स्थूल जघनों को दिखाकर प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट कर (खींच) लिया ॥ १६ ॥

अथ युग्मेनाह—

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा ।
वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥ १७ ॥
विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोऽधिनाथस्य मनः समाददे ॥ १८ ॥

कलत्रेति ॥ विलोलनीविना स्रस्तनीविग्रन्थिना कलत्रभारेण श्रोणिभारेण । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । तथा गलत्स्रस्तमानं दुकूलं याभ्यां ताभ्यां स्तनाभ्यां शालत इति तथोक्तेनोरसा तथा वलिव्यपायेन वलिविभङ्गेन स्फुटा रोमराजिर्यस्मिंस्तेन निरायतत्वात्प्रसारितत्वात्ताम्यता तनुभवतोदरेण चोपलक्षितया । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १७ ॥

विलम्बमानेति ॥ विलम्बमानो विप्रलम्बमान आकुलो विलुलितश्च केशपाशो यस्यास्तयाविष्कृतबाहुमूलया प्रदर्शितकक्षप्रदेशया कयाचित्कान्तया तरुप्रसूनान्यपदिश्य । प्रसूनग्रहणं व्याजीकृत्येत्यर्थः । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । सादरं साभिलाषं मनोऽधिनाथस्य प्रियस्य मनः समाददे आजह्रे । कर्मणि लिट् । सर्वाङ्गसौष्ठवदर्शनात्तया क्षणं प्रियमनस्तत्रैवेति भावः । अत्र प्रियमनोहरणहेतुत्वेन कान्तादिशोभनपदार्थे कलत्रकिलकिञ्चितमान स्वभावोक्त्या सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १८ ॥

अन्य किसी और अमराङ्गना ने, नितम्ब के भार से जिसकी नीवी (वस्त्रग्रन्थि) ढीली पड़ गई थी, जिसके स्तन निवस्त्र होकर वक्षस्थल की शोभा वृद्धि में लगे हुए थे, और जिसके कृश उदर पर त्रिवली के न रहने से रोमराजि स्पष्ट दृष्टिपथानुवर्तिनी हो रही थी, अपने प्रियतम के मन को फूल ग्रहण करने के बहाने आकृष्ट कर लिया उसने, (इन्हीं बातों से नहीं किन्तु) पीठ पर कटि पर्यन्त लटकते हुये घुँघराले केशों से तथा कक्षप्रदेश को खोल रखने के कारण भी अपने प्रियतम के मन को आकृष्ट कर लिया ॥ १७ ॥ १८ ॥

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मना प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥ १९ ॥

व्यपोहितुमिति ॥ उन्नतौ च पीवरौ च स्तनौ यस्याः सोन्नतपीवरस्तनी । 'स्वाङ्गाच्च—' इत्यादिना ङीप् । काचिल्लोचनतः स्वनेत्रात्पुष्पजं रजः परागं मुखानिलैः फूत्कारमारुतैर्व्यपोहितुमपनेतुमपारयन्तं किलाशक्नुवन्तं । किलेत्यलीके । वस्तुतस्तत्स्पर्शलोभाद्वारयन्तमित्यर्थः । प्रियमुन्मना उत्सुका सत्यत एव पयोधरेणोरसि

जघान । तत्कपटपरिज्ञानजन्मादौत्सुक्यादिति भाव । इवमस्थानत्वादुरसीति सप्तमी । इय च प्रगल्भैव ॥ १९ ॥

यही एक अप्सरा भर्ता की समान नहीं हो जाना किन्तु यही विलक्षण क्रीड़ा है देखिये आपने कभी ऐसा देखा न होगा —

और एक सुरबाला जिसके स्तन उठे हुए और जो कि अपने प्रिय को जो नेत्रों में पड़े हुए पुष्पपराग को मुख के फूंक से निकालने में असमर्थता प्रगट करते हुए की भाँति थे उनके प्राण उत्कण्ठित होकर अपने पयोधर से हृदय ताक कर मारी ॥ १९ ॥

द्रुमान्यमूनीत्यपथर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्रपल्लवं ।
विहाय निःसारतयेव भूरुहाः पदं वनश्रीर्वनितासु सन्दधे ॥ २० ॥

द्रुमानीति ॥ यथाभिरामम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कुसुमान्यग्रपल्लवानि च कुसुमाग्रपल्लवं तस्मिन् । जातिरप्राणिनाम् इत्येकवद्भावान्नपुंसकत्वम् । द्रुमान्यमूनीत्यम् । निर्देशपूर्वकमित्यर्थः । इवशब्दो सन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थे । शनैरपवर्जितेऽपचिते सति वनश्रीर्निःसारतयेवेति हेतूत्प्रेक्षा । भूरुहांस्तरून्विहाय वनितासु पदं सन्दधे । अत्र वनितागतताया पुष्पप्रसाधनसम्बन्धायाः वनश्रियः विषयभूताया निगरणेन विषयत्वमभिधाय वनितागमनत्वेनाऽसम्बन्धे सम्बन्धकथनाऽभेदे भेदकथा चातिशयोक्तिरलङ्कारः । विषयत्वस्तुपादानाद्धेतूत्प्रेक्षयुपनिबध्यते । अत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता ॥ इति लक्षणात्तु प्रेक्षालङ्कारस्या ॥ २० ॥

ये (फूल मुझे दो) उसे (मुझे दो) इस प्रकार से बन वृक्षों के फूल और पत्ते के तोड़ लिये जाने पर उनकी मनोभिरामता नष्ट हो गई फिर वह वनश्री तत्वरहित होने के कारण वृक्षों का परित्याग कर अभी सुरबालाओं का आश्रय ली (अर्थात् उन फूल पत्तों को जिनको सुरनारियों ने तोड़ा था उन्हें यथा स्थान अपने अङ्गों पर धारण किया था इसके अपूर्व शोभा सम्पन्न दिखलाई पड़ने लगी ॥ २० ॥

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः ।
महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ॥ २१ ॥

प्रवालेति ॥ प्रवालभङ्गेन पल्लवखण्डनेनारुणः पाणिपल्लवो यस्य । साधुसरजनादित्वात् । परागेण पुष्परजसा पाण्डूकृतौ पीवरौ स्तनौ यस्य सः । पुष्पैः सुगन्धिः सुरभिरङ्गनाजनो महीरुहो वृक्षाद्वपुर्गुणस्य स्वदेहगुणस्योच्छ्रायं पाणिपल्लवारुण्यादेर्यमुत्कर्षस्तमाददे इवाददानिवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु स्वाभाविक एव प्रवालभङ्गादिभिरभिव्यज्यत इति भावः । उत्कृष्टः श्राय उच्छ्राय इति प्रशस्तेन प्रादिसमासः । न तूप सप्तादच्प्रत्ययः । श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे इति प्रतिषेधात् ॥ २१ ॥

सुराङ्गना लोगों का कर किसलय नये नये पल्लवों के तोड़ने में रंग कर अरुण वर्ण हो गया । पुष्पों के पराग से उनके स्थूल पयोधर पाण्डुरवर्ण के दिखलाई पड़ते थे । फूलों

के धारण करने से उनके अङ्ग सुरक्षित हो रहे थे। मालूम पड़ता था कि शरीर के गुणों की उत्कृष्टता वृक्षों से ही उन्हें प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

पञ्चभिः कुलकमाह—

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रियः ।
समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे ॥ २२ ॥

वरोरुभिरिति ॥ अनुयातुं सानुषु मह्गैमं तत्र सकाशाद्गुरुणा खेदेन मन्थरमलसं विनिर्यतीनां निःसरन्तीनां सुराङ्गनानां सवन्धिभिर्वारणहस्तपीवरैः करिकरस्थूलैः । वराश्च उरवश्चेति तैः । चिराय खिन्नान् । किंच नवपल्लवानां श्रीरिव श्रीर्येषां तान् । तद्वन्मृदूनित्यर्थः । अत एव समे समस्थलेऽपि । किं पुनर्विषम इति भावः । यातुं गन्तुमनीश्वरानशक्तानत एव मदादिव पदे पदे । वीप्सायां द्विर्भावः । प्रस्खलतः स्खलनात् । मदादिवेत्युपमा ॥ २२ ॥

इन्द्रनील के शिखरों पर वे मार्गों का अनुसरण करती हुई सुराङ्गनाओं के नूतन किस-लय के समान कोमल चरण, सुघर जँघाओं से जो हाथी के सूँड के सदृश मांसल थे खिन्न होकर उस शिखर के समतल भूमि पर भी चलने में असमर्थ हो गये और पग पग पर इस प्रकार लड़खड़ाने लगे जैसे मद्यपान करनेसे पैर अपने आप में नहीं रहते ॥ २० ॥

विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।
स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः ॥ २३ ॥

विसारीति ॥ विसारिभिः काञ्चीमणिरश्मिभिर्लब्धया । तज्जनितयेत्यर्थः । मनोहर उच्छ्रायः उत्सेधो येषां तेषां नितम्बानां शोभया करणेन नवसैकतानां द्युतिं शोभां जित्वा स्थितानि । तत्तुल्यानीत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । श्रमेणातिरिक्तैरतिशयि-तैर्गौरवैर्गुरुत्वैरुपलक्षितानि । नितरां भारायमाणानीत्यर्थः । जघनानि च । उत्कृष्टो व्याख्यातः ॥ २३ ॥

सुराङ्गनाओं के जघन करधनी में जड़े हुये रत्नों से निकलनेवाली तथा मनोहर और विशाल नितम्बों की शोभा से गङ्गा के ऊँचे २ कगारों को जिन पर नवीन बालुकायें चमक रही थीं, जीत लिया। मार्ग जनित श्रम से तो वे और भारी हो गये थे ॥ २३ ॥

समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः ।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ॥ २४ ॥

समुच्छ्वसदिति ॥ समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैर्विकसत्कमलमुकुलसुन्दरैरित्युपमा । नाभिभिः प्रतारिकाख्यैः । 'अथ नाभिस्तु जन्तवङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका' इति केशवः । पुंलिङ्गतायां तु कविरेव प्रमाणम् । उपनीवि नीवीसमीपे । उपाहितश्रीणि जनित-शोभानि तथा वलीविभङ्गिषु भिन्नासु मध्येषु अवलग्नकेषु स्तनातिभारान्नम्रतां दधन्ति बिभ्राणानि । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पान्नुमागमः । उदराणि च ॥२४॥

उन सुररमणियों के उदर जिसमें ईषत् विकसित कमल-कुड्मल के समान कोमल नाभि ने नीवी के समीप (वस्त्रग्रन्थि के पास) सम्मुख शोभा स्थापित कर दिया था पीन पयोधरों के भार से नम्रता धारण कर लिये थे। उनके उदर के मध्य भाग त्रिवलियों से विशोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः ।
चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥२५॥

समानेति ॥ किंच घर्माम्बुकणैः स्वेदोदकबिन्दुभिः समन्ततश्चितानि व्याप्तानि । अनुत्फुल्लविलोचनान्यविकसन्नेत्राणि मुखानि तुषारभूषणैः शीकरपरिवृतैः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति यादवः । अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिरविकचदलावलिभिः । 'व्याकोश-विकचस्फुटाः' इत्यमरः । सरोरुहैः समानकान्तीनीत्युपमा । मुखानि च ॥ २५ ॥

(वन विहार के समय) सुराङ्गनाओं के नेत्र और मुख स्वेद-जल-बिंदु से व्याप्त होकर उन कमलों की कान्ति की समानता करते थे। जिनकी पत्रावलियाँ कलियों में सम्पुटित रहती और उनके चारों तरफ तुषार कण विभूषित कर रहे थे ॥ २५ ॥

विनिर्यतीनां गुरुखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मनः ।
सविस्मयं रूपयतो नभश्चरान् विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ॥ २६ ॥

विनिर्यतीनामिति ॥ सविस्मयं यथा तथा पूर्वोक्तरूपाणीति वर्णयतो नभश्चरान् गन्धर्वान् तत्पूर्वमिव तदैव प्रथमं यथा तथेत्युत्प्रेक्षा । ईक्षणादर आलोकनकौतुकं विवेश । पूर्वार्धं व्याख्यातम् । अत्र कुलके स्वभावोक्तिरित्येकवाक्यम् ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वत के शिखरों के मार्ग पर विचरण करती हुई सुरललनाओं के थक जाने से उनकी गति मन्द पड़ गई थी। श्लोक – ५ तक में अप्सराओं के जिन ९ अङ्गों का वर्णन किया गया है उसे गन्धर्वों ने साथ साथ किया। वह अङ्गों को देख कर वे इतने मुग्ध हो गये जैसे उन्होंने उन्हें प्रथम ही बार देखा हो। अतः उन अङ्गों को देखने की उत्कट अभिलाषा ने गन्धर्वों के ऊपर अपना अधिकार जमा लिया ॥ २६ ॥

सम्प्रति सलिलक्रीडावर्णनमारभते—

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः ।
पयोऽवगाढुं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥ २७ ॥

अथेति ॥ अथ पुष्पावचयानन्तरं स्फुरद्भिश्चलद्भिर्मीनैर्विधूतपङ्कजेति । सरसत्वमुक्त शीतत्वोक्तिः । विपङ्कं पङ्करहितम् । विहारयोग्यमिति यावत् । तत्र तीरे स्खलिता विचलिता ऊर्मिसंहतिर्यस्याः सेति स्वच्छत्वोक्तिः । कलहंसनादिनी कादम्बशब्दवतीति वाग्व्यापारोक्तिः । अत एव सुरापगा वधूः सुराङ्गनाः पयोऽवगाढुमवगाहितुम् ।

गाहेरूदित्वादिड्विकल्पः । समाहूतावेवाकस्यामम्भेवेत्युत्प्रेक्षा । 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः । ह्वयतेर्लिट् 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणम् ॥ २७ ॥

यह तो अप्सराओं का वन विहार था अब जल विहार की बारी आई—

सुरनदी (गङ्गा) में मछलियों को चिकन से कमल हिल रहे थे। उनमें कीचड़ नाम मात्र को भी न था, एक के बाद एक लहरों का ताँता लगा हुआ था, कलहंस कल कूजन कर रहे थे। इन सब बातों से यह मालूम पड़ता था मानो गङ्गा उन सुरवधूटियों को जल में स्नान करने के लिये बुला रही थीं ॥ २७ ॥

प्रयान्तघर्माभिभवः शनैर्ययौ विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥ २८ ॥

प्रयान्तेति ॥ प्रयान्तघर्माभिभवः प्रशान्तोष्मबाधः । 'वा दान्तशान्त-' इत्यादिना निपातनात्साधु । शनैर्ययौ मन्दं ववहे । याते क्तप्रत्ययः । परिमृष्टपङ्कजः पद्मगन्धीत्यर्थः । आत्तशीकरः । कृत । तरङ्गमालामन्तरे गोचरः स्थानं यस्य सोऽनिलो विलासिनीभ्यो भुजालम्बं ददाविवेत्युत्प्रेक्षा । शिशिरवायुसम्पर्कात्तासामुत्सुकता इत्यर्थः ॥

(जल विहारार्थ प्रस्थान करते समय) वायु देवता ने धूप के उपद्रव में कमी कर दिया, मन्थर गति धारण कर लिया, और कमलों का स्पर्श कर सुगन्धि भी अपने साथ ले लिया। वे नदी के तरङ्गों के बीच बीच में डेरा डाल रक्खे थे यही कारण था कि वे जलकण भी वहन करते थे। यही पवन देव का स्वरूप था मालूम पड़ रहा था कि उन सुराङ्गनाओं को पार उतरने के लिये वे अपने हाथों का अवलम्बन दे रहे थे ॥ २८ ॥

गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः ।
मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥२९॥

गतैरिति ॥ सुरस्त्रियोऽप्सरसः सहावैः सविलासैर्गतैर्गतिभिः । नपुंसके भावे क्तः । कलहंसानां विक्रमं गतिम् । विलासविधुरमिति शेषः । तथा नितम्बिभिः प्रशस्तनितम्बैः कलत्रभारैः जघनभारैः पुलिनम् । नितम्बभारशून्यमित्यर्थः । तथा दीर्घलोचनैः मुखैः सरोजानि च । अलोचनानीति शेषः । साम्यगुणात् समानगुणत्वान्निरासिरे निरस्तवत्यः । गुणवदगुणयोः कुतः साम्यमिति भावः । अस्यतेः कर्तरि लिट् । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा-' इति विकल्पादात्मनेपदम् ॥ २९ ॥

अमराङ्गनाओं ने अपने सविलास मन्थर गमनसे राजहंसों के गति को, नितम्बशाले जघनों के भार से (नदी के) सैकत प्रदेश को, विशाल नयनों से युक्त मुखों से कमलों को गुणों की समानता होने के कारण जीत लिया। तात्पर्य्य यह कि कलहंस तो केवल मन्द गमन के लिये प्रसिद्ध हैं सुराङ्गनाओं में हाव अधिक था। नदी के पुलिनों को जो उन्होंने जीता उसमें भी कारण यह था कि पुलिन तो केवल ऊँचाई के लिये प्रसिद्ध हैं नितम्ब तो उनकी बराबरी करता था जघन भार विशेष पड़ जाता था। उनके मुख से कमलों की

समानता भी ठीक ही है परन्तु कमलों को तो चंचल नहीं होनी चाहिये के कारण वे उनसे कई गुना बढ़ा हुई थी ॥ २९ ॥

निभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयं पुरो विगाढा सखिभिर्मरुत्वतः ।
कथंचिदाप सुरसुन्दरीजनैः समीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

विभिन्नेति ॥ विभिन्ना विप्लुतसमावा पर्यन्तगा प्रान्तगता मीनानां पङ्क्तयो यस्यां ता । पुरः । मरुत्वतः सखिभिर्मिन्द्रस्य सम्बन्धैर्गन्धर्वैः पुर [illegible] वि गाढा प्रविष्टा । तासां विश्वासार्थं गर्तग्राहादिपरीक्षार्थं चेति भावः । सभी तिभिरप्रविष्टविषयत्वात् समनैः । विगाढेति इति पाठोऽप्ययमेवार्थः । सुरसुन्दरीजनैस्तदेवावगाहनं प्रथमं यथा तथाप एव कथंचिदपि कृच्छ्रेण । आप प्रपेदिरे अयाहिरे ॥ ३० ॥

(उस सरोवर के तट पर पहुंच कर) इन्द्र के मित्र गन्धर्वों ने सबसे पहले जल में प्रवेश किया जिससे यह पता चल जाय कि कहीं जल के भीतर गड्ढा अथवा कोई हिंसक जन्तु तो नहीं है ? फिर डरते डरते अप्सराओं ने भी पानी में किसी तरह पैर रखा। मछलियां का समूह पंक्ति बनाकर तैर रहा था। उसका ताता टूट गया और [illegible] अलग २ हो व में चली गई ॥ ३० ॥

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः ।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरङ्गसंहतिः ॥ ३१ ॥

विगाढेति ॥ प्रयत्नेन संवाहिता क्षेपिता पीवरा स्थूलाः ऊरवो याभिस्ताभी रमणीभिरम्भसि विगाढमात्रे प्रविष्ट एव सति । सुप्सुपेति समासः । मात्रशब्दोऽवधारणे इत्यमरः । विभिद्यमाना स्वयं विशीर्यमाणा । कर्मकर्तरि शानच् । तरङ्गसंहतिस्तीरेषु सारसान् पक्षिविशेषान् । सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः इति यादवः । यद्वा—सारसान् हंसान् । चक्राङ्गः सारसो हंसः इति शाश्वतः । उदस्योत्सार्य विससार विततार ॥ ३१ ॥

सुन्दरियों ने ज्यों ही बड़े परिश्रम से अपनी मोटी मोटी जङ्घाओं को जल में रखा त्यों ही तरङ्गमालायें भिन्न भिन्न होकर तट प्रदेश में जाकर वहाँ सारसों (हंस चकवा सारस इत्यादि) को दूर भगा कर विस्तृत हो गई ॥ ३१ ॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।
तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ॥ ३२ ॥

शिलेति ॥ शिलावद्घनैः कठिनैः । नाकसदां गन्धर्वाणामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैर्महासंस्थानैः । अतिस्थूलैरित्यर्थः । वधूपयोधरैश्च तटमभिनीतेन नीतेन प्रापितेनात एव विभिन्नवीचिना सञ्जातोर्मिणाम्भसा कर्त्रा । रुषेवेति हेतूत्प्रेक्षा । कलुषत्वमाविलत्वं मन-

क्षोभश्च ध्वन्यते । भेजे । कर्मणि लिट् । यथा कश्चिन्मृदुस्वभाव केनचित्कठिनादिना साङ्गभङ्ग ताडयित्वा निष्कासित क्षुभ्यति तद्वदिति भाव । 'कलुषत्वम्' इत्यत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय । अन्यथा शुद्धस्याम्बसाविलत्वस्य रोषहेतुत्वा तुल्येष्वनुविधानादिति ॥ ३२ ॥

उन स्वर्गनिवासियों (गन्धर्वों) के पत्थर की शिला के समान कठोर वक्ष स्थलों तथा रमणियों के पीन पयोधरों से लहरें खण्ड खण्ड होकर तट प्रदेश में पहुँच जाती थीं वहाँ मृत्तिका के सम्पर्क से कलुषित होकर जल को भी कलुष कर देती थीं उस समय विदित होता था कि गङ्गा उनके कार्यों से रुष्ट हो गई हैं ॥ ३२ ॥

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।

अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ॥ ३३ ॥

विधूतेति ॥ विधूता विक्षिप्ता केशा यैस्ते परिलोलिता विलोडिता स्रजो यैस्ते प्रविलुप्तचन्दना प्रमृष्टाङ्गरागा अतिप्रसङ्गादतिपरिचयात् सुराङ्गनानां विहितागस कृतमण्डनभञ्जनरूपापराधा अत एव ऊर्मयस्तरङ्गा सभया इव सभीत्यो भीता इव मुहु प्रकम्पमीयु । स्वाभाविकस्य कम्पस्य भयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते—यद्वा,—सुराङ्गनानां विधूतकेशा इत्यादियोजना । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समास । सीसमहणसाह-समपराध । भय तु राजस्त्रिय इति ॥ ३३ ॥

ऊर्मिलहरा (जलोर्मिय) को लहरों ने अमररमणीयों के केशों को इधर उधर विक्षिप्त कर डाला, उनकी पुष्पमालाओं को चञ्चल कर दिया, और उनके अङ्गराग तथा चन्दनों को मिटा डाला । इस प्रकार उनकी मण्डनसामग्री को नष्ट भ्रष्ट करके वे लहरें अपराधिनी बन गईं इसी से वे डर कर काँपती हुई सी मालूम पड़ने लगीं ॥ ३३ ॥

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।

हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकत्थनीयान्दधुरन्यथा श्रिय ॥३४॥

विपक्षेति ॥ विपक्षस्य सपत्नीजनस्य चित्तानामुन्मथना । व्यथका इत्यर्थ । बहुलग्रहणात्कर्तरि ल्युट् । ये नखव्रणा नखक्षतानि । 'व्रणोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । विभ्रमस्य सौन्दर्यस्य मण्डनम् । तादर्थ्येऽप्यस्ववासादिवत् षष्ठीसमास । न तु चतुर्थीसमासो यूपदार्वादिवत् प्रकृतिविकाराभावादिति । तेन कुङ्कुमलेपादिना तिरोहितास्तज्जला हृतस्य क्षालितस्य कुङ्कुमस्य व्यञ्जकत्वेन शेषानिवावशिष्टलेशानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । विकत्थनीयान् भर्तृत्वाप्रम्यस्य व्यञ्जकत्वेन श्लाघनीयान् । तान् नखव्रणान् । श्रियोऽन्यथा दधु । प्रकाश दधुरित्यर्थ ॥ ३४ ॥

स्नान करते समय सुरसुन्दरियों के शरीर के नखक्षत, जो सपत्नियों को काँटे के सदृश खटकने वाले थे कुङ्कुम केशादि शोभासामग्रियों से तिरोहित कर दिये गये थे । वे जल से धुल कर व्यक्त हो रहे थे तथापि अवशिष्ट कुङ्कुम रेखा के सदृश थे । अत उन्होंने उन्हें

प्रकाशित [illegible] रक्खा। वे (नव भव) उनके प्राणाधार पतियों के द्वारा किये गये थे इस लिये वे उनके भार रखीं थे ॥ ३४ ॥

अथ युग्मेनाह—सरोजेत्यादिना—

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टेः स्विदमू विलोचने ।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसंततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ॥ ३५ ॥
अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम् ।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदाम्बभूवुः सुचिरेण योषितः ॥ ३६ ॥

सरोजेति ॥ अमू पुरोवर्तिनी विलीनषट्पदे ससषट्पदके । सकर्णीनिकटस्थ मनोरथविलयविशुपमाने विशिष्यते । सरोजपत्रे नु । अथवा—विलोलदृष्टेश्चपलदृशः विलोचने स्वित् । नु स्वित् शब्दौ वितर्के । किंच नतपक्ष्मसंततेश्चपलायाः शिरोरुहाः स्वित् निःशब्दं नीरवं च तन्निश्चलं च तद्द्विरेफवृन्दं नु ॥ [illegible] ॥

अगूढेति ॥ किंच अगूढहासो व्यक्तस्मितं तेन स्फुटाः दन्ता केसरा इव यस्य केसरा यस्य तन्मुखं स्वित् । अथवा विकसत्पङ्कजं नु । इतीत्थम् । तदाभेदेति शेष । नलिनीवने प्रलीनां निगूढां सखीं योषितः सुचिरेणाभिविदाम्बभूवुः । विदाम्बभूवुरित्यर्थः । अत्र युग्मे निश्चयान्तसन्देहालङ्कारः ॥ ३६ ॥

एक सखी कमलिनियों में छिपी हुई थी और सब सखियाँ उसे देखती तो अवश्य थीं परन्तु उनको निश्चय नहीं हो पाता था—

सुरांगनायें (अपनी सखी की आँखों को देखकर तर्क करती थीं कि) ये चञ्चलपाणी, मेरी सखी के नेत्र ही हैं ! अथवा कमल के पत्र पर बैठे हुये दो भ्रमर ? ये उसके बिखरे बालों को देखकर कहती थीं—ये उस विलोलनेत्रा के केशपाश हैं ? अथवा भ्रमरों के वृन्द हैं जो स्थिर होकर मौन धारण किये हुये हैं ? फिर उसके मन्दहास को देख वे सब सखियाँ भ्रम में पड़ जाती थीं और कहती थीं कि—यह मुख है जिसमें दाँतों की ज्योति निकल रही है ? अथवा विकसित कमल है जिससे किंजल्क उड़ रहे हैं ? इस प्रकार से सरोजिनी वन के बीच विहरती हुई सखी के अनुसन्धान करती हुई सखियों को कुछ [illegible] के बाद निश्चय हो पाया कि वह उनकी सखी ही है कमल नहीं ॥ ३५–३६ ॥

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥

प्रियेणेति ॥ काचित् प्रियेण संग्रथ्य स्वयमेव रचयित्वा विपक्षस्य नयौ सपत्नीजन-समक्षं पीवरस्तने वक्षस्युपाहितां स्रजं मालां जलाविलाम् । स्वादुतामपीत्यर्थः । तां न विजहौ न तत्याज । न च निर्गुणायां तस्यां का प्रीतिरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह गुणाः प्रेम्णि वसन्ति वस्तुनि न वसन्ति हि । यद् प्रेमास्पदं तदेव गुणवत् । अन्यत्तु गुणवदपि निर्गुणमेव । अत्र तु न वस्तुपरीक्षामपेक्ष्य इति भावः ॥ ३७ ॥

किसी सखी के उरस्थल पर, जो उन्नत स्तनों से मनोरम था, प्रिय ने स्वयं माल्यगुम्फित करके उसकी सौत के सामने ही पहनाया था। यद्यपि वह (माल्य) जल के कारण मसल गया था, तथापि उस सखी ने उसका परित्याग नहीं किया क्योंकि गुण तो प्रेम में निवास करते हैं किसी वस्तु में नहीं (किसी कवि का कथन है,-प्रेम सहित मरिबो भलो जो विष देय बुलाय,) ॥ ३७ ॥

असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्ततां यदेव रोद्धुं रमणीभिरञ्जनम् ।
हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ॥३८॥

असंशयमिति ॥ स्त्रीणां नेत्रशोभार्थमञ्जनधारणमम्बुविहारोपगमाद्रक्तवर्णस्य धारणा सह शुक्लत्वतिरोधाय च निश्चितमित्युत्प्रेक्ष्यते—रमणीभिर्यदञ्जनं न्यस्तम्। तदिति शेषः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। यदञ्जनमुपान्तयो रक्ततां रोद्धुं प्रतिबद्धुमेव न्यस्तम्। न तु शोभार्थमित्यर्थः। अन्यथा रागाभिव्याप्त्या शुक्लत्वतिरोधानं स्यादित्यर्थः। असंशयमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। संशयस्याप्यभावः। नात्र संशयोऽस्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। कुत एतदिति चेत्तस्मिन्नञ्जने सलिलेन हृते क्षालिते सत्यपि रागः पूर्वोक्तः पूर्वोपान्तरक्तता किंतु प्रतिबन्धाभावादुत्थितो नयनेष्वाश्रयेषु शुक्लतां निरास निरस्तवान्। अस्यतेर्लिट्। श्रियं शोभां तु न निरास। अतः शुक्लत्वविरोधिरागनिरोधार्थमेवाञ्जनं स्यात् न तु शोभार्थम्। तस्यास्तदभावेऽपि सद्भावादित्यर्थः। अञ्जनापगमेऽपि नयनानां रागः एवालंकारोऽभूदिति भावः। अत्राञ्जनन्यासमनूद्य तस्य शोभार्थत्वनिषेधेन रागरोधार्थत्वोत्प्रेक्षणमुक्तम्। उत्तरार्धे तस्यैव समर्थनात्। एवमुपान्तरक्ततां रोद्धुं यदञ्जनं न्यस्तमिति सम्बन्धे विध्यनुवादविरोधः स्यात् ॥ ३८ ॥

जल विहार के पहिले सखियों ने अपने अपने नेत्रों में जो काजल लगा रक्खा था वह नेत्र प्रान्त के समीप की अरुणिमा की गति को रोकने के लिये ही था इसमें सन्देह का नाम नहीं क्योंकि जल से उस काजल के धो जाने पर उपान्त प्रान्त की अरुणिमा की गति ने नेत्रों की शुक्लता पर पानी फेर दिया, किन्तु उनकी रमणीयता को अक्षुण्ण रक्खा इसलिये उक्त बात सत्य पूर्ण है ॥ ३८ ॥

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृताः प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः ।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः ॥ ३९ ॥

द्युतिमिति ॥ द्युतिं शोभां तेजश्च वहन्तो वेगिभिर्वेगवद्भिर्जलैर्जडैश्च। डलयोरभेदात्। 'जडं गोकजडे नीरे हिमे च जडोऽन्यवत्' इति विश्वः। प्रलोभान्मोहात्। हृता गृहीता उपप्लुता भ्रंशिताः। यद्वा,-कर्तरि क्तः। भ्रमन्तः इत्यर्थः। अन्यत्र,-धनग्रहणबन्धनादिना पीडिता वनितावतंसकाश्च्युताधिकारा भ्रष्टाधिकाराः सचिवा इव तत्क्षणं शोचनीयतामाययुः प्रापुः ॥ ३९ ॥

सुराङ्गनायें जिन गजरों को अपने २ शिरों पर रक्खा करती थीं। वे गजरे परम सुन्दर दिखलाई पड़ते थे। वेगवान जल से दूर फेंक दिये जाने पर वे उस क्षण उसी शोचनीया दशा को पहुँच गये जिस दशा को एक रागमयी मोह के कारण पत्नी के द्वारा स्थान भ्रष्ट किये जाने पर प्राप्त होता है॥ ३९॥

विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि बिभ्रतीः श्रियम्।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलंकृतं तद्वपुषैव मण्डनम्॥ ४०॥

विपत्रेति॥ विगता पत्रलेखा रचितकस्तूरीविशेषा यासां ता विपत्रलेखाः। निरलक्तकाः क्षालितरागा अधरा यासां ताः। निरञ्जनान्यक्षीणि यासां ता निरञ्जनाक्षीरपि। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्'। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। तथापि श्रियं बिभ्रतीः शोभाकारणाभावेऽपि शोभमाना इति विभावनालङ्कारः। रामा निरीक्ष्य नभश्चरैर्गन्धर्वैस्तासां वपुषैव मण्डनमलङ्कृतम्। न तु मण्डनेन तद्वपुरित्यवबुबुधे इति बुबुधे ज्ञातम्। कर्मणि लिट्। स्वभावरमणीयानां किमलङ्करणैरिति भावः॥ ४०॥

गन्धर्वों ने देखा—युवतियों का तिलक छूट गया है। उनके अधर पर से महावर छूट गई है। उनकी आँखों में काजल भी नहीं रह गया है तथापि उनकी शोभा उनमें वर्तमान है। इससे गन्धर्वों को मालूम हो गया कि भूषण युवतियों को नहीं विभूषित करते प्रत्युत वे ही भूषणों को भूषित करती हैं॥ ४०॥

तथा न पूर्वं कृतभूषणादरः प्रियानुरागेण विलासिनीजनः।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रियं ददाह दृष्टीश्च विपक्षयोषिताम्॥ ४१॥

तथेति॥ विलासिनीजनः पूर्वं जलविहारात्प्राक् प्रियानुरागेण कृतो भूषणेष्वादर आसक्तिर्येन सः। अनुरक्तप्रियतमात्सम्यक्प्रसाधितः सन्नपीत्यर्थः। प्रियस्यानुरागेण च विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीरपि तथा न ददाह न दुःखीचकार। यथा जलार्द्रः सन्। 'नखक्षतेन वक्षस्तानि कुचयुग्मे'। तान्येव मण्डनं तस्य श्रिया। तत्कृतशोभयेत्यर्थः। विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीरपि यथा ददाह तापयामास। मण्डनान्तरादपि नखमण्डनमनुरागादपि तदनुमानं एव सपत्नीनां दुःखहेतुरिति भावः। जलार्द्रो ददाहेति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्यात्तद्विषमालङ्कृतिस्त्रिधा॥ इति लक्षणात्॥ ४१॥

प्रियानुराग के कारण रमणी जनों के विभूषणों को उनके प्रिय सहचरों ने जो सुधार दिया था वह पहले (सुधारते समय) सपत्नियों की आँखों में उतना न खला जितना कि वह रमणीवर्ग का नखक्षतरूप विभूषण से विभूषित हो जल से भींग जाना खला॥ ४१॥

शुभानना साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु ।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ता परभागमूर्मिषु ॥ ४२ ॥

शुभेति ॥ शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्योऽरुणाद्वय । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती । भीरवस्ताः स्त्रियः साम्बुरुहेषु चलाः फेनपङ्क्तयो येषु तेषु हृतानि कुसुमानि यैस्तेषु । कुङ्कुमसकमालत्वेष्वित्यर्थः । ऊर्मिषु विषयेषु । अलमत्यर्थं परभागं गुणोत्कर्षं न लेभिरे । 'परभागो गुणोत्कर्षे' इति यादवः । तासामूर्मीणां चारुणत्वादिगुणसाम्यान्न कश्चिद्विशेषो लक्ष्यत इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः,— 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । शुभाननत्वसाम्बुरुहत्वाद्युभयविशेषणानां क्रमेणोभयस्मिन् समन्वयाद्यथासंख्यालङ्कारश्च । 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः' इति काव्यप्रकाशे लक्षणात् । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४२ ॥

वे सुरसुन्दरियाँ, जिनके मुख कमल के सदृश रम्य थे, जिन्होंने मुक्ताओं का तरल हार धारण किया था, और जो अत्यन्त गौरवर्णा थीं, उन लहरों में जिनमें कमल खिल रहे थे, जिन पर चञ्चल फेनों की रेखा पड़ी हुई थी, और जो सुराङ्गनाओं के कुङ्कुमलेप को प्रक्षालित कर स्वयं अरुण हो रही थीं, अपने तईं उनमें कुछ भी गुणोत्कर्ष न पाईं ॥ ४२ ॥

ह्रदाम्भसि व्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति ।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥ ४३ ॥

ह्रदेति ॥ व्यस्ताभ्यां विपर्यासिताभ्यां वधूकराभ्यामाहते । एकेन कोणेनोत्ता-नौन्येन ताडित इत्यर्थः । ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्धीरं गम्भीरं रवमुज्झति सति । तथा ध्वनति सतीत्यर्थः । मुहुः स्तनैस्तालके तीव्रवाद्यमुत्पन्ना कालपरिच्छेद । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तस्य सममनुरूपं मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितं प्रकम्पः । भावे क्तः । समाददे स्वीकृतम् । उपमालङ्कारः ॥ ४३ ॥

जलविहार करती हुई सुरवनिताएँ गङ्गा के ह्रद-जल में अपने व्यस्त करों से (अर्थात् हथेली नीचे की तरफ करके) अभिघात करती थीं । उस क्षण मृदङ्ग के सदृश गम्भीर घोष निकल रहा था । उनके कुच ताल सम्यानुकूल नृत्यकारी नृत्य के समान बार बार प्रकम्पित हो रहे थे ॥ ४३ ॥

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलंकृताम्बुः प्रतिमागतैर्मुखैः ।
कृतानुकूल्या सुरराजयोषितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥ ४४ ॥

श्रियेति ॥ श्रिया शोभया कमलानि हसद्भिः । कमलसदृशैरित्यर्थः । 'हसती-र्ष्यत्यसूयति' इति दण्डिना सादृश्यपर्यायपरा उक्ताः । सस्मितैः प्रतिमागतैः । प्रतिबिम्बगतैरित्यर्थः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । मुखैरलङ्कृतान्यम्बूनि यस्याः सा । किंच, सुरराजयोषितां कृतमानुकूल्यं विहाराद्युपकारो यया सा । इत्थ

योपिनिस्सक्ता स्वयं च तासामुपचिकीर्षु र्जाह्नवी गङ्गा प्रसादस्य स्वच्छत्वस्य साफल्यम् । अर्थगौरवबलाद्वीसमासनिर्वाह । तथापि । अम्भस्यम्भसि विहारविम्ब अक्ष्णयोरसंभवादित्यर्थ । स्वच्छा एव परोपक्रियन्ते स्वयं चोपकुर्वते तेषामिति भाव । 'कृतानुकारा' इति पाठेऽनुकारोऽनुकूलकरणमुपकार इत्येव व्याख्येयम् । अत्र जाह्नवीविशेषणपदार्थस्य साफल्यं प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ ४४ ॥

जो सुराङ्गनाओं के मुख अपनी कान्ति से कमल को भी हसते थे जो मन्द २ मुस्करा रहे थे और जिनका प्रतिबिम्ब जल में पड रहा था उनसे गङ्गा का जल विशोभित हो रहा था । देवनारियों के विहारानुकूल ही गङ्गा बनी हुई थीं । इससे उसका (गङ्गा) स्वच्छपन सफल हो गया ॥ ४४ ॥

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्राससविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥४५॥

परीति ॥ परित स्फुरद्भिर्विवर्तमानैर्मीनैर्विघट्टिता ऊरवो यासां ता अत एव त्रासविलोलदृष्टयो भयविकसन्नेत्रा कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गना सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययु । किमुत प्रियजनस्येति भाव । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ ४५ ॥

जल विहार करती सुराङ्गनाओं के साथ जल के भीतर तैरती हुई मछलियों से जब ठेस लग जाता था तब वे अकस्मात डर कर और चकपका कर देखने लगती थीं और अपने कर किसलयों को मरमोरने लग जाती थीं । वह दृश्य उनकी सखियों के लिये भी मनोरम हो जाता था । उनके प्रेमियों के विषय में तो कहना ही क्या ॥ ४५ ॥

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी ।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥ ४६ ॥

भयादिति ॥ मानिनी । दुर्ग्रहमानेति भाव । अम्भसि जले झषेण मत्स्येनाहते सति । 'पृथुरोमा झषो मत्स्य' इत्यमर । भयादिव । वस्तुतस्तु न तथेति भाव । किंतु मुदैवानुनयेनैवाश्लिष्य प्रियमानन्दयति स्म । तथा हि—रामा प्रियोऽकृत्रिमोऽनारोपितो य प्रेमरसस्तेनाहितैर्जनितै कृतकै कृत्रिमैरपीहितैश्चेष्टितैर्मनो हरन्ति । आरोपितमपि भयं प्रेममूलत्वान्मनोहरं बभूवेत्यर्थ । अत्राश्लेषानुभावेन भयं सहजरागनिगूहनात्मीलनाख्य अलङ्कार मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणान्तरसंभवादर्थान्तरन्यासेन ससृज्यते ॥ ४६ ॥

एक मानिनी एक मत्स्य के द्वारा जल के आहत होने पर त्रास का अभिनय करती हुई अपने प्रिय का आलिङ्गन की । अत उसके प्रिय को आनन्द की सीमा न रही । रमणियाँ अपने कृत्रिम चेष्टाओं से मन मोह लेती हैं परन्तु जब उसमें नैसर्गिक प्रेम की मात्रा विद्यमान हो ॥ ४६ ॥

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥ ४७ ॥

तिरोहितेति ॥ अपां विगाहान्नितान्तमाकुलैर्विकीर्णैः प्रसारिभिरायतैः । अलकैः केशैः । तिरोहितान्तानि छन्नप्रान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दैरन्तरितानि छन्नानि सरोरुहाणि तैः सरोरुहैस्तुल्यतां ययुरित्युपमालङ्कारः ॥ ४७ ॥

जल विहार करते समय युवतियों के केशपाश, जो इधर उधर छिटक कर चारों तरफ फैले हुये थे, मुख कमलों को ढक दिया, उस समय उन युवतियों के मुख भ्रमरों से व्याप्त कमलों की समानता करने लगे ॥ ४७ ॥

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसम्भ्रमा ।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥ ४८ ॥

कराविति ॥ मानिनी पयस्यगाधे सति । किलेत्यलीके । मज्जनभयादित्यर्थः । जातसम्भ्रमा उत्पन्नभया । अत एव नवपल्लवाकृती करौ धुनाना कम्पयन्ती । धुनोतेः क्र्यादिकात्कर्तरि लट् शानच् । सखीषु विषये निर्वाच्यमवाच्यम् । अनिन्द्यमित्यर्थः । धार्ष्ट्यदूषितं न भवतीति अधार्ष्ट्यदूषितं तत् । वस्तुतो रागमूलमपि भयमूलत्वारोपादिति भावः । प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप । अत्रापि तुल्याङ्गेन भयेनागन्तुकेन सहजानुरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समानलक्षणं वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते । निजेनागन्तुना वापि सन्मीलनमुदाहृतम् ॥' इति ॥ ४८ ॥

एक दूसरी मानवती ने अगाध जल में जाकर डूब जाने के भय से नूतन किसलयाकारी हाथों को झटकती पटकती अपने प्रिय का आलिङ्गन किया । सखियों ने उसपर धृष्टता का दोषारोप नहीं किया ॥ ४८ ॥

प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः ।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥ ४९ ॥

प्रियैरिति ॥ प्रियैः कामिभिः सलीलं करवारिभिरञ्जलिजलैर्वारितोऽवरुद्धः । सिक्त इत्यर्थः । प्रवृद्धैः सततैर्निःश्वासैर्विकम्पितौ स्तनौ यस्य सः । सविभ्रमं सविलासमाधूतानि कराग्रपल्लवानि पाणिपल्लवानि येन सः । विलसनशीला विलासिनी । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः । सैव जनः । जात्यायेकवचनम् । यथार्थतामाप । उक्तरीत्यानेकविलासवत्तया यथार्थनामकत्वमवापेत्यर्थः । 'क्वचिद्गम्यमानार्थस्याप्रयोगः' इति नाम्नो न प्रयोगः । यथा माघे—'विपाम याथार्थ्यमलं स्म दिग्गजे' इति । क्वचित्प्रयुज्यते च, यथा रघुवंशे—'परन्तपो नाम यथार्थनामा' इति ।

नैषधेऽपि— स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः इति। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४९ ॥

वे विलासिनीगण अपने प्रियों के द्वारा क्रीडापूर्वक अञ्जलि के छींटों से रोक लिया गया था (अर्थात् उनके मुख पर उनके प्रेमी छींटे उछाल रहे थे) जिससे उनके श्वास का वेग बढ़ जाने के कारण उन सुरबालाओं के स्तन प्रकम्पित हो रहे थे। और वे हाव भाव प्रदर्शन पूर्वक उन्हें मना करने के लिये हाथ हिलाने लगीं उस समय विलासिनी शब्द का अर्थ समझा गया (नहीं तो यहाँ तक माना था स्त्रियों को विलासिनी कह सकते हैं) ॥ ४९ ॥

उद्धृत्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारि वारितम् ।
मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुवः श्रियं सपत्नीवदनादिवाददे ॥ ५० ॥

उद्धृत्येति ॥ दयितेन धैर्यं कातिन्यम्। उद्धृत्यापनीय। अनुनीयेत्यर्थः। सादरं यथा तथा प्रसादितायाः सौमनस्यं गमितायाः नतभ्रुवः स्त्रियः सखीजनकरवारिभिर्वारितमवकलनत एव निमीलती नयने यस्य तन्मुखं सपत्नीवदनादिव श्रियमाददे जग्राह। तदानीं तद्वदनस्य निमीलनतायास्तत्कान्तिमत्त्वमुत्प्रेक्षते ॥ ५ ॥

एक प्रेमी गन्धर्व न तो औरों को छींटे मारते देख रह न सका अपनी प्रियतमा के मान शान्ति बड़ी कठिनाई से किया था तथापि धैर्य छोड़ कर उसके ऊपर जल्दी छींटे उछालने लगा उस वामनयना ने अपने नैन निमीलन कर लिया उस समय उसका मुख ऐसी शोभा को धारण किया जैसे उसने अपनी सौत के मुख की उधार लिया हो (अर्थात् सौत के समान ही मुंह बनाने लगी) ॥ ५ ॥

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥ ५१ ॥

विहस्येति ॥ धृताम्भसि प्रियासेचनार्थं गृहीतजले पाणौ। अञ्जलावित्यर्थः। प्रियेण विहस्य विधृतेऽवलम्बिते सति। अत एव मदनार्द्रचेतसो मदनपरवशायाः वध्वा संबन्धि वीतोच्चयबन्धं मुक्तनीविग्रन्थि। स्रंसमानमित्यर्थः। अंशुकं पयसा घनीकृता काञ्ची सखीव बभार जग्राह। सख्यो हि सखीनां गोपनं कुर्वन्तीति भावः ॥ ५१ ॥

एक अप्सरा ने अपने प्रिय पर छींटा उछालना चाहा और ज्यों ही उसने अञ्जलि में जल चढ़ाया त्यों ही—

उसके प्रिय गन्धर्व ने हँस कर उसका हाथ पकड़ लिया अत एव कामासक्त चित्त होने के कारण उस नायिका की परिधान वस्त्रग्रन्थि (नीवी) ढीली पड़ गई उसे उसकी करधना ने जो जल से छिन्न गई थी ज्यों को त्यों रख दिया (अर्थात् वसन ग्रन्थि के

ढीली पड़ने से वह विवश नहीं होने पाई)। उस कामिनी ने उस समय वही काम किया जो एक सखी अपनी सखी की लाज रखने के लिये करती है ॥ ५१ ॥

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम् ॥५२॥

निरञ्जन इति ॥ नतभ्रुवोऽङ्गनाया विग्रहे वपुषि निरञ्जने निर्धौतकज्जले दृशौ विलोचने कर्म साचिविलोकितं तिर्यग्वीक्षणं कर्तृ मण्डयति स्म । 'तिर्यगर्थे साचि तिर' इत्यमरः । अयावकं क्षालितलाक्षारागमोष्ठपल्लवं वेपथुः कम्पो मण्डयति स्म । 'द्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । अतिलकं तिलकरहितं तदास्पदं तिलकस्थानं ललाटम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । वलिक्रिया रेखाबन्धश्च मण्डयति स्म । तथा निरलङ्कारस्यालङ्कारान्तरस्य तच्छरीरविकारैरेवालङ्कारः समजनीत्यर्थः ॥५२॥

इन वधूटियों ने अपने २ अङ्ग विशेषों की शोभा के लिये कहीं अञ्जन, कहीं महावर, और कहीं तिलक लगा रक्खा था जल विहार करने से ये सब धुल कर साफ हो गये —

सुराङ्गना के शरीर में अञ्जन विहीन आंखों को उसकी टेढ़ी चितवन ने सुशोभित कर दिया ओष्ठपल्लव के महावर धुलकर साफ हो गये थे तो भी कम्पने उसे सुशोभित किया। उसके ललाट का चन्दन प्रक्षालित हो गया था, तो भी ललाट की रेखा ने ललाट की शोभा को यथावत् बनाये रक्खा ॥ ५२ ॥

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ॥५३॥

निमीलदिति ॥ प्रियोपकण्ठं प्रियसमीपे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । निमज्जतीनां विगाहमानानामत एव निमीलन्ति निमिषन्त्याकेकराणि आकेकराणि लोलानि चक्षूंषि यासां तासाम् । आकेकरलक्षणं तु नृत्यविलासे—'दृष्टिराकेकरा किंचित्स्फुटा-पाङ्गे प्रसारिता । मीलितार्धपुटा लोके तारान्यावर्तनोत्तरा ॥' इति । तासां स्त्रीणाम् । कृतो गात्राणां वेपथुः कम्पो येन सः । श्वसितैर्निःश्वासैरुद्धतावुत्पतितौ स्तनौ येन सः । श्रमः खेदो नु मदनो नु पप्रथे प्रादुर्बभूव । निमज्जनप्रियसंनिधानरूपोभयकारण-समवाजेत्रमीलनगात्रकम्पनिःश्वासधारणात्संदेहः । स एवालङ्कारः ॥ ५३ ॥

अपने २ प्रिय के समीप जल विहार करती हुई सुराङ्गनाओं के, जिनकी अर्द्धनिमीलित और आकेकर(१) युक्त लोल आंखें थीं, शरीर में कम्प हो रहा था। तथा श्वास प्रश्वास से उनका हृदय धड़क रहा था। उस समय यह नहीं निश्चय किया जा सकता था कि इन सब बातों का कारण क्या है ? श्रम अथवा कामदेव ॥ ५३ ॥

---

(१) आकेकर नृत्य के समय नेत्र के कटाक्ष पात का एक विशेष है 'नृत्यविलास' में इसका वर्णन है।

नवम सर्ग ।

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥

वीक्ष्येति ॥ अथ जलक्रीडानन्तरं भानुमानंशुमान् आत्तचित्रपरिधानविभूषाः स्वीकृतविविधवस्त्राभरणाः । सुरतसन्नाहवतीरित्यर्थः । अत एव रन्तुमनसः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । सुरनारीः वीक्ष्य तासां प्रियार्थं तत्प्रियार्थमिव । अवसरदानरूपं प्रियं कर्तुमिवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षेयम् । अस्तमदर्शनम् । मकारान्तमव्ययमेतत् । यातुं प्राप्तुम् । उपपयोधि पयोधिसमीपे ललम्बे सस्रंसे । अस्मिन्सर्गे स्वागतावृत्तम्—'स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

भगवान् अंशुमाली (सूर्य) ने देखा—अब क्रीडा के बाद सुरनारियाँ अनेक तरह के चित्र विचित्र वस्त्राभूषणों को धारण कर रमणाभिलाषिणी हैं अतः मानो उनके अभिलषित मनोरथ सिद्धि में अवसर प्रदानार्थ अस्त होने के लिये पश्चिम समुद्र की ओर खिसकने लगे ॥

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥ २ ॥

मध्यमेति ॥ मध्यमोपलनिभे नायकमणिसदृशे । 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । 'शकलार्धे स्त्रियां मोक्षः पुंस्यंशस्त्वम्बुपले मणौ' इति वैजयन्ती । लसदंशौ प्रसरद्रश्मौ भानौ । एकतः एकस्मिन्भागे च्युतिं स्रस्ततामुपेयुषि प्राप्ते सति द्यौः परिवृत्त्या मध्यादतिक्रमेण विलोलां गत्वरीम् । अन्यत्र पातस्य तिर्यग्गमनेन चञ्चलां वासरलक्ष्मीं हारयष्टिं मुक्तावलीमिवोवाह वहति स्म ॥ २ ॥

हारावली के मध्यमणि सदृश निरन्तर शोभी भगवान भास्कर के एक दिशा के परित्याग कर देने पर द्यौरूपी बाला ने (आकाश) मध्याह्न कालातिक्रमण करने से गमनशीला दिनश्री को हारावली की तरह धारण किया ॥ २ ॥

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।
क्षीबतामिव गतः क्षितिमेष्यँल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ॥ ३ ॥

अंशुपाणिभिरिति ॥ पतङ्गः सूर्यः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । अतीव निर्भरम् । 'अत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः । पातुमिच्छुः पिपासुस्तृषितः सन् । पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अंशव एव पाणयस्तैः पद्मजं मधु मद्यमेव । मध्विति श्लिष्टरूपकम् । मकरन्दमद्यमित्यर्थः । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । भृशमत्यन्तं रसयित्वास्वाद्य क्षीबतां मत्ततां गत इवेत्युत्प्रेक्षा । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । क्षितिमेष्यन् गमिष्यन् । लोहितं रक्तं वपुरुवाह । यथा मत्तः क्षीबतया क्षितौ लुठति

रज्यते च तद्वदिति भाव । सूर्यस्य विविविलयवसस्तमय इत्यागम । अत्र रूपको-त्प्रेक्षयो सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ३ ॥

मरीचिमाली (सूर्य) ने अत्यन्त तृप्त होकर अपने किरणरूप अञ्जलियों से कमलों के मकरन्द रूप मधको खूब छक कर मत्त हुए की भाँति पृथ्वी पर लुढ़के हुये (अस्त होते हुये) अरुण वर्ण का शरीर धारण किया ॥ ३

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ ।

आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥ ४ ॥

गम्यतामिति ॥ सहस्रमरीचौ सूर्ये । लोहितो भवतीति लोहितायति । 'लोहिता-दिडाज्भ्य क्यष्' इति क्यष् । 'वा क्यष' इति परस्मैपदे शतृप्रत्यय । अत एव नय-नानां गम्यतामुपगते दर्शनीयतां प्राप्ते सति । अभितापो धरित्रीं विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेश । चक्रवाकहृदयान्यासससाद प्राप । अत्र धरित्र्या याबत्सत्यर्कसन्तापस्तावत्सकलसन्तापः चक्रवाकहृदयेषु विरहसन्ताप समाप्त इति परमार्थ । परन्तु तदुपकतासम्बन्धेनासम्भविर्माभात् न एवात्र सकाम्य इत्यमेदाध्यवसायेनोप-देश । अत एव भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ४ ॥

जब सहस्रांशु (सूर्य) लोहित वर्ण (रक्त) होकर नेत्रों के लिये अवलोकनीय हो गया, तब सन्ताप ने पृथ्वी को छोड़ कर चकवाक पक्षियों के हृदय में समावेश किया । तात्पर्य्य यह कि दिन भर तो सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी को तपाता रहा, अब चकवाकों के हृदय को विदग्ध करेगा, क्योंकि सुना जाता है कि चकवाक पक्षियां रात्रि के समय अपने प्रिय से अलग हो जाते हैं ॥ ४ ॥

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि संभृतसान्द्रः ।

सामिमज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूहः ॥ ५ ॥

मुक्तेति ॥ रवौ सामिमज्जति अर्धास्तमिते सति । 'सामि त्वर्धे जुगुप्सायाम्' इत्यमर । मुक्तं त्यक्तप्राय मूलमाश्रयभूतो रवि । अन्यत्र,-स्वामी, येन सोऽत एव लघुरल्पकश्च मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वस्त्यक्तपूर्वदिक् । अन्यत्र,-त्यक्तपूर्वजन । पश्चिमे नभसि नभोभागम् । अन्यत्र,-कश्चिज्जीवस्थले । संभृत सहत सन् । अत एव सान्द्रश्च रश्मिसमूह । आश्रितजनस्य व्यज्यते । खिन्नश्चासौ जिह्मश्च, खिन्नेन दु खेन जिह्मो वा, दीन इव न विरेजे । अत्र मुक्तमूलत्वादिभिस्तुल्यविशेषणसाम्याद्प्रस्तुताश्रि-तजनप्रतीते समासोक्ति । तत्र वाच्यस्य रश्मिसमूहस्याचेतनस्यापि प्रतीयमानेन चेतनेनाभेदाभिधानाद् खिन्नत्वाद्युत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ५ ॥

जिस तरह आश्रित व्यक्ति अपने आश्रय का परित्याग कर देता है, उसका गौरव न्यून हो जाता है, और वह खिन्न होकर किसी नीच स्थान में पहुँच कर मलिन और उदास रहता है उसी तरह सूर्य बिम्बके अर्धभाग के अस्त हो जाने पर, सूर्य का किरणपुञ्ज, जो

सूर्य के आश्रय परित्याग करने के कारण वक्र हो जाता है तथा पूर्वदिशा का परित्याग कर चुका है पश्चिम दिशा में सहृत होकर निष्प्रभ हो रहा है ॥ ५ ॥

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्राः सायमण्डलमभित्वरयन्त्यः ।
सादरं ददृशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः ॥ ६ ॥

कान्तेति ॥ कुङ्कुमवत् कुङ्कुमेन वा ताम्राः । सायस्य सायङ्कालस्य । 'सायं साये प्रगे प्रातः' इत्यमरः । यन्मण्डलं तत् अभि तदुद्दिश्य त्वरयन्त्यस्त्वरां कारयन्त्यः सौधानां जालैर्गवाक्षैः पतिताः प्रविष्टाः । 'जाले गवाक्ष आनाये' इति वैजयन्ती । रविभासः सूर्यरश्मयः कान्तानां प्रेयसां दूत्य इव वनिताभिः सादरं यथा तथा ददृशिरे दृष्टाः । सायन्तनार्कभासो प्रियसमागमसूचकत्वादेव तासु प्रीणनाऽऽदरोऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

दूर वधूटियों ने कुङ्कुम के समान अरुण सूर्य की किरणों को जो सूर्य मण्डल की तरफ निर्देश करती उन्हें शीघ्रता करने के लिये प्रेरित कर रही थीं और जो खिड़की के रास्ते भीतर प्रवेश कर रही थीं अपने प्रेमी के द्वारा प्रेषित सखी की तरह आदर पूर्वक देखा ॥

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य ।
अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ॥ ७ ॥

अग्रेति ॥ विवस्वान् सूर्योऽग्रेऽस्तशैलशिखरे ये सानवस्तेषु ये भूरुहास्तानितान्तपिशङ्गैरत्यन्तपाटलैर्मृदुभिः करैरिव करैरग्रहस्तैरिति श्लिष्टरूपकम् । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । यद्वा करैरेव अवलम्ब्य । अस्त इति शैलोऽस्तशैलः । 'गहनं कलिलम्' इत्यमरः । तस्य गहनं काननं नु जलधिं नु महीं वाऽऽविवेश । तपनस्य पतनसंदेह एव रवः । पतनं तु न चास्य तत्र ज्ञायते । दीप्त्यभावादिति भावः । अत्र तपने पतनस्यारोप्यमाणस्य गहनाद्यनेकविषयत्वेन संदेहात्संदेहालंकारः ॥ ७ ॥

सूर्य भगवान् अपने अत्यन्त पिङ्गल करों से अस्ताचल के शिखरों के वृक्षों का सहारा लेकर उस पहाड़ के घन जङ्गल में प्रविष्ट हो गया अथवा पृथ्वी में घुस गया अथवा समुद्र में डूब गया क्या ? (पता नहीं हुआ (सूर्य) क्या हुआ कहाँ चला गया ?)॥

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौपसरागः ।
आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ॥ ८ ॥

आकुल इति ॥ चलानां कुलायगमनं प्रत्याश्रित चलतां पतत्रिकुलानां पक्षिसमूहानामारवैः शब्दैराकुलो व्याप्तः । अनुदित शब्देनाभावमात्रम् 'उप' शब्देन सन्ध्यामात्रं च विवक्ष्यते । उपसि भव औपसः । संख्यिकाः इत्यादिना योगविभागादण्प्रत्ययः । अन्यथा कालाट्ठञ्स्यात् । तथा च अनुदितौपसरागोऽविद्यमानसंध्यारागः इत्यर्थः । पक्षिगताऽनुदयात् अन्यगतस्तथाप्यस्ति भावः । अहरिदश्वोऽविद्यमानसूर्यः । पक्षगतानुदयात् अन्यगतस्त्वभावोऽपि भावः । अत एव विपाण्डुः । तिमिरानुदयादिति

शेष । दिनान्त सायङ्कालो दिनमुखेन प्रातःकालेन तुल्यतासाम्ययौ । तद्वद्बभूवेत्यर्थः । अत्र एवोपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

बस अब क्या था झटपट सायङ्कालने अपना प्रभुत्व जमाया उसकी जरा शकल तो देखिये - दिनावसान प्रभात की समानता करता हुआ उपस्थित हो गया, दोनों समय एक काल में आहारार्थ और दूसरेकाल (सायङ्काल) में नीड निवासार्थ प्रस्थित विहङ्गम समूहों से व्याप्त रहते हैं। दोनों समयों में किसी भी राग का पता नहीं रहता वही दशा सूर्य्य भगवान् की रहती है (उनका भी पता नहीं रहता। अन्धकार भी दोनों कालों में नहीं रहता। (दोनों कालों के लक्षण एक से दिखाई पड़ते हैं) ॥ ८ ॥

आस्थित स्थगितवारिदपङ्क्त्या सन्ध्यया गगनपश्चिमभागः ।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे ॥ ९ ॥

आस्थित इति ॥ स्थगितवारिदपङ्क्त्या पिहितमेघपङ्क्त्या सन्ध्ययाऽऽस्थित आक्रान्तो व्याप्तो गगनपश्चिमभागः । सोर्मिः । ऊर्मिसक्रान्त इत्यर्थः । तथा विद्रुमवितानविभासा प्रवालप्रकरकान्त्या रञ्जितस्य स्वसावर्ण्यमापादितस्य जलधेः श्रियमूहे । सन्ध्याया रक्तवर्णत्वादिति भावः । ऊहते कर्तरि लिट् । तत्सदृशीं श्रियमुवाहेत्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः ॥ ९ ॥

आकाश का पश्चिमीय भाग जो मेघमालाओं से आच्छादित था, सन्ध्याकाल से आक्रान्त [illegible] कर लहरों से सम्पन्न प्रवालपुञ्ज की किरणों [illegible] रञ्जित जलनिधि (समुद्र) [illegible] तरह शोभित हुआ ॥ ९ ॥

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।
सन्ध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥ १० ॥

प्राञ्जलाविति ॥ प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तस्मिन् प्राञ्जलौ बद्धाञ्जलौ । 'स्त्री पुताञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वोत्तरपदलोपश्च । नतमूर्ध्नि नमस्कुर्वाणे तत्प्रवण तत्र सन्ध्यायामेवाहित चेतो यस्य तस्मिन्नेवंविधेऽपि जने विषये प्रेम हित्वा विहाय विरमन्त्या निवर्तमानया । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । सन्ध्यया चापलेनास्थैर्येण । युवादित्वादण्प्रत्ययः । सुजनादितरो दुर्जनस्तस्य मैत्री सख्यमनुविदधेऽनुचक्रे । कर्मणि लिट् । यथा दुर्जनमैत्री स्निह्यन्तमपि जहाति तद्वत् सन्ध्यापि सेवमानं जनमहासीदित्यर्थः । मित्रस्य कर्म मैत्री । अणन्तान्ङीप् । अत्र सन्ध्यादुर्जनमैत्र्योश्चापलं समानधर्मोऽनुविधानम् । अत एवार्थरूपेणोपमा ॥ १० ॥

जिस व्यक्ति ने हाथ जोड़ कर प्रणाम करने के लिये शिर झुका लिया है तथा उसमें अपनी आस्था भी रखता है ऐसे व्यक्ति विषयक प्रेम का परित्याग कर, उससे अपना पिण्ड छुड़ाती हुई सन्ध्या अपनी मैत्री अधिक काल तक एक जगह में स्थिर न रख कर दुर्जन के साथ मैत्री की ॥ अर्थात् सन्ध्या के लिये लोग प्रेम करते रहते हैं तथापि वह स्वयं

तटस्थ होकर दुर्जनों के साथ अपनी नयी मित्रता जोड़ लेती है पुराने मित्रों का कुछ भी ख्याल नहीं करती । तात्पर्य यह कि सन्ध्या बहुत क्षीण हो चली गई ॥ १० ॥

औपसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः ।
सन्निपत्य शनकैरथ निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ॥ ११ ॥

औपसेति ॥ औपसात् आयासितकाद्भातपात्तव तस्माद्विभेदुत्पत्ता । अपलीनं क्वचिद्गूढं वासरच्छवेरातपस्य विरामादेको पटीयः प्रभविष्णुतरम् । अन्धकारोऽस्त्री-न्धकारं ध्वान्तम् । अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः । अथ सन्ध्यापगमनानन्तरं शनकैर्मन्दमन्द निम्नात् सन्निपत्यागत्य समानि समस्थलानि । उदवाप व्याप्तो । अत्र प्रस्तुतान्धकारविशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य स्यात् ॥ ११ ॥

सन्ध्या के हटते ही अंधकार मानो झूठ करने लगा । अवसर मिलते ही सामने उपस्थित हुआ—

वह (अन्धकार) ने प्रभात आतप के भय से कुकठे छिपके धीरे से नीचे की ओर से आकर समस्थलों पर अधिकार जमा लिया । और दिनमणि के अवसान होने से क्रमशः प्रबल होता गया ॥ ११ ॥

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे ।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषाः ॥ १२ ॥

एकतामिति ॥ एकतामभेदं गतस्येव । तमोव्याप्त्या तथा प्रतीतेरित्युत्प्रेक्षा । महतः स्थौल्यादेरपि कस्यचित् कस्यापि पदार्थस्य विवेको भेदो नोपलेभे न गृहीतः । अत उत्प्रेक्षते—पतितेनास्तमितेन भास्वता सूर्येण । 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्व' इत्यमरः । भुवनानाम् । भुवनस्थपदार्थानामित्यर्थः । विशेषाः स्थूलादिभेदा आत्मनि स्वस्मिन्नेव निदधिरे इव निहिता इव । कथमन्यथा नोपलब्धेरित्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२ ॥

किसी छोटे बड़े का विचार न रहा अन्धकार के राज्य में कोई विशेषता नहीं रही । विदित होता है कि सूर्य भगवान् विवेक को अपने साथ लेकर चले गये । जिसके कारण संसार के सम्पूर्ण वस्तुओं में भेद नहीं मालूम पड़ता ॥ १२ ॥

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् ।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः ॥ १३ ॥

इच्छतामिति ॥ वधूभिः स्वकामिनीभिः सह । अभेदमवियोगमिच्छताम् । तथा संकल्पवतामपीत्यर्थः । यामिनीषु विरहिणाम् । नियतवियोगानामित्यर्थः । इहेतराव व्यपेक्षेऽर्थे इनिः । यथा—निन्दाद्यादिभ्यः इनिः । तेषां विहगानां चक्रवाकानां मिथुनानि

वियोगमापुरेव । न [illegible] नापुरित्ययोगव्यवच्छेदः । तथा हि—कालनियोगो दैवाज्ञा न लङ्घ्यते खलु । दुर्वार इत्यर्थः ॥ १३ ॥

रात्रिकाल में जिन पक्षियों के दम्पति स्वभावतः पृथक् हो जाते हैं, वे चाहते भी रहते हैं कि हम लोग वियुक्त न हों तथापि वे वियुक्त हो ही जाते हैं। दैव की आज्ञा कौन भङ्ग कर सकता है ॥ १३ ॥

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ ।
नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥ १४ ॥

यच्छतीति ॥ शकुन्तौ चक्रवाकपक्षिणि । सामान्यस्य प्राकरणिकविशेषपर्यवसानात् । 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः । अन्तिकगते समीपस्थेऽपि दयितायै चक्रवाक्यै प्रतिमुखमभिमुखं यथा तथा वाचं यच्छति वाचमेव ददाने । न तु सङ्गममात्रे सतीत्यर्थः । 'पाघ्राध्मा–' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । अम्बुरुहिण्या नलिन्या । उज्झितहर्षं चक्रवाकदुर्दशादर्शनादिव त्यक्तविकासं पङ्कजं मुखमिव नतिं नमनं नीयते स्म नीतम् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति नयतेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । प्रायेण तु सदर्शनास्त्रिय स्त्रियन्ते । विशेषेण विरहदर्शनादिति भावः । अत्र पङ्कजनमनस्य चक्रवाकविशोकानन्तर्यात्तद्धेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । तच्च मुखोपमेयमम्बुरुहिण्याः कामिनीसाम्यं गमयन्त्या निरूढमिति इत्युपमोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । स्वतःसम्भोगासम्भवात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

उस काल चक्रवाकपक्षी अपनी वल्लभा के समीप ही था और सामने से उससे केवल वार्तालाप कर सकता था (न कि उसका स्पर्श कर सकता था), उसकी इस दयनीय दशा को देख सरोरुहिणी का पुष्प, जो मुख के सदृश होता है, अपनी पखुड़ियों को सङ्कुचित कर मनोवेदना प्रगट करने लगा ॥ १४ ॥

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥ १५ ॥

रञ्जिता इति ॥ तिमिरेणान्धकारेण विविधास्तरवः शैलाश्च रञ्जिताः स्वसावर्ण्यमापादिता नु । अन्यथा कथमेषां नीलरूपत्वमिति भावः । गगनं नामितं नु । आभूतलादिति शेषः । 'मितां ह्रस्वः' इत्यत्र वाशब्दानुवृत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणाद् ह्रस्वः । यद्वा,–गगनं स्थगितमाच्छादितं नु । उभयत्रापि तमसावृतत्वान्न दृश्यत इति भावः । तथा धरित्री विषमेषु निम्नोन्नतेषु पूरिता समीकृता नु । अन्यथा तद्विवेकः कथं न स्यादिति भावः । ककुभो दिशश्च संहृता नु लुप्ता किम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । कथमन्यथा न दृश्यन्त इति भावः । अत्र तिमिरे तरुशैलाद्यनेकविषयरञ्जकत्वादिकमारोप्य संदिग्ध इति संदेहालङ्कारः । अनेन 'नु' शब्दस्य सम्भावनाद्योतकत्वमतोऽत्रोत्प्रेक्षाप्रकारमित्यलङ्कारसंसर्गः सङ्करः ॥ १५ ॥

अन्धकार एक विलक्षण जादूगर भी मालूम होता है, उसका जादू तो देखा जाय। वह कामरू देश से सीख कर अभी आया है—

अनेक प्रकार के वृक्ष और पर्वतों को अपने सरीखे काले रङ्ग में रंग डाला क्या? आकाश को नीचे की तरफ झुका तो नहीं दिया? (यह क्यों) आकाश पर काला पर्दा तो नहीं डाल दिया? सब दिशाओं को चुग कर अपने झोले में तो नहीं टाल लिया? (देखिये इसकी तमाशा किया जाय) पृथ्वी के ऊँचे नीचे स्थानों को समतल बना दिया क्या? ॥ १५ ॥

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय ।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥ १६ ॥

रात्रीति ॥ श्रीः शोभा कर्त्री रात्रेः सन्ध्याया रागेण रक्तच्छायोपरागेण मलिनानि अत एव विकासं रहयन्ति त्यजन्ति । रहतेस्त्यागार्थाण्णिजन्तात्ल्लटः । पङ्कजानि विहाय त्यक्त्वा स्पष्टतारकं नभः खम् । इयाय प्राप । तथा हि—सर्वो जनो निरापदि निर्बाधके वस्तु स्थातुम् । इच्छति इत्यर्थः । एकार्थ उपदेशेऽनुदात्तात् इतीट्प्रतिषेधः । वसिष्व सामोधु वसि प्रसारिणि इति वचनात् । इत्याहुरिति ॥ १६ ॥

जब तक कमलों का अच्छा समय था तब तक शोभा उनके साथ रही अब वह भी मारे डर के दूसरी जगह चली गई। मान लीजिये देखिये कहां जाती है?—

पङ्कजों रात्रि के राग से उदास होकर प्रफुल्लता का त्याग करते हुए कमलों को छोड़कर आकाश मण्डल में चली गई जहां पर तारे चमचमा रहे थे। सब लोग सुरक्षित स्थान में निवास करने की अभिलाषा रखते हैं (मुसीबत में कौन किसकी मदद करता है?)॥

अस्ताद्रिव्यापिन्यां चन्द्रिकायां चन्द्रोदयवर्णनमारभते—

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः ।
चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥ १७ ॥

व्यानश इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण विमुक्तः क्षिप्तः केतकीकुसुमकेसर इव पाण्डुरः लम्भिता प्रापिता कान्तिर्यस्य सोंऽशुसमूहो रश्मिसमूहः । चूर्णस्य कर्पूररजोविशेषस्य मुष्टिरिव । मुष्टि शब्दस्य द्विलिङ्गत्वेऽप्यत्र पुल्लिङ्गत्वमेव ग्राह्यम् । उपमेयानुसारात् । वासवस्येन्द्रस्य दिशं प्राचीं व्यानशे व्याप । अनेन दिशांनायकसुरयोर्वैदिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १७ ॥

अन्धकार ने बड़ा उपद्रव मचाया। अपने शासन के समय में जो मन में आया कर डाला। समझता था कि मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु सब दिन एक समान नहीं जाता जो बहुत उधम करता है परमेश्वर उसका नाश करके छोड़ता है। अतः सरोष हो लिये हुए चन्द्रदेव ने अन्धकार की होली जलायी। अब वे हाथ में अबीर-गुलाल लेकर होली खेलने की तय्यारी करने लगे—

चन्द्रमा ने केतकी पुष्प के पराग के सदृश पाण्डुर वर्ण की किरणों को हाथ में लेकर कपूर के चूर्ण (पाउडर) की तरह उड़ा दिया । उससे प्रकाश आगया । उन किरणों का समूह (झट) इन्द्र की दिशा (पूर्व) को व्याप्त कर लिया ॥ १७ ॥

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे ।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ॥ १८ ॥

उज्झतीति ॥ इन्द्रस्येयमैन्द्री दिक् प्राची तारकराजे नक्षत्रनाथे । 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकापि च' इति विश्वः । अन्तिकं समीपं व्रजति सति । आशु तमिस्रामन्धतमसम् । 'तमिस्रा स्त्री ध्वान्तनिशि निबिडान्धतमसे न ना' इति वैजयन्ती । शुचमिव । विरहदुःखमिवेत्यर्थः । उज्झती विजहती । प्रसादो नैर्मल्यमेव गुणः स एव मण्डनं यस्य तत् । रश्मयो हास इव तेन विशदं मुखमिव मुखमग्रभागम् । श्लिष्टोपमेयम् । ऊहे वहति स्म । अत्र दिक्चन्द्रयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १८ ॥

प्राची दिशाने चन्द्रमा को समीप आते हुए देख अन्धकार को दूर भगा कर निर्मलता रूप गुण से युक्त तथा हास के समान किरणों से विशद मुख धारण किया अर्थात् जिसतरह किसी प्रोषितपतिका रमणी का मुख मण्डल उसके पति देव के समीप आने पर विरहोत्थ शोक का परित्याग करके हास युक्त होकर प्रसन्न हो जाता है उसी तरह प्राची दिशा का मुख अर्थात् अग्रभाग चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार को दूर भगा कर प्रकाशित हो ॥ १८ ॥

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः ।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः ॥ १९ ॥

नीलेति ॥ शैलरुद्धवपुष उदयगिरितिरोहितमण्डलस्य सितरश्मेरिन्दोः सम्बन्धि नीलनीरजनिभे श्यामकमलतुल्ये खे आकाशे निपतत् प्रसरत् । हिमवद्गौरं शुभ्रं करजालमंशुसमूहो वारिधेः पयसि निपतद्गाङ्गमम्भ इव रराज । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ १९ ॥

हिमांशु (चन्द्र) की, जिसका मण्डल उदयाचल के ओट में था, तुषार के सदृश शुभ्र किरणों का पुञ्ज नील कमल सदृश नील नभ में प्रसरण करता हुआ इस प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार (नील) समुद्र में गिरता हुआ जाह्नवी का (शुभ्र) जल विशोभित होता है ॥ १९ ॥

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात् ।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शम्भुनेव करिचर्म चकासे ॥ २० ॥

द्यामिति ॥ द्यां निरुन्धत् आकाशमावृण्वत् । अतिनीलघनाभं मेचकम् । उद्यन्तः करा अंशवो हस्ताश्च यस्य तेन । असिताभ्य इतरा शुभ्रा भासो यस्य तेन चन्द्रेण

पुरस्तात् प्राच्यामभ्र च क्षिप्यमाण जुम्भमाण ध्वान्त यांशुना क्षिप्यमाण करिचर्मेव चकासे । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ २ ॥

शुभ्र कान्तिधारी चन्द्रदेव के द्वारा जिनकी किरणें उद्भासमान थीं हाथी मेघ के सघन और अन्तरिक्ष व्यापी अन्धकार दूर भगा दिया गया। उस समय का वह दृश्य ऐसा सुहावना मालूम पड़ता था मानो शङ्कर भगवान् का गजचर्म ताण्डव नृत्य के पश्चात् दूर (अलग) फेंक दिया गया हो और सुन्दर मालूम पड़ रहा हो ॥ २ ॥

अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे जिह्मतां जहति दीधितिजाले ।
निःसृतस्तिमिरभारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्तः ॥ २१ ॥

अन्तिकेति ॥ अन्तिकान्तिकेऽतिसमीपे। प्रकारे गुणवचनस्य इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अन्तिकान्तिकगतेनेन्दुना विसृष्टे मुक्ते दीधितिजाले किरणसमूहे जिह्मतां सकोचं जहति त्यजति सति तिमिरभारैस्तमस्तोमैर्निरोधाद्रुपरोधात् । निःसृतो निर्गतो दिगन्त उच्छ्वसन् प्राणन् इव रराजेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २१ ॥

जिस समय समुदित चन्द्रमा से छुटकारा पाकर फैलता हुआ जो दो क्षितिज के सन्निकट पहुँच रहा था उस समय निबिड़ अन्धकार के अवरोध से छुटकारा पाकर क्षितिज प्रकाशित हो उठा ॥ २१ ॥

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनककटकपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥ २२ ॥

लेखयेति ॥ इन्दुर्विमलविद्रुमभासा स्वच्छप्रवालसवर्णया लेखया कलया संततं सान्द्रं तिमिरमादिवराह कनककटकस्य शिलाभेदकं शकलम् । कटकः पाषाणभेदकम् इत्यमरः । तद्वत् पिशङ्ग्या लोहितवर्णया । पिशङ्गाद्रुपसंख्यानम् इति ङीप् । दंष्ट्रया भुवो मण्डलमिव । उदास उत्क्षिप्तवान् । अस्यतेः कर्तरि लिट् । सोपसर्गत्वस्यात्मनेपद विकल्पात् ॥ २२ ॥

चन्द्रदेव ने अपनी स्वच्छ मूँगे के सदृश कला से निबिड़ अन्धकार को इस तरह दूर फेंक दिया जिस तरह शूकरावतार विष्णु भगवान् ने अपने सुवर्ण कोर्यकी के सदृश अरुण दाँत से पृथ्वी मण्डल को उठाकर फेंक दिया था ॥ २२ ॥

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः ।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥ २३ ॥

दीपयन्निति ॥ अथ उदयानन्तर । किरणौघैर्नभो दीपयन् प्रकाशयन् कुङ्कुमेनारुणो य पयोधर कुचस्तद्वत् गौरोऽरुण । उदयरागादिति भाव । तुहिनांशुरिन्दुः शनकैः पूर्वपयोधेः पूर्वसागरात् । हेम्नः कुम्भ इव । उन्ममज्ज उज्जगामेत्युत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

कुङ्कुम के समान अरुण पयोधर के तुल्य अरुण तुषारांशु (चन्द्र) अपने किरण पुञ्जों

से गगन मण्डल को उद्भासित करते हुए धीरे धीरे पूर्वीय समुद्र से सुवर्ण कलश के समान ऊपर उठ आये ॥ २३ ॥

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रा पश्यति स्म रजनीमवितृप्त ।
व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मा व्रीडया नववधूमिव लोक ॥ २४ ॥

उद्गतेन्दुमिति ॥ लोको जन । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । उद्गतेन्दुमुदितचन्द्राम् । अविभिन्नतमिस्रामनिर्भेदितध्वान्ता रजनीं व्यंशुकमपनीतावगुण्ठनमत एव स्फुटं दृश्यमानं मुखं यस्या सा तां तथापि व्रीडयातिजिह्मां वक्रां नववधूं नवोढाम् । 'वधूर्नवोढयोषायां स्नुषाभार्याङ्गनासु च' इति धरणि । स्त्रियमिवावितृप्त सन् पश्यति स्म ॥ २४ ॥

चन्द्रोदय हो जाने पर भी अब तक अन्धकार भली भाँति नष्ट नहीं हो गया था तब तक निशा (रात्रि) को जनता ने एक (नूतन परिणीता) नव विवाहिता वधू की तरह, जिसके मुख का घूँघट हट गया हो तथा वह लज्जा के भार सी दबी जाती हो, सतृष्ण दृष्टि से देखा ॥ २४ ॥

न प्रसादमुचित गमिता द्यौर्नोद्धृत तिमिरमद्रिवनेभ्य ।
दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषितैव रजनी हिमभासा ॥ २५ ॥

नेति ॥ हिमभासा चन्द्रेण द्यौराकाशम् । उचित योग्य प्रसाद न गमिता । अद्रयो वनानि च तेभ्य । तिमिर नोद्धृत नोत्सारितम् । दिशां मुखेषु धाम तेजश्च न विकीर्णं न प्रसृतम् । तथापि रजनी भूषितैव । उक्तगुणासम्पत्तावपीति भाव । अत्र प्रसाधनकारणाभावेऽपि तत्कार्यभूषणोक्त्या विभावनालङ्कार ॥ २५ ॥

यद्यपि चन्द्र देव के द्वारा अन्तरिक्ष पूर्णतया विभासित न हो चुका था। पर्वतों तथा जङ्गलों से अन्धकार भी दूर नहीं किया जा चुका था। और दिगन्तों में प्रकाश भी न पहुँच पाया था तथापि रजनी (रात्रि) देवी अलङ्कृता सी दिखलाई पड़ती थी ॥ २५ ॥

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदित प्रययौ ख भीतभीत इव शीतमयूख ॥ २६ ॥

मानिनीति ॥ उदित शीतमयूख उष्णेन विरहतप्तेन बाष्पेण कलुषानाविलान् । मानिनीजनस्य कलहान्तरितनायिकाजनस्य विलोचनपातान् । मानभङ्गजनितरोषेण वीक्षणानिति भाव । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता । कलहान्तरिता' इति दशरूपके। प्रतिगृह्णन् स्वीकुर्वन्। अपरिहार्यत्वादिति भाव । अत एव भीतभीतो भीतप्रकार इवेत्युत्प्रेक्षा। मन्दमन्द मन्दप्रकारम्। उभयत्रापि 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुब्लोप । खमाकाश प्रययौ ॥ २६ ॥

मानवती युवतियों के कटाक्ष पातों को, जो वियोग के कारण गरम गरम आंसू के

निकलने से कलुषित हो रहे थे सहन करते हुए हिमरश्मि (चन्द्रमा) उदित होकर भी डरते डरते हुए को भाँति धीरे धीरे आकाश में पहुँच गये ॥ २६ ॥

शिलष्यतः प्रियवधूमिव कण्ठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः ।
उद्गमश्रभिरराज समन्तादङ्गराग इव लोहितरागः ॥ २७ ॥

श्लिष्यत इति ॥ तताः प्रसारिताः कराः एव कराः अग्रहस्ता येन तस्य तताकरस्य तारका एव प्रियवधूस्तस्याः कण्ठमन्तिके कण्ठे वा । अभितःपरितःसमयायोगे द्वितीया । विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । श्लिष्यतः प्रत्यासीदत आलिङ्गतश्च हिमांशोः सम्बन्धी समन्तादुद्गमन् उत्सर्पन् । अर्थान्तरस्यादकसकत्वम् । धातोरर्थान्तरे वृत्तेः इति वचनात् । लोहित रागोऽरुणप्रभः । अङ्गराग इवाविरराज । आलिङ्गनादङ्गरागो मलतीति प्रसिद्धिः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २७ ॥

चन्द्रमा ने अपने किरण रूपी हाथों को फैला कर अपनी तारका रूपिणी नायिका का कण्ठदेश पूर्वक आलिङ्गन किया उस समय उसके किरणों की लालिमा उबटन लेपकी भाँति अङ्गराग (उबटन) की तरह विशोभित होने लगी । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा की किरणें निकल कर ताराओं से मिलने लगीं और सघन लालिमा आयी । इसी दृश्यको एक नायक के द्वारा नायिका के आलिङ्गन से उपमित किया है ॥ २७ ॥

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहतान्यपि नुनोद तमांसि ।
क्षीरसिन्धुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥ २८ ॥

प्रेरित इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितो निसृष्टः करौघः संहतानि सान्द्राणि अपि तमांसि मन्दरेण मन्दराचलेन भिन्नो क्षुब्धः क्षीरसिन्धुरविरलाः सान्द्रा उच्चाश्च तरवो येषु तानि काननानीव नुनोद दूरीचकार ॥ २८ ॥

चन्द्रमा से प्रेरित होकर किरण समूह ने ढेर के ढेर था अन्धकार को दूर किया जैसे (समुद्र मन्थन के समय) मन्दराचल से भिन्न होकर क्षीर सागर ने (समीप के) उन वृक्षों को जिनमें घने घने और ऊँचे २ वृक्ष थे (अपने स्वच्छ सोर रूप जल से) दूर किया ॥ २८ ॥

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे ।
न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभिः ॥ २९ ॥

शारतामिति ॥ शशिपादैश्चन्द्ररश्मिभिः । पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः इत्यमरः । शारतां शबलतां गमितया । शारः शबलपीतयोः इति विश्वः । विटपिनां तरूणां छायया न्यस्तैर्निहितैः शुक्लबलिभिः श्वेतपुष्पपुष्पहारैश्चित्राणि तलानि उपरिभागा यासां ताभिः । करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम् इत्यमरः । वसतिवेश्ममहीभिर्निवासगृहभूमिभिः । तुल्यता साम्यं प्रतिपेदे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । आर्थीयमुपमा ॥ २९ ॥

चन्द्रमा की किरणों से वृक्षों की छाया अनवच्छिन्न होकर (वृक्षों के पत्तों और शाखाओं के अन्तराल से चन्द्रमा की किरणें छन छन कर उसकी छाया पर पड़ती हैं उस समय वह कहीं २ सफेद और कहीं २ काली रहती है) उन विवाम के घर की भूमि की समानता करती है जहाँ पर देवताओं की पूजा की गई हो और पूजनोत्तर भी कहीं २ फूल इधर उधर बिखरे हुए चित्र कारी की हुई की भाँति दिखलाई पड़ते हों ॥ २९ ॥

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥ ३० ॥

आतप इति ॥ आतपे । दुःसहेऽपीति भाव । वध्वा चक्रवाक्या सह । अत एव धृतिमता सन्तोषवता यामिनीषु विरहिणा नियतविरहेणात एव विहगेन चक्रवाकेण हिमरश्मेश्चन्द्रस्य किरणा न सेहिरे । तथा हि—दुःखिते सजातदुःखे मनसि सर्वम् । मनोहरमपीति भाव । असह्यं सोढुमशक्यम् । 'शक्तिसहोश्च' इति यत्प्रत्यय । पूर्वे तु 'आतपा' इति पेठु । तत्र वध्वा सहातपा अपि सेहिरे । तद्विरहिणा तु शशिकिरणा अपि न सेहिरे इति योज्यम् । फल तु समानम् ॥ ३० ॥

रात्रिकाल के वियोगी चक्रवाक पक्षी ने अपनी स्त्री के साथ रहकर धैर्य्य पूर्वक सूर्य की प्रखर किरणों को सह लिया परन्तु (रात्रि में वियोगावस्था में) चन्द्रमा की (शीतल) किरणों को न सह सका क्योंकि जब हृदय वेदना से व्यथित रहता है तब सभी वस्तुयें दुःसह हो जाती हैं ॥ ३० ॥

गन्धमुद्धतरज. कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम् ।
आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुदपां वनराजीः ॥ ३१ ॥

गन्धमिति ॥ अपां कणवाही । शीतलत्वेऽपि व्यवधानमपि सोढव्यम् । विकसतां कुमुदानां गन्धं सौरभम्, उद्धत रजः परागो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पात्कप् । विक्षिपन् विकिरन् । शैत्य शिशिरं सुरभि । यामिनीमरुत् रात्रिवायु । परितो लीना शयिता विहङ्गा यासु ता वनराजी । आदुधाव ईषत्कम्पयामास । विहङ्गशयनाविरोधेन वनराजि किंचित्कम्पितेत्यर्थ इति । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमर । तथा कश्चित्कामिन्याँ गन्धोदकादिना सिञ्चन्नाकम्पयति तद्वदिति भाव ॥ ३१ ॥

जल के कणों का वहन कर्त्ता रात्रिकालीन वायुने खिली हुई कुमुदिनी के सौरभ को, जिसमें पराग उड़रहा था, बिखेरता हुआ वनराजियों को, जिनमें पक्षियाँ सो रही थीं, थोड़ा थोड़ा झकझोर दिया ॥ ३१ ॥

सन्निधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघम् ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥ ३२ ॥

सन्निधातुमिति ॥ यामिनी वनितेव तया रात्रिरूपया कान्तया मन्मथस्याभिषेक

त्रिभुवनजैत्रयात्राभिषेकं संविधातु सम्यक्कर्तुम् । अतएवो ज्वलतीव तेजसामोघः पूरो ल्लसन् यस्मिन्स । क्षतचिह्नः स्फुटकान्त्या इन्दुः सोऽप्यच्छो रजतकुम्भ इव । उदास उत्क्षिप्तः । अस्यते कर्मणि लिट् । अत्र स इत्यत्रतुमिति तुमुना प्रतीयमानोऽभ्युदयाद्युत्था णितोऽप्युपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ३२ ॥

राका रमणी (रात्रि रूपिणी स्त्री) ने कामदेव का अभिषेक करने के लिये जिसकी किरणें ही जल राशि है और जिसका चिह्न कमल के समान है ऐसे चन्द्रमा को रजत कलश के समान उठा लिया । (यहा पर आचार्य ने चन्द्रमा को कलश से उपमित किया है उसकी ज्योत्स्ना को जल से और उसके चिह्न को नीलकमल के पुष्प से । कामदेव मानो है उसके विजय के लिये अभिषेकार्थ रात्रिरमणी अपनी सामग्री से तैयार है) ॥ ३२ ॥

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्री ।
यद्विभु शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ॥ ३३ ॥

ओजसेति ॥ ओजसा । अनूनं संपूर्णमपि । असहायं सहायरहितम् । पुरुषमिति शेषः । जयश्रीर्नोपयाति खलु नूनम् । कुतः । यत् यस्मात् । विभुः समर्थोऽप्यनङ्गः शशिमयूखानां सखा सहचरस्तथोक्तः । सन्सहाय सन्नित्यर्थः । विजयि विजयशीलम् । जितेन्द्रि इत्यादिनेनिप्रत्ययः । चापमाददे । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर न्यासः ॥ ३३ ॥

सामर्थ्य सम्पन्न होने पर भी सहायक विहीन पुरुष के पास विजय श्री नहीं जाती यह निर्विवाद है । क्योंकि समर्थ भी रतिवल्लभ (काम) ने हिमांशु से मित्रता करके ही विजयी धनुष को ग्रहण किया ॥ ३३ ॥

इत्थमुद्दीपनसामग्रीमुपवर्ण्य संप्रति तत्कार्यभूतं रतिप्रपञ्चमारभते—
सद्मनां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम् ।
सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥ ३४ ॥

सद्मनामित्यादि ॥ सन्निकृष्टरतिभिरासन्नसुरतैस्तथैव च सुरदारैः सुराङ्गनाभिः । आहितशोभैः प्रागेव विहितकेलिगृहमण्डनैरपि पुनः सद्मनां केलिगृहाणां विरचना मण्डनम् । ईषेऽभिलेषे । इषेः कर्मणि लिट् । आगतप्रियकथैः प्राप्तप्रियजनवृत्तान्तैरपि दूतस्य कर्म दूत्यं दूतीव्यापार ईषे । दूतस्य भावकर्मणोर्यत्प्रत्ययः । तथा भूषितैरपि विभूषणं प्रसाधनम् । ईषे । औत्सुक्यातिरेकादिति भावः ॥ ३४ ॥

इस तरह उद्दीपन सामग्रियों का वर्णन करके तत्कार्य रूप रति का वर्णन प्रारम्भ करते हैं —

देव सुन्दरियों ने जिनके विलास का समय सन्निकट था केलिभवन को विभूषित कर रक्खा था तो भी केलिगृहों की रचना के लिये अभिलाष किया । अपने प्राणेश्वरों का

समाचार प्राप्त करके भी वे दूती भेजने के लिये तय्यारी करने लगीं। वे भूषणों से विभूषित होकर भी पुनः अपने को विभूषित करने की अभिलाषा करने लगीं ॥ ३४ ॥

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥

नेति ॥ विरहे वियोगावस्थायां स्रजो माल्यानि चन्दनानि गन्धा मदिरा मद्यानि वा रमणीभ्यः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । न रुरुचिरे न रोचन्ते स्म । हि यस्मात् प्रियसमागम एव रतेः साधनेषु स्रगादिषु रम्यतां मनोहरत्वम् । रुचिकरत्वमिति यावत् । उपधत्ते आधत्ते । तदभावादरुचिर्युक्तैवेत्यर्थः । अत एव वैध-र्म्यात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । रम्यन्त एष्विति रम्याणि । 'पोरदुप-धात्' इति यत्प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थः ॥ ३५ ॥

उन अप्सराओं को अपने प्राणेश्वर को विरहावस्था में न तो पुष्प माला, न चन्दन और न मद्य ही रुचिकर प्रतीत हुआ। क्योंकि रति के सहायक सामग्रियों में प्रियका समागम ही रमणीयता की उपलब्धि करता है ॥ ३५ ॥

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वसितप्रियसखीवचनाभिः ।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥ ३६ ॥

प्रस्थिताभिरिति ॥ अधिनाथनिवासं प्रियगृहं प्रति प्रस्थिताभिः प्रचलिताभिर्ध्व-सिताभिः खण्डिताभि प्रियसखीवचनानि स्वयं प्रस्थानं लाघवायेत्येवंरूपाणि याभि-स्ताभिः । मानिनीभिः कोपनाभिः । 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इति लक्षणात् । अपहस्तितं निरस्तं धैर्यं येन सः । तथा सादयन् मानं शरीरं च कर्शयन्नपि सदोषोऽपीत्यर्थः । मदोऽवललम्बे स्वीकृतः । मद्यास्वादनव्याजेन लाघवा-पह्नवमकार्षीदिति भावः ॥ ३६ ॥

जो अप्सरायें मानकर बैठी थीं (मानमोचनोपरान्त) वे अपनी प्रिय सहेलियों की बातों की आनाकानी करके पतिदेव के घर के लिये चल पड़ीं। (मद्य) मद, जिसने उन्हें धैर्य भ्रष्ट कर दिया और जिसने उनके शरीर और मान को कृश कर दिया था, वे उसी का सहारा लीं ॥ ३६ ॥

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः ।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि ॥ ३७ ॥

कान्तेति ॥ रतये सुरताय बहु सन्दिशतीभिरनेकं कथयन्तीभिः । सन्देशव्यसना-द्गन्तव्यमप्यजानतीभिरित्यर्थः । रमणीभिः । कान्तवेश्म यातं प्राप्तमेव । न तु मध्ये-मार्गान्निवृत्तमित्यर्थः । तथा हि—मन्मथेन परिलुप्तमतीनां स्खलितं विरुद्धाचरणमपि प्रायशः उपकारि भवति ॥ ३७ ॥

अनेक प्रकार के वार्तालाप करती हुई अप्सरायें रमणार्थ पति के घर पहुँच ही गईं

(सोच में कहीं वे भूलीं नहीं) अतः कामदेव के द्वारा उपहत बुद्धिवाले व्यक्तियों की भूल भी उपकारक हो जाती है ॥ ३७ ॥

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम् ।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखण्डं खण्डपत्त्रतिलकाकृति कान्त्या ॥ ३८ ॥

आश्विति ॥ आशु कान्तमभिसारितवत्या अभिगमितवत्याः । स्वार्थे णिच् । योषितः सम्बन्धि पुलकैः रुद्धावावृतौ कपोलौ यस्य तत् । खण्डा अपूर्णा पत्त्राणां पत्त्ररेखाणां तिलकस्य च आकृतिः सन्निवेशो यस्य तत्तथोक्तं मुखं कान्त्याऽखण्डं पूर्णम् । इन्दुं निर्जिगाय जयति स्मेत्यर्थोऽद्भुतोपमा । जयति हरिः इति वर्णिना साधर्म्यावगमनात् ॥ ३८ ॥

शीघ्रता से प्रिय के समीप लायी हुई युवतियों के मुखमण्डल ने जिसके कपोल रोमाञ्च से आवृत हो रहे थे और जिस पर बनी हुई पत्ररेखा और तिलक की रचना मिट रही थी अपनी शोभा से पूर्णचन्द्र मण्डल को मात किया ॥ ३८ ॥

अथ युग्मेन सखीनायिकासंवादमाह—

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥ ३९ ॥

उच्यतामिति ॥ तत्र नायिकाह—स धूर्तोऽशेषमखिलं वचनीयं वाच्यमुच्यताम् । निःशङ्कमुपालभ्यतामित्यर्थः । ऋहलोर्ण्यदित्यावश्यके कर्मणि ण्यत् । अथ सख्याह—हे सखि ईश्वरे भर्तरि नायके विषये परुषता पारुष्यं न साध्वी न हिता । अथ नायिकाह—तर्हि एनमनुनीय सान्त्वयित्वा आनय । पुनः सख्याह—विप्रियाणि जनयन् अप्रियाणि कुर्वन् स कथं वाऽनुनेयोऽनुनयार्हः ॥ ३९ ॥

इसी से ३९ और ४० में उस नायिका और उसकी सखी का वार्तालाप है जो मान कर परित्याग कर अपने पति के पास नहीं गयी

नायिका— (सखि) उस (शठ) से सब कह देना कोई बात छिपा न रखना ।

सखी— (नहीं सखि यह ठीक नहीं) पति के साथ कठोरता का व्यवहार अच्छा नहीं ।

नायिका—"अच्छा तो फिर किसी प्रकार समझा बुझाकर यहाँ बुला लाना ।

सखी— अप्रियकारी उस व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करके क्यों बुलाया जाय । (यह भी तो ठीक न है) । ॥ ३९ ॥

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥ ४० ॥

किमिति ॥ पुनर्नायिकाह—तर्हि गतेन तं प्रति गमनेन किम् । कोऽर्थ इत्यर्थः । अतः उपैतुं गन्तुं न युक्तं हि । पुनः सख्याह—हे सुभगमानिनि सौन्दर्यमानिनि । सुभगमात्मानं मन्यत इति । 'आत्ममाने खश्च' इति चकाराण्णिनिप्रत्ययः । तस्मिन् प्रिये विषये को मानः । मानो न कर्तव्य इत्यर्थः । यद्वा नहीत्यादि सखीवाक्यम् ।

तत्र नहीत्येक वाक्यम् । यद्युक्त सखीत्यर्थ । हे सखि, किं तत्रैतु युक्तम् । कु सुमशमानिनि प्रिये को मान । तादृग्जनस्य दुर्लभत्वादिति भाव । इति एवंरूपासु योषिता कथासु विषये समेतै । समीपमागत्याकर्णयद्भिरित्यर्थ । कामिभिर्बहुरसा नेकास्वादा धृति सतोष ऊहे ऊढा । अत्र परोक्षौत्सुक्यनिर्वेदाद्यनेकभावशावल्यपरिपूर्णकान्ताकथाकर्णनादुत्तरोत्तरमपूर्वहृदयानन्दनिष्यन्दमानन्दसंदोहमविन्दन्नित्यर्थ । प्रायेणात्र प्रौढा कलहान्तरिताश्च नायिका ॥ ४० ॥

नायिका—"तो फिर उसके पास जाना ठीक नहीं, वहाँ जाने का प्रयोजन ही क्या ?"

सखी—ऐ अपने को सुन्दरी मानने वाली ! प्रिय के विषय में मान ही क्या ? (अर्थात् मान नहीं करना चाहिये)

सुर सुन्दरियाँ परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप कर ही रही थीं कि उनके प्रेमीजन स्वय उपस्थित हो गये और उनके वार्तालाप को सुनकर असीम आनन्द प्राप्त किये ॥४०॥

योषित पुलकरोधि दधत्या घर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।
कान्तवक्षसि बभूव पतन्त्या मण्डन लुलितमण्डनतैव ॥ ४१ ॥

योषित इति ॥ पुलकरोधि रोमाञ्चव्यापि नवसंगम एव जन्म यस्य तत् । घर्मवारि स्वेदोदक दधत्या इति सात्त्विकोक्ति । कान्तवक्षसि पतन्त्या इत्यौत्सुक्योक्ति । योषितो या लुलितमण्डनता स्रस्तप्रसाधनत्वम् । भावे तल् । सैव मण्डन बभूव । तादृशक स्वाभाव्येति भाव ॥ ४१ ॥

(पति के प्राप्त कर लेने पर) रमणियाँ अपने अपने पति के वक्षस्थल पर लेटी हुई थीं और रोमाञ्च हो जाने पर नये २ सम्पर्क (संगम) से उत्पन्न श्रमकण धारण करती थीं जिससे उनके मण्डन (शोभा) की सामग्री मिट गई, किन्तु वही उनकी शोभा हो गई ॥ ४१ ॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्ज ।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥ ४२ ॥

शीध्विति ॥ शेरतेऽनेनेति शीधु पक्वेक्षुरसविकारो मद्यविशेषस्तस्य पानेन विधुरासु विमूढासु । तथा दयितै सगतासु स्वयप्राप्तासु च कामिनीषु अतिमानवतीषु । आशु मान कोप निगृह्णन् निवर्तयन् । शिथिलीकृता लज्जा येन स मदनो नु मदो नु । उपलेभे । लभ्यते स्मेत्यर्थ । प्रियसमागमशीधुपानरूपोभयकारणासङ्गादुभयथा माननिग्रहाद्यनुभावसाधारण्याच्च सदेह । स एवालङ्कार ॥ ४२ ॥

शीधु (ईख के रस से बनाया जाता है और वह एक प्रकार का शराब है) पान करने से वे अप्सरायें मतवाली हो गई थीं और अपने प्रेमियों के पास स्वय पहुँच गई थीं। उनमें, उनके मान को शीघ्र ही भङ्ग करते हुए, तथा उनकी लज्जा को भी दूर करते हुए काम

देव और मन दोनों क्षुभित होने लगे (परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि यह दशा उनकी किसके द्वारा हुई काम के द्वारा अथवा मद (नशा) के द्वारा ' ॥ ४२ ॥

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥ ४३ ॥

द्वारीति ॥ द्वारि त्वदागमनमार्ग एव चक्षुः इत्यौत्सुक्योक्तिः । अधिपाणि पाणौ करे कपोलौ इति चिन्तोक्तिः । किं बहुना जीवितं त्वयि त्वदधीनम् । त्वां विना न जीवतीत्यर्थः । इति गाढानुरागोक्तिः । अतोऽस्याः कलहो विग्रहः कुतः । इति एवं कामिनां प्रीतये पुनरुक्तं पुनःपुनरुच्यमानं वचो दूतीवाक्यं नवनवत्वं नवप्रकारत्वमपूर्वत्वम् । इयाय । प्रकारार्थे द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । काम्यानुराग-प्रकटनात् कामिनः प्रहृष्यन्तीति भावः । स्वागतावृत्तमेतत् ॥ ४३ ॥

कतिपय सुराङ्गनाओं के कलह से उनके प्रेमीजन भी कुछ कुछ रूठ बैठे थे उन युवतियों ने अपनी सखियों से प्रेरणा किया कि वे उनके चरणों को प्रसन्न कर दें अतः वे (सखियाँ) उनके प्राणप्यारों से कहती हैं — 'वह (आपकी प्रियतमा) (आप के आगमन की प्रतीक्षा करने के लिये) दरवाजे पर दृष्टि लगाये रहती है । अपने हथेली पर कपोल रखकर बैठी रहती है (अर्थात् चिन्ता में पड़ी रहती है) उसका जीवन आप के अधीन है । फिर उनका झगड़ा (कलह) कहाँ' इस प्रकार का बात चीत से जो सखी के द्वारा की गई कामियों के हृदय में नये नये प्रेम के अङ्कुर उगने लगे ॥ ४३ ॥

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम् ।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गतावुपरराम च लज्जा ॥ ४४ ॥

साचीति ॥ लोचनयुगं साचि तिर्यक् नमयन्ती लिये तिर्यक् पातयन्ती । न तु सम्मुखमीक्षयेत्यर्थः । दयितवक्षसि पातं रुन्धती हस्तमपि प्रतिषेधती लज्जा सुभ्रुवो नायिकाया विभूषां शोभां जनयति स्म । सम्प्रति सुरतमध्ये सति उपरराम च । एवं यतस्तदा चाभूषणमेवेति भावः । विभाषाकर्मकात् इति परस्मैपदम् ॥ ४४ ॥

जो सङ्कोच सुर रमणियों को सीधे अवलोकन करने में असमर्थ बनाता था अर्थात् कनौन्ही दृष्टि से देखने को बाध्य करता था और पति देव की तरफ अवलोकन करने के लिये भी मना करता था और उन सुलोचनाओं की शोभा की वृद्धि करता था वह पति के साथ सङ्गम काल में उन युवतियों के यहाँ से धीरे धीरे विदा हो चला ॥ ४४ ॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन ।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिबाष्पनिपातः ॥ ४५ ॥

सव्यलीकमिति ॥ सव्यलीकं सापराधम् अत एव अवधीरितोऽवज्ञातः सन् खिन्नस्तम् । पूर्वकाल इत्यादिना तत्पुरुषः । सपदि कोपस्य पदेन व्याजेन प्रस्थितं

निर्गच्छन्तं प्राणनाथं प्रियं योषित् सवन्ती अभिबाष्पनिपातं आभिमुख्येनाश्रुमोचं सुहृदिव रुणद्धि स्म रुरोध । बाष्पपातस्य मन्युमोचकलिङ्गतया प्रस्थानप्रतिबन्धकत्वात् सुहृदौपम्यम् । इयमधीरा खण्डिता—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते पत्यौ खण्डितेर्ष्याकषायिता । अधीराश्रु विमुञ्चन्ती विज्ञेया चात्र नायिका ॥' इति दशरूपके ॥ ४८ ॥

उन में से किसी एक अप्सरा के हृदयेश (पति), जो कुछ अपराध कर बैठे थे उसके कारण दिये गये तिरस्कार से खिन्न होकर क्रोध की मुद्रा बनाकर शीघ्र ही चल पड़े । यह देख उस रमणी ने अधीर होकर आँसू बहाया जिसके कारण पतिदेव रुक गये । इस अश्रुपात ने उनके लिये मित्र का काम किया ॥ ४८ ॥

शङ्कितायं कृतबाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखितां दयिताय ।
मानिनीमभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः ॥ ४९ ॥

शङ्कितायेति ॥ शङ्किताय दयितापराधविरक्ताय नायकाय । ईर्ष्यया विमुखितां विमुखीकृताम् । अत एव कृतबाष्पनिपातां मानिनीं घनरोमविभेदः सान्द्रपुलकोद्गमोऽभिमुखमाहितं चित्तं यया ताम् । विप्रकोपामित्यर्थः । शंसति स्म । व्यनक्ति स्मेत्यर्थः । अन्यथा सात्त्विकानुदयादिति भावः । अत्रापि पूर्वोक्तैव नायिका ॥ ४९ ॥

उन सुरबालाओं में से किसी एक ने ईर्ष्या से अपने पति से मुख फेर लिया और उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगने लगी । उसके शरीर के रोमाञ्चने प्राणनाथ से जो सन्देह ग्रस्त थे, सूचना दी कि वह अब अनुरक्त है और आप में उसका चित्त भी लगा हुआ है ॥ ४९ ॥

अथ सम्भोगशृङ्गारमाह, तत्रापि बाह्यरतमाह—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन ।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ॥ ५० ॥

लोलेति ॥ प्रियतमे लोलदृष्टि चञ्चलेक्षणं दयिताया वदनं रभसेन बलात्कारेण चुम्बति सति विनीवि निर्गतबन्धनम् । अंशुकं नितम्बाद्व्रीडया सह शिथिलतामुपपेदे । उभयमपि शिथिलमासीदित्यर्थः । अत्र व्रीडांशुकयोः सम्बन्धभेदेऽभिन्नशिथिलतासम्बन्धरूपतयैक्याध्यवसायनिबन्धनातिशयोक्तिमूलः सहोक्तिविशेषोऽलङ्कारः । अत एव व्रीडांशुकौपम्यं च व्यज्यते । अत्र वात्स्यायनः—'बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं रतमुच्यते । तत्राद्यं चुम्बनाश्लेषनखदन्तक्षतादिकम् ॥ द्वितीयं सुरतं साक्षात्नानाकरणकल्पितम् ॥' इति ॥ ५० ॥

पति के द्वारा वल्लभा के जिसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे, मुख का चुम्बन करने पर नीवी (वस्त्रग्रन्थि) खुल जाने से लज्जा के साथ साथ वस्त्र भी नितम्ब से खिसक पड़ा (अर्थात् वस्त्र तो नितम्ब से छूट ही गया लज्जा ने भी अपनी राह ली) ॥ ५० ॥

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि ।

मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः ॥ ४८ ॥

ह्रीतयेति ॥ गलितनीवि गलितबन्धं तथापि अवलम्बिता काञ्ची येन तत्। काञ्चीलग्नमित्यर्थः । तत् अन्तरीयमधोंशुकम् । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः । निरस्यन् आक्षिपन् । हृदयेशः प्रियो ह्रीतया लज्जितया । ह्रीधातोः कर्तरि क्तः । दयितया मण्डलीकृतो वर्तुलीकृतः पृथुस्तनभारो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । गाढमित्यर्थः । सस्वजे आश्लिष्टः । प्रियवक्षःप्रतिबन्धायेत्यर्थः ॥४८॥

पतिदेव नीवीविहीन तन के नाद (मानो) प्रियतमा के परिधान को जो काञ्ची के सहारे रुके हुये थे दूर हटाते हुये प्राणेश्वर के द्वारा वह स्तनों को दबाकर (गाढ़) आलिङ्गित किये गये ॥ ४८ ॥

आदृता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।

सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥ ४९ ॥

आदृता इति ॥ परिरम्भा आलिङ्गनानि नखपदैर्हेतुभिः । आदृता अभिमताः । हेतौ इति तृतीया । तथा चुम्बितानि चुम्बनानि घनदन्तनिपातैर्गाढदन्तक्षतैर्हेतुभि रादृतानीति लिङ्गविपरिणामः । सुरतसुखोद्दीपकत्वात्कान्तदन्तक्षतपूर्वकेष्वालिङ्गनचुम्बनेष्वादर संवृत्त इत्यर्थः । ननु सुकुमारे कामतन्त्रे कथं पीडाकरेष्वादर इति न वाच्यमित्याह—सौकुमार्येति । सौकुमार्यमेव गुणस्तेन संभृतकीर्तिर्लब्धयशाः कामः सुरतेषु संभोगेष्वपि । न केवलं विप्रलम्भेष्विति भावः । वामः क्रूर एव । सुकुमार काम इति प्रवादमात्रम् । वस्तुतस्तु पाकशासन सुरतभावकठोर भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४९ ॥

आलिङ्गन की प्रशंसा नखक्षतों के कारण ही होती है। चुम्बन की शोभा घने दाँतों के द्वारा किये गये क्षत से होती है। जो सुकुमारता के कारण भावनक प्रशंसनीय है वह मदन (कामदेव) सुरत समय विपरीत (क्रूर) हो जाता है। नखक्षत और दन्तक्षत ये सब क्रूरों के ही काम हैं ॥ ४९ ॥

अथाभ्यन्तर रतमाह—

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।

योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥ ५० ॥

पाणीति ॥ रहसि एकान्ते इति निरर्गलत्वोक्तिः । गद्गदवाचां स्खलद्गिरां योषितां सम्बन्धीनि पाणिपल्लवयोर्विधूननं कम्पनम् । अन्तः सीत्कृतानि सीत्काराः । एतेन कुट्टमितस्यो भाव उक्तः । अधरग्रहणादौ सुखेऽपि दुःखवदुपचारः कुट्टमितम् इति लक्षणात् । नयनार्धनिमेषाः अर्धनिमीलितानि । रहस्यकान्ते गद्गद

वाचा योषितामिति विशेषणसामर्थ्याद्गद्गदकण्ठत्व चेत्येतानि मदनस्याज्ञतामुपययु । अस्त्रवत् पुंसामुद्दीपनान्यासन्नित्यर्थः । अत्र सीत्काराद्यर्धनिमेषादिना सुखपारम्यस्य व्यज्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये—'स्खलता वपुषि मीलनं दृशोर्मूर्च्छना च रतिलाञ्छनम् । श्लेषयेत्स्वजघनं मुहुर्मुहुः सीत्करोति गतलज्जिताकुला ॥' इति ॥ ५० ॥

(सुरतकाल में) सुरयुवतियों के स्खलित वचन, करकिसलय का सञ्चालन, सीत्कार के शब्द और अर्द्धनिमीलित नेत्र—ये सब कामदेव के लिये अस्त्र बन गये (अर्थात् इन्हीं क्रियाओं के द्वारा कामदेव धीरे २ अपना काम (प्रहार) करने लगा) ॥ ५० ॥

अथ मधुपानवर्णनमारभते—

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्षयन्त्यपुनरुक्तरसानि ।
सस्मितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः ॥ ५१ ॥

'पातुमिति ॥ युवानः आहितरतीनि वर्धितरागाण्यत एव अपुनरुक्तरसानि पुनः पुनः पानेनाप्यपूर्वस्वादान्यत एव तर्षयन्ति तृष्णोत्पादकानि । अतृप्तिकराणीत्यर्थः । सस्मितानि वधूनां वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुमभिलेषुरिच्छन्ति स्म । अत्र प्रस्तुतानामेव वदनानां मधूनां च पानक्रियौपम्यस्य गम्यत्वात्केवलं प्राकरणिकविषयतया तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । 'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

सुरयुवतियों का अपने २ प्रियों के साथ मद्यपान करने का वर्णन किया है —

(युवक गन्धर्वों ने मद्य और युवतियों के मुख) में अनुरक्त होकर युवतियों के मुखों तथा कमलयुक्त मदिराओं का पान करने के लिये इच्छा प्रकट की। युवतियों के मुख पर मन्दहास सुशोभित हो रहा था। उनसे उन लोगों की तृप्ति भी नहीं हो पाती थी और बार २ उनका स्वाद लिया था तथापि उनके लिये वे अनास्वादित से मालूम होते थे ॥५१॥

कान्तसंगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।
मानिनीजन उपाहितसंधौ संदधे धनुषि नेषुमनङ्गः ॥ ५२ ॥

कान्तेति ॥ कान्तसंगमेन पराजितमन्यौ त्यक्तरोषे । तदधिकत्वात्तस्येति भावः । किंच, वारुणीरसनेन मद्यास्वादेन शान्तो विवादो वाक्कलहादिर्यस्य तस्मिन् । अत उपाहितसंधौ प्रियैः सह कृतसंधाने मानिनीजने विषयेऽनङ्गो धनुषीषुं न संदधे संधानं नाकरोत् । सिद्धसाध्ये साधनवैयर्थ्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

प्रिय के संयोग से मानिनी जन का क्रोध ठंडा पड गया, मदिरा के आस्वादन से कलह भी मिट गया, और अब उन्होंने अपने प्रिय के साथ सन्धि भी कर ली। अतः कामदेव ने धनुष की प्रत्यञ्चा पर शर-सन्धान नहीं किया ॥ ५२ ॥

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपिताश्च वरिवस्यत यूनः ।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥ ५३ ॥

कुप्यतेति ॥ यून प्रियान् कुप्यत यूनां कोपं कुरुत । मात्र क्रुधद्रुह इत्यादिना यूनां संप्रदानत्वे चतुर्थी । तस्य च प्रति कोप इति नियमात् । अत्र कोपस्ता- वत्कृत्रिम इति भावः आनतचित्ता अनुकूलचित्ता भवत । किंच कोपितांस्तान् वरि- वस्यत परिचरत । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच् । वरिवसः परिचर्यायामि- त्यर्थे तस्य नियमश्च । इति पूर्वम् । अनेकोऽनेकप्रकारो य उपदेशः प्रवर्तकवाक्यं स इव मधुवारो मधुपानावृत्तिः । 'मधुवारा मधुक्रमाः' इत्यमरः । युवतिभिः स्वाद्यते स्म । मधुवारस्य कोपादिकार्यप्रवर्तकत्वसाम्यादुपदेश इवेत्युत्प्रेक्षा । अभियुक्ता बहु मतत्वेऽपि इति भावः ॥ ५३ ॥

प्रेमियों को क्रुद्ध हो जाने दो उनके अनुकूल हो जाओ क्रुद्ध हो गये हैं (उनको) सेवा करके मनाओ इस प्रकार के अनेकों उपदेशों की तरह युवतियों ने बार बार मधु रसास्वादन किया ॥ ५३ ॥

मद्यैर्मिः प्रणयसंभ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा ।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥ ५४ ॥

मद्यैरिति ॥ मद्यैर्मिः प्रणयसंभ्रमाभ्यां प्रेमादराभ्यां दत्ताम् । 'संभ्रमः साध्वसे अपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति विश्वः । अत एव अतिरसामधिकस्वादां वारुणीं वरुणात्मजाम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद्वरुणात्मजा' इत्यमरः । रसयित्वाऽऽस्वा- द्य वधूभिर्ह्रीविमोहविरहात् लज्जा अज्ञानापगमाद्धेतोः पाटवं पटुत्वं नु हृदयं ज्ञान विशेषं नु । उपलेभे । अत एव हृदयस्य तत्कार्यज्ञानसामर्थ्यसिद्धमेव प्रागसत्त्वात् कथमिति संदेहः । अन्यथा कथं प्रियं प्रति वाक्येत्यादिषु प्रवृत्तिरिति भावः । संदेहालङ्कारः ॥ ५४ ॥

अप्सराओं ने अपने २ प्रेमियों के द्वारा प्रेम और आदर के साथ प्रदान की [illegible] मदिरा को खूब पान किया । अब मद के कारण लज्जा और मूढ़ता का कहीं पता न रहा । यह दशा उनकी पटुता के कारण अथवा ज्ञान के कारण हुई पता नहीं ॥ ५४ ॥

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥ ५५ ॥

स्वादित इति ॥ स्वयं स्वादितः । आदौ स्वयमेवाहृत्य पीतः अथ अनन्तरं प्रिय- तमैरेधितमानं वर्धितबहुसंमानं यथा तथा लम्भितो ग्राहितः । स्वहस्तेन पायित इत्यर्थः । तत प्रियतमैः सह पीतः । युगपदेकपात्रेण पीत इत्यर्थः । आसवः प्रमदानां प्रतिपदं प्रतिवारं नैकरूपरसतामनेकविधरसत्वमिव । नञर्थस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति

-समास । नञ्समासे नलोप स्यात् । मेव इव भापेव । उपचारविशेषाद्धोऽन्येषु रस-विशेष स्यादिति भाव । आस्वादनादिपदार्थानामनेकरसत्वाप्राप्तिहेतुत्वात् काव्यलिङ्ग तावदेक स्वादनादीनामनेकधर्माणामेकस्मिन्नेव सर्वंक्रमेण सबन्धात्पर्यायभेदश्च, तयोश्च -ससृष्टयोरनेकरसत्वोत्प्रेक्षावीजत्वात्तया सहाङ्गाङ्गिभावेन सकर ॥ ५५ ॥

मद्य (शराब) पहले स्वय पान किया गया फिर आदरपूर्वक प्रियतमों के द्वारा प्राप्त कराया गया । पश्चात् एक ही पात्र में उनके साथ पान किया गया । प्रतिबार (जितनी बार मद्यपान किया गया उसमें हरबार) एक तरह के स्वाद का अनुभव न हुआ किन्तु बार बार उसका स्वाद बदलता गया ॥ ५५ ॥

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।
आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्प ॥ ५६ ॥

भ्रूविलासेति ॥ भ्रूविलासै सुभगान् सुन्दरान् । वधूनयनाना विभ्रमाननुकर्तुं नैरात्मान समीकर्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षार्थत्वात् । मृदुविलोलपलाशैरीषच्चञ्चलदलै । उत्पलै । चषकेषु या वीचयो मधूर्मयस्तासु य कम्प स आददे स्वीकृत । न तु स्वकम्पस्तस्य विलोलविशेषणेनैवोक्तत्वात्तत्स्वीकारश्च तद्योग एव । एवं नेत्रमात्रसाम्य-भाजामुत्पलाना कम्पनामषीवियोगात्सुभ्रूविलासनेत्रसाम्य जातमित्यर्थ ॥ ५६ ॥

चषक में पड़े हुये कोमल और चल दल युक्त कमल मदिरा में उठनेवाली लहरियों से कम्पित हो रहे थे उस समय यह मालूम पड़ता था मानो वे सुरयुवतियों के नेत्रों के चाञ्चल्य का जो कटाक्षपात के कारण परम रम्य था, अनुकरण कर रहे थे । अर्थात् जब वे अप्सरायें मद्यपान कर रही थीं उस समय मद्यपात्रस्थ मदिरा में तरङ्गें उठ रही थीं जिससे कमल के दल विचलित हो उठे जिन्हे देखने पर प्रतीत होता था कि मानो वह अप्सराओं की आँखों की नकल करते चलते है ॥ ५६ ॥

ओष्ठपल्लवविदशरुचीना हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवार ॥ ५७ ॥

ओष्ठेति ॥ ओष्ठ एव पल्लवस्तस्य विदशो दशने रुचिरभिलाषो येषा तेषाम् । सुखसुरापानमिषेणाधर पिपासतामित्यर्थ । रमणाना फुल्लानि लोचनान्येव विनील-सरोजानि येषु तै । अङ्गनास्यानि एव चषकाणि पानपात्राणि । 'चषकोऽस्त्री पान-पात्रम्' इत्यमर । तै, मधुवारो मधुपानवृत्तिर्हृद्यता हृदयप्रियतामुपययौ । 'हृदयस्य प्रिय' इति यत्प्रत्यय । ' हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु-' इति हृद्भाव । रमणविशेष-णार्थहेतुकत्वाल्लिङ्गसंकीर्णरूपकालङ्कार ॥ ५७ ॥

किसलयानुकारी अधर के पान करने के अभिलाषी प्रेमीजन—

रमण करने वाले प्रेमीजन प्रेमिकाओं के अधर पल्लवों का रसपान करने की अभिलाषा

करके युवतियों के मुख को मद्यपात्र के समान थे उनके विकसित नेत्र भी पात्रस्थ नील कमल के सदृश थे इस प्रकार से मानो वे मद्यपान की आवृत्ति कर रहे थे वह उन्हें बहुत ही आनन्द-प्रद हुआ ॥ ५७ ॥

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः ।
तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥ ५८ ॥

प्राप्यत इति ॥ गुणवतापि आश्रयवशेन गुणानां विशेषः प्रकर्षः प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा । उक्तं तथैवेत्यर्थः । हि यस्मात् । दयितानाम् आननेन करणेन दत्तं मधु रसातिशयेन स्वादुप्रकर्षेण कर्त्रा व्यानशे व्याप्तम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५८ ॥

'गुणों से सम्पन्न आश्रय के कारण गुणों में विशेषता आ ही जाती है यह बात स्पष्ट है क्योंकि प्रियतमा के द्वारा अर्पित मद्य ने स्वाद के आधिक्य से मद्यपान के कर्ता को अपनी तरफ खींच लिया ॥ ५८ ॥

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।
जज्ञिरे बहुमताः प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवाराः ॥ ५९ ॥

वीक्ष्येति ॥ रत्नचषकेषु स्फटिकादिमणिपात्रेषु । अतिरिक्तां पानकालगमनात्पूर्वाभ्यधिकां कान्तस्य पत्युः दन्तपदमण्डनं तस्य लक्ष्मीं शोभाम् । प्रतिबिम्बितामिति शेषः । वीक्ष्य । ओष्ठयावकनुदोऽधरलाक्षारागहारिणो मधुवाराः मधुपानाभ्यासाः प्रमदानां बहुमता अभिमताः । वर्तमाने क्तः । तद्योगात्षष्ठी । जज्ञिरे जाताः । तेषां प्रियानुरागचिह्नप्रकाशकत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

मद्य के बार २ पान करने से युवतियों के ओष्ठ प्रदेश की लाक्ष महावर छूट गई थी तथापि युवतियों ने रत्न के बने हुये मद्यपात्र में प्रियतम के द्वारा किये गये दन्त क्षत रूप आभूषण की शोभा को स्पष्ट प्रतिबिम्बित देखकर पुनः पुनः मद्यपान को अपना समझा ॥ ५९ ॥

मधुपानाद्विलोचनेषु रागोत्पत्तिः अधरेष्वपि लाक्षारागनिवृत्तिः, मद्यस्याननयो-गादन्यगन्धसङ्क्रान्तिरिति स्थिते सत्युत्प्रेक्षते—

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने ॥ ६० ॥

लोचनेति ॥ लोचने चाधरश्च लोचनाधरम् । सप्तम्याभावः इति 'व्यभिचार ज्ञापकाल्लाक्षाधरपदस्य पूर्वनिपातः । कृताहृतावित्यत्रापि विशेषणसमासः । लोचनाधरस्य कृताहृतो रागो यया सा तथोक्ता । लोचनयोः कृतरागाधरादाहृतरागा कृतरागा चेत्यर्थः । यद्वाप्यार्थसम्बन्धात्सामान्यस्य योगविशेषे पर्यवसानमियमेना

धिकरणापादानार्थयोराक्षेपात्। तथा चाधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयो स्थानपरिवृत्तिं कृतवतीत्यर्थः। तथा वासितेन स्वक न्तिसुरभितेन आननेन विशेषितोऽतिशयितो गन्धो यस्याः सा। यद्वा,-वासितानना वासावर्यादानेनैव विशेषितगन्धा चेति कृत-बहुव्रीहिर्विशेषणसमास । उभयत्राप्याननसक्तवासस्वगन्धा स्वसकान्ताननगन्धा चेत्यर्थः। एवभूता वारुणी मदिरा परगुणात्मगुणाना परयोर्लोचनाधरयोर्गुणो च परस्यानलस्य गुण आत्मनो वारुण्या गुणश्च परगुणात्मगुणास्तेषा परगुणात्मगुणाना व्यत्यय विनिमय तु चितेने विस्तारयामास। चित्तन भ्रामादिकी वस्तुपरिवृत्तिर्व्यत्यय । बुद्धिपूर्वा तु विनिमय । अत्र तन्त्रोच्चरितस्य 'परगुण' शब्दस्यावृत्त्या परगुणौ च परगुणात्मगुणौ चेति विग्रह कथञ्चिद्गत्या बोद्धव्य । उपमानपूर्वपदबहुव्रीहिवत् । तथा चायमर्थ —परगुणयोरधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोर्व्यत्यय तु विनिमय तु वितेने, तथा परगुणात्मगुणयोराननगन्धात्मगन्धयोर्व्यत्यय तु वितेने । अन्यथा कथमन्यस्मिन्नन्यधर्मोपलम्भ सम्भवतीति भाव । अत्र लोचनाधररागयोस्तद्भाव-योश्च भेदेऽप्यभेदाध्यवसायादेकस्यैवाप्युक्ति । तस्मात्सम्मूलातिशयोक्त्यनुप्राणिता चेय व्यत्ययविनिमययोरन्यतरकरणादुत्प्रेक्षेति सक्षेप । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जका-प्रयोगात्। 'तुर्वाप्यस्तु सन्नाये ॥ ६० ॥

'मदिरा ने (सुन्दरियों के) नेत्रों को रञ्जित कर दिया था और उनके अधरों की रक्तिमा [जो महावर लगाने से थी] को अपहरण कर ही लिया था।' उसने उनके मुख को अपनी गन्ध से सुवासित कर दिया था तथा वह उसके मुखसुरभि से स्वय सुरभित हो गई थी वह उसने अपने गुणों से दूसरे के गुणों का विनिमय [अदल बदल] किया था अथवा भ्रम में उलट फेर ही कर दिया था ॥ ६० ॥

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्णो कर्णग निरुपकारि विदित्वा ।
योषित सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदराग ॥ ६१ ॥

तुल्येति ॥ अक्ष्णोस्तुल्यरूपमभितुल्याकृति योषित कर्णग कर्णावतंसीकृतम् । असितोत्पल निरुपकारि अनुपकारक विदित्वा ज्ञात्वा । तत्कार्यशोभाया कर्णान्त-विश्रान्तेनाक्ष्णैव कृतत्वादिति भाव । मदराग सुहृदिव उत्पलस्य बन्धुरिव । अनिष्ट-वारकत्वादिति भाव । लम्भितेक्षणरुचिराहितनयनकान्ति सन् । प्रविभेजे वर्णान्तरा-पादनेन प्रविभक्तवान् । अतैलवर्णकरणादक्ष्णो व्यावर्तयामास । ततो विच्छित्तिकरत्वा-दिति भाव ॥ ६१ ॥

एक अप्सरा ने अपने कान पर नीलकमल को धारण कर रक्खा था वह बिल्कुल नेत्र के रग से मिलता जुलता था उसी के विषय में कवि वर्णन कर रहा है —

मदराग ने कर्णोत्पल को आँखों के समान नीले रग का देखकर और उसे व्यर्थ समझ कर नेत्र के रगो को अरुणिमा में परिणत कर मित्र के समान कमल की सेवा की तात्पर्य

यह है कि उस सुन्दरी ने अपने कानों पर जो नील कमल का पुष्प धारणकर रक्खा था—वह ठीक आँखों के रंग का था अतः उसकी निश्चलता बोल पड़ान्व हो गई थी जिससे कर्णोत्पल को जगह को तो वह ही शोभित कर देती फिर उसकी क्या आवश्यकता होती बिल्कुल व्यर्थ हो जाता और वह नायिका उसे फेंक देती ये सब बातें सोच समझ कर मदरागने आँखों को ही लाल रंग में रंग दिया। जिससे आँखों से अपना शोभा होने लगी और कर्णोत्पल से अलग। अतः वह बेकार न हो पाया ॥ ६२ ॥

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसंभृतशोभः ।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥ ६२ ॥

क्षीणेति ॥ अतिपानैः क्षीणयावकरसः क्षीणलाक्षारागोऽपि कान्तस्य दयितस्य दन्तपदैः दन्तक्षतैः संभृता शोभा यस्य सः । वध्वाः अधरपल्लवरागोऽतितरामति-मात्रम् । अतिशयाद्युत्तरव्याख्ये किमेतिकमत्र इत्यादिनाऽमत्यय । तद्वितथा सर्वे मेमे के: द् बध्ययनसंज्ञा । सान्द्रतां घनत्वम् । आययाविव । प्रियोपभोगचिह्न न वेदनानां कामिन्यवयवानां किमप्यर्मगलैरिति भावः । तत्र क्षीणस्यापि सान्द्रतेति विरोधात् कान्तदन्तक्षतादिविशेषणमता सान्द्रत्वे हेतुत्वात् काव्यलिङ्ग तत्संकीर्णा चोत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

बार बार मद्यपान करने से सुन्दरियों के ओठ पर लगाये गये महावर धुलकर साफ हो गये थे तथापि ओष्ठपल्लव की लालिमा जो प्रियतमों के द्वारा किये गये दन्तक्षत से शोभित हो रही थी और अधिक बढ़ गई ॥ ६२ ॥

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु ।
सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥ ६३ ॥

रागेति ॥ वनितानां सर्वाङ्गाऽपि सर्वाङ्गव्यापि । अत्यन्तसंयोगे इत्यादिना द । मदश्री रागेण कान्तानि नयनानि येषु तेषु । विद्रुमवदरुणानि कपोलतलानि येषु तेषु । मुखेषु दर्पणेष्विव नितान्तं ददृशे । तेषां नयनादिनैर्मल्येन रागाभिव्यक्ति-संभवादिति भावः । अत्र मदश्रीः सर्वगतापि मुखेष्वेव ददृशे इति विरोधः । तस्य मुखविशेषणैः समाधानात् काव्यलिङ्गानुप्राणितो विरोधाभासोऽलङ्कारः । स चोपमया संसृज्यते ॥ ६३ ॥

मदश्री यद्यपि उन सुन्दरियों के सर्वाङ्ग में झलक रही थी तथापि मदराग से रञ्जित [अरुण] नेत्र अत्यन्त सुन्दर दिखलाई पड़ते थे कपोलस्थली भी प्रवाल [मूँगे] के सदृश लाल दिखलाई पड़ता था। मुख को अर्थात मुख में अधिक झलक रही थी ॥ ६३ ॥

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये ।
वश्यता मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥ ६४ ॥

बद्धेति ॥ बद्धा कोपेन विकृतिर्याभिस्तास्तथाभूता अपि रामा कर्म चारुता तासां सौन्दर्यं कर्त्री अभिमतता प्रियत्वाख्यम् । उपनिन्ये । सौन्दर्यं हि विकृतिमपि रोचयत इति भावः । मधुमदो दयितानां वश्यता विधेयत्वमुपनिन्ये । तथाहि-सर्व आत्मवर्गहितमिच्छति । अतश्चारुता स्त्रीत्वात् स्त्रीणामुपचकार । मधुमदस्तु पुंस्त्वात् पुंसामिति युक्तमित्यर्थः । अत्र विकृता अप्यभिमता कुपिता अपि वश्या इति विरोधस्य चारुतामदाभ्यां समाधानादुभयत्रापि विरोधाभासो भवन्नर्थान्तरन्यासेन सङ्कीर्यते ॥ ६४ ॥

क्रोध करने के कारण [नाक भौंह सिकोड़ने से] युवतियों में कुछ विकार आ गया था परन्तु सुन्दरता ने उसे अभीष्ट बना दिया । मधुमदने उन सुन्दरियों को अपने २ पति के वश में कर दिया । क्योंकि सभी लोग अपने अपने पक्ष का कल्याण चाहते हैं तात्पर्य यह है कि 'सुन्दरता' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'मदराग' शब्द पुलिङ्ग है, सुन्दरता ने स्त्रियों के सौन्दर्य को क्रोधादिकके कारण विकृत न होने दिया । यहाँ स्त्री ने स्त्री का उपकार किया । मदराग को देख स्त्रियाँ पतियों पर मुग्ध हो गई । यहाँ पुरुष (मदराग) ने पुरुष जाति का उपकार किया ॥ ६४ ॥

वाससा शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि ।
योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ॥ ६५ ॥

वाससामिति ॥ उपनाभि नाभिसमीपे वाससां शिथिलतां ह्रीनिरासं लज्जात्यागम् । अपदे कुपितानि अस्थानकोपांश्च गुणपक्षे गुणकोटौ विदधती निवेशयन्ती । दोषानप्येतान्गुणान्कुर्वतीत्यर्थः । मदिराऽपि योषितां वचनीयम् 'न नाभिं दर्शयेत्' इति शास्त्रनिषिद्धाचरणनिन्दां निर्ममार्ज । तथा दोषाणामपि मदशैथिल्याद्दोषत्वे सत्यानीं गुणत्वान्न कश्चिद्वचनीयावकाश इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

मदिरा ने सुन्दरियों के नाभिप्रदेश के परिधान को शिथिल कर दिया, [जिससे आवृत नाभि खुल गयी] लज्जा को दूर भगाया, और बिना कारण उन्हें [सुन्दरियों को] कुपित किया । इस तरह उन्हें गुण की श्रेणी में रखकर [नाभि दिखलाना, निर्लज्ज बनना, तथा अकारण क्रोध करना]—इत्यादि अपवादों को उनके पास फटकने नहीं दिया (उन्हें मिटा ही दिया) भाव यह है कि शास्त्र में लिखा है "स्त्रियों को नाभि नहीं दिखलानी चाहिये, निर्लज्ज भी नहीं होनी चाहिये तथा किसी पर अकारण क्रोध भी नहीं करना चाहिये ।" मदिरा पान करने से ये तीनों दोष उनमें आ गये । उन्होंने सब कुछ कर डाला इसलिये वे निन्दा के पात्र थीं तो भी मदिरा पान करनेवालों के लिये ये

सब दीवावद नहीं होते यही कारण है कि वे उत्सव सभी में ही रह गई। कोई किसी प्रकार को निन्दा न कर सका ॥ ६५ ॥

मद्‌ यूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम्‌ ।
व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ॥ ६६ ॥

मद्‌ मिति ॥ उपसखि सखीसमीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। आत्मन। स्वदेहान्‌। आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि इति वैजयन्ती। मद्‌ यु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम्‌। मद्‌ यातुपरि पतन्तीनामित्यर्थः। आत्मनीनयोनुम्‌ इति विकल्पादनुमभावः। कुतः। मधुमदेनोद्यमितानां प्रेरितानाम्‌। न तु स्वेच्छयेति भावः। वनितानामनुरक्तस्त्रीणाम्‌। वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति इति विश्वः। हृदयेषु विफलया। अनुचितत्वरया इति भावः। व्रीडया न स्थितं न विगतम्‌। वैफल्यात्तस्या मदोपाधिकत्वाच्चेति भावः। अत एव नोभयमित्यविरोधः ॥ ६६ ॥

उन अनुरागवती अप्सराओं ने जो मदिरा के नशे से प्रेरित [redacted] रही थी सखियों के समीप अपनेको प्रियतमोंके ऊपर गिरा दिया। इस तरह उनका लज्जा करना व्यर्थ हो गया। इससे वह स्पष्ट न हो पाया कि लज्जा उनके हृदय में वर्तमान है अथवा चली गई ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीबता बहुगुणैरनुजह्रे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकासं प्रागल्भ्यं रुन्धती प्रतिबध्नती। तथा परिरम्भ आलिङ्गने सादितौ उभौ करौ यया सा युवतीनां सम्बन्धिनी क्षीबता मत्तता। कर्तरि क्तः। अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः इति निपातनात्साधुः। क्षीबो मत्त तस्य भावः क्षीबता। ललतोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः। बहुगुणैः स्खलद्वचनोक्त्यादिभिर्व्रीडितस्य लज्जायाः। भावे क्तः। ललितं विलासम्‌। अनुजह्रेऽनुचक्रे। कर्तरि लिट्‌। व्रीडाकार्यकरत्वात्क्षीबताऽनुकरणमित्युपमालङ्कारः ॥६७॥

रुन्धती (मत्तापन) ने नेत्र और वाक्यों के विस्तार को रोक दिया (अर्थात्‌ आँखें झिपने लगीं और मुख से बात बन्द हो गई) आलिङ्गन के लिये हाथों को अशक्त बना दिया इस प्रकार के अनेकों गुणों से युवतियों की लज्जा के द्वारा किये गये हाव भावादिकों का अनुकरण किया अर्थात्‌ लज्जा के कारण जहाँ सामने की तरफ देख नहीं सकतीं मुखसे बात नहीं निकल पाती और हाथ स्तम्भित हो जाते हैं वहां दशा मदिरा पान के पश्चात्‌ मत्तापन में भी [redacted] इससे कहा गया है कि मत्तापनने लज्जा से ही यह सब कुछ सीखा है ॥ ६७ ॥

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम्‌ ।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम्‌ ॥ ६८ ॥

योषिदिति ॥ उद्धत उत्कटो मनोभवेन यो राग प्रीति यस्या सा योषि मानवत्यपि दयितस्याङ्क ययौ। यतो मानाद्रागो बलीयानिति भाव । लाघवदोष परिहरति – कारयतीति । अनिभृता चपला । न कार्यकारिणीत्यर्थ । वारुणी मदिरा गुणेषु दोषेषु च विषये । सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति । रहस्यविभेद रहस्यभङ्गं कारयति खलु । बलान्निगूहितावपि गुणदोषौ प्रकाशयतीत्यर्थ । यतोऽतिगूढरागप्रकटन प्रकटमानत्यागश्च प्रमत्ताया न लाघवमावहति । अबुद्धिपूर्वकत्वादिति भाव ॥६८॥

जो सुराङ्गना मान कर बैठी थी वह भी कामदेव के कारण अनुराग दिखला कर अपने प्राणाधिप के अङ्क में स्वयं उपस्थित हो गई (मान से राग प्रबल होता है) चञ्चला मदिरा गुण और दोषों के विषय में निश्चय रहस्योद्घाटन कर देती है (भेद खोल देती है) मतलब यह है कि मदिरा में यह बड़ी विलक्षण बात है कि वह किसी की गुप्त देखी नहीं करती जो उसके पास गया बस उसके गुण और दोष को वह खोल करके ही छोड़ती है ॥ ६८ ॥

आहिते तु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते तु विकासम् ।
आबभौ नव इवोद्धतराग कामिनीष्ववसर कुसुमेषो ॥ ६९ ॥

आहित इति ॥ मधुना मद्येन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्ये आहिते तु सम्पादिते तु प्रागसत्त्वेन मनोहरत्वे समस्तुत्पादिते वा । विकास गमिते तु प्रागसत्त्वेव माधुर्ये प्रकर्ष प्रापिते वा । उद्धतराग उद्रिक्तराग । अत एव कुसुमेषो कामिनीषु अवसर प्रवेशो नव इवाबभौ । नित्यसन्निहितोऽपि स्वय कामिनीषु मदकृतताल्कालिकचेष्टामाधुर्याद्यागोचये सत्यपूर्ववदुद्दीप्तोऽभूदित्यर्थ । सत्यपात्तुमापितेयमुत्प्रेक्षा ॥६९॥

वारुणी के द्वारा सम्भोगव्यापार में आनन्द के सम्पादित करने पर अथवा उस आनन्द में और उत्कर्ष वृद्धि लाने पर रमणियों के विषय में पुष्पबाण [कामदेव] का उद्रिक्त राग के साथ प्रवेश नवीनता धारण करता हुआ उद्दीप्त हो उठा । तात्पर्य [कामदेव] को पहले इतना आनन्द नहीं प्राप्त हुआ था जितना मद्यपान के अनन्तर प्राप्त हुआ] वल्लीकर्मों

मा गमन्मदविमूढधियो न प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथ कि उनको यह मानों सङ्कुचित
योषितो न मदिरा भृशमीषु प्रेम पश्यति मयमन्यपदेऽपि छल पता चला तो

मा गमन्निति ॥ शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योषितो मदेन वि
मूढधियो नोऽस्मान् प्रोज्झ्य विसृज्य । अपूर्णादङ्कावे समासेऽनञ्पूर्वे य तानाम् ।
मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेष । गमेर्माङि लुङ् । 'न गनि ॥७५॥
डागमप्रतिषेध । मदिरा भृशमतिमात्र नेषुर्नैच्छन्ति स्म । किंतु भर्तृविषय सम स येषा
पयुरित्यर्थं । तथा हि—प्रेम स्नेह । अपदऽस्थानेऽपि भयानि अभिष्टानि त्वाना यूनां
घते । शङ्कत इति यावत् । शङ्काहेतौ प्रेम्णि कर्तृत्वोपचार ॥ ७० ॥

अपने अपने वल्लभों [प्रियतमों] के विषय में सशङ्कित सुरवधुओं ने यह रताभि
त्यय ।

सब दोषावह नहीं होते यही कारण है कि वे उत्तम अर्थो में ही रह गए । कोई किसी प्रकार की निन्दा न कर सका ॥ ६५ ॥

मद्रु पूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।
व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ॥ ६६ ॥

मद्विति ॥ उपसखि सखीसमीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। आत्मनः । स्वदेहान् । आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि इति वैजयन्ती । मद्रु तु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम् । मद्रूणामुपरि पतन्तीनामित्यर्थः । आच्छीमपोगुम् इति विश्वप्रकाशः । कुतः । मधुमदोद्यमितानां प्रेरितानाम् । न तु स्वेच्छयेति भावः । वनितानामनुरक्तस्त्रीणाम् । वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति इति विश्वः । हृदयेषु विफलया । अनुचितात्मना देवेति भावः । व्रीडया न स्थितं न विगतम् । वैफल्यात्तस्या मदोपाधिकत्वाच्चेति भावः । अत्र एव सोऽयमभिप्रेयविरोधः ॥ ६६ ॥

इन अनुरागवती अप्सराओं ने जो मदिरा के नशे से प्रेरित हो रही थीं सखियों के समीप अपनेको पतियोंके ऊपर गिरा दिया । इस तरह उनका लज्जा करना व्यर्थ हो गया । इसीसे यह स्पष्ट न हो पाया कि लज्जा उनके हृदय में वर्तमान है अथवा चली गई ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीबता बहुगुणैरनुजह्रे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकासं प्रागल्भ्यं रुन्धती प्रतिबध्नती । तथा परिरम्भे आलिङ्गने सादितौ ग्लपितौ उभौ करौ यया सा युवतीनां सम्बन्धिनी क्षीबता मत्तता । कर्तरि क्तः । अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः इति निपातनात् साधुः । क्षीबो मत्तः तस्य भावः क्षीबता । स्वकार्येगुणबाहुल्यस्य युवत्यादौ व्यवस्थाः । बहुगुणैः दृष्टसङ्कोचादिभिर्व्रीडितस्य लज्जायाः । भावे क्तः । ललितं विलासम् । अनु जह्रे अनुचक्रे । कर्तरि लिट् । व्रीडाकार्यकरत्वाद्व्रीडितमनुकृतमित्युपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

मत्तता (मतवालापन) ने नेत्र और वाक्यों के विस्तार को रोक दिया (अर्थात् आँखें झेंपने लगीं और मुख से बात बन्द हो गई) आलिङ्गन के लिये हाथों को असमर्थ बना दिया इस प्रकार के अनेक गुणों से युवतियों की लज्जा के द्वारा किये गये हाव भावादिकों का अनुकरण किया अर्थात् लज्जा के कारण स्त्रियाँ सामने की तरफ देख नहीं सकतीं मुखसे बात नहीं निकल पाती और हाथ स्तम्भित हो जाते हैं यही दशा मदिरा पान के पश्चात् मतवालापन में भी हुई इससे कहा गया है कि मतवालापन ने लज्जा से ही यह सब कुछ सीखा है ॥ ६७ ॥

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम् ।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥ ६८ ॥

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे समदद्यितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनानां हृदयमवललम्बे रात्रिसम्भोगलक्ष्मी ॥७८॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये नवम सर्ग ।

गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखासु नखपदेषु लक्ष्यता दृश्यतां गतवति सति । विमर्दाच्चिन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थ । किंच, बिम्बतुल्या अधरा बिम्बाधरा । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमास' इति वामन । समदैर्दयितै पीता पीडिता अत एवातिपीडनात् आताम्रा आसमन्तात्ताम्रा बिम्बाधरा यासां तासामङ्गनानां सम्बन्धि विरहेणाश्लिष्टेन वियोगेन विधुर विह्वल हृदयम् । रात्रिसम्भोगलक्ष्मी । नखपदादिशोभेत्यर्थं । इष्टासत्सखीव निपुणसहचरीवावलम्बे धारयामास । प्रियसम्भोगचिह्नशोभा स्पष्टा बभूवेत्यर्थ । प्रियोपभोगचिह्नशोभावलोकनकाले कथं विरहमसहन्तेत्यर्थं । लुप्तपूर्णोपमालङ्कार । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७८ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्याया घण्टापथसमाख्यायां नवम सर्ग समाप्त ।

उन देववनिताओं के अङ्गराग (उबटन, विलेपन) केवल नखक्षतों पर दिखलाई पड़ रहे थे। उनके अधर, जो बिम्बा [पका हुआ कुन्दुरू] फल के समान थे, मत्त प्रेमियों के द्वारा निपीडन किये गये थे अतएव [तांबे के समान] ताम्राभ [लोहित] वर्ण धारण कर लिये थे। प्रिय समागम जनित नखपद की शोभा से उन बालाओं के हृदय पर प्रिय सहचरी के सदृश स्थान बनाया अर्थात् रात्रि-संभोग का दृश्य स्पष्ट प्रतीत होने लगी ॥७८॥

नवम सर्ग समाप्त।

दशमः सर्गः

अथागन्तुकसहजशोभासम्पन्नतया समग्रसाधना स्त्रियो मुनिमन्य प्रलोभनार्थं प्रतस्थिरित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ता ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावा सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मु ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजां सम्भोगसम्भूतां लक्ष्मीं शोभाम्। अवाप्य। 'सम्भोग' स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती। सम्भोगात्स्त्रिय शोभन्त इति भाव । एतेना-

समादधिरे प्रापुरित्युत्प्रेक्षा । [illegible] इत्यर्थः । यद्युत्तरकालं दुर्लभं तदतिपुण्यवशादनुभूयत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

युवक गन्धर्वों का जिनके रतिखेद निद्रा के द्वारा दूर कर दिये गये थे और जिन्होंने उच्चस्वर से वैतालिकों के द्वारा पढ़े गये मङ्गलपाठ से निद्रा का त्याग किया था प्रेमने आगामी वियोग से व्याकुल सुन्दरियों के विषय में नवीनता का प्रारम्भ किया ॥ ७५ ॥

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं संवाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धानाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥ ७६ ॥

कान्तेति ॥ सुरतखेदेन निमीलितान्यक्षीणि येन तं कान्ताजनं स्त्रीसमूहं संवाहितुं सेवितुमिव । खेदापनोदार्थमङ्गमर्दनं कर्तुमिवेत्यर्थः । संवाहनं त्वाङ्गनेऽपि मर्दनेऽङ्गमर्दने इति विश्वः । वाह प्रयत्ने इति धातोस्तुमुन् । अन्यथा णिजन्ते संवाहयितुमिति स्यात् । मन्दमन्दं मन्दप्रकारम् । प्रकारे गुणवचनस्य इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । समुपयान् सन् । रजनीपरिवृत्तिवायुः निशावसानमरुत् । हर्म्येषु माल्यानि च मदिरा च परिभोगो विमर्दश्च तेषां गन्धानाविश्चकार । प्रकाशयामासेत्यर्थः । अत्र संवाहितुमिवेत्युत्प्रेक्षा । माल्यादिसुगन्धवाहत्वगुणनिमित्तक्रियाफलोत्प्रेक्षा ॥ ७६ ॥

निशावसान का वायु इस प्रकार मन्द मन्द चल रहा था मानो वह उन सुरतसुन्दरियों की जिन्होंने रतिखेद से अपनी आँखों को बन्द निमीलित कर रक्खा था सेवा करने जा रहा हो और उस (वायु) ने महलों पर पुष्पमाला मद्य तथा श्रृंगारादि सामग्रियों को बिखेर दिया ॥ ७६ ॥

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकषायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनां शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ॥ ७७ ॥

आमोदेति ॥ आमोदेन मद्यगन्धेन वासिताः सुरभिताश्चलाः स्फुरन्तः अधरपल्लवा येषु तेषु निद्रया कषायितानि अपटूकृतानि विपाटलानि लोचनानि येषु तेषु । कषायस्तुवरे न स्त्री निर्यासे रञ्जकान्तरे । सुरभावपटौ रक्त सुन्दरे लवणेऽपि च इति केशवः । व्यामृष्टानि प्रमृष्टानि पत्राणि तिलकाश्च येषां तेषु विलासिनीनां वदनेषु मदावशेषः शोभां बबन्ध । मण्डनान्तराभावे मदशेष एव मण्डनं बभूवेत्यर्थः । स्त्रीणां मद एव विभूषणमिति भावः ॥ ७७ ॥

उन कामिनियों के अधर पल्लव सुगन्धों से तरबतर सुरत कर रहे थे जिन से अलसाये हुये उन (वामाओं) के नेत्र अरुण उपलक्षित हो रहे थे । उनकी तिलक-रचना भी मिट (छूट) गयी थी । उनके मुखमण्डल पर जो कुछ बचा खुचा मदिरा का मद था उसीने उनकी शोभा को जीवित रक्खा ॥ ७७ ॥

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनानां हृदयमवललम्बे रात्रिसम्भोगलक्ष्मी ।।७८।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये नवमः सर्गः ।



गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखासु नखपदेषु लक्ष्यतां दृश्यतां गतवति सति । विमर्दात्तन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थः । किञ्च, बिम्बतुल्या अधरा बिम्बाधराः । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमासः' इति वामनः । समदैर्दयितैः पीताः पीडिता अत एवातिपीडनात् आताम्रा आसमन्तात्ताम्रा बिम्बाधरा यासां तासामङ्गनानां सम्बन्धि विरहेणाश्लेषेण वियोगेन विधुरं विक्लवं हृदयम् । रात्रिसम्भोगलक्ष्मी । नखपदादिशोभेत्यर्थः । इष्टाः सत्सखीव निपुणसहचरीवावलम्बे धारयामास । प्रियसम्भोगचिह्नशोभा स्पष्टा बभूवेत्यर्थः । प्रियोपभोगचिह्नशोभावलोकनकालसाः कथं विरहमसहन्तेत्यर्थः । श्रौतपूर्णोपमालङ्कारः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७८ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां नवमः सर्गः समाप्तः ।



उन देववनिताओं के अङ्गराग (उबटन, विलेपन) केवल नखक्षतों पर दिखलाई पड़ रहे थे। उनके अधर, जो बिम्बा [पका हुआ कुन्दुरू] फल के समान थे, मद प्रेमियों के द्वारा निपीडन किये गये थे अतएव [तांबे के समान] ताम्राभ [लोहित] वर्ण धारण कर लिये थे। प्रिय समागम जनित नखपद की शोभा ने उन बालाओं के हृदय पर प्रिय सहचरी के सदृश स्थान बनाया अथवा रात्रि-सम्भोग का दशा स्पष्ट प्रतीत होने लगी ॥७८॥

नवम सर्ग समाप्त ।



दशमः सर्गः

अथ गन्धर्वाप्सरःशोभासम्पन्नतया समप्रसाधना स्त्रियो मुनिमनःक्षोभनार्थं प्रययुरित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ताः ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजां सम्भोगसम्भूतां लक्ष्मीं शोभाम् । अवाप्य । 'सम्भोगः स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती । सम्भोगाद्धि शोभन्त इति भावः । पूर्वेद्यु-

सम्भोगशोभासम्पत्तिरुक्ता । अत एव सुरतादिवर्णनस्य प्रस्तुतोपयोगित्वं चोक्तम् । अथ सकलशोभासम्परिग्रहमाह—अवयवैरिति । अवयवैः स्तनादिभिर्दीपिता मण्डिता च मण्डनश्री प्रसाधनशोभा याभिस्ताः । रम्यहावा मनोहरविलासास्ताः स्त्रियः । 'हावो विलासश्चेष्टायाम्' इति विश्वः । वसतिं शिबिरम् । अभिविहाय सर्वतस्त्यक्त्वा सुरपतिसूनोरर्जुनस्य विलोभनाय ययुः । अत्रावयवदीपकतया प्रसिद्धस्य मण्डनस्य तद्दीप्यत्वासंबन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादवयवशोभातिशयद्योतनार्थत्वादतिशयोक्ति रलङ्कारः । अस्मिन्सर्गे पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

प्रभात होते ही सुराङ्गनायें योग्य विलास से उत्पन्न होने वाली शोभा को प्राप्त करके अपने अङ्ग प्रत्यङ्गों की शोभा से आभूषणों को विभूषित करती हुई मनोहर हाव भाव के साथ अपने निवासस्थान से इन्द्र पुत्र [अर्जुन] को आकृष्ट करने के लिये चल दीं ॥ १ ॥

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां गमनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिरं निषेदे ॥ २ ॥

द्रुतेति ॥ गमनपरिक्रमलाघवेन गमनक्रमलाघवेन द्रुतपदं यथा तथा अभियातुं गन्तुमिच्छतीनाम् । किञ्च पृथुस्तनीनां तासामप्सरसाम् । किञ्च अलघुनितम्बतया न लघवो नितम्बा यासां तासां भावस्तत्ता तया स्थूलनितम्बतया चरणैरवनिषु चिरं निषेदे स्थितम् । अभ्यासपाटवेन गन्तुमाशानामपि तासां स्तनजघनभाराच्चरणक्षोभोऽभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

वे सुन्दरियाँ जिस प्रकार आकाश में उड़ रही थीं उसी तरह शीघ्र चलने की इच्छा करने लगीं [किन्तु] उनके कुच और नितम्ब भारी थे जिसके कारण उनके चरण पृथ्वीपर धीरे धीरे पड़ने लगे [अर्थात् वे चलती थीं आकाश में पवन की तरह पृथ्वीपर भी जल्दी २ पद पर वे ऐसा करने में असमर्थ हो गईं] ॥ २ ॥

निहितसरसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम् ।
अविरलविततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री ॥ ३ ॥

निहितेति ॥ निहिता आरोपिताः सरसयावका आर्द्रलाक्षारागा येषु तैर्वधूनां चरणतलैश्चरणन्यासैः कृतपद्धतिः कृतमार्गरेखा । अत एव अरुणिता अरुणीकृता नीलतृणोलपास्तृणानि दूर्वादीन्युलपा बल्वजाख्यतृणविशेषाश्च यस्याः सा । 'उलपा बल्वजा मोक्ता' इति हलायुधः । 'उलपा उशीरतृणानि' इति क्षीरस्वामी । ब्राह्मणपरिव्राजकवदुलपानां पृथङ्निर्देशः । धरित्री शक्रगोपैरिन्द्रगोपाख्यैः कीटैः । 'इन्द्रगोपस्त्वग्निरजः' इति हैमः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा वितता व्याप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । बभासे ॥ ३ ॥

अप्सराओं के पैर के लक्तकों से, जिसमें लगाया हुआ महावर अभी गीला था, पृथ्वीपर पदचिह्न पड़कर नीले रङ्ग के घास के तृण से आच्छन्न वह भूमि लाक्षारस से रंग कर निरन्तर वीरबहूटियों (कीट विशेष) से व्याप्त होकर सुशोभित होने लगी ॥ ३ ॥

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणां पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।
प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ॥ ४ ॥

ध्वनिरिति ॥ अगविवरेषु नगरन्ध्रेषु । गुहास्वित्यर्थः । प्रतिरवैः प्रतिध्वनिभिर्विततः सम्मूर्छितः पृथुभी रशनागुणानां शिञ्जितैः स्वनितैरनुयातोऽनुगतः । शिञ्जित इति यावत् । 'स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः । नूपुराणां ध्वनिः वनानि मुखराः शब्दायमानाः समुत्सुका उत्कण्ठाश्च हंसाः सारसाश्च येषां तानि चक्रे । अत्र हंसादिषु मुखरसमुत्सुकीकरणरूपेण वस्तुना तेषां नूपुरादिध्वनौ स्वा- त्मीयकलरवसाम्यात्स्वजातीयकूजितभ्रान्तिप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ४ ॥

उनके [सुरनारियों के] नूपुरों [पायजेबों] की ध्वनि, जो करधनी की मोटी मोटी लड़ों के शिञ्जन से मिश्रित होकर अनुसृत हो रही थी, पहाड़ की कन्दराओं से प्रतिध्वनित होकर सम्पूर्ण वनस्थलियों को मुखरित कर दी जिसे सुनकर वहाँ के निवासी हंस और सारस भ्रम में पड़कर उत्कण्ठित हो उठे उन्हें यह प्रतीत हुआ कि हमारी जाति के और पक्षी बोल रहे हैं ॥ ४ ॥

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।
अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेतः ॥५॥

अवचयेति ॥ अवचयः पुष्पफलाद्यवच्छेदनं परिभोग उपभोगस्तद्वन्ति । हिंस्रा घातुका व्याघ्रादयः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । तैः सहचरिताः सहचरन्ति स्म कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि-' इत्यादिसूत्रेण चकारात् भूतार्थत्वाद्विपातवर्तमानार्थता । अन्ये हिंस्रेतरे मृगा हरिणादयो येषु तानि सहचरितान्यमृगाणि काननानि । तथा समुदितेन साध्वसेन विक्लवं विवशं चेतश्च वधूभ्यः । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अभितो मुनिं निकटे । आसन्नं सूचयामासुरित्यर्थः । अवचया- दिलिङ्गचतुष्टयेनासन्नो मुनिरित्यन्वमीयतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

उन वनों में पशु-पक्षी अपने घातक जन्तुओं के साथ स्वच्छन्द विहरण करते थे, तथा आहारार्थ अवचित फल-मूलादि सामग्री ज्यों की त्यों पड़ी हुई थी और उन सुन्दरियों का चित्त महामुनि अर्जुन से आगत भय की आशङ्का से विकल हो रहा था । इन दोनों ने [वन और चित्त ने] अर्जुन के निकट होने की सूचना [इन उन लक्षणों के द्वारा] दी ॥५॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः ।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥ ६ ॥

शशधर इति ॥ शशधरकान्त इव ज्योत्स्नाभिराभैर्नेत्राह्लादकैर्गगनविसारिभिरंशुभिस्तेजोभिः परीतो व्याप्तोऽम्बरचरैकसानुसञ्चारो यस्य सः । एकदेशस्थोऽपीत्यर्थः । महीधरस्येन्द्रकीलस्य सकलं शिखरनिचयमपि दधत् व्याप्तवानित्युत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

नेत्रानन्दकर तथा आकाशव्यापी किरणों से आवृत मृगलाञ्छन (चन्द्र) की तरह महामुनि (अर्जुन) एक ही शिलासीन थे तो भी इन्द्रकील पर्वत के सम्पूर्ण शिखरों को व्याप्त कर लिये थे । अर्थात् अर्जुन के शरीर से प्रभा निकल रही थी जिससे सम्पूर्ण पर्वत प्रदेश देदीप्यमान हो रहा था ॥ २१ ॥

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः ।
हविरिव विततः शिखासमूहैः समभिलषन्नुपवेदि जातवेदाः ॥ २२ ॥

सुरेति ॥ पुनः सुरसरिति गङ्गाकूले परं तपोऽधिगच्छन्नर्जयन् । कनकाभिलाषेऽपीति शेषः । हविः समभिलषन्नित्युपमानविशेषणसामर्थ्यात् । तथा विधृतः पिशङ्गः बृहज्जटाकलापो येन सः । अत एव उपवेदि वेद्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शिखासमूहैर्ज्वालाजालैर्विततो विस्तृतो हविराज्यादिकं समभिलषन् । जातवेदो हिरण्मयः । ओजस्वी कर्मफलमिति यावत् । तस्मादिति जातवेदा वह्निरिव स्थितः ॥ २२ ॥

कपिशवर्ण की लम्बी लम्बी जटाओं का जाल (समूह) धारण किये हुये जिष्णु (अर्जुन) गङ्गा के तटपर अभिलाष सिद्धि के लिये उत्कट तपश्चर्या कर रहे थे । उस समय वह वेदी के समीप ज्वालाजाल से विस्तृत हवि की अभिलाषा करते हुए अग्निदेव के समान मालूम पड़ते थे ॥ २२ ॥

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम् ।
दधदलघु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपःसमां समृद्धिम् ॥ २३ ॥

सदृशमिति ॥ पुनः आकृतेर्वपुषः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । सदृशं तुल्यमतनुं महान्तं प्रयत्नमुद्योगं दधत् । तथा तदनुगुणां प्रयत्नानुरूपामपरैरन्यैरलङ्घ्याम् । अनुल्लङ्घनीयामित्यर्थः । क्रियां व्यापारं दधत् । तथा क्रियानुरूपं क्रियानुगुणमलघु गुरु तपो दधत् । तथा विजयवतीं सर्वोत्कर्षवतीं विजयफलां वा तपःक्रियानुरूपां तपःसमां समृद्धिमैश्वर्यं च दधत् । अत्र पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्तरोत्तरविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः — 'यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनमेकावली' इति सर्वस्वसूत्रात् ॥ २३ ॥

आकृति (शरीर की बनावट) के अनुकूल उनका उद्योग महान् था । प्रयत्नानुरूप ही उनकी क्रिया थी । वह किसी के द्वारा अतिक्रमण की नहीं जा सकती थी । क्रिया के अनुसार उनका तप (शरीर साधन) भी उत्कृष्ट था । तप के समान ही विजयरूपर

चिरनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या ।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ॥१४॥

चिरनियमेति ॥ पुनश्च, चिरनियमेन दीर्घकालतपसा कृशः क्षीणाङ्गोऽपि शैलसारः । उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः । शमे निरतोऽपि प्रकृत्या स्वभावेन दुरासदो दुर्धर्षो निर्जने विजने देशे तिष्ठन्नपि ससचिवः सपरिवार इव । किंच, मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । त्रयाणां लोकानां भर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । तुल्यरुचिः समानतेजाः । 'अपि'शब्दः सर्वत्र विरोधद्योतनार्थः । स च मुनेरतथ्यमहिमत्वेन निरस्य इति विरोधालङ्कारः,—'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति सूत्रात् ॥ १४ ॥

दीर्घकाल से व्रती रहने के कारण दुर्बल हो गये थे तथापि पर्वत के सदृश बलवान थे। यद्यपि शान्ति के पुजारी थे तथापि स्वभावतः उनका तेज असह्य था। निर्जन प्रदेशमें रहते थे तथापि मालूम पड़ता था—अपने मित्रादिकों के साथ वर्तमान मुनिवेषधारी थे तथापि त्रिभुवनाधिपति (इन्द्र) के सदृश तेजस्वी थे ॥ १४ ॥

तनुमवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः ।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ॥ १५ ॥

तनुमिति ॥ अवजिते तिरस्कृते लोकानां सारधाम्नी सत्वतेजसी यया ताम् । 'अन्नपद्या–' इत्यादिना ङीप् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारार्थे तत्पुरुषः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तस्य गुप्ती रक्षणे सहां समर्थाम् । पचाद्यच् । तनुं मूर्तिं विलोकयन्त्योऽमरस्त्रियोऽप्सरसो विजयफले विजयार्थे तपोऽधिकारे तपोनुष्ठानेऽस्यार्जुनस्य यत्नं विफलमवययुर्मेनिरे । त्रैलोक्याधिपत्यादिमहाफलसाधनसमर्थस्य शुष्कफलाभिलाषया मत्समातङ्गमांसभोगोचितस्य कण्ठीरवस्य जीर्णतृणचर्वणोत्कण्ठेव न शोभामावहतीति भावः । अत्र विशिष्टतनुविलोकनस्य स्त्रीविशेषणवैफल्यज्ञानहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकः काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १५ ॥

अमरललनायें तीनों लोक की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के शरीर को, जो संसार के पराक्रम और तेज को तिरस्कृत कर रहा था, देखती हुई उस अर्जुन के विजयार्थ तपोनुष्ठान विषयक यत्न को व्यर्थ समझीं तात्पर्य यह है कि उनके शरीर की आकृति के देखते ही सुरसुन्दरियों ने सोचा कि यह तो यों ही जो चाहे कर सकता है तपस्या तो इसके लिये तुच्छ साधन है ॥ १५ ॥

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि ।
अलघुनि बहु मेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् ॥१६॥

मुनीति ॥ प्रतनुबलानि अनुत्कृष्टसाराणि तपांस्यधितिष्ठतोऽनुतिष्ठतो मुनीन्

प्रभुतनयान् दानवांश्च समस्तत्वमेव विलोभ्याकृष्य चिरात् कुलिशभृता शक्रेण। अच्युतमि महति पदे स्थाने विहित दत्त स्व स्वकीय नियोगमधिकारं ता स्त्रियो बहु यथा तथा मेनिरे। निकृष्टपदप्रवृत्तीनामुत्कृष्टपदलाभो महान्। बहुमानमूलमिति भावः। विलोभ्य मेनिरे इत्यन्वयः। यद्वा —विलोभ्य क्षोभं कारयित्वा विहित शक्रेणेत्यन्वयात् समासकृत्यनिर्वाह ॥ १६ ॥

उत्कृष्टमारहीन तपश्चर्या सम्पादन करते हुये मुनि और दानवों को शीघ्र ही मोहित करके उन सुरबालाओं ने सुरराज (इन्द्र) के द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थान की अपनी नियुक्ति को बहुत समझा अर्थात् उनलोगों ने सोचा कि अबतक साधारण मुनि और राक्षसों का हमने लुभाया है अगर कहीं हम तपस्वी पर इनलोगों की चल गई तो इन्द्र हम लोगों का उचित सत्कार करेंगे ॥ १६ ॥

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ॥ १७ ॥

अथेति ॥ अथ अनन्तरं कृतकविलोभनं कृत्रिम विलोभनं विधित्सौ विधातुमिच्छौ। विधाञ्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः। युवतिजने हरिसूनोरर्जुनस्य दर्शनेन चित्तजन्मा कामः प्रसभं बलात्। अवततार। देवतत्परः स्वाधिकुर्माणतस्य लोहो मनसि यत स्वयं मुनिमनसमनुरक्त स्त्रियस्तेन वञ्चिता इत्यर्थः। युक्त चैतत्। हि यस्मात् मधुरा मनोहरा यौवनश्रीमनो हरति। बलादिति शेषः ॥ १७ ॥

(इसके अनन्तर) अप्सराएँ कृत्रिम मोहन करने की अभिलाषा से भरी (कर रही) था। ज्योंही वे अर्जुन को देखा त्योंही उनके मनमें मनोभव (काम) का अवतार हो गया (अर्थात् अर्जुन के देखते ही वे उनपर मुग्ध हो गई) क्योंकि युवावस्था की रम्य शोभा मन को अपहरण कर लेती है ॥ १७ ॥

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः ।
युगपदृतुगणस्य सन्निधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥ १८ ॥

सपदीति ॥ सपदि वधूनां निदेशान्नियोगात् ध्वनिता वादिता मनोरमा वल्लक्यो वीणा मृदङ्गाश्च यैस्तैर्हरिसखैर्गन्धर्वैर्वियति आकाशे वने च युगपदृतुगणस्य षडृतुपञ्चकस्य। सन्निधानमाविर्भावो यथायथं यथास्वम्। असंकरेणेत्यर्थः। 'यथास्व तु यथायथम्' इति निपातः। वितेने वितस्तारे। उद्दीपनसामग्री सम्पादितेत्यर्थः ॥ १८ ॥

शीघ्र ही सुरयुवतियों के आदेशानुसार—गन्धर्वों ने मनोरम वीणा और मृदङ्ग बजाया पुनः एक ही काल में छहों ऋतुओं को अपने अपने व्योम तथा वनों में आविष्कृत करके विस्तृत कर दिया ॥ १८ ॥

अथ वर्षाक्रमेण ऋतून्वर्णयति—सजलेत्यादि—

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥१९॥

सजलेति ॥ सजला जलधरा यस्मिंस्तत् । नभो विरेजे । तडितो लता इव तासां रुचिः प्रभा विवृतिं विजृम्भणम् । इयाय । तथा व्यवहितरतिविग्रहैर्दूरीकृतरतिप्रकुपितप्रणयकलहैर्जलगुरुभिः । जलभारादुम्भीरैरित्यर्थः । स्तनितैर्गर्जितैः । दिगन्तरेषु वितेने विततैरभावि भावे लिट् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । अत एव दिगन्तरेष्वित्यधिकरणत्वेन प्रयोगः । अन्यथा कर्मत्वमेव स्यात् ॥ १९ ॥

नील नीरद [illegible] आकाश आच्छन्न हो सुशोभित होने लगा । विद्युल्लता की चमक स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी । तथा जलभार से गम्भीर मेघगर्जन, जिससे रतिकालिक प्रणयिजनों का कलह दूर हो गया था, दिगन्तों में गूँज उठा ॥ १९ ॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।
विरलमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः ॥ २० ॥

परीति ॥ परिसुरपतिसूनुधाम अर्जुनाश्रमं प्रति । परीति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयस्य योगाद्द्वितीया । यद्वा,—वर्जनार्थस्य तस्यात्र विराधाद्विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तथा च सुरपतिसूनुधाम्नीत्यर्थः । सद्यो मालतीनां जातीलतानाम् । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । मुकुलानि समुपदधत् जनयत् । विरलं यथा तथा बद्धबिन्दुरपां निपातो वृष्टिरवनेः सम्बन्धिनीं सरजसतां सरजस्कत्वम् । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिसूत्रेण साकल्यार्थेऽव्ययीभावः 'समासान्तनिपातश्च बहुव्रीह्यर्थेषु कल्पते । अव्ययीभावग्रहणं तु प्रायिकम्' इति केचित् । अपजहार । धूलिं शमयामासेत्यर्थः ॥२०॥

शीघ्र ही अर्जुन के आश्रम के अगल बगल में मालती के पुष्प विकसित हो गये । ... करके अल्प वृष्टि ने भूमि की धूलि को शान्त कर दिया ॥ २० ॥

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ॥ २१ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ दिशि दिशि प्रतिदिशम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तनिपातः । अभिगच्छता स्ववाता ककुभानि अर्जुनकुसुमानि । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । तेषां विकासेन सुगन्धिना मनोज्ञगन्धेन । गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं प्रायिकम् । अनिलेनाभिमृष्टः संस्पृष्टोऽत एव सचित्तजन्मा । कामाक्रान्त इत्यर्थः । अत एव गतधृतिर्गतधैर्य आकुलितः क्षोभितश्च । रतिं प्रतीति भावः । एवम्भूतो जीवलोको नव इव अवस्थान्तरप्राप्त्या अपूर्व इव विबभौ भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

वायु प्रत्येक दिशाओं की तरफ सञ्चार करते हुये कदम्ब नाम के पुष्प विकास के कारण अद्भुत सुगन्धि से सुवासित होकर प्राणीमात्र को व्यग्र कर दिया। सबके हृदय में ऋतुराज का आविर्भाव हो गया। सबों ने भय का परित्याग कर स्त्रियों और रति के प्रति सबके सब क्षुब्ध हो गये। इस तरह से सब जीवलोक ने और का और ही होकर अपूर्व शोभा धारण किया ॥ २१ ॥

व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा ।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥ २२ ॥

व्यथितमिति ॥ व्यथितं दुःखितमपि मनो भृशं हरन्ती । किमुत सुखितमिति भावः । जम्ब्वाः फलं जम्बु । 'जम्ब्वा वा' इति फले अलुक् । अन्यथा वा 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इत्यण्प्रत्ययस्यापि फले लुक् इति लुक् । 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । जम्बु च तत्फलं चेति सामान्यविशेषयोः सहनिर्देशः । यद्वा—जम्ब्वाः फलमिति विग्रहः । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति ह्रस्वः । तस्य परिणतस्योपभोगेन हृष्टा । अत एव परभृतयुवतिः कोकिलाङ्गना नवनवं नवप्रकारं यथा तथा योजितेन सम्पादितेन कण्ठरागेण कण्ठमाधुर्येण रम्यम् । सौम्यमित्यर्थः । स्वनं स्वरं वितेने । व्यथितमपि मधुरः स्वरः कोकिलाया इति प्रसिद्धिः ॥ २२ ॥

युवतियों के चित्त को अपहरण करती हुई कोकिला ने जो परिपक्व जामुन फल के उपभोग से प्रसन्न हो रही थी कूक का जिसमें नये नये ढंग से कण्ठ के द्वारा राग अलापा जा रहा था विस्तार किया अर्थात् सुमधुर राग से कूकने लगी ॥ २२ ॥

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे ।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः ॥ २३ ॥

अभिभवतीति ॥ कदम्बवायौ कदम्बसम्बन्धिनि मारुते मदमधुरे शिखण्डिनां निनादे च मनोऽभिभवति अभिहरति सति जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनो जन इव पृथग्जन इव धृतेर्धैर्यान्न चचाल । धर्मो अपि तदुदीरणाय न क्षोभितः इत्यर्थः । हि यस्मात्, महतां समाधिभङ्गो न सुकरः । न केनापि कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कदम्ब वायु तथा मद के कारण मनोहर मयूर विरव मनको अपनी तरफ आकृष्ट कर रहा था तथापि जयनशील अर्जुन साधारण पुरुषों की तरह धैर्यच्युत नहीं हुये क्योंकि बड़े लोगों की समाधि का भङ्ग होना सरल काम नहीं है ॥ २३ ॥

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥ २४ ॥

धृतेति ॥ बिसान्येव वलयानीव तेषामावलिः पङ्क्तिर्यया सा । कुमुदवनमेकं मुख्यं

दुकूलमिव तद्वहन्ती । आत्ता गृहीता बाणा नीलझिण्टी यया सा आत्तबाणा, एतशरा च 'गृहीयात्तक्रिया शरम्' इति स्मरणात् । 'बाणोऽथ नीलझिण्टी च' इति वैजयन्ती । शरद्धूर्जायेव घनसमयेन वर्षर्तुना । वरेणेति शेष । अमलतले निर्मलतले सरोजं पाणिरिव तस्मिन् । आलक्ष्ये समूहे । कर्मणि लिट् । वधूवरसमागमवदृतुसंधिः शोभतेत्यर्थः । अत्र 'आत्तबाणा' इति श्लिष्टशरयोर्बाणयोरभेदाध्यवसायच्छेषमूला-तिशयोक्तिरूपमाङ्गमित्यनयोः सङ्करः ॥ २४ ॥

अब वर्षा का अवसान और शरद का प्रारम्भ है। वर्षाऋतु की उपमा वर के साथ और शरदृतु की उपमा वधू के साथ दी गई है। कुशाल-उन्तुरूप कड़ुए को, (धारण करती हुई) तथा कुमुदिनी के धवल वस्त्र को धारण करती हुई शरदरूपी वधू के जो नील झिण्टी के पुष्प को धारण करती है, सुकोमल करकमलों का आलम्बन वर्षाऋतुरूप वरने किया ॥ २४ ॥

अथ ऋतुसंधिं वर्णयति—

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ॥ २५ ॥

समदेति ॥ समदशिखिरुतानि मत्तमयूरकूजितानि हंसनादैः समेत्य तथा कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या कदम्बपुष्पसंपदा समेत्य । अतिशयिनीमतिशयवर्तीं श्रियं जग्मुः । तथा हि—गुणमहतां गुणाधिकानां योगः परस्परसमागमो महते गुणायोत्कर्षाय । भवतीति शेष । अत्र क्रियाया समालंकारः—'सा समालङ्कृतिर्यो-ग्यवस्तुनोरुभयोरपि' इति लक्षणात् । सोऽपि चतुर्थपादार्थान्तरन्यासेन स्वसमर्थके-नाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ २५ ॥

इसके पहिले कवि ने वर्षाऋतु का वर्णन किया है। शरदऋतु के प्रारम्भ में वर्षा और शरद दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है उसी का वर्णन 'समदशिखि०' में किया गया है—

मदवाले मयूरों का कलकूजन राजहंसों के निनाद के साथ तथा कुमुदों के वन कदम्ब पुष्प की वृष्टि के साथ होकर अनुपम शोभा धारण करने लगे क्योंकि उत्कर्ष गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का पोषक (वर्द्धक) होता है ॥ २५ ॥

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम् ।
प्रियमधुरसनानि षट्पदाली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ॥२६॥

सरजसमिति ॥ प्रियमधुरसिमकरन्दा । नाम्न कप्समासान्त । 'पुलिङ्गोत्सरपदो बहुव्रीहिः' इति केचित् । नपुंसकलिङ्गस्यैव 'मधुशब्दस्योरमधुतिषु पाठात्' 'मकर-

अप्सरायें शरदृतु की विभूति दिखलाने के पश्चात् हेमन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से अर्जुन के विक्षोभन के लिये प्रयत्न करने लगीं —

हेमन्त के प्रादुर्भाव होने पर प्रियङ्गुलता के पुष्प विकसित हो उठे। प्रफुल्लित कुन्द के गन्ध से पवन सुरभित हो उठा। हेमन्त के प्रारम्भ होने के कारण नीहारकण भी विरल विरल थे। इस प्रकार चिरकाल तक इस ऋतु ने अप्राप्त सम्भूत गुण की उत्कृष्टता को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ॥२९॥

निचयिनीति ॥ निचयिनि उपचयवति च लवलीलताया विकासे पुष्पविजृम्भणे तथा लोध्रसमीरणे हर्षं चोत्कण्ठां जनयति सति पाण्डुसूनुर्विकृतिं नोपययौ। कुतः। हि यस्मात्, जिगीषतां जेतुमिच्छतां चेतो नयान्नीतेर्न चलति। न हि क्रोधाक्रान्ते चेतसि शृङ्गाररसस्य विकासः। तद्विरुद्धत्वात्प्रकोपस्येति भावः ॥ २९ ॥

लवली नाम की लता के विकसित पुष्पों के समूह से तथा लोध्र सम्बन्ध से सुरभित वायु के द्वारा अर्जुन के मन में उत्कण्ठा हो रही थी तथापि उनका मन विकृत न हुआ क्योंकि विजयाभिलाषियों का चित्त नीतिपथ से विचलित नहीं होता ॥ २९ ॥

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥३०॥

कतिपयेति ॥ कतिपयैरेव सहकारपुष्पैरम्यतकुसुमै रम्य। न तु वसन्तवत्समग्रैः, नापि हेमन्तवदप्रवृत्तैरिति भावः। तनुतुहिनोऽल्पहिमः। न तु हेमन्तवद्बहुहिमः, नापि वसन्तवद्विरलतुहिन इति भावः। अल्पानि कतिपयान्येव विनिद्राणि सिन्दुवाराणि विकसितनिर्गुण्डीकुसुमानि यस्मिन् सः। अत्रापि सहकारवदभिप्रायो द्रष्टव्यः। 'सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि' इत्यमरः। सुरभिमुखं वसन्तप्रारम्भं हिमागमान्तं हेमन्तावसानं शंसति सूचयतीति स तथोक्तः। स्मरस्यैकबन्धुः सहकारी। उभयर्तुधर्मसम्पन्नत्वादिति भावः। शिशिरः समुपययौ ॥ ३० ॥

हेमन्त से भी अर्जुन का मन न डिगा तो अप्सराओं ने शिशिर के प्रादुर्भाव का प्रदर्शन किया —

शिशिरऋतु, जो कामदेव का एकमात्र सहायक है, प्रादुर्भूत हो गया। इसमें कहीं कहीं आम के मञ्जरियों के विकसित हो उठने से रम्य रहता है। इस ऋतु में (नीहार) हिमकण की न तो अधिकता रहती है और न विरलता तथा निर्गुण्डी अर्धविकास को प्राप्त हो जाता है। शिशिरऋतु वसन्त के प्रारम्भ तथा हेमन्त के अवसान का सूचक होता है।

अथ वसन्तमारम्भमाह—

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम्।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः॥ ३१॥

कुसुमेति॥ कुसुमप्रधानानां नगानां वृक्षाणां कुसुमानां नगा वृक्षा वा तेषां वनानि। उपैतुमारोढुं कामो यस्याः सा। 'लोलवृत्तौ नगावगौ' इत्यमरः। 'तुम्काममनसोरपि' इति मकारलोपः। सा तत्लक्ष्मीः किसलयिनीं पल्लविनीं चूतयष्टिम्। चूतशाखामिवेति भावः। अवलम्ब्य अवष्टभ्य। अन्यथारोढुमशक्यत्वादिति भावः। क्वणत् सिञ्जमानं शब्दायमानमलिकुलं नूपुरमिव यस्याः सा तथोक्ता सती। 'क्वणदलिकुलनूपुरम्' इत्यपि पाठः। अन्यत्र—अलिकुलनूपुरम्। नलिनवनेषु पदं निरासे निदधे। तेषु प्रथमं प्रादुरासीदित्यर्थः। उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा इति वचनादात्मनेपदम्। अत्र प्रकृतवसन्तलक्ष्मीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३१॥

सुरसुन्दरियों ने देखा—जब सभी की चाह में सफलता प्राप्त न [redacted] तो ऋतुराज वसन्त को निमन्त्रण दिया —

प्रसून प्रधान पर्वतीयवनों में पहुँचने का अभिलाष किये हुये ऋतुराज ने नवपल्लवयुत आम्रयष्टि का सहारा लेकर सरोजिनी वन में नूपुरानुकारी भ्रमर कुल के गुञ्जार के साथ साथ पदार्पण किया॥ ३१॥

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम्।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु॥ ३२॥

विकसितेति॥ विकसितो विकचः कुसुममेवाधरो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा हसन्तीं स्मयमानां कुरबकराजिरेव वधूस्तां विलोकयन्तम्। कामुकत्वेनेति भावः। अत एव अशोकपल्लवेषु पल्लवस्तरेषु निषण्णम्। स्थितमित्यर्थः। रिरंसयेति शेषः। सशरम्। निग्रहीतुमित्यादिति भावः। इत्थं शृङ्गारवीरयोरेकाधिकरणभूतम् अनङ्गं सुराङ्गना ददृशुरिवेत्युत्प्रेक्षा। अशोकपल्लवावलोकनान्मदनसाक्षात्कारादिव महान्मनःक्षोभस्तासामासीदित्यर्थः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः॥ [redacted]॥

वसन्त ऋतु में मानो सुराङ्गनाओं ने देखा—कामदेव ने बाण धारण कर अशोक किसलयों पर बैठकर कुरबक पंक्ति रूप वधू को जो हँस रही थी देखा। प्रफुल्लित पुष्प उस हास्य में अधर का काम कर रहे थे॥ ३२॥

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन।
अलिकुलमलकाकृतिं प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्याः॥ ३२॥

मुहुरिति ॥ अनुपतता अनुधावता दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन मुहुर्विधूयमान कम्पितम्, अत एव विरचिता संहतिर्येन । तत्समूतमित्यर्थः । पङ्कजिन्या यन्नलिनमुखमिव तस्य अन्तर्विसर्पि प्रान्तचारि । अलिकुलं कर्तृ अलकाकृतिमलकसादृश्य प्रपेदे ॥ ३३ ॥

बार बार सञ्चरण करते हुये दक्षिण दिशा के समीर से भ्रमरों का परिवार एक दूसरे पर उलझ पड़ता था । पद्मिनी के विकसित पुष्प के, जो मुखमण्डल के सदृश थे, चतुर्दिक गुञ्जार कर रहे थे इस कारण वह केशपाश की शोभा वहन करने लगे । अर्थात् मुख के चारों तरफ अलकें लटकी हुई रहती हैं उसी तरह मुखानुकारी कमलपुष्प के चारों तरफ घूमते हुये भ्रमर समूह दक्षिण पवन के झोंकों से परस्पर उलझ कर चिकुरजाल के सदृश मालूम पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती ।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥ ३४ ॥

श्वसनेति ॥ षट्पदेन अलिना । शाललता सर्जतरुलता वधूरिव शाललतावधूः । 'प्राकारमहयो शाल शाल सर्जतरु स्मृत' इति सारस्वत । श्वसनेन वायुना निश्वासेन च चलित पल्लवोधरोष्ठ इव पल्लवाधरोष्ठो यत्र तस्मिन् । 'ओत्वोष्ठयो' समासे वा पररूप वक्तव्यम्' । मधुना मकरन्देन मद्येन च सुरभिणि सुगन्धिनि पुष्पे मुख इव नव यथा तथा निहितेर्ष्यं कृतकोपमिवेति क्रियाविशेषणम् । तथा, अवधूनयन्ती कम्पयन्ती । 'धूञ् प्रीञोर्नुग्वक्तव्य' इति णिचि नुगागम । चुचुम्बे चुम्बिता । अत्र 'श्वसन' शब्दार्थ 'मधु'शब्दार्थयोश्च श्लेषमूलाध्यवसायात्श्लेषमूलातिशयोक्ति । सा चोपमाङ्गमित्यनयो सङ्कर ॥ ३४ ॥

भ्रमर ने काँपती हुई शाललता वधू के पुष्प मुख का, जिसमें मकरन्द मद्य की गन्ध व्याप्त हो रही थी, चुम्बन किया । पवनरूप निश्वास से अधरानुकारी पल्लव हिल (स्फुरण) हो रहे थे । वह पुष्प-मुख मानो मानिनी के मुख का अनुकरण कर रहा था ॥ ३४ ॥

प्रभवति न तदा परो विजेतु भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजय न पुष्पमास ॥ ३५ ॥

प्रभवतीति ॥ पर शत्रु । तदा तस्मिन्काले विजेतु न प्रभवति न शक्नोति । यदा जितेन्द्रियता इन्द्रियजयित्वम् । आत्मरक्षा भवति जायते । तथा हि—अवजितभुवनस्त्रैलोक्यविजयी पुष्पमासो वसन्त । सिततुरगेऽर्जुने विषये विजय न लेभे । अतो जितेन्द्रिया दुर्जया इत्यर्थ । विशेषेण सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ३५ ॥

तबतक शत्रु विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता जबतक इन्द्रिय वश्यता रक्षा करने के लिये सन्नद्ध रहता है। त्रिभुवनविजयी वसन्त ऋतु अर्जुन पर विजय न प्राप्त कर सका क्योंकि अर्जुन के पास जितेन्द्रियता थी ॥ २५ ॥

अथ ग्रीष्मं वर्णयति—

कथमिव तव सम्मतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ।
इति विरचितमल्लिकाविकासः स्मयत इव स्म मधुं निदाघकालः ॥२६॥

कथमिति ॥ विरचितमल्लिकाविकासो निदाघकालो ग्रीष्मो ऋतुभिरपरैर्विभिः सम मुनिनाऽवधीरितस्य तिरस्कृतस्य तव सम्मतिर्लोके योग्यत्वेनानुमतिर्मा मत्वा कथमिव भवित्री । न संमान कथंचित् सम्भवतीत्यर्थः । इति इत्थं मधुं वसन्तं । चैत्रे हैत्वे वसन्ते च जीवे। कोके मधु स्मृत इत विस्व। स्मयते स्मेव जहास किमिस्तु यत्ता । स्मङ् स्मे इति भूतार्थे लट्। प्रहासस्य शुभ्र बेन कविसमयसिद्धेर्मल्लिकाविकासे हास मध्यवसाय । अभ्रुतुभिः सममवधीरितस्येत्यत्राभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति ल्कार । तव भवेदभिमतस्यावधीरणस्याभिमतत्वाध्यवसायात् तदेवावधीरणमसम्मति द्वारा स्मयोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ [illegible] ॥

जबतक भी अर्जुन से हार मान गये। अब निदाघ (ग्रीष्म) [illegible] देता—अर्जुन के द्वारा सम्पूर्ण ऋतुओं का तिरस्कार हो गया फिर तेरा सम्मान किस तरह हो सकेगा यह कहते मल्लिका को जो मनोहर हास के सदृश थी विकसित कर वसन्त को उसका हुआना पदार्पण किया ॥ २६ ॥

बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार ॥ २७ ॥

बलवदिति ॥ बलवत् प्रबलमपि । प्रकृष्टामिति यावत् । मिथोविरोधि परस्पर स्पर्धि बलं सैन्यम् । वरूथिनी बलं सैन्यम् इत्यमरः । विपक्षनिर्जयाय शत्रुविज याय । 'तुमर्थाच्च इत्यादिना चतुर्थी । शक्रोत्पनुभवत्यर्थः । न प्रभवति न शक्नोत्येव । कुत । यत् यस्मात् कारणात् भुवनानां परिभवी जेतापि । जितेन्द्रिय— इत्यादि भैनिम यय । ऋतुगणस्तदानीम् । तम् अर्जुन क्षणमपि चोन्मनीचकारानुन्मनसमुन्म नम न चकार। 'अरमनश्चक्षु—' इत्यादिनाऽभूततद्भावे च्विप्रत्यय सलोपश्च । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ २७ ॥

प्रबल होते हुये भी परस्परस्पर्धी सेना शत्रु के विजय में समर्थ नहीं होती क्योंकि त्रिलोक विजयी ऋतुओं का समूह क्षणभर के लिये भी उस तपस्वी (अर्जुन) को व्यग्र न कर सका ॥ २७ ॥

एव तटस्थस्योद्दीपनसामग्री विफलेत्युक्तम्, सम्प्रति विपरीता जातेत्याह—

श्रुतिसुखमुपवीणित सहायैरविरललाञ्छनहारिणश्च काला ।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभव वितेनु ॥ ३८ ॥

श्रुतीति ॥ सहायैस्तासा सहचरैर्गन्धर्वै । कृतमिति शेष । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध । कर्तरि तृतीया । श्रुतिसुख श्रोत्रमधुरम् । उपवीणित वीणयोपगानम् । 'सत्यापपाश-' इत्यादिना 'वीणा'शब्दाण्णिजन्तात्भावे क्त । अविरलैर्भूयोभिर्लाञ्छनै पूर्वोक्तै फलकुसुमादिभिश्चिह्नैर्हारिणो मनोहरा काला वसन्तादिऋतव । अविहिता-कृता हरिसूनोर्जुनस्य विक्रिया मनोविकृतिर्यैस्तानि तथाभूतानि सन्ति । 'नपुसक-मनपुसक-' इत्यादिना नपुसकैकशेष । त्रिदशवधूषु मनोभव वितेनुर्विस्तारयामासु । सोऽय परप्रहारार्थमुद्यतमायुध स्वात्मानमेव प्रहरतीति न्यायप्रजात इति भाव । अत्र मुनिविक्रियार्थे खोपा विक्रियारूपानर्थोत्पत्तिकथनाद्द्वितीयो विषमालङ्कार । तथा च सूत्रम्—'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिविरूपसघटनाद्विषमालङ्कार' इति ॥ ३८ ॥

उन सुरसुन्दरियों के सहायक गन्धर्वों ने श्रोत्राभिराम वीणा बजाया, समय भी ऋतुओं के प्रादुर्भाव से फल-कुसुमादि चिह्नों द्वारा मनोहर था तथापि इन्द्रपुत्र (अर्जुन) का मन विकृत न हुआ जिसके कारण सुराङ्गनाओं पर कामदेव ने अपना प्रभाव जमाया ॥ ३८ ॥

तटस्थवदालम्बनगणोऽपि विपरीतोऽभूदिति श्लोकद्वयेनाह—

न दलति निचये तथोत्पलाना न च विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासा हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥ ३९ ॥

नेत्यादि ॥ आसा लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति विकसति उत्पलानां निचयेऽभिरतिं नोपलेभिरे न प्रापु । तथा च विषमच्छदगुच्छा सप्तपर्ण-स्तबका यूथिका मल्लिकाश्च तास्वभिरतिं नोपलेभिरे । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छद' इत्यमर । तथा रमणीयत्वात्तदुपमानाभावादित्यर्थ । इति चक्षु-प्रीतिरुक्ता ॥ ३९ ॥

इन सुरसुन्दरियों के नेत्र जितना अर्जुन के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को देखकर प्रसन्न हुये उतना विकसित कमलों के समूह से तथा सप्तपर्ण के स्तवक और मालती से तृप्त न हुये ॥ ३९ ॥

अथ मन सङ्ग सूचयति—

मुनिमभिमुखता निनीषवो या समुपययु कमनीयतागुणेन ।
मदनमुपदधे स एव तासा दुरधिगमा हि गति प्रयोजनानाम् ॥४०॥

क्तायाः सपन्थि अलक्तकवर्तनया कोपारसरञ्जनेन अभिताम्रं निहितं न्यस्तं चरणं षट्पदाली कर्त्री धृता नवलोहितपङ्कजानामभिशङ्का प्रत्यग्रकोकनदभ्रमो यया सा। अभिपपाताभिधावति स्म। अत्र षट्पदाल्या स्त्रीचरणे पङ्कजभ्रमाभिधानाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः। तेन चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ ४२॥

रसभावादि व्यञ्जक चेष्टा विशेष पर ध्यान रखनेवाली सुररमणियों के चरण पर, जो महावर के विलेप से ताम्रवर्ण की अरुणिमा वहन करते थे, भ्रमरपंक्ति अभिनव अरुण कमल (कोकनद) की आशङ्का से टूट पड़ने लगी॥ ४२॥

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि॥ ४३॥

अविरलमिति॥ नमितशिखानि नर्तकीपादपीडनाद्वनमिताग्राणि कदम्बकेसराणि। रक्तपूजादत्तानीति शेषः। अविरलं सान्द्रं यथा तथा द्रुतो रागोष्मणा विगलितोऽत एव परिषिक्तः प्रसृतस्तं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनामलसेषु पदेषु पादन्यासेषु। अलक्तकं लाक्षारागं सवपुषं मूर्तिमन्तं चित्तरागमुत्कटतया कायाद्बहिर्निःसृतं भूमिविषयकं रागमित्युत्प्रेक्षा। ऊहुर्वहन्ति स्म॥ ४३॥

रक्त पूजामें समर्पित कदम्ब केसर, जिनके शिखाओं का अग्र भाग झुक गया था, नर्तन क्रिया में रत अप्सराओं के चरणों में, जो स्थूलता से आलस्यपूर्ण थे, सलक्त लाक्षाराग को ऊष्मासे द्रवित साक्षात् मूर्तिधारी अनुराग के सदृश धारण किये॥ ४३॥

अथास्या व्यञ्जकचेष्टां कथयति—

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि॥४४॥

नृपेति॥ नृपसुतमर्जुनमभितः सम्मुखं परिजनस्य सखीजनस्य गात्रेण तिरोहिता लज्जया स्वाकारगोपनायान्तर्हिताङ्गयष्टिर्यस्याः सा तस्याः समन्मथायाः वध्वाः। अभिलषितं मुनिं प्रत्यनुरागः स्फुटो बभूव। न च संव्रियमाणस्याभिव्यक्तिर्विरुद्धेति वाच्यमित्याह—यतः संवृतिः सम्यग्गोपनमेव कामितानि अनुरागान्। कामयतेर्भावे क्तः। वदति हि। प्रकटयतीत्यर्थः। अयमनुरागस्य स्वभाव उक्तः। यया चेष्टया रागः संव्रियते सैवास्य प्रकाशिका जायत इति भावः॥ ४४॥

काम से पीड़ित एक अमरललना का, जो अर्जुन के सम्मुख आने पर सखियों के शरीर से अपने अङ्ग को तिरोहित कर रही थी, अनुराग, जो अभिलषित अर्जुन के प्रति था, व्यक्त हो गया (छिपाने से भी छिप न सका) क्योंकि सम्यक् गोपनचेष्टा ही अनुराग को व्यक्त कर देती है (यह अनुराग का स्वभाव है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे निगूहित किया जाता है वह उसकी द्योतिका होती है)॥ ४४॥

अभिमुनि सहसा हृते परस्या घनमरुता जघनांशुकैकदेशे।
चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय॥ ४५॥

अभिमुनीति॥ अभिमुनि मुनिसमक्षं घनेन महता जघनांशुकस्यैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपायाः सलज्जायाः परस्याः संबन्धि अवसनौ निरावरणौ ऊरू यस्मिंस्तत्। चकितं भयसंभ्रमः प्रतियुवतीरपि सपत्नीरपि विस्मयं निनाय। किमुतान्यजनमित्यपिशब्दार्थः। न तु मुनिमित्याशयः॥ ४५॥

तपस्वी अर्जुन के सम्मुख वायु के झोंके से अन्य किसी नायिका के जघन वसन (वस्त्र) के हटाये जाने पर लज्जाभाराक्रान्त युवती के चमत्कार ने जिसमें विवस्त्र जघन ही कारण था सपत्नीजनों को भी आश्चर्य चकित कर दिया अन्य लोगों का कहना क्या? पर सब कुछ होते हुये भी अर्जुन का मनने मर्यादा को भङ्ग न किया॥ ४५॥

धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूपितपाण्डुगण्डलेखम्।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ॥ ४६॥

धृतेति॥ अपरा स्त्री स्मराभितापात् हेतोः। वलयानि बिसान्येव वलयानि येन तस्मिन् पाणावधिरूपिते चन्दनादिचर्चिते पाण्डू गण्डलेखौ गण्डस्थले यस्य तत्। मुखं निधायारोप्य। अमधुमदे मधुमदरहिते तथापि अलसे लोचने यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा तं नृपसुतं निदध्यौ पश्यति स्म। निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम् इत्यमरः॥ ४६॥

एक दूसरी सुराङ्गना ने कामदेव से संतप्त होकर अपने हाथ में मृणाल तन्तु का (कमल के डण्ठल के भीतर का सफेद रेशा) कङ्कण धारण कर लिया था। उसी करतलप्रदेश पर मुख विन्यस्त चन्दन विलेप के कारण चन्दन की रेखा और कपोल पाण्डुवर्ण के हो गये थे रखकर यद्यपि मधुमद नहीं था तथापि अलसाये हुये नेत्रों से तपस्वी (अर्जुन) को देखने लगी॥ ४६॥

अथ पञ्चभिर्मुनिं प्रति दूतीवाक्यमाह—

सखि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद॥ ४७॥

सखीति॥ कुसुमेषुणा कामेनाभितप्ता पीडिता सा नायिका। हे सखि! दयितं मुनिम्। इहानयेति मां प्रहितवती भवदन्तिकं प्रेषितवती। किं स्वविसृष्टत्वकारिणीयमित्याह—हृदयमिति। अहृदया अमनस्का। तस्यास्त्वद्गतत्वादिति भावः। अत एव सा पूर्वं प्रागेव भवदुपकण्ठं त्वत्समीपम्। उपागतं हृदयं मनो न विवेद। नाम संभावनायाम्। अतो मत्प्रार्थनं व्यर्थं तस्यामन्तरङ्गस्याद्बहिरङ्गस्य दुर्लभत्वादिति भावः। एतेन मनःसङ्ग उक्तः। चक्षुःप्रीतिस्तु प्रागेव सर्वासामुक्तेति न पृथगुच्यते॥ ४७॥

श्लोक संख्या ४७-५१ तक मुनि के प्रति दूती के वाक्य हैं —

उस सुरबालाने कामदेव से पीडित होकर "हे सखि ! उस प्राणाधार तपस्वी को यहाँ बुला लाओ" इस प्रकार से आदेश देकर मुझे भेजा है, हृदय (मन) को प्रथम ही उसने आपके समीप सम्प्रेषित कर दिया, अब वह हृदयहीन होने के कारण उसने नहीं जाना कि हृदय तो मैंने उनके पास भेज दिया, फिर दूती क्यों भेजती हूँ ॥ ४७ ॥

'रक्तमन सङ्कल्पा जागर कृशता रति । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥' इति । तत्राद्यमवस्थाद्वयमस्यवाचि । सम्प्रति काश्चित् क्रमनैरपेक्ष्येण सूचयति—

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।

गतघृण गमितानि सत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ॥४८॥

चिरमिति ॥ चिरं कलितान्यपि सन्देशार्थं बुद्ध्या योजितान्यपि । वचनानीति शेषः । परिशुष्यता मुखेनेति जागरोक्तिः । परिगदितुमपारयन्त्याऽशक्नुवत्या तया । हे गतघृण ! अद्यापि त्वं नानुकम्पस इति भावः । सत्सखीनां मनांसि नयनयुगैः सममार्द्रतां गमितानि । उभयत्र गमितानीत्यर्थः । शोकबाष्पैरिति भावः । अत्र सखीशोकोक्त्या मूर्च्छावस्था सूच्यते । अत्र शोकबाष्परूपकारणभेदात् प्रतियोगिभेदात्कार्यस्यैक्येऽप्यभेदाध्यवसाय । तन्मूला चेयं नयनयुगैः सममिति,सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ४८ ॥

बहुत दिनों से सन्देश भेजने के विचार से पहले ही से मनमें सोचे गये वचनों को भी बतानेमें मुख शीघ्र होने के कारण व्यक्त करने में वह (नायिका) अपने को असमर्थ पाती है । हे कठोर हृदय, [अर्थात् अब भी उस पर ध्यान नहीं करते हो] तेरे सखियों के अन्तःकरण दोनों नेत्रों के साथ साथ आर्द्र हो गये हैं अर्थात् शोकाश्रुओं से भीग गये हैं ॥ ४८ ॥

अचकमत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम् ।

भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥ ४९ ॥

अचकमतेति ॥ किं वाच्यं चेत्साह—सा स्त्री मृद्वी सुरभिश्च या तां मृदुसुरभिं पुष्पशय्यां विरहय्य विहाय सपल्लवां धरित्रीम् । अचकमत ऐच्छत् । तस्यास्ततोऽपि शीतलत्वादिति भावः । कमेर्णिङन्ताल्लुङ् । 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति द्विर्भाव इति केचित् । तन्न । अचीकमतेति प्रसङ्गात् । अतो णिङभावपक्षे 'कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्य ' इति चङ्यचकमतेति रूपमेतत् । अस्या नायिकायाः । तत्र धरित्र्यामपि भृशमरतिं तु लब्ध्वा । अवाप्य । सुखयतीति सुखं शीतं शीतलञ्च तं सुखशीतं तवाङ्कमुत्सङ्गम् । उपैतुमिच्छा । वर्तत इति शेषः । अस्याश्चौत्सुक्यं कथितम् । अत्रारतिजागरौ

सुप्यस्थानित्यस्या नायिकाया क्रमेण पुष्पशय्यायामनेकाधारसम्बन्धकथनात् प्रथम पर्यायालङ्कार । तदुक्तम्—क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेक पर्यायालंकृतिर्द्विधा ॥ इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

उस नायिकाने सुन्दर कुसुममयी पुष्पशय्या का परित्याग करके पल्लव से व्याप्त भूमि को इच्छा की है [पल्लवको फूल से भी शीतल होने के कारण फूल छोड़ पल्लव को पसन्द करती है] उस पल्लवमय भूमि पर भी वह व्यथा से सन्तप्त होकर इसपर शीतल तुम्हारी गोद में विश्रान्ति प्राप्त करने की इच्छा करती है ॥ ४९ ॥

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे ।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ॥ ५० ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात्कारणात् तस्या दुरवस्थाहेतो । हे अनघ निष्पाप ! तनु कृशेति कार्श्यावस्थाकथनम् । सा नायिका सकामा सफलमनोरथा अस्तु । हि यस्मात्, त्वमेवार्थ प्रयोजनं वस्तु वा तस्मिन् त्वदर्थे निमित्ते सतीति शेषः । त्वदर्थमित्यर्थः । परासुतां निष्प्राणत्वं पुरा व्रजति भविष्यति । मरिष्यतीत्यर्थः । तथा च तेऽनिमित्तं स्त्रीवधप्रसङ्गः स्यादिति भावः । यावत्पुरानिपातयोर्लट् इति भविष्यदर्थे लट् । इदं च दशमावस्थाप्रदर्शनम् । न च तपोविघ्नस्याक्षेप्तव्यमित्याह—पुनरिति । पुनरपि पश्चादपि । पुनरप्रथमे भेदे इति विश्वः । तपः सुलभम् । अनुरागी अनुरूपो योग्यश्च युवतिजनस्तु नाप्यते न लभ्यते खलु ॥ ५० ॥

इसलिये उसकी दुरवस्था के कारण हे निष्पाप ! उस अतीव कृशा का मनोरथ सफल हो जाय क्योंकि तुम्हारे लिये पहले वह मरणासन्न हो गई है कदाचित् मर न जाय । (उसकी व्यथापर आपको ध्यान अवश्य देना चाहिये) फिर भी तपश्चर्या सरलतापूर्वक सम्पन्न की जा सकती है परन्तु प्रेमी और योग्य युवतिजन की उपलब्धि नहीं होती ॥ ५० ॥

एवं प्रलोभितस्यापि मुनेर्मौनं न भग्नमित्याह—

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम् ।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥ ५१ ॥

जहिहीति ॥ कठिनतां निःस्पृहतां जहिहि । त्यजेत्यर्थः । जहातेर्लोट् च हौ इतीकारः । वाचं प्रयच्छ । सम्भाषस्वेत्यर्थः । मुनीनां मानसं मनः करुणामृदु ननु दयार्द्रं खलु । स्वान्तं हृन्मानसं मनः इत्यमरः । किंच अभव्या निर्भाग्या उपगतं प्राप्तम् । विषयमिति शेषः । अवधीरयन्ति अवमन्यन्ते । एवमुक्तप्रकारेण सोऽर्जुनः कयाचित्स्त्री समीपमागत्य निपुणं चतुरं यथा स्यात्तथा ऊचे उक्तः । नायिकया दूतीं प्रति यदुक्तम् तया दूत्या च मुनिं प्रति कथितमित्यर्थः । अत्र पञ्चश्लोक्यां विप्रलम्भशृङ्गारस्यौत्सुक्यनाम्नः व्यभिचारिभावस्य चातुरस्यै नायिकाया अनुभवकथनात् प्रकृतरामायण

मनुसन्धेयम् । तदुक्तम्—'एकत्र चेदनुरागस्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः ॥' इति । तन्निबन्धनादूर्जस्वलमलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—'रसभेदतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धने रसवत्प्रेयऊर्जस्वलसमाहितानि' इति । [समाहितातिरसबन्धे रसवदलङ्कारः । भावनिबन्धेन प्रेयोऽलङ्कारः । रसभावनिबन्धे ऊर्जस्वलालङ्कारः । तत्प्रशमनिबन्धे समाहितालङ्कार इति सूत्रार्थः] ॥ ५१ ॥

पारुष्य (निष्ठुरता) का परित्याग कीजिये । वाग्दान दीजिये । क्योंकि तपस्विजन का हृदय करुणा से कोमल होता है । किन्तु भाग्यहीन व्यक्ति प्राप्त वस्तु की अवहेलना करते हैं । इस प्रकार किसी कामपीडित सुराङ्गना का सन्देश किसी दूतीने आकर अर्जुन के प्रति निवेदन किया ॥ ५१ ॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः ।
सुरपतितनये परा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम् ॥ ५२ ॥

सललितेति ॥ सललितं सविलासं यथा तथा चलितेन विवर्तितेन त्रिकेण कटिभागेन । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । अभिरामा । शिरसि जाताः शिरसिजाः । 'सप्तम्यां जनेर्डः' । 'अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे' इत्यलुक् । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । एतेन मनसिजो व्याख्यातः । तेषां संयमने बन्धने आकुलो व्यग्र एकः पाणिर्यस्याः सा । परा काचित् सुरपतितनयेऽर्जुने । जेतैव जैत्रः । 'जेतृ'शब्दात्तृजन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्प्रत्ययः । मनसिजस्य जैत्रं शरस्तं तथाभूतम् । विलोचनस्यार्धमेकदेशम् । कटाक्षमित्यर्थः । निरासे विससर्ज ॥ ५२ ॥

अन्य सुरबालाने जिसका त्रिक (कटिभाग) सविलास चल रहा था, और जिसका एक हाथ केशपाश के बाँधने में लगा हुआ था, कामदेव के अमोघ बाणभूत कटाक्ष को देवेश के पुत्र (अर्जुन) पर प्रक्षेप किया ॥ ५२ ॥

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥ ५३ ॥

कुसुमितमिति ॥ इभकुम्भवत् पृथुभ्यां स्तनाभ्यामानतमङ्गं यस्याः सा । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्च' इति ङीष् । काचित् तनुस्तन्वी । 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पान्न ङीष् । कुसुमितमुच्चैरुन्नतं चूतमवलम्ब्य । अत एव चूतलतायोगाद्विसृतो विस्तृतो गुणो ज्या यस्याः सा । 'विसृतं विस्तृतं ततम्' इति, 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इति चामरः । अनङ्गचापयष्टिरिव । आकृष्टमुक्तेति भावः । तदभिमुखं समुन्ननाम समुज्जजृम्भे । अङ्गभङ्गं चकारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

किसी और कृश देवबाला ने, जो हाथी के कपोल के समान स्थूल कुचों के भार से झुकी जाती थी, विकसित, उच्च आम्र की शाखा का—जो विस्तृत धनुष की प्रत्यञ्चा के सदृश था, अवलम्बन करके कामदेव के धनुष दण्ड के समान आकृष्ट कर छोड़ दी ॥ ५३ ॥

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम्।
अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दितावतस्थे ॥ ५४ ॥

सरभसमिति ॥ अन्याऽप्सरा विगलितनीवि अत एव विलोलं स्थानचलितम्। नीलया रक्तं नीलम्। नील्या अनुरक्त इत्यण्प्रत्ययः। अन्तरीयं परिधानम्। अवलम्ब्य हस्तेन गृहीत्वा। सरभसं सत्वरम्। अभिपतितुं मनो यस्याः सा तथोक्ता। अपगन्तुमुद्युक्तेत्यर्थः। तथापि ससाध्वसेव। न तु वस्तुतः ससाध्वसा किन्तु च्युतेन गलितेन रशनागुणेन सन्दिता सती। अवतस्थे स्थिता। बद्धे सन्दानितं मूतमुदितं सन्दितं सितम् इत्यमरः। अयमपि वा। पतिवत्याविमास्थाम्— इतीकारः ॥ ५४ ॥

एक सुराङ्गना की नीवी छूट गई जिससे नीली साड़ी सरक गई उसे हाथ से पकड़ कर वह भागने का विचार कर रही थी तथापि काञ्ची (करधनी) से बँधकर उसकी साड़ी रुक गई और वह भी न भाग सकी ॥ ५४ ॥

काचिदुपालम्भेनाह—

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ॥ ५५ ॥

यदीत्यादि ॥ तव मनसि शमः शान्तिर्यदि। अस्तीति शेषः। अङ्ग भो! चापं किम्। किमर्थमित्यर्थः। किं तु हे शठ हे वञ्चक! तव विषयाः शब्दादयो वल्लभाः प्रियाः। न तु मुक्तिः। तदेव प्रकटयितुमाह—भवतु। को दोष इति शेषः। यद्यपि रागी तर्हि किमिति भवतीभिः नानुरज्यसीति चाशङ्कां निवारयति—दिशतीति। तव हृदये मनसि हृदयेश्वरा काचित्तव प्रेयसी। अन्यकामिनीभ्यः अस्मत्प्रभृतिभ्योऽवकाशं न दिशति न प्रयच्छति। अन्यान्तरासक्तत्वात् नास्मास्वनुरज्यसि न तु वैराग्यात्। तथ्यमेवार्थे ते स्वकृतः प्रयासोऽपीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

किसी सुन्दरी ने कहा—हे (शठ) यदि तुम्हारे हृदय में शान्ति का निवास है तो फिर यह धनुष किस लिये धारण करते हो? किन्तु अरे ठग इन्द्रियों के विषय शब्दादिक तुम्हें अत्यन्त प्रिय हैं उनमें तुम्हारा मन नहीं है। जो तुम हमलोगों पर नजर न देखकर अनुरक्त नहीं बने हो इसका कारण यह है कि तुम्हारे मन में कोई और रमणी बसी हुई है अतः वहाँ अवकाश नहीं है जिसमें हम लोगों को स्थान मिले ॥ ५५ ॥

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित्।
अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥ ५६ ॥

इतीति ॥ इतीदृशम्। असूयया मत्सरेण स्फुरन्नधरोष्ठो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथाभिधायोक्त्वा विषमितचक्षुषा कुटिलीकृतदृष्ट्याऽभिमता गुरवः आचार्यादयो

मानोऽभिमानो लज्जा च यया तथा । कयाचित् । असौ मुनि । उरसि स्वय स्वह-स्तेनैव श्रवणोत्पलेन जघ्ने हत ॥ ५६ ॥

इस प्रकार के वाक्य कह कर किसी दूसरी नायिका ने, जिसके अधर पुट जुगुप्सा [illegible] कारण फड़क रहे थे, अपने अभिमान और लज्जा का कुछ भी विचार न करके कुटिल दृष्टि करती हुई कर्णोत्पल [illegible] स्वय अर्जुन के हृदय में मारी ॥ ५६ ॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मी ।
श्रवणनियमितेन त निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥ ५७ ॥

सविनयमिति ॥ अपरा सविनयमनौद्धत्येन । साचि तिर्यक् । अभिसृत्य समीप गत्वा स्मितेन मन्दहासेन सुभगा एकस्य लसत कपोलस्य लक्ष्मी यस्या सेति बहुवचनपद्योत्तरो बहुव्रीहि । अन्यथा कप्प्रत्यय स्यादित्युक्त प्राक् । श्रवणनियमितेन कर्णान्तप्रापितेन श्रोत्रलब्धप्रसरेण । तावदायतेनेत्यर्थं । असकलेनासपूर्णेन, कटाक्षेणेति यावत् । लोचनेन त मुनिं धनजय सकलमिव समग्रमाप यथा तथा निदध्यौ पश्यति स्म । कटाक्षेणैव गाढमद्राक्षीदित्यर्थ । एषु श्लोकेषु भावाभासनि-बन्धादूर्जस्वलालङ्कार । औत्सुक्यमत्र भाव । आभासत्व चास्य विरक्तमुनावनौचि-त्यादित्युक्त प्रागेवेति ॥ ५७ ॥

एक सुरसुन्दरी, विनीत भाव से समीप जाकर मन्दहास करने लगी जिससे उसके कपोल परम सुशोभित हो रहे थे । वह कर्णपर्यन्त विस्तृत अर्धनिमीलित नेत्र [illegible] ध्यान पूर्वक देखने लगी ॥ ५७ ॥

अथ तासा मुनिविलोभनमुपसहरति—

करुणमभिहित त्रपा निरस्ता तदभिमुख च विमुक्तमश्रु ताभि ।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतु प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमि ॥ ५८ ॥

करुणमिति ॥ ताभि स्त्रीभि । तदभिमुख मुनिसमक्ष करुण दीनमभिहितमुक्तम् । त्रपा निरस्ता लज्जा त्यक्ता । किंबहुना, अश्रु च विमुक्तम् । तत पर न किंचिद्विधेय-मासीदिति भाव । कुत । हि यस्मात्, अबलाजनस्याभिसारणे समागमविषये प्रकुपितमनुकूल प्रियमनुनेतुमनुकूलयितुम् । इयती भूमिरित्येतावती सीमा । साध नाना परमावधिरिति भाव । अर्थान्तरन्यासोऽलकार ॥ ५८ ॥

वे सुरसुन्दरियां दीनतापूर्वक अर्जुन के समक्ष बोलीं, लज्जा छोड़ी और कहा तक कहा जाय आंसुओंकी धारायें बहाई । इससे अधिक वे क्या कर सकती थीं क्योंकि समागममें प्रतिकूल प्रियको अनुकूल बनानेके लिए अबलाजनोंके साधनोंकी सीमा भी यहीं तक है ॥५८॥

अथासामनुरागदार्ढ्य निगमयति—

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलस परिपाण्डुता विषाद ।
इति विविधमियाय तासु भूषा प्रभवति मण्डयितु वधूरनङ्ग ॥ ५९ ॥

अलसेति ॥ अलसकलनयनैर्वीक्षितानि अलसावलोकितानि लज्जाऽलसं गत मन्द गमनं परिपाण्डुता पाण्डुरत्वमत्र विषाद इष्टमप्राप्तिनिमित्तश्चेतोभङ्गः। इति एवं प्रकारं विविधं नानाविधचेष्टितम्। नपुंसकमनपुंसक— इत्यादिना नपुंसकैकशेषत्वम्। तासु भूषामिवायेति भावप्राधान्येन योज्यम्। तथा हि—अनङ्गो मदनो वपुर्लभ्यावितुं प्रभवति। सर्वविधास्वविति शेषः। अतस्तासामनङ्गभूषितानामखिल भूषणमेवेति भाव ॥ ५९ ॥

उन देवयुवतियों का किञ्चिन्निमीलित नेत्रों से अवलोकन तथा मन्थर गति (धीरे चलना) शरीर की पीतिमा और इष्ट के न प्राप्त होने के कारण विषाद से अनेक प्रकार की क्रियायें उनकी अलङ्कारिणी होती हैं क्योंकि कामदेव सभी दशाओं में अबलाजनों को विभूषित करने में समर्थ होता है ॥ ५९ ॥

इदानीं तासां त्रिभिर्मुनिविषयमभिलाषमेकत्वमाह—

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम्।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥ ६० ॥

भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ॥ [illegible] ॥

अलसेति ॥ वधूनां स्वभावेन प्रकृत्याऽलसैः पदैर्मनोरमं मनोहरमत एव जिता कलहंसवधूनां गतिर्येन तत्। प्रयातं गमनम्। भावे क्तः। तथा उरुणोऽतिविपुलस्य जघनस्थलस्यातिभारादुत्थितौस्थितम्। उदितपरिश्रमेणोद्गतश्रमेण जिह्मिते घूर्णिते ईक्षणे यस्मिन् स्थितं वा स्थितिश्च। चकारः वाशब्द समुच्चये ॥ ६ ॥

भृशेति ॥ तथा भृशेन गाढेन कुसुमशरस्य कामस्य इषोर्निपातेन यो मोहो मूर्च्छा तस्माद्धेतो अनवसितार्थैरसमाप्तार्थैरपरिसमाप्तपदैः कुसुमशराभिधेयैः पदैः सुप्तिङन्तादिभिः क्षुभितशब्दैराकुलः सङ्कीर्णोऽभिलापो वाक्यप्रयोगः। अधिकं विततं विस्तृते लोचने यस्मिंस्तदयुगपत् पर्यायेण। उन्नमिते भ्रुवौ यस्मिंस्तञ्च वीक्षितम्। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य इति ह्रस्वः। वीक्षितं वीक्षणं च ॥ ६१ ॥

जिनके प्रकृति से आलस्ययुक्त चरणों का प्रयाण जो अतीव मनोहर था और राजहंस की युवती की गति को जीत लेता था वे अतीव स्थूल जघन भार से थके हुये नेत्रों से वक्रतापूर्वक देखती थीं पुष्पबाण (कामदेव) के तीक्ष्ण बाण प्रहार के कारण उत्पन्न मूर्च्छावस्थामें प्रयुक्त मन एवं अस्पष्ट सुप्तादि वाक्यों से जाल व्यक्त नहीं होता था और वे आँखों को खूब खोलकर (अर्थात् घूर घूर कर देखने से) बार बार भौंहों को ऊपर उठाकर मन्मुनि की तरफ देख रही थीं ॥ ६० ॥ ६१ ॥

रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ॥६२॥

रुचिकरमिति ॥ पूर्वोक्तं रुचिकरं स्पृहाजनकमपि । 'रुचिः कान्त्यर्चिषोर्भासि स्त्रियां शोभास्पृहार्थयोः' इति वैजयन्ती । स्तिमितेन स्थिरेण समाधिना तपोयोगेन शुचौ शुद्धे । निर्विकारचेतसीत्यर्थः । पृथातनूजेऽर्जुने विषये । अर्थवत् सप्रयोजनं न बभूव । तथा हि—महतां धीराणां मनांस्यमर्षे क्रोधे ज्वलयति सति सुखाभिलाषोऽवसरमवकाशं न लभते । रौद्रस्य शृङ्गारविरोधित्वादिति भावः । अत्र विशेषकेऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ६२ ॥

यद्यपि सुरसुन्दरियों के सभी मनोमोहक प्रयोग हृदयहारी थे तथापि वे अविचल समाधि के कारण अविकृत चित्त वाले अर्जुन के विषय में सफल न हो सके, क्योंकि क्रोध के उद्दीप्त होने पर धीर पुरुषों के मन में सुख की लिप्सा स्थान नहीं पाती ॥ ६२ ॥

स्वयं संराध्यैवं शतमखमखण्डेन तपसा
परोच्छित्त्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते ।
मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ॥ ६३ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये दशमः सर्गः ।

स्वयमिति ॥ एवं हरिसुतेऽर्जुने स्वयमखण्डेनाविच्छिन्नेन तपसा शतमखमिन्द्रं संराध्य प्रीणयित्वा परोच्छित्त्या शत्रुवधेन लभ्यां साध्यां लक्ष्मीं राज्यलक्ष्मीम् । अभिलषति सति सोद्वेगैः कार्यसिद्ध्यभावात्सनिर्वेदैर्मनोभिरुपलक्षिताः । किंच, प्रणयविहत्या प्रार्थनाभङ्गेन ध्वस्तरुचयो नष्टकान्तयः सगन्धर्वा गन्धर्वसहितास्त्रिदशवनिताः स्वं धाम स्वस्थानं प्रतिययुः । शिखरिणीवृत्तमेतत्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति लक्षणात् ॥ ६३ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां दशमः सर्गः समाप्तः ॥

इन्द्र तनय (अर्जुन) अविच्छिन्न तपश्चर्या के द्वारा शतक्रतु (इन्द्र) को स्वयं आराधित करके शत्रुवध के द्वारा प्राप्त होने योग्य राज्यश्री की अभिलाषा कर रहे थे। उनमें जिन अप्सराओंके सम्पूर्ण यत्न विफल हो गये उनका मन उद्विग्न हो उठा। प्रणयविषयिणी याञ्चा के विफल होने के कारण उनके शरीर की कान्ति विरस हो गई और वे गन्धर्वों को लिये दिये अपने निवासस्थान (अमरावती इन्द्र की नगरी) को चली गईं ॥ ६३ ॥

दशम सर्ग समाप्त



एकादश सर्ग

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया ।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ अप्सरसां प्रतिप्रयाणानन्तरम् । पाको नाम कश्चिद्दानवस्तस्य शासन इन्द्रः । तन्वादित्वात्स्युप्रत्ययः । तथाऽप्सरोमुखाच्छ्रुतया अमर्षाद्बुद्धिपद्देषादपि सर्गाच्च या जितेन्द्रियता तयाऽऽगन्तुकानागन्तुकोभयविधहेतुकया प्रतीतो हृष्टः सन् । ख्याते हृष्टे प्रतीत इत्यमरः । जिष्णोरर्जुनस्य । जिष्णु शक्रे धनञ्जये इत्यमरः । आश्रममाजगाम । अथामर्षान्निसर्गाच्चोर्जितेन्द्रियताहेतुकं काव्यलिङ्गं स्फुटम वगम्यते ॥ १ ॥

अप्सराओं के लौट जाने पर स्वभावसिद्ध तथा क्रोध के साथ जिष्णु के कारण अर्जुन की जितेन्द्रियता सुन कर पाकशासन के मालिक इन्द्र अर्जुन के आश्रम में गये ॥ १ ॥

किंभिन्नो निजरूपेणैवागतो नेत्याह—

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥ २ ॥

मुनिरूप इति ॥ मुनेः रूपमिव रूपं यस्य स मुनिरूपः । मुनिवेषधारीत्यर्थः । इन्द्रोऽनुरूपेण सर्वांशसदृशेनाऽप्यनेनेत्यर्थः । सूनुना पुत्रेणार्जुनेन पुरोऽग्रे ददृशे दृष्टः । कथम्भूत । वयो यौवनादिकमतीतो वृद्ध । द्वितीया श्रित इत्यादिना द्वितीया समासः । द्राघीयसाऽतिदीर्घेण । प्रियस्थिर— इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः । अध्वना । अध्वगमनेनेत्यर्थः । परिक्लान्तः परिश्रान्तः । किलेत्यलीके । किल सम्भाव्य वार्तयोः । हेत्वरुच्योरलीके च इति हेमचन्द्र । वृद्ध एव दूराध्वश्रान्त इव स्थित इत्यर्थः । [illegible] इति पाठे साधाय ॥ २ ॥

मुनिवेषधारी वृद्धावस्था के अतिक्रमण वर्षों बहुत दूर से आने के कारण थके हुए ...दो दर्शन प्रदान योग्य अर्जुन ने सामने देखा ॥ २ ॥

अथ चतुर्भिरिन्द्रं विशिनष्टि—

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव संध्यया ॥ ३ ॥

जटानामिति ॥ परितः सितैः केशैः कीर्णया व्याप्तया जटानां संहत्या समूहेनोपलक्षितः । अत एव इन्दुकरैः पृक्तया युक्तया सन्ध्योपलक्षितोऽह्नः पर्यन्तो दिनान्त

इव स्थित । तस्याप्युपपरिणतरूपत्वाद्वृद्धोपमानत्वम् । जटाया सहत्वेयुक्तत्वात् सध्यासाम्यम् ॥ ३ ॥

सुरराज (इन्द्र) धवलित केशों से व्याप्त जटाओं की संहति से उपलक्षित होकर चन्द्रमा की किरणों से युक्त सन्ध्या से व्याप्त दिवसावसान के सदृश दिखलाई पड़ते थे ॥३॥

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचन ।

प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रद ॥ ४ ॥

विशदेति ॥ पुनश्च, विशदेन पलितपाण्डुरेण भ्रूयुगेन छन्ने वलितापाङ्गे वलिमप्रान्ते लोचने यस्य स तथोक्त 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमर । पामादित्वाल्लोमादिसूत्रेण मत्वप्रत्यय । प्रालेयावतत्या हिमसहत्या म्लानपलाशानि म्लानदलानि अब्जानि यस्मिन्स ह्रद इव स्थित ॥ ४ ॥

पलित पाण्डुर वर्ण के भौंहों से उन (इन्द्र) के दोनों नेत्र ढके हुए से थे । उन नेत्रों के कोनों में सिकुड़न पड़ गई थी । वे (इन्द्र) तुषार के ढेर से मुरझाये [illegible] कमल दल से व्याप्त सरोवर के सदृश मालूम पड़ते थे ॥ ४ ॥

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि ।

आधून सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बित ॥ ५ ॥

आसक्तेति ॥ पुनश्च, परिकृशैः परिक्षीणैरपि, आसक्तभरनीकाशैराक्रान्तसदृशै । समारोपितगुरुभारैरित्यर्थ । 'इक काशे' इति दीर्घ । अङ्गैरुपलक्षित । कार्श्याल्लघून्यपि स्वाङ्गानि स्वय वोढुमसमर्थ इत्यर्थ । अत एव आधून औदरिक । 'आधून स्यादौदरिको विजिगीषाविवर्जिते' इत्यमर । आङ्पूर्वाद्धीप्यते क्त । 'ओदितश्च' इत्यूठादेश । 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति निष्ठानत्वम् । सद्गृहिण्याऽनुकूलकलत्रेण इव प्राय प्राचुर्येण यष्ट्याऽवलम्बनेन । अवलम्बितो धारित । [illegible] तु स्वशक्त्येति भाव ॥ ५ ॥

सुरराज (इन्द्र) के अङ्ग दुर्बल थे अत भार से दबे हुए के सदृश प्रतीत होते थे । लाठी के सहारे चलते हुए बड़े पेटवाले पुरुष के सदृश मालूम पड़ते थे, जो अपनी स्त्री के सहारे उठता बैठता है ॥ ५ ॥

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।

अशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह ॥ ६ ॥

गूढ इति ॥ वपुषा गूढोऽपि । प्रच्छन्नरूपोऽपीत्यर्थ । प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात् तृतीया । तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह स्तोकाभ्रवृन्दान्तरितमूर्ति । अशुमानिव लोकाभिभाविना लोकव्यापिना धाम्ना तेजसा । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयो' इति हेमचन्द्र । राजन् दीप्यमानो ददृश इति पूर्वेण सबन्ध ॥ ६ ॥

यद्यपि इन्द्रदेव प्रच्छन्न होकर चलते थे तथापि संसार व्यापी तेज से उस वृक्ष की तरह दीप्त हो रहे थे जो (वृक्ष) दरके पत्तों की तरह से ढका हुआ रहता है ॥ ६ ॥

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥ ७ ॥

जरतीमिति ॥ जरतीं जीर्णाम् । जीर्णे जीर्णो जरन्नपि इत्यमरः । जीर्यतेरतृन्निति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । तनुं शरीरं बिभ्राणोऽपि दधदपि । अप्राकृताऽलोकसामान्या आकृतिर्मूर्तिर्यस्य स इन्द्र आक्रान्ताऽभिभूता लक्ष्मीराश्रमशोभा येन स आक्रान्तलक्ष्मीकः । अत्र 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति नित्यकप्प्रत्ययः । एकवचनान्तोत्तरपदस्यैव लक्ष्मीशब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठात् । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पाश्रयणे तु बहुवचनोत्तरपद इति विवेकः । आश्रमं ससाध्वसमिव चकार । शैलशिखरस्थभानुरिव भाति । तथा न तु उत्प्रेक्षायां तस्यामनुपपत्तेरिति सूर्यमित्यत्र इव शब्दः ॥ ७ ॥

जीर्ण तथापि अलौकिक शरीर धारण किये हुये इन्द्र ने आश्रम की शोभा को आक्रान्त करके आश्रम को भयाकुल की तरह कर दिया ॥ ७ ॥

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥

अभित इति ॥ पृथासूनुरर्जुनः । तम् इन्द्रम् । अभितस्तम् अभि स्नेहेन प्रीत्या परितस्तरे । तद्गौरवेण प्रेम्णा व्याप्तः । स्तृणाते कर्मणि लिट् । अत्रत्य सम्बन्धाद्गुणः इति गुणः । ननु अज्ञातस्य पित्रोपत्यस्य तस्ये मे कथं स्नेहोदय इत्यत आह—अविज्ञात इति । बन्धौ सुहृदि । अविज्ञातेऽपि वस्तुस्वाभाव्यात्तेऽपि बलाद्धृदयस्यजनसम्बन्धेन मनः प्रह्लादते हि विस्मृतोऽप्यर्थः ॥ ८ ॥

इन्द्र के पास बैठे हुये पृथासुत (अर्जुन) स्नेह से परिप्लुत हो गये । क्योंकि अगर अपने बान्धव को कोई नहीं पहचान सकता है तथापि उसके प्रति मन बलात् हर्षोद्रेक होता है ॥ ॥

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥

आतिथेयीमिति ॥ अथ हरिरिन्द्रः सुतादर्जुनात् । आतिथेयीम् अतिथिषु साध्वीम् । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । अपचितिं पूजाम् । आसाद्य प्राप्य । पूजा नमस्यापचितिः इत्यमरः । विष्टरे आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । विश्रम्य नाम विश्रम्य किल । श्रमस्यापनीयेत्यर्थः ।

इति वक्ष्यमाणप्रकारां भारतीं व्याजहार उक्तवान् । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमर ॥ ९ ॥

सुरेन्द्र (इन्द्र) पुत्र से आतिथ्य सत्कार के उपयुक्त पूजा ग्रहण करके थोडी देरतक आसन पर विश्राम करके (अर्जुन से) बोले ॥ ९ ॥

अथ प्रथमं तावन्मुनिवदेन मुमुक्षु कृत्वाह—

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तप ।
ह्रियते विषयै प्रायो वर्षीयानपि मादृश ॥ १० ॥

त्वयेति ॥ त्वया साधु समारम्भि सम्यगुपक्रान्तम् । रभे कर्मणि लुङ् । कुत ? यत् यस्मात् । नवे वयसि यौवने । तप चर्यत इति शेष । तथा हि—अहमिव दृश्यतेऽसौ मादृशो वर्षीयानतिवृद्धोऽपि । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'वृद्ध' शब्दस्य वर्षादेश । प्रायो विषयैर्ह्रियत आकृष्यते । किमु भवादृशो यवीयानिति भाव ॥ १० ॥

इन्द्र ने कहा'—

तुमने अच्छा किया जो इस अल्पावस्था में ही तपश्चर्या आरम्भ कर दिया, मुझ जैसे व्यक्ति अधिक अवस्था के होते हुये भी विषयों के द्वारा आकृष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

अथैवमनारम्भे तव स्वाकारकामोऽपि विफल स्यादित्याशयेनाह—

श्रेयसीं तव सम्प्राप्ता गुणसंपदमाकृति ।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभ हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

श्रेयसीमिति ॥ तवाकृतिर्मूर्ति । रम्येति शेष । श्रेयसीं श्रेष्ठा गुणसंपद तपसमारम्भरूपा सम्प्राप्ता । अतो न निष्फलेति भाव । न च स्वाकारा गुणाढ्याश्च कियन्तो कियन्तो न सन्तीति वाच्यमित्याह—लोक इति । लोके रम्यता रम्याकारता सुलभा हि, गुणार्जनं गुणसंपादनं दुर्लभम्, त्वयि तूभयं संपन्नं इति हेम्न परमामोद इति भाव ॥ ११ ॥

तुम्हारी आकृति परम रम्य है, कल्याण कारी गुणो की सम्पत्ति भी तुम्हें मिल गई है सौन्दर्यका तो संसार में मिलना कोई कठिन बात नहीं है परन्तु गुणों का प्राप्त करना कठिन काम है। तुममें तो सौन्दर्य और गुण दोनों मिलते हैं, ये तुम्हारे लिये सोने में सुगन्ध का काम देते हैं ॥ ११ ॥

यदुक्तम् 'त्वया साधु समारम्भि' (श्लो० १०) इति, तदेव साधुत्वं संसारासारताप्रतिपादनाय श्लोकेनोपपादयति—

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रिय ।
आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन ॥ १२ ॥

शरदिति ॥ यौवनश्रियस्तावत् शरदम्बुधरच्छाया इव गत्वर्यश्चपला । गत्वरश्च इति करबन्तो निपातः । टिड्ढाणञ्— इत्यादिना ङीप् । विषयाः शब्दादयस्तु आपातरम्यास्तत्कालरमणीयाः । 'तदात्वे पात आपातः' इति वैजयन्ती । पर्यन्तेऽवसाने परितापयन्ति दुःखं कुर्वन्तीति तथोक्ताः ॥ १२ ॥

युवावस्था की शोभा शरत्काल के मेघ की तरह चञ्चल है (जैसे शरत्काल का बादल आया और गया) शब्दादिक जो समस्त इन्द्रियों के विषय हैं वे उसी काल में रम्य प्रतीत होते हैं परन्तु अन्तिमावस्था में सन्ताप प्रद ही होते हैं ॥ १२ ॥

> अन्तक पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्ततापदः ।
> इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥ [redacted] ॥

अन्तक इति ॥ नित्यं सन्तता अविच्छिन्ना आपदः क्लेशा यस्य तस्य जन्मिनः प्राणिनः । प्राणी तु चेतनो जन्मी इत्यमरः । व्रीह्यादित्वादिनिः । अन्तको मृत्युः पर्यवस्थाता प्रतिरोद्धा । प्रथमं तावद्गर्भस्थो जन्मदुःखमेव दुस्तरम् ततो जातस्य जीवनमपि सततं दुःखाभिभूततया विपद्बहुलमेवास्ति तदपि मृत्युमत्तमिति सोऽप्यन्तकालस्य शत्रोरिव [दुर्गन्धि विविधसङ्कुलम् । श्लेष्मरूपयन् सुरासिक्तम्] एवमपि तदपि दुर्लभम् ॥ इति व्यासादिभिरिति भावः । इति अस्माद्धेतोः । त्याज्ये भवे संसारे । भवतीति भव्यो योग्यो जनः । भव्यादय इति पाठः । 'भव्यं शुभे शुभे चापि भव्यं योग्यभाविनोः' इति विश्वः । 'भव्यगेय— इत्यादिना कर्त्तरि निपातः । मुक्तौ मोक्ष उत्तिष्ठते उद्युक्तो भवति । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि इत्यात्मनेपदम् ॥ १३ ॥

जन्मधारण करनेवाले प्राणी सर्वदा विपत्तियों से दबे रहते हैं । अन्त में मृत्यु से अवश्य भागिनी है (तात्पर्य यह कि पहिले तो प्राणी को जन्म जनित [redacted] दुःख भोगना पड़ता है फिर जीवन यात्रा अनेक आपत्तियों से पूर्ण है अन्त में मृत्यु के विषय में कहना ही क्या सबलोग जानते ही हैं) इस लिये यह संसार हेय है जो सज्जन लोग हैं वे मुक्ति प्राप्ति के लिये सदा यत्नशील रहते हैं ॥ १३ ॥

संप्रति प्रशंसापूर्वकं स्वाभिसन्धिं दर्शयति—

> चित्तवानसि कल्याणी यस्य मतिरुपस्थिता ।
> विरुद्धः केवलं वेषः संदेहयति मे मनः ॥ १४ ॥

चित्तवानिति ॥ चित्तवान् प्रशस्तचित्तोऽसि । प्रशंसायां मतुप् । कुतः । यत् यस्य त्वां कल्याणी साध्वी । बह्वादिभ्यश्च इति ङीप् । मतिरुपस्थिता सङ्गता । किन्तु केवलमेकं यथा तथा विरुद्धो वेषो मे मनः संदेहयति संशययुक्तं करोति । यद्वा वेषः कवचम् । वेष एवैकम् । 'केवलं कृत्स्ने एके च केवलं चावधारिते' इत्युभयत्रापि शाश्वतः ॥ १४ ॥

तुम्हारा मन शुद्ध है जो तुममें इस तरह की मङ्गलमयी बुद्धि का विकास हुआ है। एक तुम्हारा विरुद्ध वेष ही मेरे मन को क्षुब्ध कर रहा है ॥ १४ ॥

वेषविरोधमेवाह—

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया ।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

युयुत्सुनेति ॥ युयुत्सुनेव योद्धुमिच्छुनेव त्वया । युधेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । किमिदं कवचं वर्म । आमुक्तमर्पितम् । तत्र को विरोध इत्यत्राह—हि यस्मात्, तपस्विनः केवले एके । कवचाद्यसहचरिते इति यावत् । ते च ते अजिनवल्कले च । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । वसते आच्छादयन्ति । अतस्तपस्विनस्ते कवचधारणं विरुद्धमित्यर्थः ॥ १५ ॥

विरुद्ध वेष क्या है —

युद्धार्थी की तरह यह कवच तुमने किस लिये धारण कर रक्खा है? तपस्वी तो केवल मृगचर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं निःस्पृहस्य कलेवरे ।
महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः ॥ १६ ॥

प्रपित्सोरिति ॥ किं च, मुक्तिं प्रपित्सोः प्राप्तुमिच्छोः । 'सनि मीमा—' इत्यादिनेत्वादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अतो मुमुक्षुत्वादेव कलेवरे शरीरे गतस्पृहस्य निःस्पृहस्य । अतो नात्मरक्षार्थं धनुर्धारणं युक्तमित्यर्थः । नापि परहिंसार्थमित्याह—भूतानां जन्तूनाम् । 'क्ष्मादौ जन्तौ च भूतानि' इति वैजयन्ती । 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञाया 'कर्तृकर्मणोः कृति—' इति कर्तरि षष्ठी । अनभिद्रुहोऽहिंसकस्य । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । ते तव महेषुधी महानिषङ्गौ भीमं त्रासजनकं धनुश्च । न समर्थयते शममित्युत्तरेणान्वयः । समर्थयेते इति वचनविपरिणामः कार्यः ॥ १६ ॥

तुम मुक्ति के अभिलाषी हो शरीर के विषय में तुम्हें निस्पृह होना स्वाभाविक है ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्राणी से द्रोह बुद्धि नहीं रखना चाहिये अतः यह महान् तूणीर (तरकस) और भीषण धनुष धारण करना तुम्हारी शान्ति का समर्थन नहीं करता ॥१६॥

भयंकरः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः ।
असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

भयंकर इति ॥ तथा, मृत्योरपरो भुज इव प्राणभृतां प्राणिनां भयं करोतीति भयंकरः । 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद्—' इत्यादिना मुमागमः ।

भसि खड्गः । तपसि तिष्ठतीति तपस्वी । तपश्चरतीत्यर्थः । सुपि स्थ इति कप्रत्ययः । तस्य, तव शमं शान्तिं न समर्थयते न संभावयति । किं शान्तस्य शस्त्रेणेति भावः ॥ १७ ॥

यह कृपाण (तलवार) जो लोभधारियों के लिये मृत्यु की दूसरी भुजा के सदृश भयावह है धारण करते हो वह तपोनिष्ठ तुम्हारी शान्ति का समर्थन नहीं करता (शान्त पुरुष को शस्त्र से क्या प्रयोजन ?) ॥ १७ ॥

ननु शान्तस्य किं तपसैवास्तु इत्यशङ्क्य जयार्थमित्याह—

जयमत्र भवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः ।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ॥ १८ ॥

जयमिति ॥ अत्र भवान् । पूज्य इत्यर्थः । इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते इति प्रथमार्थे प्राग्दिशीयस्त्रप्रत्ययः । सुप्सुपेति समासः । किन्तु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि इति पाठः । अरातिषु शत्रुषु विषये जयमभिलाषुको जयमिच्छुः । 'लषपत इत्या विनोकञ्प्रत्ययः' । न लोक इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । नूनमिति निश्चये । नूनं तर्केऽपि निश्चये इत्यमरः । क्रोधस्य लक्ष्म कोपस्य चिह्नम् । आयुधं क्व । क्षमावन्तः शान्ताः तपोधनाः क्व । क्रोधशान्त्योर्विरोधात् तत्कार्ययोः शस्त्रतपसोरप्येकत्रासंगतेः शस्त्रिणस्ते तपो जयार्थं न तु मोक्षार्थमिति निश्चय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

यह निश्चय हो रहा है कि तुम शत्रु से विजय प्राप्ति की अभिलाषा रखते हो (मोक्ष की नहीं) क्योंकि क्रोधसूचक शस्त्र कहाँ ? और क्षमाशील तपस्वी कहाँ । अर्थात् जो शत्रु को जीतने की इच्छा रखता है वही शस्त्र धारण करता है और जो मुमुक्षु हैं उन्हें तो क्षमा की ही भावना रहती है ॥ १८ ॥

तपसो जयार्थत्वे दोषमाह—

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः ।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥ १९ ॥

य इति ॥ यः पुमान् । निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसं मुक्तिः । अचतुर इत्यादिना समासान्तो निपातः । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्' इत्यमरः । निःश्रेयसं कुर्वन्तीति निःश्रेयसकरीः । निःश्रेयसहेतूरित्यर्थः । कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु इति हेत्वर्थे टप्रत्ययः । स्त्रियां ङीप् । क्रियास्तपोदानादिकर्माणि वधोदर्का हिंसाफलकाः करोति । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः । अत एव मूढः स पुमान् । ग्लानिरेव दोषस्तं छिन्दन्तीति ग्लानिदोषच्छिदः पिपासाहारिणीः । क्विप् । स्वच्छा निर्मला अपः पङ्कयति पङ्कवतीः करोति । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् । णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्येति मतोर्लुक्

इति मतुपो लुक्। महाफलसाधनस्य तपसस्तुच्छफलैर्विनियोगः स्वच्छाम्बुनः पङ्कसकरवत् प्रेक्षावन्निर्गर्हित इत्यर्थः। अत्र 'यत्तपसो वधोदकीकरणं तन्निर्मलस्य पयसः पङ्कसकरीकरणम्' इति वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरसमारोपात् प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कारः ॥ १९ ॥

जो पुरुष मोक्षसाधिका क्रिया को हिंसात्मक बनाता है वह मूर्ख तृषाशान्ति समर्थ पवित्र जल को गदला बना देता है ॥ १९ ॥

अन्यथार्थकामयोरपि मोक्षवत्पुरुषार्थत्वात्तपसस्तदर्थत्वे को दोषस्तत्राह—

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ २० ॥

मूलमिति ॥ हिंसादेरिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। 'आदि'शब्दात् अनृतस्तेयादीनां सङ्ग्रहः। दोषस्य अपगुणस्य मूलं कारणभूतौ। 'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्' इति भावः। अर्थकामौ मा स्म पुषो मोपचिनुष्व। 'स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ्। 'पुषादि-' इत्यादिना च्लेरङादेशः। हि यस्मात्, तौ अर्थकामौ तत्त्वावबोधस्य तत्त्वज्ञानस्य। मोक्षसाधनस्येति शेषः। दुरुच्छेदौ दुर्वारौ उपप्लवौ हिंसादिप्रवर्तकत्वाद्बाधकौ। अतः पुरुषार्थपरिपन्थिभावेतौ न पुरुषार्थावित्यर्थः ॥२०॥

यहाँ कदाचित् यह कहा जा सकता है कि मोक्ष के लिये नहीं, अर्थ और काम के लिये तपस्या कर रहे हैं उसका उत्तर यह है —

हिंसादिक जो अपगुण हैं उनके ये अर्थ और काम जड़ हैं (इन्हीं के कारण हिंसा होती है) अतः इनकी पुष्टि नहीं करना चाहिये क्योंकि ये दोनों तत्त्वज्ञान के ऐसे लुटेरे हैं जिनको कोई उपाय नहीं है ॥ २० ॥

मुक्तिप्रतिबन्धकत्वादपुरुषार्थावर्थकामावित्युक्तम्, तत्रार्थस्य तु लौकिकनिन्दास्पदत्वादप्यपुरुषार्थत्वमिति पञ्चभिः प्रपञ्चयति—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

अभिद्रोहेणेत्यादि ॥ भूतानामभिद्रोहेण हिंसया गत्वरीरस्थिराः श्रियः सम्पदोऽर्जयन् जनः। उदकमस्तीति उदन्वानुदधिः। 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः। सिन्धूनां नदीनामिव आपदां विपदां पात्रतां भाजनत्वम् एति ॥ २१ ॥

जो पुरुष प्राणि मात्र के साथ ईर्ष्या करके चञ्चल लक्ष्मी को एकत्रित करता है वह ठीक उसी तरह विपत्ति का भाजन बनता है जैसा कि समुद्र नदियों का (आश्रय) पात्र बनता है ॥ २१ ॥

आपत्प्रायतामेव व्यनक्ति—

या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः ।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

या इति ॥ याः संपदः सत्सहायानां विद्यमानसहायवतामेव पुंसां गम्याः प्राप्याः । विपन्नेऽपि सत्सहायानामेव गम्याः । निस्तीर्या इत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । यासु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेशः । विपत्सु स्वत एवेति विशेषः । यतो याभ्यः संपद्भ्यो भयम् । अनेकानर्थमूलत्वादिति भावः । विपद्भ्यस्तु स्वरूपत एवेति भावः । किं बहुना विपदामिव तासां संपदां सम्बन्धि यत् किंचित् । अस्तीति शेषः । यद् दुःखाय न भवति । सर्वं दुःखावहमेवेति भावः । यथाहुः—'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥' इति । अतो हेया इति भावः । अत्र यच्च दुःखाय इत्युक्तस्यार्थस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते । तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम् ॥ २२ ॥

अब विपत्ति का साम्य किस प्रकार रखता है कवि विवरण कर रहे हैं —

जिस तरह विपत्ति अच्छे सहायक सामग्रियों से टाली जा सकती है उसी तरह सम्पत्ति भी अच्छे साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। विपत्तियों के आने से दुःख होता है और सम्पत्तियों की रक्षा करने में अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। सम्पत्तिशाली बनने पर प्राय पर सदा भय बना रहता है और विपत्ति तो स्वयं भयोत्पादिका है। क्या इन में से कोई भी विपत्ति ऐसी है जो दुःख का कारण न हो ? ॥ २२ ॥

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥ २३ ॥

दुरासदानिति ॥ किंच दुरासदान् दुष्प्रापान् । विश्वासाज्जन्म यस्यास्तस्याः । जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । धृतेः संतोषस्य । उग्रानरीन् । धनिकस्य सर्वस्वापहारनाशसमर्थान् ... । भुज्यन्त इति भोगास्तान् भोगान् धनानि । आहेयान् अहिषु भवान् । '...' । भोगान् फणानिव । 'भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपत् विपत् । न दुर्लभा । ... बलात्पतनं ... ॥ २३ ॥

भोग विलासादि दुष्प्राप्य हैं वे सन्तोष के जिसकी उत्पत्ति विश्वास से होती है प्रबल शत्रु हैं और वे सर्प के फणों की तरह हैं अतः भोगों का उपभोग करके विपत्ति से छुटकारा नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञा श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रियः सम्पदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसां श्रियां प्रियैर्न भूयते । न ताः कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थः । अन्यत्र श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जना तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ताः । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुरागः पुंसामेवायं दोष इत्यर्थः । किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तरं न्यस्यति—वामेति । जन्तवो वामशीला वक्रस्वभावा हि । स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

सम्पत्ति कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव (ऊँच नीच का विचार) नहीं रखती । इन सम्पत्तियों के लिये प्रिय कोई नहीं । क्योंकि मूर्ख प्राणी इनमें आसक्त होकर दुःशील हो जाते हैं ॥ २४ ॥

प्रस्तुतम्—'नान्तरज्ञाः श्रियः' (श्लो० २४) इति, तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सम्पदः ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् सम्पदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिराः । न तिष्ठन्तीत्यनु- भूयते, यत चञ्चला इति अतः स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवादः का निन्दा । किंतु क्षुद्राः सम्पदः साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव त्यजन्त्येव । तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थः । तस्मादर्थो न पुरुषार्थ इति तद्भावार्थः ॥ २५ ॥

सम्पत्तियाँ दुःशील पुरुषों के विषय में चञ्चल रहती हैं यदि इन्हें चञ्चला कहें तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात है, कारण यह कि वे चञ्चल तो हैं ही । निन्दा का पात्र अथात् वे नीच तब होती हैं जब कि अच्छे मनुष्यों को भी छोड़ देती हैं ॥ २५ ॥

ननु मार्थमहमर्थये, किंतु वीरधर्ममनुपाल्यम् वैरनिर्यातनमिच्छामीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वाद्युक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः ।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति ॥ तत्रास्मद्दृष्टान्तेनैव परपीडातो निवर्तितव्यमित्याशयेनाह—अप्रियै- रनिष्टवस्तुभिः संयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभिः सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु । अतीतानागतेष्विति शेषः । मनो विधुरं दुःखितं कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भविष्ये लुट् । तद्वर्तमाने चानुभूयत इति शेषः । इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थः ॥ २६ ॥

आपत्साम्यतामेव व्यनक्ति—

या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः ।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

या इति ॥ या संपदः सत्सहायानां विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्या प्राप्याः । विपदोऽपि सत्सहायानामेव गम्याः । निस्तीर्या इत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । यासु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेशः । विपत्सु स्वत एवेति विशेषः । यतो याभ्यः संपद्भ्यो भयम् । अनेकानर्थमूलत्वादिति भावः । विपद्भ्यस्तु स्वरूपत एवेति भावः । किं बहुना विपदामिव तासां संपदां संबन्धि यन्न किम् । अस्तीति शेषः । दुःखाय न भवति । सर्व दुःखावहमेवेति भावः । यदाहुः—'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥' इति । अतो हेया इति भावः । अत्र 'यन्न दुःखाय' इत्युत्तरवाक्यस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते । तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम् ॥ २२ ॥

वह ? विपत्ति का काम किस प्रकार करता है कवि विचार कर रहे हैं —

जिस तरह विपत्ति अच्छे सहायक सामग्रियों से टाली जा सकती है वसी तरह सम्पत्ति भी अच्छे साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है । विपत्तियों के आने से दुःख होता है और सम्पत्तियों की रक्षा करने में अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं । सम्पत्तिशाली बनने पर प्राय पर खतरा बना रहता है और विपत्ति तो स्वयं भयोत्पादिका है । क्या इन में से कोई भी विपत्ति ऐसी है जो दुःख का कारण न हो ? ॥ २२ ॥

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥ २३ ॥

दुरासदानिति ॥ किंच दुरासदान् दुष्प्रापान् । विश्वासाज्जन्म यस्यास्तस्याः । पञ्चम्युत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । धृतेः संतोषस्य । उग्रानरीन् । धनिकस्य सर्वज्ञानास्वादसमर्थादिक्षयसुखप्रसक्तानित्यर्थः । भुज्यन्त इति भोगास्तान् भोगान् धनानि । अहेयान् अहिषु भवान् । दर्वितुर्विषकर्कशानात्ममस्त्यहेतून् । भोगान् फणानिव । 'भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपत् विपत् । न दुर्लभा । आशीविषफणमिव सेव्यमानमेव भोगिनं पुमांसं धनकाद्यापदोऽनुसंदधतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

भोग विलासादि दुष्प्राप्य हैं । वे सन्तोष के जिसकी उत्पत्ति विश्वास के कारण होती है प्रबल शत्रु हैं और वे सर्प के फणों की तरह हैं अतः भोगी पुरुष विपत्ति से छुटकारा कभी नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञा श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रियः सम्पदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसां श्रिया प्रियैर्न भूयते । न ता कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थः । अन्वय श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जना तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ता । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुराग पुंसामेवाय दोष इत्यर्थः । किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तर न्यस्यति—वामेति । जन्तवो वामशीला वक्रस्वभावा हि । स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भाव ॥ २४ ॥

सम्पत्ति कभी भी किसी प्रकार का भेदभाव (ऊँच नीच का विचार) नहीं रखती । इन सम्पत्तियों के लिये प्रिय कोई नहीं । क्योंकि मूर्ख प्राणी इनमें आसक्त होकर दुःशील हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यदुक्तम्—'नान्तरज्ञा श्रिय' (श्लो० २४) इति, तदेव प्रकारान्तरेणाह—

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सम्पदः ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् सम्पदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिरा । न तद्विषयासु-पयसे, यत चञ्चला इति अस्त स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवादः का निन्दा । किंतु क्षुद्रा सम्पद साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव जहत्येव । तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थः । तस्मात्तासु न पुरुषार्थ इति तद्भावार्थ ॥ २५ ॥

सम्पत्तियाँ दुःशील पुरुषों के विषय में चञ्चल रहती हैं यदि इन्हें चञ्चला कहें तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात है, कारण यह कि वे चञ्चल तो हैं ही । निन्दा का पात्र प्रधान ये नीच तब होती हैं जब कि भले मानुषों को भी छोड़ देती हैं ॥ २५ ॥

ननु नार्थमहमर्थये, किंतु वीरधर्ममनुपालयन् वैरनिर्यातनमिच्छामीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वादयुक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः ।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति ॥ तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो निवर्तितव्यमित्याशयेनाह—अप्रियै-रनिष्टवस्तुभि संयोग प्रियैरिष्टवस्तुभि सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु । अतीतानागतेष्विति शेष । मनो विधुरं दुःखित कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भविष्ये लुट् । वर्तमाने चानुभूयत इति शेष । इत्थमात्मो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थ ॥ २६ ॥

ऊपर के श्लोक में कहे हुये वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'मोक्ष जिस तरह पुरुषार्थ माना गया उसी तरह अर्थ भी पुरुषार्थ माना जाय' यह ठीक नहीं।

यदि अर्जुन यह कहें कि मैं अर्थकामी नहीं हूँ किन्तु वीरों का जो कर्तव्य है उसका पालन करते हुये शत्रु का नाश चाहता हूँ। यह भी दूसरों का पीड़ाप्रद ही है अतः अयुक्त है इसी की पुष्टि आगे के चार श्लोकों द्वारा की जावेगा।

जिस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं का समागम शरीरान्तर में मन को कष्ट पहुँचाता रहता है और पहुँचेगा उसी प्रकार प्रिय वस्तु से वियुक्त होना भी देहान्तर में दुःखप्रद होता रहता है और होगा ॥ २६ ॥

सम्प्रतीष्टसमागमस्य सुखहेतुत्वमाह—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

शून्यमिति ॥ प्रियसमागमे इष्टजनसंयोगे सति शून्यं रिक्तमपि आकीर्णतां सम्पूर्णताम् एति । व्यसनमपि प्रतीयत इत्यर्थः । व्यसनं विपदपि उत्सवैस्तुल्यम् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । विप्रलम्भो वञ्चना । प्रतारणमिति यावत् । सोऽपि लाभाय । किं बहुना प्रियसंगमस्य सर्वावस्थास्वपि सुखमेवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

अभीष्ट के समागम से न्यूनता भी पूर्ण हो जाती है दुःख (विपत्तियाँ) भी सुख के समान ही प्रतीत होता है। इष्ट के द्वारा की गई प्रतारणा (धोखा) भी लाभप्रद होती है। अधिक क्या कहें अभीष्ट सज्जन सभी अवस्थाओं में सुख का कारण होता है ॥ २७ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण प्रियवियोगस्य दुःखहेतुत्वमाह—

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः ।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

तदेति ॥ तदा रम्याण्यपि अरम्याणि असन्तोषकराणि भवन्ति । किं बहुना प्रिया असवः प्राणा अपि शल्यम् । शल्यवदसह्या भवन्तीत्यर्थः । किञ्च तदा सबन्धुः सन्नपि एकाकी असहाय एव । 'एकाद्आकिनिच्चासहाये' इत्याकिनिच्प्रत्ययः । यदा इष्टेन रहितो भवति तदा सर्वमसह्यमिति ॥ २८ ॥

प्रिय के वियोगावस्था में मनोऽभिराम वस्तुएँ भी कुरूप प्रतीत होती हैं तथा तक प्यारे प्रियप्राण भी हृदय में कण्टक की तरह खटकते हैं। उस अवस्था में कुटुम्ब परिवार के रहते हुये भी (वियोगी) अपने को अकेला समझता है ॥ २ ॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥ २९ ॥

युक्त इति ॥ किंच, युक्तः, हितेनेति शेषः । हितेनेष्टेन युक्तः सन् । प्रमाद्यसि प्रकर्षेण माद्यसि हृष्यसि । हितादपेतः परितप्यसे परितप्तो भवसि । तपेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । सत्यमेव तत्र किंमत आह—यदीति । पीडा आत्मनः स्वस्य च नेष्टा यदि तर्हि भवता जने परस्मिन्नपि मा सञ्जि न सज्यताम् । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । आत्मदृष्टान्तेन परपीडातो निवर्तितव्यमित्यर्थः । पीडायाः परात्मनोः समत्वात् ॥ २९ ॥

यदि प्रिय के समागम से प्रसन्न होते हो तो उसके वियोग से अवश्य [illegible]खी होंगे (यह प्राकृतिक नियम है) यदि आप अपने को दुःख से बचाना चाहते हों तो किसी भी व्यक्ति के साथ आसक्त न हों (आसक्ति ही उसके अभाव में दुःख का कारण हो जाती है) ॥२९॥

अथ देहास्थैर्यमत्वा च परपीडा न कार्येत्याह—

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वाल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥ ३० ॥

जन्मिन इति ॥ अस्य जन्मिन उत्पत्तिधर्मिकस्य शरीरिणः । व्रीह्यादित्वादिनिः । स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचलां चञ्चलां जन्मिधर्मत्वादेव चञ्चलाम् । अनित्यामित्यर्थः । चलतेः पचाद्यच् । 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक्चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' इति द्वित्वं । अभ्यासस्यागागमश्च । विद्वान् । जानन्नित्यर्थः । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वस्वादेशः । भवान् । न्यायादनपेतं न्याय्यम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । मा स्म वधीत् । मा नाशयेत्यर्थः । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति लुङ् । 'लुङि च' इति हनो वधादेशः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । हि यस्मात्, साधवो न्यायाधाराः न्यायावलम्बाः । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा । न्यायत्यागे साधुत्वमेव न स्यादिति भावः । 'न्यायाचाराः' इति पाठे न्यायमाचरन्तीति तथोक्ताः । कर्मण्यण् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार लक्ष्मी चञ्चला है (स्थायी नहीं है) उसी प्रकार शरीरी (उत्पन्न होने वाले) भी स्थायी नहीं हैं (अनित्य हैं) (पता नहीं, कब रहा और कब नहीं रहा) अतः आप भी न्याय के मर्दन पर कुठाराघात न करें क्योंकि सज्जन पुरुष सर्वदा 'न्याय-पथावलम्बी होते हैं ॥ ३० ॥

तर्हि किं मे कर्तव्यं तत्राह—

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः ।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ॥ ३१ ॥

विजहीहीति ॥ हे तपोधन ! रणोत्साहं रणोद्योगम् । लोकोत्तरेषु कार्येषु स्थेयाम्र पक्ष उत्साहस्तं विजहीहि त्यज । मा च तपो' नीनशः । साधु समीचीनम् । नि- श्रेयसकारणादिति भावः । तथा मा नीनशो न नाशय । जन्मनोऽर्थमत्राम्नायोगा- दाशिषि लुङ् । अडागमनिषेधश्च । किंतु जन्मन उच्छेदं कर्तुम् । मोक्षं साधयितु- मित्यर्थः । शान्त एधि । विविक्तोपायनिवृत्ता भवेत्यर्थः । शुद्धचेष्टो भवेति भि । 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकार इति ॥ ३१ ॥

कदाचित् अर्जुन यह कहे कि फिर मेरा कर्त्तव्य क्या है ? अतः इन्द्र देव निम्नांकित रीति से उनके कर्त्तव्य का उपदेश कर रहे हैं :—

हे तपस्विन् ! तुम विनाशक उद्योग से पराङ्मुख हो जाओ । अपनी तपस्या को दूषित न करो । किन्तु जन्ममरण से मुक्त होने के लिये शम का आश्रय लेकर जय की अभिलाषा का परित्याग कर दो ॥ ३१ ॥

तत्र तदर्थमाह विजयलक्षणोऽपि न विपर्यय इत्याशयेन सर्वार्थसाधनविजयेन विजीयतां तदपनोद इत्याह—

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ ३२ ॥

जीयन्तामिति ॥ दुर्जया जेतुमशक्याः । चक्षुरादयो देहे वर्तमानाः रिपवो जीयन्ताम् । यस्मात् तेषु चक्षुरादिषु जितेषु सत्सु त्वयायं कृत्स्नो लोको जितो ननु । निश्चितमेव तज्जयस्तदनुगतत्वात् इत्यर्थः । जितेन्द्रियस्येन्द्रियार्थैर्विरुद्धस्य निर्मलत्वात् तदुपायोऽप्य- न्यस्मिन्नेव ॥ २२ ॥

अर्जुन यह भी कह सकते थे कि क्या करूँ ? विजयाभिलाषिता सभी प्रकार है मानती नहीं इसलिये इन्द्रने फिर कहा :—

यदि तुम्हें जीतने की इच्छा हो तो नेत्र, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जो भयंकर शत्रु हैं उन्हें जीतो । इन सबों के जीत लेने पर तुम सारा संसार जीत लोगे ॥ [illegible] ॥

अजितेन्द्रियस्यानिष्टमाह—

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः ।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥ २३ ॥

परवानिति ॥ अर्थसंसिद्धौ अन्यस्यार्थसिद्ध्यर्थमसत्ये परवान् पराधीन । परतन्त्रः पराधीनः परवान् इत्यमरः । नीचवृत्तिः कर्पण्यवहनादिनिकृष्टकर्मा । अपत्रपो निर्लज्जोऽविधेयेन्द्रियोऽजितेन्द्रियः पुमान् जीवन्नपि [illegible] पुंसां विधेयतां यथोक्तका- रिताम् । प्रेष्यतामिति यावत् । विधेये विनयग्राही वचने स्थित आश्रव इत्यमरः ।

एति प्राप्नोति। उपमालङ्कारोऽयम्—'प्रकृताप्रकृतयोरर्थसाधर्म्यात् श्लेषे शब्दमात्रसाधर्म्यम्' इति ॥ ३३ ॥

द्रव्योपार्जन में मनुष्यको पराधीन रहना पड़ता है। नीचवृत्ति का अवलम्बन करना पड़ता है, निर्लज्ज बनना पड़ता है, अजितेन्द्रिय होकर रहना पड़ता है। पुरुषों की ठीक बैल की दशा हो जाती है ॥ ३३ ॥

न केवलं हिंसादिदोषमूलत्वाद्विषया हेयत्वम्, किंतु अपारमार्थिकत्वादपीत्याह—

अस्वस्थया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

इति ॥ अधुना भवा अधुनातनी इदानींतनी। 'सायंचिर-' इत्यादिना ट्युप्रत्ययः। सुखसंवित्तिः सुखानुभव श्व परेऽहनि स्वया स्मरणीया। न त्वनुभवनीया। इति हेतो। काम्यन्त इति कामा विषयास्तान्। स्वप्नोपमान् स्वप्नतुल्यान्। मत्वाऽस्थिरत्वात्तत्तुच्छत्वं तदङ्गता तच्छेषत्वं कामपरतन्त्रता मा गा न गच्छ। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३४ ॥

आज का सुखोपभोग दूसरे दिन के लिये केवल स्मरणीय रह जाता है अतः विषयोपभोगों को स्वप्न के तुल्य समझ कर अपने को उन (विषयों) का अङ्ग (अवयव) मत बनाओ ॥ ३४ ॥

अतो हेया कामा इत्याह—

अश्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥ ३५ ॥

अश्रद्धेया इति ॥ श्रद्धातुमर्हा श्रद्धेया विश्वसनीयास्तथा। विप्रलब्धारः प्रतारकाः। विश्वासघातका इत्यर्थः। तथा, प्रीणयन्तीति प्रियाः प्रीतिजनकाः। 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः। तथापि विप्रियकारिणो दुःखजननशीलाः। किंच, त्यजन्तोऽपि पुरुषं विहाय गच्छन्तोऽपि सुदुस्त्यजाः स्वयत्नेन त्यक्तुमशक्याः कामा विषयाः कष्टाः कुत्सिताः शत्रवो हि प्रसिद्धशत्रवः। वैधर्म्यादिति भावः। अत्र अश्रद्धेयत्वादीनां विप्रलम्भकत्वादीनां चैकत्र विरोधो विषयस्वाभाव्येन समाधीयत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः। तेन च कामानां प्रसिद्धशत्रुवैधर्म्यं व्यतिरेकेण व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ३५ ॥

और अन्य प्रकार के शत्रुओं का परित्याग करके कष्ट से छुटकारा मिल सकता है, परन्तु काम, क्रोधादिक शत्रुओं को देखिये कैसे विलक्षण हैं —

इन कामादि शत्रुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाय तो भी ये ठगने में देर नहीं

लगाते । ये प्रिय (अभीष्ट) होने पर भी भयकारक हैं। इनका परित्याग करके यदि भागना चाहते हो तो ये विघ्न नहीं छोड़ते वे महान् कष्टप्रद हैं ॥ ३५ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्क्योपसंहरन्नाह—

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया ।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः ॥ ३६ ॥

विविक्त इति ॥ विविक्ते विजने । विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः इत्यमरः । जह्नुकन्यया गङ्गया भूयो भूयिष्ठं पुनःपुनर्वा । 'भूयः पुनःपुनः स्यात् भूतार्थे पुनरव्ययम्' इति विश्वः । प्लाविते सिक्ते । पाविते इति पाठे पवित्रीकृत इत्यर्थः । अस्मिन्नगे इन्द्रकीले त्वां मुक्तिः पुरा निकटे प्रत्यासीदति । संनिकृष्टा भविष्यतीत्यर्थः । 'पुरा पुराणे निकटप्रबन्धातीतभाविषु' इति विश्वः । उदायुधो गृहीतशस्त्रो मा भूः । शान्तो भवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

मुक्ति के विषय में यदि 'अस्मिन्नगे...' यदि ध्यान दिया जाय तो फिर इस काम में मुक्ति मिलना कोई दूर नहीं है ऐसा कहते हुए कहते हैं—

इस विजन पर्वत पर भी जाह्नवी के द्वारा बार-बार सिञ्चन कर दिया जाता है मुक्ति तुम्हारे सम्मुख स्वयं उपस्थित हो जायगी शस्त्रधारी मत बनो [शस्त्रों का परित्याग कर दो] ॥ ३६ ॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते ।
वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः ॥ ३७ ॥

व्याहृत्येति ॥ मरुतां पत्यौ देवेन्द्रे इति वाचं व्याहृत्य उक्त्वा अवस्थिते सति तूष्णीं स्थिते सति । अथ कपिध्वजोऽर्जुनः प्रश्रयगम्भीरं विनयमधुरम् । विनयप्रधानी वाणी इति यावत् । वचः उवाच उक्तवान् ॥ ३७ ॥

उपर्युक्त प्रकार से उपदेश कर इन्द्र के मौन धारण कर लेने पर अर्जुन ने विनय पूर्वक मधुर वाणी में उत्तर दिया ॥ ३७ ॥

किमुवाचेत्यपेक्षायां चतुर्भिः तद्वाक्यमुपश्लोकयन्नाह—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

प्रसादेति ॥ प्रसादोऽत्र प्रसिद्धार्थपदत्वं तेन रम्यम् । 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते' इति लक्षणात् । ओजस्वि समासबहुलम् । 'ओजः समासभूयस्त्वम्' इति शासनात् । गरीयोऽर्थभूयस्त्वविशिष्टम् । न तु शब्दाडम्बरमात्रमित्यर्थः । लाघवान्वितं विस्तरदोषरहितम् । साकाङ्क्षं आकाङ्क्षासहितं... । न तु

दशदाडिमादिवाक्यवदनाकाङ्क्षितमित्यर्थः । अनुपस्कारं अध्याहारदोषरहितम् । विष्वग्गति कृत्स्नार्थप्रतिपादकम् । न तु साक्षेपार्थमेव पुनः निराकुलमसंकीर्णार्थम् ॥ ३८ ॥

समासों का प्राचुर्य रहने के कारण यह [वाक्य] ओजस्वी है। अर्थ युक्ता पूर्ण है। अधिक दोष से बचा हुआ है। इसके पद परस्पर साकाङ्क्ष हैं। न कि 'दश दाडिमानि षडपूपा' की तरह निराकाङ्क्ष हैं। अध्याहार दोष से भी मुक्त हैं। पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक हैं। अर्थ भी इस का सङ्कुचित नहीं है ॥ ३८ ॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

न्यायेति ॥ पुनः, न्यायेन युक्त्या निर्णीतसारत्वान्निश्चितार्थत्वाद्धेतोः, आगमे शास्त्रे विषये निरपेक्षं स्वतन्त्रमिव । युक्तिबलादेव प्रतीयते । वस्तुतस्तु शास्त्रसिद्धार्थमेवेति 'इव'शब्दार्थः । किंच, अन्येषां प्रतिवादिनाम् । अप्रकम्प्यतयाऽनुमानादिभिरबाध्यत्वादप्रत्याख्येयतया आम्नायवचनोपमम् । वेदवाक्यतुल्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

युक्तिपूर्वक इसका तत्त्व निर्णय कर दिया गया है। अतएव इससे शास्त्रप्रमाण की भी आवश्यकता नहीं। तर्क के द्वारा अखण्ड्य है इसलिये वेद वाक्य सदृश है ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

अलङ्घ्यत्वादिति ॥ अन्यैर्जनैरलङ्घ्यत्वात् अनुल्लङ्घनीयत्वात् । क्षुभितोदन्वदूर्जितं उद्वेलाम्भोधिगम्भीरम् । औदार्यादुचितविशेषत्वात् । श्लाघ्यविशेषणत्वाद्वा । तदुक्तं दण्डिना—'उत्कर्षवान्गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन्प्रतीयते । तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः । श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ॥' इति 'अग्राम्यार्थत्वात्' इति केचित् । अन्यत्र,-त्यागित्वादित्यर्थः । अर्थसंपत्तेः प्रयोजनसंपत्तेः । अन्यत्र,-अणिमादिसमृद्धेः । ऋषेर्मुनेश्चित्तमिव शान्तं सौम्यम् ॥ ४० ॥

इतर लोगों के लिये अनुल्लङ्घ्य है अतः उद्वेलित जलराशि [समुद्र] के समान है अर्थपंक्तियों से युक्त होने से ऋषि महर्षियों के चित्त की तरह शान्त है ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः ॥ ४१ ॥

इदमिति ॥ इदमीदृग्गुणोपेतं यथोक्तगुणयुक्तम् । इदमुपपदाद्दृशेः क्विप् । 'इदंकिमोरीश्की' इतीशादेशः । लब्धे प्राप्तेऽवसरसाधने कालोपायौ येन तत् प्रियं प्रीतिकरं वाक्यं को वक्ता व्याकुर्यात् व्याहरेत् । यो वक्ता सोऽनीदृगाशयः ईदृग्विवक्षावान् न भवति । भवद्विधैरित्यर्थः । तस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ ४१ ॥

कौन ऐसा वक्ता जिसका अभिप्राय इस तरह का नहीं है ऐसा प्रिय वाक्य मुख से निकाल सकता है। इस वाक्य में जो पद समूह आये हैं अभिमतार्थ प्रतिपादक हैं अतएव यह वाक्य परम हृदयहारी है। शुभावसर प्राप्त होने पर कार्य का साधक भी है॥ ४१॥

एवमिन्द्रवाक्यमुपश्लोक्य नाहमस्योपदेशस्याधिकारीति परिहरति—

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि॥ ४२॥

नेति॥ हे तात! अमुष्य यत्नस्य तपोरूपस्यास्य मदीययोगस्य पूर्वं चापरं च पूर्वापरे। स एव पौर्वापर्यं कारणं फलं च। चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। ते तव न ज्ञातम्। त्वया न ज्ञायत इत्यर्थः। 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्तमाने क्तः। तद्योगादेव षष्ठी। कुतः। येन कारणेन मां मुनिभिस्तुल्यं समम् धर्मं मोक्षधर्मं शासितुम् उपदेष्टुम् इच्छसि। शासिरयं दुहादित्वाद् द्विकर्मको ज्ञेयः॥ ४२॥

हे तात! आप मेरे इस उद्योग के विषय में आरम्भ से लेकर अन्त तक आप नहीं जानते यह यही कारण है कि आप मुझे मुनियों के समान धर्म का उपदेश करना चाहते हैं॥ ४२॥

अथ पौर्वापर्यमज्ञात्वोपदेशे दोषमाह—

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम्॥ ४३॥

अविज्ञातेति॥ अविज्ञातः प्रबन्धः पूर्वापरसङ्गतिर्येन तस्य वाचस्पतेर्बृहस्पतेरपि। 'कस्कादिषु च' इति सत्वम्। अथवा—'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' इति सकारः। एतस्मादेव ज्ञापकादलुगिति केचित्। वचः उपदेशो नयद्रुहो नीतिविरुद्धकारिणः पुरुषस्य। ईहितमुद्योग इव। अफलतां निष्फलत्वम् व्रजत्येव गच्छत्येव॥ ४३॥

पूर्वापर [प्रसङ्ग] जाने बिना बृहस्पति का वाक्य भी इस तरह निष्फल हो जाता है जिस तरह नीति विरुद्ध किया गया उद्योग निष्फल हो जाता है॥ ४३॥

ननु सदुपदेशस्य कुतो वैफल्यमित्याशङ्क्य श्रोऽप्यस्थाने प्रयुक्तमदूरफलं नाशि-बीजवद्विफलं एवेत्याशयेनाह—

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम्।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः॥ ४४॥

श्रेयस इति॥ हे तात! [illegible] पिता पूज्ये च तातशब्दः प्रचक्षते' इति। श्रेयसो-ऽपि हितावयोगाद्व्यस्तत्वात्स्थाने। तस्य ते तव वचसो हितोपदेशरूपस्य रात्रेर्विप

यंथो दिवस स्फुटतारस्य व्यक्ततारकस्य नभस इव भाजन पात्र नास्मि । अनधिकारित्वादिति भाव । अत्राह्नो नभोमात्रसम्बन्धसमवेऽपि तारासम्बन्धासमवात्तद्विशिष्टनभ सम्बन्धविरोधाद्युक्त तारकितस्य नभसो न पात्रमहरिति ॥ ४४ ॥

हे तात ! यद्यपि आपका यह वचन कल्याणकारक है तथापि मैं इसका पात्र नहीं हूँ, क्योंकि नक्षत्रराशि विशोभित आकाश रात्रि के विपरीत [दिन] में न होता [दिन में अधिक तारों का होना असम्भव है] दिन में तारे भले ही हों परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते हैं ॥ ४४ ॥

कुतस्ते मोक्षोपदेशानधिकारित्वम् , किंच, ते तपस पौर्वापर्य कथ न जाने इत्या शङ्क्य तत्सर्वं स्वजात्यादिकथनपूर्वक निरूपयति—

क्षत्रियस्तनय पाण्डोरह पार्थो धनजय ।
स्थित भ्रातस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

क्षत्रिय इति ॥ अह क्षत्रिय क्षत्रियकुले जात । तत्रापि महाकुले प्रसूत , वीरसुतानभिज्ञेत्याह—पाण्डोस्तनय इति । तत्रापि कौन्तेयोऽस्मि, न माद्रेय इत्याह—पार्थ इति । पृथा कुन्ती, तत्सुत पार्थ । 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । अर्जुनोऽह महावीरश्चेत्याह—धनजय इति उत्तरकुरूनभिजित्य धनाहरणाद्धनजयोऽस्मीत्यर्थ । 'सञ्ज्ञि सुमागम' इत्युक्त प्राक् । धनजय इत्युक्ते शरीरस्थो वायु सर्पविशेषो वा स्यात्तदर्थं पार्थ , गान्धर्वोऽपि कश्चित्पृथासुतोऽस्ति तदर्थं पाण्डो सुत , नैमिषारण्ये पाण्डुर्विप्रस्तत्पत्नी पृथा नाम काचिद्ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि स्यात्तदर्थं क्षत्रिय इति । अपैव चेत्किमर्थं तर्हि तपस्यसि, मोक्षार्थं वा किं न तपस्यसि, तत्राह—स्थित इति । दाय पैतृक धनमादद्त इति दायादा ज्ञातय । 'दायाद ज्ञातिपुत्रयो ' इति, 'विभक्तव्य पितृद्रव्य दायमाहुर्मनीषिण ' इति च विश्व । 'स्थास्नीश्वरत्वं'सूत्रेण सोपसर्गादपि दायादेति कमस्ययान्तो निपातनात्साधु । तै , भ्रातस्य राज्यान्निरस्तस्य । वैरिनिर्यातनार्थिन इत्यर्थ । ज्येष्ठस्य भ्रातुर्युधिष्ठिरस्य । 'वृद्ध'शब्दादिष्ठन्प्रत्यय । वृद्धस्य च ज्यादेश । शासने निदेशे स्थित । तदाज्ञया तपस्यामीत्यर्थ । अन्यथा मानहानि सौभ्रात्रभङ्गपूज्यपूजाव्यतिक्रमदोषश्च स्फुरतीति भाव । अत एव हिंसैकरसस्य रागद्वेषकषायितचेतस कुतो मे मोक्षाधिकार इति तात्पर्यार्थं । सार्थविशेषणत्वात्परिकरालकार ॥४५॥

मैं क्षत्रिय [illegible] । पाण्डु का पुत्र तथा पृथापुत्र हूँ । धनञ्जय मेरा नाम है । अपने दायादों के द्वारा निर्वासित हूँ । अपने ज्येष्ठ भ्राता [युधिष्ठिर] की आज्ञा पालन के लिये तय्यार रहता हूँ । जितने विशेषण यहाँ पर युक्त किये गये हैं सब साभिप्राय हैं । इन्द्र को पूर्वापर का ज्ञान कराने के लिये अर्जुन ने इस तरह का उत्तर दिया है । सर्वप्रथम अपनी जाति बतला कर अपना परिचय दे रहे हैं । इससे भी उनके उच्चकुल में जन्म लेने के प्रमाण में न्यूनता देखकर उन्होंने अपने पिता पाण्डु का नाम लिया । इतने पर अभी उत्तर

नेन पाण्डवाभिमदेनैतान् स्वनगरं नेष्यामीत्येवमूढ सत्यकारमिव । क्रियतेऽनेनेति कारः । करणे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यंकारः सत्यापनम् । चिक्रीर्षितस्य कार्यस्या पलस्य विप्रतिस्थापनाय परहस्ते यद्दीयते स सत्यकारः । क्रियादौ सत्यदानार्थं प्रास्त्री-यमानो मूल्यैकदेशश्च । 'क्लीबे सत्यापनं सत्यकारः सत्याकृतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः । तमिव सपत्नेषूपाधत्त निहितवान् । तेषां विना शकाले विपरीतबुद्धिमुत्पादितवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

शत्रुओं के द्वारा वह लोगों के समक्ष पतिव्रता पाञ्चाली (द्रौपदी) के केश पकड़-कर आकृष्ट किये जाते समय मृत्यु ने यह निश्चय कर लिया कि इन्हें (कौरवों को) भी हम अपने नगर में घसीट ले जायेंगे ॥ ५० ॥

केशग्रहणकृता सभ्यैर्वा किं कृतं तदाह—

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम् ।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥ ५१ ॥

तामिति ॥ दुःशासनः पुरःसरो यस्यास्तां तथोक्ताम् । दुःशासनेन सभां प्रत्या कृष्यमाणामित्यर्थः । अनुपसर्जनात् इति न ङीप् । तां कृष्णाम् । सभायां साधवः सभ्याः । सभाया यः इति यप्रत्ययः । अभिसायार्कं दिनान्तसूर्याभिमुखम् । स्थितस्येति शेषः । सायो नाशः दिनान्तयोः इति विश्वः । लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये इत्य व्ययीभावः । महातरोः संबन्धिनीम् आवृत्तां छायामिव तां कृष्णां क्षणमैक्षन्त । न चिरं द्रष्टुमुचितत्वात् । नापि किंचित्प्रतिविधानं तदाभासमप्रभयात् । ते सर्वमपेक्षां साचिव्यनापन्नामाश्रिता इत्यर्थः । अत्रानुकूल्यमात्रत्वात् कृष्णायाः आकर्षणं प्रति परा धीनत्वादाकृष्यमाणामीपम्यम् । तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य वर्ण नीयम् ॥ ५१ ॥

दुःशासन के द्वारा सभा में आकृष्यमाण द्रौपदी को सायंकाल के समय विशाल वृक्ष की मलिन छाया की तरह उन सभ्यों (भीष्म, द्रोण प्रभृति) ने क्षण मात्र देखा ॥ ५१ ॥

अथास्यास्तदाऽभिरूपतामवाप्यं वर्णयति—

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः ।
अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥

अयथार्थेति ॥ अयथार्था मिथ्याभूता क्रियारम्भाः पतिशब्दप्रवृत्तिनिमित्त भूतकर्मोद्योगा येषां तैः । सामर्थ्यरहितैरित्यर्थः । तव संबन्धिभिः । पान्ति रक्षन्तीति पतयो भर्तारः । पातेर्डतिः इत्यौणादिको डतिप्रत्ययः । तैः ईक्षितैरवेक्षितैः किम् । न किंचित्फलमस्तीत्यर्थः । इतीव इत्थं विचार्येवेत्युत्प्रेक्षा । बाष्पवारिणाऽस्याः कृष्णाया नयने अरुध्येतामावृते । रुधेः कर्मणि लङ् । अत्यन्तं रुरोदेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

पति शब्द पा रक्षणे धातु से 'डति' प्रत्यय करके सिद्ध होता है इसलिये इसका अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है। "पति शब्द के अर्थ के अनुकूल कार्य्य न करनेवाले तुम्हारे इन पतियों के देखते रहने से क्या प्रयोजन ?" इस बातको सोचकर द्रौपदी के नेत्र अश्रुधाराओं से परिप्लुत हो गये थे अर्थात् द्रौपदीने यह सोचा कि ये पतिदेव लोग मेरी रक्षा करने में विवश होकर खड़े २ देख रहे हैं इससे क्या प्रयोजन ? ॥ ५२ ॥

ननु भवद्भिः किमर्थमसमर्थैरिवोपेक्षित तत्राह—

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।
सुलभो हि द्विषा भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

सोढवानिति ॥ गुणाः प्रिया यस्य स गुणप्रियः प्रियगुणः । 'वा प्रियस्य' इति परनिपातः । ज्यायान् अग्रजो युधिष्ठिर एव । 'वृद्धस्य चे'ति 'ज्यादादीयसः' इत्याकारादेशः । नोऽस्माकम् । अन्ते भवाम्, अन्त्यां निकृष्टां दशामवस्थां सोढवान्, न तु वयम् । किन्तु तद्वशाः इति भावः । ननु सत्युपेक्षा महानर्थकारिणीत्याशङ्क्याह- सुलभ इति । द्विषा विद्विषा भङ्गः सुलभः । कालान्तरेऽपीति शेषः । सत्सु सज्जनेषु । अवाच्यता निन्द्यता दुर्लभा, न तु सत्युपेक्षा । हि प्रसिद्धौ । सत्युपेक्षातो लोकापवाद एव बलवान् । तस्योपशमस्य पुनरशक्तिविधेयत्वात्, स च समयोल्लङ्घने स्यादे-वेति भावः ॥ ५३ ॥

हम लोगों के ज्येष्ठ भ्राता ने ही जो गुण के पक्षपाती हैं हम लोगों की दुर्दशा को सह लिया । शत्रु का नाश करना कोई बड़ी बात नहीं किन्तु सज्जनविषयिणी निन्दा (जुगुप्सा) दुर्लभ है ॥ ५३ ॥

ननु शत्रुवधे राज्ञो नापवादः प्रत्युत कीर्तिरेवेत्याशङ्क्य, सत्य स एव समयोल्लङ्घनकलङ्कितकीर्त्यां महानिन्दानिदानमित्याशयेनाह—

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

स्थितीति ॥ तोयराशीनां समुद्राणां तोयानि मनस्विनां मनांसि च स्थित्यति-क्रान्तेर्मर्यादोल्लङ्घनाद्भीरूणि, अत एव, आकुलितानि सक्षोभितान्यपि स्वच्छानि प्रकलुषाणि । न स्वरन्त इत्यर्थः । मनस्व्ययं युधिष्ठिर इति भावः । अत्र तोयानां सामान्यतो मनस्विनां चापकृतानामेव गुणतौल्यादौपम्यस्य गम्यतया तुल्ययोगिता-लङ्कारः । गुणश्चात्र भीरुत्वं स्वच्छता च ॥ ५४ ॥

जल की राशि (समुद्र) का जल और मनस्वियों का मर्यादा के उल्लङ्घन होने के भय से क्षुब्ध हो जाते ह तथापि कलुषित नहीं होते (किन्तु स्वच्छ ही रह जाते हैं) ॥ ५४ ॥

मन्यसातस्तले स्वजनवैरे किं कारणमित्याशङ्कयास्मत्सौहार्दमेवेत्याह—

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ॥ ५५ ॥

धार्तराष्ट्रैरिति ॥ धार्तराष्ट्रैर्धृतराष्ट्रपुत्रैः सह प्रीतिः सौहार्दमेव अस्मासु विषये वैरमसूयत सूतवती । सूयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । ननु सौहार्दं वैरजनकं चेद्विप्रतिषिद्धं तत्राह—असदिति । हि यस्मात् असन्मैत्री दुर्जनेन संगतिः कूलच्छायासमुपातस्य नदीतटस्य छायेव सेविता श्रिता सती दोषायानर्थायैव भवति । न खलु दुर्जनः सुजनं वर्ष्मग्रहोपघातकं पश्यतीति भावः । उपमाप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासालंकारः ॥५५॥

दुर्योधनादि हेतु हुये भी युधिष्ठिर के जो शत्रु हो गये हैं वे हम लोगों की शत्रुता विषयक आसक्ति ही कारण है—

धृतराष्ट्र के सन्तानों के साथ हम लोगों का प्रेमव्यवहार ही शत्रुता की उत्पत्ति का कारण है । क्योंकि दुष्टों को मित्रता नदी के तट प्रदेश की छाया के समान है जिसके सेवन से भयङ्कर अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है ॥ ५५ ॥

तस्मात्तावेव सौ शुत्रमित्रत्वाय कथं मैत्री कृतेत्याशङ्क्य किं तुष्यः दुर्जनवृत्त दुर्विभाव्यमित्याह—

अपनाद्यादभीतस्य समस्य गुणदोषयोः ।
असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभावं विधेरिव ॥ ५६ ॥

अपवादादिति ॥ अपवादात् जनापवादात् । अभीतस्य । अहङ्कुरसमानस्येत्यर्थः । गुणदोषयोः समस्य तुल्यवृत्तेः । निमहानुग्रहौ गुणदोषयोस्तुल्यवत् इत्यर्थः । विधानस्यैतद्विशेषणं योज्यम् । असद्वृत्तेर्दुराचारस्य पुंसः । अहोवृत्तमीहितं विधेर्दैवस्य वृत्तमिव दुर्विभावं विभावयितुमशक्यम् । किंतु कार्यैकसमधिगम्यमित्यर्थः । अनयोः पर्यन्तात्कृत्यार्थे खलप्रत्ययः ॥ ५६ ॥

पहले ही से उन सबों के गुण दोष का विचार करके हम लोग मित्रता किये होते तो यह दशा न उपस्थित होती परन्तु करें क्या ? धूर्त (दुराचारी) लोग तो लोकापवाद से कभी भयभीत नहीं होते उनके लिये गुण और दोष दोनों बराबर हैं जिस तरह भाग्य का पता नहीं चलता उसी तरह दुर्जनों के चेष्टित विचार का पता नहीं चलता ॥ ५६ ॥

मन्देव मानी कथं परिभूतो जीवसि तत्राह—

ध्वसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

ध्वसेतेति ॥ परैः शत्रुभिः परिभूतस्य मे हृदयं सद्यो ध्वसेत । अवसीदेदित्यर्थः ।

अमर्षः कर्ता प्रतीकारः प्रतिक्रियारूपं भुजालम्बं हस्तावलम्बनं न लम्भयेन्न धारये-यदि । हृदयेनेति शेषः । सत्यं जीवामि प्रतिविधित्सया । न तु निर्लज्जतयेति भावः ॥

मानी पुरुष मानहानि की अपेक्षा प्राण हानि को अच्छा समझता है परन्तु करे क्या ? शत्रु से तिरस्कृत होकर हम लोगों का हृदय शीघ्र ही खण्ड खण्ड हो जाता है (इसमें कोई सन्देह नहीं) परन्तु यदि क्रोध (अमर्ष) प्रतिकार स्वरूप होकर सहारा न देता तो ॥५७॥

ननु तवैव कोऽयमभिमानस्तत्राह—

अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥

अवधूयेति ॥ अरिभिरवधूय परिभूय हरिणैर्मृगैस्तुल्यवृत्तितां तुल्यजीवनत्वम् । वन्याहारतामित्यर्थः । नीताः प्रापिता वयम् । पञ्चापीति शेषः । अन्योन्यस्यापि जिह्रीमो लज्जामहे । सहवासिनां सहचारिणां किं पुनः । प्रागेव जिह्रीम इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । क्रियायोगे सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । अत्र वयं पञ्चापि तुल्याभिमाना एव । इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिवासनान्मयानुष्ठीयत इति भावः ॥ ५८ ॥

शत्रुओं से तिरस्कृत होकर हम लोगों की दशा ठीक वन्य पशुओं की सी हो गई है हम लोग परस्पर पाँचों भाई एक दूसरे से लज्जित होते हैं यदि सहचर लगों (मित्रों) का सामना पड़ता है तो कहना ही क्या ? (अर्थात् वन्य पशु पत्र पुष्प फलाहारादि से जीवन-यात्रा करते हैं हमलोग भी वही करते हैं) ॥ ५८ ॥

ननु तर्हि तु लौकिकमिदानमस्तु शत्रुमान एव त्यज्यतामित्याशङ्क्य तत्त्यागे दोषमाह—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥

शक्तीति ॥ शक्तिवैकल्येनोत्साहादिशक्तिवैधुर्येणाऽवष्टम्भसामर्थ्यविरहेण च नम्रस्य प्रह्वीभूतस्य विधेयभूतस्य च निःसारत्वात् दुर्बलत्वात् स्थिरांशरहितत्वाच्च । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । लघीयसो गौरवहीनस्य । नीरसस्येत्यर्थः । मानहीनस्य जन्मिनो जन्तोः । मौढ्यादिस्थायिनि । तृणस्य च गतिरवस्था समा इति । मानहीनस्य तृणादपि निकृष्टत्वात्त्याज्यो मान इति भावः । श्लेषालङ्कारोऽयं तदनुप्राणितेयमुप-मेत्यनेकार्थदीपिकेति व्यज्यते ॥ ५९ ॥

इस दुर्दशा का कारण मान ही यदि हो तथापि हम लोग इसे नहीं छोड़ सकते क्योंकि —
मान का परित्याग करने पर उत्साहादि शक्तियों से शून्य तथा साररहित होने के कारण गौरवहीन पुरुष तृण का समान हो जाता है ॥ ५९ ॥

मानत्यागे दोषमुक्त्वा तत्सद्भावे धर्मिगुणमाह—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसीं मा गान्महतां केन तुङ्गता ॥ ६० ॥

अलङ्घ्यमिति ॥ महीभृतां पर्वतानां संबन्धि मध्यत् महत्त्वादिकम् । उच्चैस्त्वात् तदलङ्घ्यमुद्दीपनतोऽभव । सर्वैरपीति यावत् । महतां महात्मनां गुरुता मानौन्नत्य न्यायसौ प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना नागात् । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थः । आशिषि माङि लुङ् । घटोऽप्यशात् । वैकल्पिकत्वादपीत्यत्राप्युपादयत्यौपधवद् स्मिन्नर्थे हृत्यासमाप्यमानोऽप्रयोग । उद्दीपनेत्यसमासकर्तृकरणनिर्देश कश्चित्प्रयोग दर्शनात्सोढव्य । केचित् उद्दीपनम् इति पठन्ति । तत्र यथाप्युच्चैस्त्वदलङ्घ्यमुद्दीपनमकोऽस्तीव न चोद्धङ्कनीयमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६० ॥

मान के परित्याग में दोष तो है ही परन्तु मान के रहने में गुण भी बहुत से हैं—

उन्नत होने ही के कारण पर्वत अलङ्घ्य है अर्थात् उन्हें कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। तो फिर कौन सा ऐसा कारण है—जो मौन व बड़े लोगों के लिये प्रिय न होगा ? ॥६० ॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

तावदिति ॥ किंच तावदेवासौ ल क्ष्म्याऽऽश्रीयते । तावदस्य पुंसो यशः स्थिरम् । तावदेव असौ पुरुष । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थ । यावत् मानादभिमानात् । न हीयते न भ्रश्यति । मान विहाय न किंचिद्गुणमस्तीत्यर्थ ॥ ६१ ॥

तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष है जब तक मान का परित्याग नहीं करता (जहाँ मान को छोड़ा कि गया) ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान् अर्थवज्जन्मा सार्थकजन्मा यस्य पुंसो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते सति संख्यायां पुरुषगणनायामुद्यता गणना गुणसंख्याप्रवृत्तेत्यङ्गुलिः मताऽङ्गुलिरन्यां द्वितीयाम् अङ्गुलिम् । उद्यतामिति शेष । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयत्वादित्यर्थः । एतन्मानरहितस्य न संभवतीति भाव ॥ ६२ ॥

उसी पुरुष का जन्म इस संसार में सफल है जिसका नाम गणना के समय में प्रथम अँगुलि पर ही आता है न कि दूसरी अङ्गुलि पर ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासदैर्वनैर्ज्यायान् महत्तरोऽपि तुङ्गोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं शक्य एव । प्रसिद्ध पर्वतादिरिति भाव । महौजस्कं महातेजसम् मानप्रांशु मानोन्नतम् । पुरुषमिति शेष । अलङ्घ्यता न जहाति । कदापि मानी लङ्घयितुं न शक्यत इत्यर्थः ।

गिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भावः । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घ्यत्वेनाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ६३ ॥

घने घने जङ्गलों से प्रवृद्ध तथा अत्यन्त उन्नत पर्वत का भी उल्लङ्घन किया जा सकता है परन्तु अविलङ्घ्यता महान् पराक्रमशाली तथा मान से उन्नत पुरुषों का परित्याग नहीं करती ॥ ६३ ॥

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा ।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरूनिति ॥ ते नराः । वंश्यान् अन्वये भवान्, गुरून् कुर्वन्ति प्रथयन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थः । तैर्नरैः । वसूनि धनानि धरतीति वसुन्धरा । 'संज्ञायां भृतॄवृजि-' इत्यादिना खच्प्रत्यये 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वाऽनुमागमश्च । अन्वर्थाऽनुगतार्था । तेषां वसुभूतानां धारणादिति भावः । येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति । यशसो निष्कलङ्कत्वादिति भावः । तथा हि यशो नाममहत् एव वसुभवतीति तात्पर्यार्थः । ह्रीधातोर्ण्यन्ताल्लट् । 'अर्तिह्री-' इत्यादिना पुगागमः । अत्र ह्रेपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालङ्कारः ॥ ६४ ॥

जिन पुरुषों के विमल यश चन्द्रमण्डल को भी लज्जित करते हैं वे ही लोग अपने २ नाम से अपने वंश का विस्तार करते हैं और उन्हीं से यह वसुन्धरा (पृथ्वी) अन्वर्था है अर्थात् वसु का अर्थ है धन, और धरा का अर्थ है धारण करनेवाली। यदि पृथ्वी धन धारण करनेवाली हो तो अन्वर्था है अन्यथा नहीं ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति ॥ यैरमर्षः क्रोधः शुष्के नीरसे । अशनिरिव अरातिषु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते । मनस्विनां मानिनां प्रथमेऽग्रेसरास्ते आशीःषु पुरुषैरेव भवितव्यमेवम्भूतासु । उदाहरणं निदर्शनम् । भवन्तीति शेषः । राजादिवदुपमानं भवन्तीत्यर्थः । अतो न त्याज्यो मान इति सदर्थः ॥ ६५ ॥

शुष्क तृणपुञ्ज पर वज्रपात के सदृश जो पुरुष अपने क्रोध को शत्रु पर प्रक्षिप्त करते हैं व ही मनस्वी पुरुष मानियों में अग्रगण्य हैं और 'मनुष्य मात्र को कैसा होना चाहिये' इसके उदाहरण भी वे ही हैं ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्-'क्षमिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र सुयमेनोत्तरमाह—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि ॥ उदन्वद्वीचिरिव चञ्चलं समुद्रतरङ्गवदस्थिरं सुखं कामं न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चलं अर्थं च न प्रार्थये । किंच अनित्यता विनाशिता सैव अशनि-

अलङ्घ्यमिति ॥ महीभृतां पर्वतानां सम्बन्धि वाक्यम्‌ श्लाघ्यमिकम्‌ । उच्चैस्त्वं तत्तद्‌लङ्घ्यमुद्दीपयोत्मेव । तर्कमित्येति यावत्‌ । महतां महात्मनां तुङ्गता मानोन्नत्यं ज्यायसीं प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना मागात्‌ । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थः । आशिषि माङि लुङ्‌ । अतोऽपवाद । दैवमभिलक्ष्य परोक्षानुपलब्धयत्वीपधवद्‌ सिमर्थे इत्याशंसनाप्यमाशोः प्रयोगः । उद्दीपयेत्समानकर्तृकत्वनिर्देशः कश्चित्प्रयोग दयनात्सोऽन्यः । केचित्‌ उद्दीपयत्‌ इति पठन्ति । तत्र पयदुस्थस्तादलङ्घ्यमुद्दी पयमयक्षोऽन्तीय न चोदृहृतीयमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६ ॥

मान के परि याग में दोष तो है ही परन्तु मान के रहने में गुण भी बहुत [illegible] है—

उच्च होने ही के कारण पर्वत अलङ्घ्य है पर र उ हैं कोई उल्लंघन नहीं कर सकता तो फिर कौन सा ऐसा कारण है—जो मौन व बड़े लोगों के लिये प्रिय न होगा ! ॥६ ॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

तावदिति ॥ किंच तावल्लक्ष्म्या आश्रीयते । तावदस्य पुंसो यशः स्थिरम्‌ । तावदेव असौ पुरुषः । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । यावत्‌ मानादभिमानात्‌ । न हीयते न भ्रश्यति । मानहीनस्य न किंचिद्‌गुणमस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष है जब तक मान का परित्याग नहीं करता (जहाँ मान को छोड़ दिया कि गया) ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान्‌, अर्थवज्जन्मा सार्थकजन्मा यस्य पुंसो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते सति संख्यायां पुरुषगणनाप्रस्तावे उद्यता गुणमभिकुर्वोद्यमिताङ्गुलिरन्या द्वितीयाम्‌ अङ्गुलिम्‌ । उद्यतामिति शेषः । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयत्वादस्येत्यर्थः । धृतन्मानरहितस्य न सेयमस्तीति भावः ॥ ६२ ॥

उसी पुरुष का जन्म इस संसार में सफल है जिसका नाम गणना के समय में प्रथम अङ्गुलि पर ही आता है न कि दूसरी अङ्गुलि पर ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान्‌ गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासदैर्वनैर्ज्यायान्‌ अधृष्यस्तथापि तुङ्गोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं शक्य एव । प्रसिद्ध चैतदिति भावः । महौजस्कं प्रतापसम्पन्नं मानप्रांशुं मानोन्नतम्‌ । पुरुषमिति शेषः । अलङ्घ्यता न जहाति । कदाचिन्मानी लङ्घयितुं न शक्यत इत्यर्थः ।

गिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भाव । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घ्यत्वेनाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कार ॥ ६३ ॥

घने घने जङ्गलों से प्रच्छन्न तथा अत्यन्त उन्नत पर्वत का भी उल्लङ्घन किया जा सकता है परन्तु अविलङ्घ्यता महान् पराक्रमशाली तथा मान से उन्नत पुरुषों का परित्याग नहीं करती ॥ ६३ ॥

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुंधरा ।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरूनिति ॥ ते नरा । वंश्यान् अन्वये भवान् । गुरून् कुर्वन्ति प्रथयन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थं । तैर्नरै । वसूनि धनानि धरतीति वसुन्धरा । 'संज्ञायां भृतॄवृजि-' इत्यादिना खच्प्रत्यये 'खचि ह्रस्व' इति ह्रस्वः- मुमागमश्च । अन्वर्थाऽनुगतार्था । तेषां वसुभूतत्वात् धारणादिति भाव । येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति । यशसो निष्कलङ्कत्वादिति भाव । इदृशा हि यशो मानमहत एव सम्भवतीति तात्पर्यार्थं । ह्रीधातोर्ण्यन्तात्लट् । 'अर्तिह्री-' इत्यादिना पुगागम । अत्र ह्रेपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालङ्कार ॥ ६४ ॥

जिन पुरुषों के विमल यश चन्द्रमण्डल को भी लज्जित करते हैं वे ही लोग अपने २ नाम से अपने वंश का विस्तार करते हैं और उन्हीं से यह वसुन्धरा (पृथ्वी) अन्वर्था है अर्थात् वसु का अर्थ है धन, और धरा का अर्थ है धारण करनेवाली । यदि पृथ्वी धन धारण करनेवाली हो तो अन्वर्था है अन्यथा नहीं ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशी पु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति ॥ यैरमर्ष क्रोध शुष्के नीरसे । अशनिरिव अरातिषु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते । मनस्विनां मानिनां प्रथमेऽग्रेसरास्ते आशी पु पुरुषैरेव भवितव्य- मेवरूपाश्च । उदाहरणं निदर्शनम् । भवन्तीति शेष । रामादिवदुपमानं भवन्ती- त्यर्थं । अतो न त्याज्यो मान इति सदर्थोऽयं ॥ ६५ ॥

शुष्क तृणपुञ्ज पर वज्रपात के सदृश जो पुरुष अपने क्रोध को शत्रु पर प्रक्षिप्त करते हैं वे ही मनस्वी पुरुष मानियों में अग्रगण्य हैं और 'मनुष्य मात्र को कैसा होना चाहिये' इसके उदाहरण भी वे ही हैं ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्-'अभिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र शुश्रेनोत्तरमाह—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि ॥ उदन्वद्वीचिरिव चञ्चलं समुद्रतरङ्गवदस्थिरं सुखं कामं न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चलं अर्थं च न प्रार्थये । किंच अनित्यता विनाशिता सैव अशनि-

स्तस्मात् प्रस्थन् विग्रपम् । वा आशा इत्या दिवा स्वमप्रत्यय । विविक्त निर्बाधं ब्रह्मणो वेधस आत्मन पदम इति पद स्थानमैक्यरूपं मुक्ति च न प्रार्थये । एतेन यदुक्तम् उच्छेदं जन्मन कर्तुम् (श्लो २१) इत्यादि तत् समाहितम् ॥ ६६ ॥

आपने जो कहा था कि सुख की कामना या धन की लिप्सा से तपसाधन कर रहे हो यह ठीक नहीं मोक्ष के लिये प्रयत्न करो शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायगी ये सब बातें कुछ नहीं—

न मैं सुख के लिये तपस्या कर रहा हूं न तो समुद्र की लहरियों के सदृश अस्थिर द्रव्य की कामना करता हूं और न तो म विनश्वरता रूप विद्युत्पात ही से डरता हूँ । अब मुझे मुक्ति की भी इच्छा नहीं है ॥ ६६ ॥

प्रमार्ष्टुं मयशः पङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥ ६७ ॥

प्रमार्ष्टुमिति ॥ किंतु, छद्मना कपटेन कृतम् । शत्रुभिरिति शेष । अयश एव पङ्कमिति रूपकालंकार । वैधव्येन तापिताभ्य दुःखीकृताभ्यामरातिवनितानां लोचनाम्बुभि प्रमार्ष्टुं क्षालयितुम् । इच्छेयमभिलषेयम् । इयिषात्योर्लिङि रूपम् । वैरनिर्यातनातिरिक्त न किंचिदिच्छामीत्यर्थ ॥ ६७ ॥

यदि इच्छा है तो एक यह है कि शत्रुओं के द्वारा किये गये कपट व्यवहार से जो हमलोगों को कलङ्क की कीचड़ लगी है वह विधवापन से सन्तप्त शत्रुरमणियों के लोचन-जल से धुल जाय ॥ ६७ ॥

एव तर्हि न करोति कथोक्तां (श्लो १९) इत्याशुक्तदोष स्यादित्याशङ्काम् अङ्गीकृत्य स्वाभिमं दोषापेक्षि न्यायमाश्रित्य गुरुमेवोत्तरमाह—

अपहस्येऽथवा सद्भि प्रमादो वास्तु मे धियः ।
अस्थानविहितायास कामं जिह्नेतु वा भवान् ॥ ६८ ॥

अपहस्य इत्यादि ॥ अथवा सद्भि पण्डितै अपहस्ये । अपहसिष्य इत्यर्थ । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा इति इसतेर्भविष्यत्कर्मणि लट । भवन्तस्तु आन्तःपाठ । मे धिय प्रमादोऽनवधानता वाऽस्तु । भवान् अस्थानेऽयोग्यविषये विहित आयासो हितोपदेशप्रयासो येन स तथोक्त । विफलप्रयत्न सन्नित्यर्थ । कामं वा जिह्नेतु लज्जताम् ॥ ६८ ॥

चाहे सज्जन लोग मेरी निन्दा करें अथवा मेरी बुद्धि ही मन्द हो जाय अथवा अयोग्यपात्र में उपदेश देने का जो आपने प्रयत्न किया उसके विफल होने से आप लज्जित हों ॥ ६८ ॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥ ६९ ॥

मन्येति ॥ अहं तु विद्विषां शत्रूणां समुच्छेदेन विनाशेन करणेन वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्यापुनरावृत्त्यं निर्वाणं मोक्षमपि जयश्रियोऽन्तरायं विघ्नं मन्ये । ननु पुरुषार्थमित्यर्थः । किमुतान्योऽस्सवादिकमिति भावः ॥ ६९ ॥

शत्रुओं का संहार करके वंश परम्परा की श्री का उद्धार किये बिना मैं मोक्ष को भी विजयलक्ष्मी की प्राप्ति में विघ्न ही समझता हूँ ॥ ६९ ॥

नन्वयं ते दुराग्रह इत्यत आह—

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥ ७० ॥

अजन्मेति ॥ पुरुषो यावत् अरिभिर्विलुप्तं स्वकं यश इषुभिर्नादत्ते । अरिवधेन न प्रत्याहरतीत्यर्थः । तावत् अजन्मा । अजातप्राय इत्यर्थः । जन्मवतो जनतान्तरमुपयुज्यत एवेत्यरुच्या पक्षान्तरमाह—गतासुर्वेति । मृततुल्य इत्यर्थः । मृतोऽपि मातुरुपयुक्तमित्यरुच्याह—तृणमेवेति । तृणतुल्य इत्यर्थः । अकिंचित्करस्तु नैकस्याप्युपयोगाज्जीवन्मृत इत्यर्थः । अतो नाहमाग्रहाद्ब्रवीमि, किं तु वीरधर्ममनुपालयामीति भावः ॥ ७० ॥

ये सब बातें मैं आग्रह से भी नहीं कहता क्योंकि —

शत्रुओं के द्वारा विलुप्त यश का जो पुरुष जब तक अपने बाणों के द्वारा उद्धार नहीं करता तब तक वह पुरुष अजन्मा है अर्थात् उसने संसार में जन्म ही नहीं लिया है, मृत प्राय है, तृण से भी गया बीता है ॥ ७० ॥

सर्वथा वैरनिर्यातनं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदकरणे पुरुषगुणाभावदोषमाह—

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

अनिर्जयेति ॥ यस्यामर्षः क्रोधो द्विषतां शत्रूणाम् । अनिर्जयेन निर्जयं विनैव प्रशाम्यति । उपलक्षणे तृतीया । तस्मिन् पुरुषे पुरुषोक्तिः 'पुरुष' शब्दः कथम् । न कथंचिदित्यर्थः । प्रवर्तत इति शेषः । प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारस्याभावादिति भावः । हे तपोधन ! त्वं हि त्वमेव ब्रूहि कथय । न च ते किंचिदविदितमस्तीति भावः । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः ॥ ७१ ॥

'वैरियों से बदला अवश्य लेना चाहिये' ऐसा न करने से दोष होता है —

हे तपस्विन् ! भला आप ही बतलाइये, 'शत्रु से बदला चुकाये बिना जिसका क्रोध शान्त हो जाता है उसे पुरुष पद से कैसे पुकारा जा सकता है' ॥ ७१ ॥

ननु पुरुषत्वजात्यैव पुरुषोक्तिप्रवृत्तेः किं पुरुषकारेण, तत्राह—कृतमित्यादिद्वयेन—

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥ ७२ ॥

कृतमिति ॥ जातिमात्रावलम्बिना जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन कृतमलम् । न तेन किंचित्साध्यत इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणे तृतीये त्युक्तं प्राक् । कृतम् इति निषेधार्थकमव्ययं स्वादिषु पठ्यते । तस्य जातिमात्रेऽपि पुरुष शब्दः प्रवर्तते । परन्तु नासौ पुरुषाभासः पश्वादिसाधारण्यादिति तात्पर्यार्थः । तर्हि कीदृक्श्लाघ्य इत्याशङ्क्याह—य इत्यादिना पादद्वयेन । अङ्गीकृतगुणैर्गुणवद्भिः । यः पुमान् श्लाघ्यः स्तुत्यः सन् सविस्मयं ससंभ्रमम् । उदाहृतः कथितः । पुंसा ईदृशेन भवितव्यमिति निर्दिष्टः ॥ ७२ ॥

पुरुष का चिह्न (पुंलिङ्ग) जिसमें पाया जाता है उसे पुरुष कहना उचित नहीं है चाहे वह पौरुषसम्पन्न हो या न हो यह विचार कर देखा नहीं है इसलिये—

जाति मात्र का आश्रयी जो पुरुष शब्द है उससे कुछ भी नहीं हो सकता (यह नर्थ हा है) जो गुणियों के द्वारा प्रशंसित हो भी सम्भ्रमपूर्वक जिसका उदाहरण दिया जा सकता हो वही पुरुष कहे जाने योग्य है ॥ ७२ ॥

प्रसमानमिरौकासि सहसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान् पुमान् ॥ ७३ ॥

प्रसमानमिति ॥ किंच सहसा सभया गौरवेणेरितं कथाप्रसङ्गेषु गौरवपूर्वकमुच्चारितं सत् । ओकांसि आश्रयतो तेजांसि प्रसमानं तिरस्कुर्वत् स्थितं यस्य पुंसो नाम द्विषोऽप्यभिनन्दन्त्यनुमोदन्ते । किमुत सुहृद इति भावः । स पुमान् पुमान् । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । प्रथमः पुंशब्दो जातिवचनः द्वितीयो गुणवचनः । स एव श्लाघ्यः । अत्र पुमान् पुमानिति तात्पर्यमात्रभेदभिन्नशब्दार्थपौनरुक्त्यलक्षणो लाटानुप्रासोऽलंकारः । तथा च सूत्रम्—"तात्पर्यमात्रभेदयुक्तो लाटानुप्रासः" इति ॥ ७३ ॥

जिस पुरुष का नाम सभ्यसमाज में आदर के साथ लिया जाता हो तथा जिस नाम के लेने से श्रोताओं का तेज आक्रान्त हो जाता है और शत्रु भी जिसकी प्रशंसा करे वही पुरुष पुरुष है ॥ ७३ ॥

ननु सत्सु भीमादिषु तवैवात्र कोऽभिनिवेश इत्यत आह—

यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥ ७४ ॥

यथेति ॥ नृपतिर्युधिष्ठिरो यथाप्रतिज्ञं युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया द्विषत्प्रतिकर्तुमिच्छया । प्रतिज्ञानुसारेणैव जिघांसयेत्यर्थः । तृष्यन् पिपासुः जलाञ्जलेरिव ममैवाध्येति स्मरति । कार्यसिद्धेर्मदायत्तत्वान्मामेव स्मरति अतोऽत्र ममाभिनिवेश इत्यर्थः । अधीगर्थ इत्यादिना कर्मणि षष्ठी ॥ ७४ ॥

इस शत्रु के प्रतिकार करने का उत्तरदायित्व सब भाइयों के सिर पर है तथापि महाराज युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रु से बदला लेने के लिये तृषार्त व्यक्ति

जिस प्रकार अञ्जलि के जल की इच्छा करता है, उसी प्रकार मेरा ही स्मरण करते हैं ॥७४॥

ननु युधिष्ठिरः स्वार्थं साधयति, त्वया च स्वार्थमात्रमनुसन्धीयतामित्यत आह—

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥

स इति ॥ स नरोऽवदातस्य स्वच्छस्य वंशस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनं कलङ्कः । यत्र यस्मिन्पुरुषे कृच्छ्रेषु व्यसनेषु भर्तुः स्वामिन आज्ञया व्यर्थया भूयते । भावे लट् । आपदि स्वार्थसाधकः कुलघातकः तत्कथं स्वार्थनिष्ठकार्यता युक्तेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

जिस विशुद्ध वंश में विपत्ति के समय जो व्यक्ति स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह चन्द्रमा [illegible] कलङ्क के समान है ॥ ७५ ॥

यदुक्तम्—'विजहीहि रणोत्साहम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—

कथं वा वीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

कथमिति ॥ धर्मरोधिनी धर्मविरोधिनी । अर्वाक् गार्हस्थ्यात्प्रागेव मुनिता वानप्रस्थत्वं चतुर्थाश्रमता वा । वर्णक्रमेण तस्य विधानात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनात् क्षत्रियस्यापि कैश्चिदिष्टत्वात् । तदेतदभ्य-भिप्रेत्यास्मासु रघुवंशसञ्जीविन्याम् (स० ८।१४)—'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्र । कथं वा आदीयतां मया कथं वाऽङ्गीक्रियताम् । सम्प्रश्ने लोट् । तथा हि—पूर्वैर्मन्वादिभिराश्रमानुक्रमः स्मर्यते । न तु व्यतिक्रमः । 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थः । एतदपि 'चत्वार आश्रमाः' इत्येतत्पक्षाश्रित्योक्तम् । 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इति श्रुत्यन्तरवचनस्यापि श्रवणात् सामान्येन विशेष-णसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७६ ॥

आप मुझे पहिले ही धर्म के विरुद्ध मुनियों की वृत्ति पालन करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं क्योंकि मनुप्रभृति आचार्य लोग आश्रमों के तारतम्यानुसार उन उन आश्रमों में प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं न कि व्यतिक्रम के लिये उपदेश करते हैं ॥ ७६ ॥

ननु भवान्गृहस्थ एव तत्कथमर्वाङ्मुनित्वविरोध इत्याशङ्क्य, सत्यं गृहस्थोऽस्मि, तथापि कृतनिखिलगृहस्थकर्तव्यस्यैव वानप्रस्थाधिकारो न गृहस्थमात्रस्य । न चाह-मद्यापि कृतकृत्य इत्युत्तरमाह—

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥ ७७ ॥

आसक्तेति ॥ आसक्ता लग्ना । अवश्यं कर्तव्येत्यर्थः । रूढा प्रसिद्धा । महती-त्यर्थः । इयं पूर्वोक्ता धूः वैरनिर्यातनभारः । दूरगा दूरवर्तिनी जननी च मातापि ।

तथा नृपोऽप्यभ्यासात् । तपोऽधिक इत्यर्थः । तथापि ज्यायान् ज्येष्ठो नृपो युधिष्ठिरश्च मे मम स्वातन्त्र्यं स्वाच्छन्द्यं तिरस्करोति दूरीकरोति । आश्रमान्तरं प्रतिबध्नातीत्यर्थः । तिरस्करोतीति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अन्यथा बहुवचनप्रसङ्गात् ॥ ७७ ॥

तृष्णा सार्वभौम करने का भार मुझ पर निर्भर है। इस समय मेरी माता दूर है मेरे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर स्वयं व्यापार पद्धति में संलग्न हैं और मेरी स्वतन्त्रता को बहुत [illegible] कर दिये हैं अर्थात् आश्रमान्तर में प्रवेश करने के लिये मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ॥ ७७ ॥

उक्तमर्थमुपसंहरति—

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥ ७८ ॥

स्वधर्ममिति ॥ मानशालिनः स्वधर्मं क्षात्रधर्ममनुरुन्धतेऽनुवर्तन्ते । अतिक्रमं स्वधर्मातिक्रमं नानुरुन्धते । तत्र किमत आह—अरातिभिरिति । अरातिभिः कृतध्वंसाः कृतापकाराः सन्त आहवात् न पलायन्ते । अयमेव स्वधर्मानुरोध इत्यर्थः । उपसर्गसमस्तौ इति रेफस्य लत्वम् । अत्र मनुः—'न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्' इति । उत्तरवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यार्थस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ७८ ॥

मानी पुरुष अपने धर्म (क्षात्र) का अनुसरण करते हैं अर्थात् अपने धर्म का उल्लंघन नहीं चाहते तथा शत्रुओं से अपहृत और तिरस्कृत होकर समर से नहीं भागते हैं ॥ ७८ ॥

किं बहुना ममायं निश्चय इत्याह—

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥

विच्छिन्नेति ॥ विच्छिन्नं वाताहतं यदभ्रं तद्वत् विलीयेति विच्छिन्नाभ्रविलायं यथा तथा । उपमाने कर्मणि च इति कर्तर्युपपदे णमुल् । नगमूर्धनि अस्मिन्नद्रिशृङ्गे विलीये विशीर्ये वा । कर्मादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । यद्वा सहस्राक्षमिन्द्रम् आराध्यायश एव शल्यं तदुद्धरे उद्धरिष्यामि । न तु गत्यन्तरमस्तीत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पे ॥ ७९ ॥

या तो मैं पवन से उड़ाए मेघखण्ड की तरह खण्ड खण्ड होकर इसी पर्वत के शिखर पर अपनी जीवनलीला समाप्त कर दूँगा या सहस्रलोचन (इन्द्र) की आराधना करके अपकीर्ति रूप कलङ्क को निकाल कर फेंकूँगा ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

इतीति ॥ मघवा इन्द्रः । इत्युक्तवन्तं तनूजं पुत्रमर्जुनम् । आविष्कृता प्रकटिता दिव्यमूर्तिर्निजरूपं येन स तथोक्तः सन् । दोर्भ्यां बाहुभ्यां परिरभ्य विभूत्यै श्रेयसे । उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातम् । करणे ल्युट्प्रत्ययः । अघानां दुःखानामुपघातं अघोपघातम् । भवः संसारस्तस्योद्भवः कारणमिति भवोद्भवः शिवस्तस्य आराधनमुपासनम् । आदिदेश । शिवमुद्दिश्य तपश्चरेत्याज्ञापयामासेत्यर्थः ॥ ८० ॥

अपना दिव्य रूप प्रकट कर उपर्युक्त प्रकार से उत्तर देते हुये सुरराज (इन्द्र) ने अपने पुत्र अर्जुन को भुजाओं से आलिङ्गन किया और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये संसार के उत्पत्ति के कारणभूत भगवान शङ्कर की उपासना करने का उपदेश दिया जिससे समस्त पापों का शमन हो जाता है ॥ ८० ॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ।



प्रीत इति ॥ पिनाकिनि शिवे प्रीते सति लोकपालैः सह मया लोकत्रयेऽपि विहितं दत्तं अप्रतिवार्यमनिवार्यं वीर्यं यस्य स तथोक्तः सन् । परेषां शत्रूणां लक्ष्मीं भृशं समुत्सुकयितासि समुत्सुका त्वय्यनुरक्ता कर्तासि । पुनराहरिष्यसीत्यर्थः । वीरभोग्या सम्पद् इति भावः । 'उत्सुक'शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । इति वाचमुच्चार्य, तेन इन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् ॥ ८१ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामेकादशः सर्गः समाप्तः ।



"भगवान् शङ्करी के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान कर दूंगा जिससे शत्रु लोग प्रतिकार नहीं कर पायेंगे और फिर तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को अपनी तरफ समुत्कण्ठित कर लोगे" इस प्रकार की बात कहते हुये सुरराज अन्तर्हित हो गये ॥ ८१ ॥

एकादशसर्ग समाप्त



द्वादश सर्ग ।

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनंजयः ॥१॥

अथेति ॥ अथ इन्द्रतिरोधानानन्तरं रुचिरवदनः इन्द्रसाक्षात्कारसंतोषात् प्रसन्नमुखो धनंजयोऽर्जुनो वासवस्य वचनेन उपदेशेन त्रिलोचनं शिवं क्लान्तिरहितं यथा तथा अभिराधयितुं प्रसादयितुं तपांसि विधिवत् विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । विदधे चक्रे । अस्मिन्सर्गे उद्गता वृत्तम्— सजसादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकैरथोद्गता । त्र्यङ्घ्रिगतभनजला गयुताः सजसा जगौ चरणमेकतः पठेत् ॥ इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सुरराज के तिरोहित हो जाने पर प्रसन्न मुख अर्जुन आलस्य छोड़कर त्रिनेत्री (शंकर को) मानकर त्रिनयन भगवान शंकर की आराधना के लिये यथाविधि तपस्साधन करने लगे ॥

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥ ॥

अभिरश्मीति ॥ अभिरश्मिमालि अभिसूर्यं सूर्याभिमुखं भुवि एकचरणं निषीदत एकचरणेन तिष्ठतो विमलस्य बाह्याभ्यन्तरशुद्धिमतः । धृता जयधृतिर्जयेच्छा येन तस्य । अनाशुषोऽनश्नतः । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । तस्यार्जुनस्य बहूनां पूरणा बहुतिथाः । बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' इति तिथुगागमः । तिथयो दिनानि प्रतिजग्मुः । अत्र 'तिथिः स्त्रियाम्' । तदा स्त्रीत्वे ह्रस्वो इत्यभिधानात् । अन्यथा बहुतिथा इत्यत्र स्त्रीत्वं स्यात् ॥ २ ॥

भगवान् भास्कर (सूर्य) के सम्मुख एक पैर से पृथ्वीपर खड़े होकर बाह्य और आन्तरिक शुद्धिपूर्वक विजय की कामना करते हुये निराहार तप अर्जुन के बहुत दिन व्यतीत हो गये ॥२॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः ।
व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥ ३ ॥

वपुरिति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः । सततं वपुष इन्द्रियाणां च उपतपनेषु संतापकरेषु । असुखेषु दुःखेषु । असुखेष्वपि अनाविद्धः सन्नपि नगपतिर्गिरीन्द्र इव स्थिरतां दार्ढ्यं व्याप प्राप । तथा हि—महतां धैर्यमविभाव्यं दुर्बोधं वैभवं सामर्थ्यं यस्य तत्तथोक्तम् । धीराणामकिंचित्करं दुःखमिति भावः ॥ ३ ॥

पाण्डुपुत्र (अर्जुन) शरीर और इन्द्रियों के सन्तापकारी उपवासादि क्लेशों के निरंतर रहते भी हिमालय की तरह अचल से हो गये क्योंकि बड़े लोगों के धैर्य के वैभव का पता नहीं चलता ॥ ३ ॥

न पपात संनिहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतप सुकर्मणाम् ॥४॥

नेति ॥ तस्यार्जुनस्य मानस मन संनिहितानि समीपस्थानि यानि पक्तिसुरभीणि पाकसुगन्धीनि तेषु फलेषु । तथा, शुचिनि स्वच्छे शिशिरे शीतले पयसि च न पपात । न किंचिदाचकाङ्क्षेति भाव । प्राणधारण तु तस्य तप एवेत्याह— तथाहि—सुकर्मणा सुकृतिना शोभन तप सुतप एव अमृतायतेऽमृतवदाचरति । किं तपस्तृप्ताना तर्पणान्तरैरिति भाव । 'लोहितादिडाज्भ्य क्यष्' । 'वा क्यष' इत्यात्मनेपदम् । लोहितादिराकृतिगण ॥ ४ ॥

उस तपस्वी (अर्जुन) का मन अत्यन्त समीप के फलों पर, जो परिपक्व होने से सुन्दर सुगन्ध से सने हुये थे, तथा शीतल स्वच्छ जल पर भी चलाय मान न हुआ। सुकृति व्यक्तियों का तप ही अमृत का काम करता है ॥ ४ ॥

न विसिस्मिये न विषसाद मुहुरलसतां न चाददे ।
सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हत स्म तस्य हतशक्तिपेलवे ॥ ५ ॥

नेति ॥ सोऽर्जुनो न विसिस्मिये । 'अहो महत्तपस्तप्तम्' इति न विस्मय जगाम । 'तप क्षरति विस्मयात्' इति स्मृतेरिति भाव । न विषसाद फलविलम्बाद्गतोत्साहो न बभूव । 'निपातश्चेतसो भङ्ग' इति लक्षणात् । 'सदिरप्रते' इति षत्वम् । मुहुरलसता च नाददे । तपसि मन्दोद्यमत्व च नागमदिति भाव । किंच, हतशक्तिनी हतसारे अत एव पेलवे अकुरे ते हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी गुणौ, उरुधृति महासार तस्यार्जुनस्य सत्त्व सत्त्वगुण न हत स्म न हतवती। हन्ते 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ५ ॥

उस अर्जुन को न अपनी उग्र तपश्चर्या पर आश्चर्य हुआ न तो उनका उत्साह भङ्ग हुआ। और न तपस्साधनमें उन आलस्याभिभूत ही होना पड़ा। रजो गुण और तमो गुण ये दोनों क्षीण शक्ति होने के कारण उनके महान् सत्त्व को भी नष्ट न कर सके ॥ ५ ॥

तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम् ।
त्रासजननमपि तत्त्वविदा किमिवास्ति यन्न सुकर मनस्विभि ॥ ६ ॥

तपसेति ॥ सोऽर्जुन । तपसा कृश तथापि विजितो जगत्त्रयस्य भुवनत्रयस्य उदय उत्कर्षो येन तत्तथोक्तम् । किंच, तत्त्वविदामपि लोकहितार्थतत्त्व जानतामपि त्रासजनन भयकर वपु । उवाह वहति स्म । न चैतच्चित्रमित्याह—किमिति । यत् मनस्विभिर्न सुकर तत् किमिवास्ति । न किमपीत्यर्थ । 'इव'शब्दो वाक्यालङ्कारे । 'मनस्विनाम्' इति पाठे शेषे षष्ठी स्यादेव । कृद्योगलक्षणाया 'न लोक—' इत्यादिना निषेधात् ॥ ६ ॥

उनका (अर्जुन का) शरीर तपस्या के कारण क्षीण हो गया था तो भी उन्होंने तीनों लोक

दिग्न हीव जितत्वाज्जितमिवेत्युत्प्रेक्षा । वीतमले विमले । मेघनीहाराद्यावरणरहितेऽपीत्यर्थः । नभसि न विराजते स्म ॥ १३ ॥

र वि आकाश में सूर्य का मण्डल अर्जुन के शरीर से निस्सृत महान तेज से हतप्रभ होकर लज्जित हुए की तरह विशोभित नहीं हो रहा था ॥ १३ ॥

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः ।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीं पुरीम् ॥ १४ ॥

तमिति ॥ उदीरिता उद्गता अरुणा जटानामंशवो यस्य । तमधिगुणमधिज्यं शरासनं यस्य । तं धनुष्मन्तम् । जना सिद्धगणा । आसुरीमसुरसम्बन्धिनीं पुरीमिमां मथितुमिच्छुम् । मथेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । तथा अनुदिताऽनुत्पन्ना ललाटे दृग् यस्य तं साक्षात्त्रिपुरविजयोद्यतमभालाक्षं रुद्रमिव ददृशुः । अत्राभालाक्षस्य रुद्रस्यासम्भवात्स्वतः सिद्धोपमानासिद्धेर्नेयमुपमा किन्तूत्प्रेक्षा । सा चाभालाक्षमित्युपमानाद्युपमेयस्य न्यूनत्वकथनार्थं व्यतिरेकेणोज्जीवितेत्यनयोः सङ्करः । उपमानानुपमेयत्व इत्यनयोरलङ्कारध्वनिः ॥ १४ ॥

अरुण के जटाभारों से प्रकाश यह जो किरण निकल रही था धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई थी । उन लोगों ने दानवों के नगर को नष्ट करने की इच्छा रखने वाले साक्षात् शिव के समान देखा और इनका इतना ही भेद था कि अर्जुन के ललाट में तीसरा नेत्र नहीं था ॥ १४ ॥

मरुतां पतिः स्विदहिमांशुरुत पृथुशिखः शिखी तपः ।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवयये स तापसैः ॥ १५ ॥

मरुतामिति ॥ मरुतां पतिः स्वित् देवेन्द्रो वा । अहिमांशुरुत सूर्यो वा । पृथुशिखो महाज्वालः शिखी पावको वा । असुकरं दुष्करं तपस्तप्तुमुपक्रमते । अयं जनः पुरुषः कश्चित्प्राकृतो न इति सोऽर्जुनः । तापसैस्तपस्विभिः । अण् च इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अवययेऽज्ञायत । वातेरवपूर्वात्कर्मणि लिट् । अत्र मरुत्वादिकधर्मसमारोप्यमानत्वापत्त्याद्यसाम्यमारोप्यापह्नवालङ्कारः । सामान्यकथनं तु निश्चितविषये सामान्यादिरोपो ह्यपह्नव इति ॥ १५ ॥

इन्हें (अर्जुन को) देख कर लोगों की अनेक प्रकार की धारणा हुई —

इन्द्र हैं क्या ! अथवा सूर्य हैं । विशाल ज्वाला सम्पन्न अग्निदेव तो नहीं हैं । दुष्कर तपश्चर्या करने के लिये यह पुरुष तैयार है । यह कोई साधारण पुरुष नहीं । निश्चित होगा' इस प्रकार का भाव लोगों को हुआ ॥ १५ ॥

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।
न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥ १६ ॥

न ददाहेति ॥ दूरगम् । व्यापकमित्यर्थः । हरितनयस्य इन्द्रसुतस्यार्जुनस्य धाम तेजो भूरुहवनानि वृक्षखण्डान् न ददाह । अग्निवदिति भावः । तथा अपो जलानि

परिशोषं न नयति स्म। अर्कवदिति भावः। तथापीति शेषः। सिद्धाश्च तापसाश्च तैः सुसहं न बभूव। अतोऽस्यालौकिकं तेज इति भावः। अत एव तु सहत्वदाहाभावजनकत्वयोर्विरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिः', इति लक्षणात्॥ १६॥

सर्वत्र व्याप्त होनेवाला, इन्द्र पुत्र (अर्जुन) का तेज वृक्षों के समूह को न जलाया और न तो जलाशयों को सुखाया परन्तु सिद्ध तपस्वियों के लिये असह्य हो गया॥ १६॥

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः॥ १७॥

विनयमिति॥ अथोऽनन्तरम्। अशरणाः महर्षयो मुनयो विनयं शिक्षां गुणा औदार्यादय इव। अविहितस्य तदभावादिति भावः। अपनयभिदं दुर्नीतिवारकं विवेकं सदसज्ज्ञानं नयाः नीतय इव। अविवेकिनो नीत्यभावादिति भावः। नीति पाड्गुण्यप्रयोगः। नीयतेऽनेनेति न्यायो नियामकं प्रमाणं तम्। अवधयः समया इव। अप्रामाणिकस्य समयोल्लङ्घितत्वादिति भावः। शिवं त्रियम्बकम्। शरणं रक्षितारम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। ययुर्जग्मुः। शरणत्वेन प्रापुरित्यर्थः। अशरणाः शरणमिति चोपमास्वपि यथायोग्यं योज्यम्। उपमालङ्कारः॥ १७॥

जिस तरह औदार्यादि गुण शिक्षा के समीप, नीति दुर्नीतिनिवारक विवेक (सत् और असत् के विचार) के समीप, अवधि (समय) न्याय के समीप जाता है उसी तरह महर्षि लोग निराधार होकर शंकर भगवान के शरण में गये॥ १७॥

परिवीतमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः।
शम्भुमुपहतदृशः सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे॥ १८॥

परिवीतमिति॥ उदस्तं निरस्तं स्वादितं दिनकरमयूखमण्डलं यैस्तैः। सूर्यतेजोविजयिभिरित्यर्थः। अंशुभिस्तेजोभिः परिवीतं व्याप्तं शम्भुं शिवम्। उपहतदृशः प्रतिहतदृष्टयस्ते महर्षयः सहसा झटिति निचायितुं विशामयितुम्। द्रष्टुमित्यर्थः। 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति धातोः 'शकधृष-' इत्यादिना तुमुन्। [नाभिप्रसेहिरे न शेकुः॥ १८॥

(वहां) महर्षियों ने शंकर भगवान् की किरणपुञ्ज से, जो सूर्य की किरणों को तिरस्कृत कर रहा था, व्याप्त देखकर आँखों के चकाचौंध होने के कारण एकायक देखने में असमर्थता प्रकट की॥ १८॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः।
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम्॥ १९॥

अथेति॥ अथ दृगुपघातानन्तरं भूतभव्यभवतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां ईशं देवम्, अभिमुखयितुमभिमुखीकर्तुं कृतस्तवाः कृतस्तोत्राः सन्तः। न त्वन्यथेति भावः।

'स्तव स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । तत्र पूर्वोक्ते महसि तेजसि कमनीयविग्रहं रम्यमूर्तिम् । अयुग्मानि त्रीणि लोचनानि यस्य तं पुरुषं ददृशुः ॥ १९ ॥

दृष्टि चकाचौंध होने के पश्चात् महर्षियों ने भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के स्वामी (शङ्कर) के प्रत्यक्षीकरण के लिये स्तुति किया पश्चात् रम्याकृति तीन नेत्र-युक्त पुरुष को देखा ॥ १९ ॥

अथ पञ्चभिः पुरुषं विशिनष्टि—ककुद इत्यादिना—

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

ककुद इति ॥ कीदृशं पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिणाहेन विशालतया शालत इति तथोक्ते । परिणाहो विशालता इत्यमरः । वृषस्य वृषभस्य ककुदेंऽसकूटे । आश्रयीकृत इति शेषः । आर्द्रचन्दने उमायाः कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्त हस्तमत एव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । ककुदस्य तत्साधर्म्यात्तत्सुखाकरमासीदिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

वह पुरुष (शङ्कर भगवान्) वृषभ (बैल नन्दी) के विशाल असकूट पर हाथ रख कर पार्वती के पयोधर मण्डल के जो चन्दन से लिप्त हैं स्पर्श-सुख का आनन्द ले रहा है ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनशैलशिरसि हिमवतः शिखरे स्थितम् । अधिष्ठितमित्यर्थः । तथापि भुवनातिवर्तिना लोकातिशायिना । ओजसा तेजसा । अद्रिभिः पर्वतैर्जलधिभिः समुद्रैः जलवाहपथेनाकाशेन च सह वर्तत इति तथोक्तम् । दिग्भिः सह वर्तत इति सदिक् । तेन सहेति तुल्ययोगे इति बहुव्रीहिः । विश्वमश्नुवानं व्याप्नुवन्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । अशूङ् व्याप्तौ इति धातोः शानच् ॥ २१ ॥

वह (पुरुष) हिमालय के उच्च शिखर पर आसीन होकर चौदहों भुवनों को जीतने वाले तेज से पर्वत समुद्र आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओं से युक्त सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त बनाते हुए के सदृश दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

अनुजान्विति ॥ जानुनोर्मध्येऽनुजानुमध्यम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अवसक्तं लग्नं विततमायतं च वपुर्यस्य तेन महाहिना । अत एव लोकालोकाद्भुतमित्यर्थः । अधिवेष्टितम् अत एव रवितेजसामवधिना पर्यन्तभूतेन भूमिभृता लोकालोकाचले-

नाधिवेष्टितम् । अखिल लोकमिव स्थितमित्युपमा । 'अधूर्वस्यापरभागो लोका लोकाचल' इत्यागम ॥ २२ ॥

वह पुरुष जानुमध्यगत भीषण काय भुजङ्गराज से वेष्टित होकर सूर्य के प्रकाश की सीमाभूत लोकालोक (चक्रवाल) पर्वत के द्वारा वेष्टित समग्र विश्व के समान दिखाई पड रहा था ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशद शुभ्रम्, उपवीतसूत्रता यज्ञोपवीतत्वं नीत प्रापितम् । उरग शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्त कुर्वता । श्यामीकुर्वतेत्यर्थं । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमर । अत्रोरगस्य स्वधवलिमत्यागेनान्यअन्यनीलिमग्रहणात्तद्गुणालङ्कार —'तद्गुण स्वगुण त्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रह' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

वह (पुरुष) तुषारपुञ्ज के सदृश शुभ्र भुजगराज को, जो शङ्कर के यज्ञोपवीत के स्थान की पूर्ति कर रहे थे, अपने रङ्ग में रंगते हुए नीलकण्ठ से, जिससे किरणें परिस्फुरण कर रही थीं, उपलक्षित हो रहा था ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारि शशिधाम बिभ्रतम् ॥ २४ ॥

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जाति' इति, 'पुष्पे जातीप्रभृतय स्वलिङ्गा व्रीह्य फले' इति चामर । तद्वत् सित धवल कपालमेव कुमुद तत् प्लुतमाप्लुत येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धज व्याप्तशिरोरुहम् । अत एव सुरसरित्पयसा शेषमिव निर्यातावशिष्ट गाङ्गमम्भ इव । स्थितमित्यर्थ । उत्प्रेक्षालङ्कार । विसारि विस्तार शशिधाम चन्द्ररोच शिरसा बिभ्रतम् । पुरुष ददर्शेति पूर्वेण सम्बन्ध ॥ २४ ॥

वह (पुरुष मालती पुष्प के समान धवल कपाल कुमुद को आप्लुत करती हुई चन्द्रमा की किरणों को, जो केशों को व्याप्त कर प्रसरण कर रही थीं, गङ्गा के जल के अवशिष्ट भाग की तरह धारण कर रहा था । अर्थात् शङ्कर के ललाटस्थ चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हो रहा था, उन किरणों को धारण करते हुए शङ्कर जी इस प्रकार मालूम पडते थे कि जैसे वे जाह्नवी के बचे हुए जल को धारण करते थे ॥ २४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिता ।
पाण्डुतनयतपसा जनित जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शनानन्तर मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेष । नयन-

'स्तव' स्तोत्र स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । तत्र पूर्वोक्ते महसि तेजसि कमनीयविग्रहं रम्यमूर्त्तिम् । अयुग्मानि त्रीणि लोचनानि यस्य तं पुरुषं ददृशुः ॥ १९ ॥

दृष्टि चकाचौंध होने के पश्चात् तपस्वियों ने भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के स्वामी (शंकर) के प्रसन्नतार्थ उनके लिये स्तुति किया पश्चात् रम्याकृति तीन नेत्र युक्त पुरुष को देखा ॥ १९ ॥

अथ पञ्चभिः पुरुषं विशिनष्टि—ककुद इत्यादिना—

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

ककुद इति ॥ कीदृशं पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिणाहेन विशालतया शालत इति तथोक्ते । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । वृषस्य वृषभस्य ककुदेंऽसकूटे । आधारीकृत इति शेषः । आर्द्रचन्दन उमायाः कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्तहस्तमत एव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । ककुदस्य तथाविधस्पर्शसुखकारणत्वादिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

वह पुरुष (शंकर भगवान्) वृषभ (बैल नन्दी) के विशाल ककुद पर हाथ रख कर पार्वती के पयोधर मण्डल के जो चन्दन से लिप्त हैं स्पर्श-सुख का आनन्द ले रहा है ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनशैलशिरसि हिमवतः शिखरे स्थितम् । कविस्कोणे स्थितमित्यर्थः । तथापि भुवनातिवर्तिना सकललोकातिशायिना । ओजसा तेजसा । अद्रिभिः पर्वतैर्जलधिभिः समुद्रैर्जलवाहपथेनाकाशेन च सह वर्तत इति तथोक्तम् । दिग्भिः सह वर्तत इति सदिक् । उभयत्रापि 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । विश्वमश्नुवानं व्याप्नुवन्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । अश्नुङ् व्याप्तौ इति धातोः शानच् ॥ २१ ॥

वह (पुरुष) हिमालय के उच्च शिखर पर आसीन होकर चौदहों भुवनों को जीतने वाले तेज से पर्वत समुद्र आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओं से युक्त सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त बनाते हुए के सदृश दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

अनुजान्विति ॥ जान्वोर्मध्येऽनुजानुमध्यम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अवसक्तं लग्नं विततमायतं च वपुर्यस्य तेन महाहिना । महता सर्पेणेत्यर्थः । अधिवेष्टितम् अत एव रवितेजसामवधिना पर्यन्तभूतेन भूमिभृता लोकालोकाचले

माधिवेष्टितम् । अखिलं लोकमिव स्थितमित्युपमा । 'वसुधैकस्यापरभागो लोकालोकाचल' इत्यागम ॥ २२ ॥

वह पुरुष जानुमध्यगत औपवस्त्र काय भुजङ्गमराज से वेष्टित होकर सूर्य के प्रकाश की सीमाभूत लोकालोक (चक्रवाल) पर्वत के द्वारा वेष्टित समग्र विश्व के समान दिखाई पड़ रहा था ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशद शुभ्रम्, उपवीतसूत्रता यज्ञोपवीतत्वं नीत प्रापितम् । उरगं शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्त कुर्वता । श्यामीकुर्वतेत्यर्थः । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमरः । अत्रोरगस्य स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारात्तद्गुणालङ्कारः –'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

वह (पुरुष) तुषारपुञ्ज के सदृश शुभ्र भुजगराज को, जो शङ्कर के यज्ञोपवीत के स्थान की पूर्ति कर रहे थे, अपने रङ्ग में रंगते हुए नीलकण्ठ से, जिससे किरणें परिस्फुरण कर रही थीं, उपलक्षित हो रहा था ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारि शशिधाम बिभ्रतम् ॥ २४ ॥

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जातिः' इति, 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीह्यः फले' इति चामरः । तद्वत् सितं यत् कपालमेव कुमुदं तत् प्लुतमाप्लुतं येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्याप्तशिरोरुहम् । अत एव सुरसरित्पयसा शेषमिव निर्गतावशिष्टं गाङ्गमम्भ इव । स्थितमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । विसारि विसृत्वरं शशिधाम चन्द्रतेजः शिरसा बिभ्रतम् । पुरुषं ददृशुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २४ ॥

वह (पुरुष) मालती पुष्प के समान धवल कपाल कुमुद को आप्लुत करती हुई चन्द्रमा की किरणों को, जो केशों को व्याप्त कर प्रसरण कर रही थीं, गङ्गा के जल के अवशिष्ट भाग की तरह धारण कर रहा था । अर्थात् शङ्कर के ललाटस्थ चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हो रहा था, उन किरणों को धारण करते हुए शङ्कर जी इस प्रकार मालूम पड़ते थे कि जैसे वे जाह्नवी के बचे हुए जल को धारण करते थे ॥ २४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः ।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शनानन्तरं मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयन-

विनिमेषेण नेत्रसंज्ञया चोदिता प्रेरिता सन्तः पाण्डुतनयस्यार्जुनस्य तपसा जनितं सत्पूर्वोद्यं जगतामशमं असुखम्। दुःखमित्यर्थः। समभाषमुपांशु च इत्यमरः। मृशं सम्यक्। आचचक्षिरे कथितवन्तः॥ २५॥

इस तरह के शंकर भगवान् के वचन करने के अनन्तर नेत्र–निमेष से संकेतित होकर मुनि लोगों ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) के तपश्चर्या के कारण उत्पन्न दुःख को जिससे त्रिभुवन दुःखी हो रहा था कह सुनाया॥ २५॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति।

ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः॥ २६॥

तरसेति॥ हे भुवनैकपुरुष! पुरुषोत्तम! वृत्रो वृत्रासुर इव भीमविग्रहः कोऽपि। अविज्ञात इत्यर्थः। पुरुषः। तरसा बलात्कारेणैव। तरसी बलात्कारो इति विश्वः। अमलवपुषः तमस्यत्मूर्तेः रवेरपि ज्योतिरभिभूय तपस्यति तपश्चरति। कर्मणो रोमन्थ तपोभ्यां वर्तिचरोः इति क्यङ्॥ २६॥

हे पुरुषोत्तम! वृत्रासुर की तरह भीषण काय कोई पुरुष प्रकाशमूर्ति सूर्य के प्रकाश को निरस्त करके बलात्कार तपश्चरण कर रहा है॥ २६॥

स धनुर्महेषुधि बिभर्ति कवचमसितमुत्तमं जटाः।

वल्कमजिनमिति चित्रमिदं मुनिताविरोधि न च नास्य राजते॥२७॥

स इति॥ किञ्च स पुरुषो महान्त्याविषुधी यस्य तत् महेषुधि धनुः कवचं वर्म उत्तममसिं खड्गं जटाः वल्कं चीरम् अजिनं चर्म च बिभर्ति इति एवं स्वरूपं इदं विरुद्ध वेषधारणं मुनिताविरोधि मुनित्वप्रतिबन्धकं तथापि अस्य न राजत इति न। किं तु राजत एवेत्यर्थः। चित्रमाश्चर्यम्। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः॥ २७॥

वह तपस्वी धनुष विशाल तरकस सुन्दर कवच करवाल (तलवार) जटा भूर्जपत्र और मृगचर्म धारण करता है। इसका वेष बिल्कुल ऋषि मुनियों से विपरीत है। देखने में भला न मालूम होता हो यह भी नहीं अपि यह वेष खूब फबता है। यह दृश्य आश्चर्यकर ही है॥ २७॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम्।

स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम्॥ २८॥

चलन इति॥ किञ्च यस्य पुंसः चलनेऽपि पृथिवी चलति। तथा करणनियमे समाधिने मयनिरोधे सति। करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि इत्यमरः। शान्तैः स्तिमितैर्मरुतां वायूनां ग्रहाणां सूर्यादीनां तारकाणां नक्षत्राणां च गणैर्युतं नभस्तलं व्योम सदिङ्मुखं दिग्सहितं स्तम्भं निश्चलत्वम्। अनुभवतीत्यर्थः। अतो विश्वविशायिनी तस्य शक्तिरप्यस्तु इति भावः॥ २८॥

जब वह तपस्वी चलता है तब भूमि भी कम्पित हो उठती है। जिस समय वह श्वास का अवरोध करके समाधिस्थ हो जाता है उस समय दिशाओं के साथ समस्त वायु, ग्रह, नक्षत्रों से युक्त व्योम (आकाश) प्रसुप्त सा दृष्टि गोचर होता है। तात्पर्य यह कि उसके श्वास की गति रुकने से समस्त विश्व की गति रुक जाती है ॥ २८ ॥

न चैतदुपेक्ष्यमित्याशयेनाह—

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम् ।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥ २९ ॥

स इति ॥ स पुमान् ओजसा विजितसारं निरस्तबलम्। अमरदितिजोपसंहितं सुरासुरसहितं तदिदं विश्वं पुराऽपिदधाति। अपिधास्यतीत्यर्थः। शीघ्रमेव हरिष्यतीति भावः। 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट्। तथा हि—यत् कर्म तपसामदुष्करं तत्किमिवास्ति। न किंचित्तेन दुष्करमस्तीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

वह तपस्वी अपने पराक्रम से देवता और दैत्यों के साथ साथ इस विश्व को जीत कर निस्सार कर देगा। संसार में कौन ऐसी वस्तु है जो तपस्वियों के लिये दुस्साध्य है ॥ २९ ॥

न चैतदल्पफलकं तप इत्याह—

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ संजिहीर्षति ।
प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुचः ॥ ३० ॥

विजिगीषत इति ॥ स पुरुषो जगन्ति भुवनानि युगपद्विजिगीषते यदि जेतुमिच्छति वा। 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम्। अथ युगपत् संजिहीर्षति संहर्तुमिच्छति वा। अभवमपवर्गं प्राप्तुमभिवाञ्छति वा, न विद्मो वयमिति शेषः। किंतु वयमस्य रुचस्तेजांसि विषहितुं सोढुम्। 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति विकल्पादिडागमः। नो क्षमा न शक्ताः। केचित् 'रुच कामितानि विषहितुमवधारयितुम्' इति व्याचक्षते, तत्र सन्देहावधारणार्थत्वं विचार्यम् ॥ ३० ॥

वह पुरुष (तपस्वी) त्रिलोक के विजय की कामना करता है क्या? अथवा इस संसार को एक ही साथ संहार करना चाहता है क्या? अथवा मोक्ष की वाञ्छा करता है क्या? कुछ ध्यान में नहीं आता कि वह क्या करना चाहता है। हम लोग तो उसके तेज को सहन करने में असमर्थ हैं ॥ ३० ॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ न तव विदितं न किंचन ।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः ॥ ३१ ॥

किमिति ॥ हे नाथ! किं किमर्थमुपेक्षसे कथय। त्वमिति शेषः। तव न विदितम्। त्वयाऽज्ञातमित्यर्थः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी। न किंचन किमपि

न। हे अभयद ! मोऽस्मान् पात्तुमर्हसि। त्वयि शासति सति पराभवो मा स्म भवत् मा भूत्। स्मोत्तरे लङ् च इति लङ् ॥ ३१ ॥

हे प्रभो ! कहिये क्यों उपेक्षा कर रहे हैं। आप को कुछ भी नहीं ज्ञात है क्या ? अये अभयप्रदायक आप हम लोगों की रक्षा करने में समर्थ हैं। आपके शासन काल में हम लोग पराभव न होने पावें ॥ ३१ ॥

इति गा विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ॥ ३२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थं गां वाचं विधाय। अभिधायेत्यर्थः। सामान्यस्य विशेषपर्यवसानात्। मुनिषु विरतेषु तूष्णींभूतेषु सत्सु। अन्धकान्तकः शिवो भिन्नस्योद्वेलस्य जलधेर्जलस्य नादमिव गुरु गम्भीरं यथा तथा दिशां विवरमन्तरालं ध्वनयन् वचनं समाददे स्वीचकार। उवाचेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त प्रकार की स्तुति करके महर्षियों के विरत (चुप) हो जाने पर अन्धकासुर के शत्रु (शंकर भगवान्) दिशाओं के अन्तराल को ध्वनि से पूर्ण करते हुए क्षुब्ध सागर के जल में उत्पन्न होने वाले गम्भीर नाद के समान वाक्य बोले ॥ ३२ ॥

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम् ॥ ३३ ॥

बदरीति ॥ बदरीतपोवने बदरिकाश्रमे निवासनिरतं नित्यनिवासिनं गां गतं भुवमवतीर्णं जगतामुदयनिधने सृष्टिसंहारौ यस्य। धातुः कर्तुरित्यर्थः। 'तृन्' इति कर्तरि तृन्प्रत्ययः। अत एव 'न लोक-' इत्यादिना कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः। आदिपुरुषस्य विष्णोः। अंशमवतारभूतम्। नरं, नरसंज्ञमित्यर्थः। यो नारायणसखेति भावः। अन्यथा तपस्वीत्येवं पुनः मावगात। मनुष्यमात्रं मा जानीतेत्यर्थः। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३३ ॥

जो यह तपस्वी पृथ्वी पर समागत है वह बदरिकाश्रमनिवासी सृष्टि के निर्माता और संहर्ता आदि पुरुष (विष्णु) का अंश नारायण का अवतार है इसे दूसरा मत समझिये ॥ ३३ ॥

अथ तस्य तपसो निमित्तमाह—

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ॥ ३४ ॥

द्विषत इति ॥ एष नरः सकलभुवनान्यभितापयन्त्यभीक्ष्णमिति तथोक्तान्। बहुलमाभीक्ष्ण्ये इति णिनिः। क्रान्ते आक्रान्ते कुलिशकरस्येन्द्रस्य वीर्यबले शक्तिसैन्ये यैस्तान् द्विषतः शत्रून् परासिसिषुः परासितुमिच्छुः। अस्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। मदुपासनं मदाराधनम्। करणे ल्युट्। महत्तपो विहितवान्। तत्र निमित्तं शत्रुजय एवेति भावः ॥ ३४ ॥

यह (तपस्वी) अखिल विश्व के सन्तापदायक शत्रुओं को, जो इन्द्र की शक्ति और सेना को तृण बराबर समझते हैं, पराजित करने की अभिलाषा से मेरी (शङ्कर की) उपासना-रूप उग्र तपश्चर्या कर रहा है ॥ ३४ ॥

अथास्य मानुषावतारे कारणमाह—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजाः ।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ॥ ३५ ॥

अयमिति ॥ विभू प्रभू नरोऽच्युतः कृष्णश्च सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेन प्रार्थनया । असुराणां निधनेन मारणेन कारणेन प्रजाः पातुं रक्षितुं भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः । वस्तुतस्तु साक्षान्नरनारायणावेतौ कृष्णार्जुनावित्यर्थः ॥ ३५ ॥

यह तपस्वी और कृष्ण ये दोनों प्रभु हैं, ब्रह्मा की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्राणी मात्र की रक्षा के लिये भूमि पर अवतीर्ण होकर मनुष्य के रूप में रहते हैं। वस्तुतः ये दोनों व्यक्ति नर और नारायण के अवतार हैं ॥ ३५ ॥

अथास्य सत्वसंपदं प्रकटयितुमाह—

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः ।
हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ॥ ३६ ॥

सुरेति ॥ मूकदानवो मूकाख्यः कश्चिदसुरः । एतत् पाण्डवकृत्यं सुरकृत्यमिति निपुणमवगम्य साधु निश्चित्य पाण्डुसुतमर्जुनं हन्तुमभिपतति । तत् तस्मात्कारणात्, अत्रार्जुनाश्रमे विषये । आश्रमं प्रतीत्यर्थः । मया सह त्वरया गम्यताम् । युष्माभिरिति शेषः ॥ ३६ ॥

(अभी) मूक नाम का कोई दानव "यह अर्जुन की तपस्या देवताओं का कार्य है" इस बात को अच्छी प्रकार निश्चित करके पाण्डुपुत्र अर्जुन का वध करने के लिये उद्यत है। अतः शीघ्रातिशीघ्र आपलोग मेरे साथ होकर आश्रम में चलिये ॥ ३६ ॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन् ।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ॥ ३७ ॥

विवर इति ॥ पापे निरतिरतिप्रीतिर्यस्य स एष दानवो विवरे रन्ध्रेऽपि । एकान्तेऽपीत्यर्थः । एनं पाण्डवम् । अनिगूढं प्रकाशं स्पष्टं यथा तथा, अभिभवितुं न पारयन् न शक्नुवन् । विसर्गाभावस्य 'सस्य' इति कम्पमात्रः । अविशङ्कितया स्वरूपगूहनादविशङ्कितया वराहमायया वराहभूमिकया विजयं व्यवस्यति । विजयं प्रयुयुक्षु इत्यर्थः ॥

पापाचाररत यह मूक दानव एकान्त पाकर भी अर्जुन को पराजित करने में अपने को असमर्थ समझ, अत एव माया का शूकर बन कर निःशङ्क भाव से (अर्जुन पर, विजयलाभ के लिये उद्योग कर रहा है ॥ ३७ ॥

ततः किं भविष्यतीत्यत आह—

निहते विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया ।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ॥ ३८ ॥

निहत इति । विडम्बितमनुकृतं किरातनृपतेर्वपुर्येन । तद्रूपधारिणेत्यर्थः । मया निहते रिपौ वराहे मुक्तनिशितविशिखः सन् । अयं पाण्डवः प्रसभं प्रसह्य मृगयाविवादं मृगप्रहारकलहम् । आचरिष्यति करिष्यति । मयाहतमेव मृगं प्रहृत्य स्वयमहमेव प्रहर्तेति कलहिष्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

फिर क्या होगा यह कहते हैं—

किरात का वेष बना कर मेरे द्वारा जब वह (दानव) मार डाला जायगा तब यह तपस्वी हठात् उस पर अपने तीक्ष्ण बाणों का प्रक्षेप करके मृगयाकलह आरम्भ कर देगा ॥ ३८ ॥

ततोऽपि किं भावीत्यत आह—

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पदः ।
सत्त्वविहितमतुलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ॥ ३९ ॥

तपसेति ॥ तपसा निपीडितः पीडितोऽत एव कृशस्तस्य निपीडितकृशस्य । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समासः । तथा विरहिता सहायसम्पद्यस्य तस्यैकाकिनो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः । अधिकुप्यतोऽधिकं कुप्यतोऽस्य पाण्डवस्य सत्त्वविहितं स्वभावकृतम् । स्वाभाविकमित्यर्थः । 'सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचादौ द्रव्ये सत्त्वस्वभावयोः । प्राणे चित्तेऽस्तम्भकारणे' इति वैजयन्ती । अतुलं निरुपमं भुजयोर्बाह्वोर्बलं शक्तिं पश्यत । बलं शक्तिबलं सैन्ययोः इति यादवः ॥ ३९ ॥

हे ऋषियो ! इस अर्जुन का शरीर तपस्या के कारण दुर्बल हो गया है । इसके पास कोई सहायक सामग्री भी नहीं है । संग्राम में क्रुद्ध होते हुए इसके भुजा के स्वाभाविक और अनुपम पराक्रम को आप लोग देखिये ॥ ३९ ॥

अथ त्रिभिस्तस्य किरातभावं कथयति—

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना ।
घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ॥ ४० ॥

इतीत्यादि ॥ शिव इति इत्थं तान् मुनीन् । उदारं पुष्कलं यथा तथाऽनुनीय विश्वास्य । उक्त्वेति यावत् । 'दधिरे' किरातपृतनापतिः सन्ववृते इत्युत्तरेणान्वयः । किरातसेनापतिवेषधारी बभूवेत्यर्थः । कथंभूतः । विषमा विकृतविन्यासा हरिचन्दनस्यालयो रेखा यस्मिंस्तेन । घर्मेण स्वेदेन जनिताः पुलकाः रोमाञ्चा यस्मिंस्तेन । पुलकः पुंसि । 'रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हेमचन्द्रः । 'घर्मः स्यादातपे

ग्रीष्मे उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति विश्वः । लसन्त्यः शोभमाना गजमौक्तिकानां करि-कुम्भोद्भवमौक्तिकानां आवल्य एव गुणाः सूत्राणि यस्मिंस्तेनोरसा वक्षःस्थलेनोपल-क्षितः । करिणां मुक्तायोनित्वे प्रमाणमाहुर्नागस्य — 'जीमूतकरिमत्स्याहिवंशशङ्खवरा-हजाः । शुक्त्युद्भवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोनयः ॥' इति ॥ ४० ॥

शङ्कर भगवान् पूर्वोक्त प्रकार से ऋषियों को युक्तिपूर्वक शिक्षा देकर [किरात] शबर सेनापति का सुन्दर वेष धारण कर लिया । वे विस्तृत [illegible] विन्यस्त हरिचन्दन की रेखाओं से युक्त वक्षःस्थल से, जो स्वेद बिन्दुओं से रोमाञ्चित हो रहा था तथा जिसके मनोहर गजमुक्ता की पङ्क्ति सूत्र के स्थान की पूर्ति कर रही थी ॥ ४० ॥

वपुषेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।

बिभ्रदरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना ॥ ४१ ॥

वपुषेनेति ॥ पुष्पितैर्लतान्तैर्विकसितलताग्रैर्नियमिता सयता विलम्बिनश्च ते मौलयः सयतकेशा यस्य तेन । 'चूडा किरीट केशाश्च सयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । शिखिपिच्छलाञ्छिते बर्हिबर्हाङ्किते कपोलभित्ती यस्य तेन । अरुणनयनेनारक्तनेत्रेण वपुषेन रुचं शोभां बिभ्रत् ॥ ४१ ॥

मुखमण्डल से, जिस पर लटकते हुए चिकुर जाल पुष्पयुक्त लता की तन्तुओं से बँधे हुए थे, और अरुण नेत्र से, जिसकी कपोलरूप भित्ति मयूरपिच्छ से अङ्कित थी ॥ ४१ ॥

बृहदुद्वहञ्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम् ।

मेघनिचय इव संवृते रुचिरं किरातपृतनापतिः शिवः ॥ ४२ ॥

बृहदिति ॥ बृहच्च, जलद इव नदतीति जलदनादि । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः । उपहितैकमार्गणं सहितैकबाणं धनुरुद्वहन् । अत एव मेघनिचय इव स्थित इत्युपमा । अत्र विशेषके स्वभावोक्तिरलङ्कारः । 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

शोभा धारण करते हुए, [औरमेघ के सदृश निर्घोषकारी विशाल धनुष, जिस पर एक बाण चढ़ा हुआ था, धारण करते हुए किरात रूपधारी (शङ्कर भगवान्) मेघमण्डल की तरह स्थित थे ॥ ४२ ॥

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः ।

शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ॥ ४३ ॥

अनुकूलमिति ॥ अस्य शिवस्य । अनुकूलं विचिन्त्य प्रियमिति निश्चित्य । आत्त-विग्रहैर्गृहीतकिरातदेहैः । तथा, शूलान् परशूंश्च कुठारान् शरांश्चापानि च तानि भृतानि यैस्तैः । 'वाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः । गणप-तिभिः प्रमथमुख्यैर्महती वनेचरचमूः सेना विनिर्ममे निर्मिता । माङ कर्मणि लिट्, 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् ॥ ४३ ॥

शङ्कर भगवान् के दूतों ने व रे ण्यकी जाते हुए देख कर प्रस्थान की तैयारी की—

गणेश प्रभृति देवताओं ने (शङ्कर का सम्पूर्ण प्रबन्ध) उनके (प्रिय) हित की कामना करके किरात का वेष बनाकर शूल फरसा धनुष और बाणों को धारण किये हुए एक किरातों की विशाल (बड़ी भारी) सेना का निर्माण किया ॥ ४३ ॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया ।

भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगया प्रतस्थिरे ॥ ४४ ॥

विरचय्येति ॥ अथ ईश्वराज्ञयाऽनुगिरं गिरौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । गिरेश्च सेनकस्य इति समासान्तः । काननविभागं वनविभागं विरचय्य । अस्यायमिति दैवविभागं कृत्वेत्यर्थः । भीमैर्निनदैः कलकलैः पिहिता छादिता उरवो भुवो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । मृगयामपदिश्य व्याजीकृत्य परितः प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४४ ॥

भगवान् शूली की आज्ञा से उस पर्वत के जङ्गलों का विभाग कर लिया । फिर प्रचुर (महान्) कोलाहल से पृथ्वीमण्डलको व्याप्त करते हुए सर्वत्र अपने अपने विभाग में मृगया के बहाने घूमने लगे ॥ ४४ ॥

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः ।

पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ॥ ४५ ॥

क्षुभितेति ॥ क्षुभितास्त्रस्ता अभिनिःसृता स्वस्थानान्निर्गता वि भक्ता पृथग्भूताश्च ये शकुनयः पक्षिणो मृगाश्च तेषां यूथानि तेषां निःस्वनैः पूर्णानि पृथूनि वनानि गुहा विवराणि च यस्य स भूधरः सहसा भयादिवेत्युत्प्रेक्षा । ररास चुक्रोश ॥ ४५ ॥

अब क्या था एक किरात ने पशु पक्षियों को ज्ञात हो जाता है यहां की उनकी सेना, ही भाग रही थी सम्पूर्ण पर्वत के प्रत्येक वनों में सब जीवों के घूमने से हलचल मच गई—

उस समय भयाकुल और अपने २ स्थान से विनिर्गत तथा लय से भाग पशु पक्षियों की आर्त्तध्वनि से इन्द्रकील पर्वत के घने घने वन और कन्दराओं के विवर प्रतिध्वनित हो रहे थे उससे वह पर्वत आकस्मिक भय से क्रन्दन करते हुए की तरह प्रतीत हो रहा था ॥ ४५ ॥

न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहङ्गसंहतिः ।

घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥ ४६ ॥

नेति ॥ पथि पलायनमार्गे विरोधिनी जातिवैरिणी मृगाणां सिंहव्याघ्रादीनां विहगानां काकोलूकानां च संहतिः सङ्घो रुषं परस्परक्रोधं नेयाय न प्राप । किंतु सहैव पलायितेत्यर्थः । तथा हि—भूरि प्रभूता भीर्भयं यासु ताः समं साधारण्येन आगताः आपदो विपत्तयः सहजं स्वाभाविकमपि वैरं सपदि घ्नन्ति । नहि समानव्यसनेषु प्रजायते वैरानुबन्ध इति भावः ॥ ४६ ॥

भय से त्रस्त होकर भागते समय मार्ग में पशु पक्षियों का सब जातिगत (स्वभाव सिद्ध) शत्रुता के कारण क्रुद्ध न हुआ (अर्थात् जन्मसिद्धशत्रुता के कारण एक दूसरे के हिंसक न

वने) विपुल त्रासपूर्ण आकस्मिक विपदायें स्वाभाविकी शत्रुता को नष्ट कर देती है ॥ ४६ ॥

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भयेऽप्युपस्थिते ।
वंशविततिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभिराददे धृतिः ॥ ४७ ॥

चमरीति ॥ वंशविततिषु वेणुगुल्मेषु विषक्ता लग्ना पृथवो भृशं प्रियबाला प्रियरोमाणो बालधयः पुच्छानि येषां तैः । 'पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले वालहस्तश्च वालधिः' इत्यमरः । चमरीगणैर्मृगविशेषैर्गणबलस्य शिवबलस्य सम्बन्धिनि । तद्धेतुक इत्यर्थः । सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अन्यथा 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी स्यात् । बलवति प्रबले भये उपस्थिते प्राप्तेऽपि धृतिर्धैर्यम् । आददे स्वीकृता । बालच्छेदभयात्प्राणहानिमप्यवगणय्य स्थितमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

सीधी सादी बेचारी चमरी गायें भी डर से भगीं परन्तु करें क्या ? बांस की झाड़ियों में उलझ गई —

चमरी गायें, जिनकी पुच्छ, जिसमें प्रचुर रोम थे, बांस की झाड़ियों में संलग्न हो गई थी, प्रबल भय के उपस्थित होने पर धैर्य धारण करके यथास्थान [ज्यों की त्यों] खड़ी रहीं [क्योंकि अगर वे अपने पूँछों को छुड़ाने के लिये बलकातीं तो कदाचित् किरातों के द्वारा देखी जातीं जिससे प्राण के जाने आशङ्का थी यह समझ कर जहाँ की तहाँ रह गई] ४७

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः ।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः ॥ ४८ ॥

हरेति ॥ प्रतिभये भयहेतौ । 'भयंकरं प्रतिभयम्' इत्यमरः । प्राप्तेऽपीति शेषः । गजमदैः सुगन्धयः सुरभयः केसराः सटा येषां तैः । हतानेकगजैरित्यर्थः । सहसा सेनाकलकलश्रवणानन्तरमेव प्रतिबोधेन निद्रापगमेन जृम्भितानि व्यात्तानि मुखानि येषां ते, मृगाधिपैः सिंहैः स्वस्थं निःशङ्कमेव यथा तथा हरसैनिका अभिददृशिरे ईक्षिताः । न तु किंचित्क्षुभितमित्यर्थः । युक्तं चैतद्राजनामधारिणां केसरिणामिति भावः ॥ ४८ ॥

सिंहों ने सेना के कल कल ध्वनि से निद्रा का परित्याग किया और फिर जँभाई ली उनके अयाल [गर्दन के बाल] हाथियों के मद से सुरभित हो रहे थे । यद्यपि उन्हें भय था तथापि निःशङ्क भाव से भगवान् शङ्कर की सेना को देखा ॥ ४८ ॥

विभराम्बभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः ।
पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयः ॥ ४९ ॥

विभरामिति ॥ अपवृत्तजठरैस्तत्कालक्षोभाल्लुठितोदरैः शफरीकुलैराकुला व्याप्ताः पङ्कैर्विषमितानि दुर्गमीकृतानि तटानि कूलानि यासां ताः । सरितः करिभिः, पलायमानैरिति शेषः । रुग्णानां भग्नांगोधितया भग्नानाम् । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् । चन्दनानां रसैररुणं करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयो विभराम्बभूवुः । भृधातो

भीहीमद्भुवां स्वच्छ इत्याख्यत्यय सुकमावस । कृशानुमभुत्पते लिटि इति भुवोऽनुप्रयोगः ॥ ४९ ॥

मरिवाथ छुछिकोन्र म स्तों के समूहसे नाश हो रही थीं । उनके सब कोयड के कारण दुगम] रहे ५ । और भयभीन होकर पलायमान हाथियों के द्वारा भग्न चन्दन वृक्ष के रसोंसे वनका जल अत्यन्त वर्ष हो गया था ॥ ४९ ॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः सदागतिः ।

व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः प्रणुदन् ययौ वनसदां परिश्रमम् ॥ ५० ॥

महिषेति ॥ महिषैर्लुलायैः क्षतानि विदलितानि तैरगुरुभिस्तमालैर्नलदैरुशीरैश्च सुरभिः सुगन्धिः । व्यस्ता न विक्षिप्तानि शुकनिभानि शुकसवर्णानि शिलाकुसुमानि शैलेयाख्या ओषधिविशेषा येन सः । अतः शीतल इति भावः । कालानुसार्यवृद्धारम पुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम् इत्यमरः । शुकनिभा इति स्वरूपकथनम् । सदा गतिर्वायुः वनसदां वनेचराणां परिश्रमं प्रणुदन् । अतो मन्द इति भावः । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । ययौ वाति स्म ॥ ५० ॥

महिषों [भैंसों] से विदलित अगुरु तमाल और उशीर से सुरभित वायु शुकवर्ण सन्ध [हरे रंग के] शिला के पुष्पों को विकीर्ण करके वनभ्रान्त निवासियों [किरातों] के श्रम जनित खेद का शमन करता हुआ मन्द मन्द चलने लगा ॥ ५० ॥

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुकाः ।

क्लान्तजलरुहलताः सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसम्प्लवः ॥ ५१ ॥

मथिताम्भस इति ॥ सत्त्वसम्प्लवः प्राणिसंक्षोभो निदाघो ग्रीष्म इव [redacted] सरसी सरांसि । 'कासार सरसी सरः' इत्यमरः । मथिताम्भसः संक्षोभितोदका रयेण पलायन वेगेन विकीर्णा व्याकीर्णा भग्ना तथा मृदिता निष्पीडिताः कदल्यो गवेधुकास्तृणधान्य विशेषाश्च यासां तास्तथोक्ताः । 'गुन्द्राम्यासि नीवारा' स्त्री गवेधुगवेधुका' इत्यमरः । मृदित इति 'हिंसि च' इति गुणप्रतिषेधः । क्लान्ता जलरुहलता पद्मिन्यो यासु ता एवंभूता विदधे चकार ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मके समान वन्य पशुओं के क्षुब्ध होने के कारण सरोवरों का जल विलोडित हो गया भयभीत होकर भागने के वेग से इधर-उधर मार्गों में पड़े हुए केले और गवेधुक नाम के तृण क्रमशः कर नष्ट भ्रष्ट हो गये तथा जलीय लतायें [कमल कुमुद शैवालादि] सब कुम्हला गईं ॥ ५१ ॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुयापतिः ।

प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम् ॥ ५२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थम् । उमापतिरचलसानुषु वनेषूपभोग्यवृक्षेषु गहनेषु दावेषु च जातास्तथोक्तान् । सत्त्वानिति शेषः । चालयन् । मुदितानां हरिणीनां दशनै

त्ता वीरुधो लता यस्या ताम् । इन्द्रसूनोरिमाम् ऐन्द्रसूनवीम् । वसत्यत्रेति वसति-माश्रमम् । 'वहिवस्यर्तिभ्यश्च' इत्यौणादिको वसतेरतिप्रत्यय । प्राप ॥ ५२ ॥

इस तरह भगवान् शङ्कर उस इन्द्रनील के शिखर के उपभोग्य वृक्षों तथा जङ्गलों के समस्त जीवों को विक्षुब्ध करके इन्द्रपुत्र [अर्जुन] सम्बन्धी निवास स्थान में पहुँचे, जहाँ के तृण प्रसन्न चित्त हरिणियों के दाँत से छिन्न [कर दिये गये] थे ॥ ५२ ॥

स तमाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थित मुने ।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुव दनुजं दधानमथ सौकर वपु ॥ ५३ ॥

स इति ॥ अथ अनन्तर स शिवो घननील मेघमेचक मुनेरर्जुनस्य । अभिमुख-मुपस्थितमागत पोत्रस्य मुखाग्रस्य निकषणेनोल्लेखनेन विभिन्ना विदारिता भूर्येन तम् । 'मुखाग्रे क्रोडहलयो पोत्रम्' इत्यमर । 'हलसूकरयो पुव' इति ष्ट्रन्प्रत्यय । सूकरस्येद सौकर वाराह वपुर्दधान दनुज दानवम् । आससाद प्राप । ददर्शेति यावत् ॥

इसके अनन्तर शङ्कर भगवान् (नील नीरद सदृश) बादल के समान काले, सूकर-वेषधारी दानव के समीप, जो अर्जुन के समक्ष उपस्थित होकर अपने थूथन [मुख का अग्रभाग] को घिस कर भूमि खोद रहा था, आये ॥ ५३ ॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीत स कतिपयै किरातवर्यै ।
प्रच्छन्नस्तरुगहनै सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सम्प्रतस्थे ॥ ५४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वादश सर्ग ।

कच्छान्त इति ॥ लक्ष्मीवान् । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' इति मतुपो मकारस्य वकारादेश । स शिव । सुरसरितो मन्दाकिन्या कच्छान्तेऽनूपप्रान्ते । 'जलप्रायमनूप स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविध' इत्यमर । सेना निधाय । स्थापयित्वे-त्यर्थ । कतिपयै किरातवर्यैरन्वीतोऽनुगत सन् । 'ई गतौ' इति धातोरनुपूर्वात्क-र्मणि क्त । सगुल्मजालैर्लताप्रतानसहितै । तरुगहनै प्रच्छन्नश्छादित । 'वा दान्त-शान्त-' इत्यादिना निपात । अस्य वराहस्य पदमनु अनुपदम् । पदानुसारेणेत्यर्थ । सम्प्रतस्थे प्रस्थित । 'समवप्रविभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम् । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ५४ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्याया घण्टापथसमाख्याया द्वादश सर्ग समाप्त ॥

श्री सम्पन्न भगवान् शङ्कर ने भागीरथी के कच्छ में अपनी किरातों की सेना को स्थापित कर दिया और कुछ कार्य कुशल किरातों को साथ लेकर लता जालों से युक्त घनेर वृक्षों से अन्तर्हित होते हुए [वृक्षों की आड में छिपकर] उस वराहवेष धारी मूक दानव के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए आगे बढ़े ॥ ५४ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

च्छु इत्ये सम्नन्तादुप्रत्ययः । अभ्यासाच्च' इति कुत्वम् । अज्झनगमां सनि' इति दीर्घः । कुतः । हि यस्मात् अत्रास्मिन्मृगविषये मे मनस्तथा मुहुः स्खलति क्षुभ्यति । यथायं जिघांसुरिति बुद्धिरुत्पद्यत इत्यर्थः । तथा हि—विमलं प्रसन्नं तथा कलुषीभवत् क्षुभ्यच्च चेत एव हितैषिणं रिपुं वा मित्रममित्रं च कथयति । यत्र यत्र मनः प्रसीदति तदेव मित्रम् । अन्यथा त्वन्यथेति निश्चितमित्यर्थः । अतोऽयं वध्य इति भावः ॥६॥

यह सूअर नहीं है किन्तु कोई शत्रु ही मेरे प्राण का ग्राहक है क्योंकि इस के विषय में मेरा मन बार बार क्षुब्ध हो रहा है। चित्त का प्रसन्न होना तथा मलिन होना मित्र और शत्रु की सूचना देता है [अर्थात् जिसके प्रति मन प्रसन्न होता है वह मित्र रहता है और जिसके प्रति मनमें क्षोभ उत्पन्न होता है वह शत्रु रहता है] ॥ ६ ॥

ननु मुने किमनया दुःशङ्कया तत्राह—

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः ।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥ ७ ॥

मुनिरिति ॥ मुनिरस्मि । अतो निरागसो निरपराधस्य मे कुतो भयमित्येषोऽभिमानोऽहङ्कारः अनपकारिणं मां कोऽपि [illegible] करिष्यतीति बुद्धिर्भूतये श्रेयसे न भवति । तथा हि—परवृद्धिषु विषये बद्धमत्सराणां दुरात्मनामलङ्घ्यं किमिवास्ति न किञ्चिदकार्यमस्तीत्यर्थः । 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ ७ ॥

मैं तपस्वी हूं । निरपराध हूं । मुझे भय किसका ? यह अहङ्कार कल्याणकारक न होगा । दूसरेकी उन्नतिमें जलने वाले दुर्जनों के लिये कौन ऐसी सीमा [बन्धन] है जिसका वे उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ७ ॥

अस्तु जिघांसुरपि मृगः किं करिष्यतीत्यत्राह—

दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे ।
अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम् ॥ ८ ॥

दनुज इति ॥ अयं दनुजः स्वित् दानवो वा क्षपाचरो राक्षसो वा । न तु मृग एवेत्यर्थः । कुतः । वनजे सत्त्वे वन्यप्राणिनि । इति ईदृशं बलं नास्ति । बतेत्याश्चर्ये । बलमेव समर्थयते । तथा हि—मेघनीलोऽयं वराहः सकलं शैलराजमभिभूय आक्रम्य कम्पयतीव । यदचिरम्ममराक्रान्त प्रतीयत इत्यर्थः । अत्र कम्पयतीवेत्युत्प्रेक्षागर्भोऽयं शैलकम्पनरूपकार्येण तत्कारणबलविशेषसमर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

यह [वराह] दानव है अथवा राक्षस [दो में से एक तो अवश्य है] क्योंकि वन्यप्राणियों में इतना बल कहाँ ? । मेघ के समान श्याम यह सूअर सम्पूर्ण पर्वतराजको आक्रान्त करके हिलाता हुआ सी भाति प्रतीत हो रहा है ॥ ८ ॥

किंच, योऽयं शैले मृगयाकलकल इव श्रूयते सोऽप्येतन्मायापरिकल्पित एवेत्याह—

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे ।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगाणि काननानि ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अयमेव शमस्थे शान्तिनिविष्टे इति रन्ध्रोक्तिः । मयि । अधिकरण विवक्षायां सप्तमी । मायया प्रहरिष्यन् । प्रहर्तुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । 'लृटः सद्वा' इति शत्रादेशः । मृगव्य मृगया तस्य सत्र घन तदर्थं वनमित्यर्थः । तत्कामयत इति मृगव्यसत्रकामः मृगयाभूमिपरिग्रहार्थी सन्नित्यर्थः । 'कर्मण्यण्' 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इति चामरः । पृथुभिर्ध्वजिनीरवैः सेनाकलकलैः । स्वमायया कल्पितैरेवेत्यर्थः । काननानि चकितोद्भ्रान्तास्त्रस्तपलायिताः मृगा येषु तानि । अकार्षीच्चकार । अयमेव रन्ध्रान्वेषी मध्यराधं स्वयमेव मृगपुर्भूत्वा वनालोचाय सेनाघोषं कल्पयामास । स मृगरूपेणागच्छतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

यह (सूकर) ही आखेट भूमि की अभिलाषा से तपावलम्बी मुझ पर माया के द्वारा प्रहार करने की इच्छा करता हुआ अपनी विशाल सेना के कलकल ध्वनि से वनों पशु-पक्षियों को भय उत्पन्न कर भगा रहा है ॥ ९ ॥

वितर्कान्तरमाह—

बहुधा कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य ।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम् ॥१०॥

बहुधा इति ॥ अथवा बहुधा कृता सत्कृतिः सत्कारो येन तस्य सुयोधनस्य प्रियं मद्वधरूपं प्रतिप्रियं विधातुं कर्तुमिच्छन् । य कश्चिदिति शेषः । वनं गोचरः स्थानं येषां तेषां वनगोचराणामभियोगादवरोधात् । 'अभियोगोऽवरोधः स्यात्' इति हलायुधः । क्षुभितमुद्विग्नमाकुलं चलं तिरश्चां मृगादिपशूनां गणमाशिश्रियत् वराहरूपेण प्रविवेश । 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्', 'चङि' इति द्विर्भावः ॥ १० ॥

अथवा सुयोधन ने इसका खूब स्वागत किया है जिसके कारण (मेरा वधरूप) उसके हितकी कामना करता हुआ वन निवासियों को अवरुद्ध कर दिया है जिससे जीव जन्तुओं का समूह क्षुब्ध हो गया है इसने भी उसी का आश्रय लिया है अर्थात् सूकर का रूप बना लिया है ॥ १० ॥

वितर्कान्तरमाह—

अवलीढसनाभिरश्वसेनः प्रसभं खाण्डववजातवेदसा वा ।
प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥ ११ ॥

अवलीढेति ॥ खाण्डवजातवेदसा खाण्डववनाग्निना प्रसभमवलीढसनाभिर्दग्धबन्धुः । सपिण्डास्तु सनाभयः । सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः इत्यमरः । अत एव समन्युरुद्धवैरः । तस्यार्जुनस्यापकारयितृत्वादिति भावः । अश्वसेन स्तक्षकपुत्रः कश्चिन्महासुरः प्रतिकर्तुं वैरनिर्यातनार्थम् । उपागतो वा । वराहमायेति शेषः । पक्षान्तरमाह—यदि वा वृकोदरेण भीमसेनेन कृतमन्युजनितक्रोधो वा । कश्चिदिति शेषः । पुरा किल पाण्डवः खाण्डवदाहे पावकभयात् पलायमानांस्तक्षकपुत्रानश्वसेनस्य बन्धून् मार्गैरवरुध्य दाहयामासेति भारतकथा ॥ ११ ॥

अथवा अश्वसेन (तक्षकपुत्र) जिसके बन्धु वा पक्ष खाण्डव वन की अग्नि से जल गये थे इससे क्रुद्ध होकर वह (बदला चुकाने के लिए उपस्थित हुआ है अथवा भीम से क्रोध को प्राप्त किया हुआ कोई शत्रु बदला लेने के लिये उपस्थित हुआ है ॥ ११ ॥

अथ द्वाभ्यामनन्तरकरणीयमध्यवस्यति—बलेत्यादिना—

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः ।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः ॥ १२ ॥

किं बहुना यथा तथा वाऽस्तु । अयं मायिकः पारमार्थिको वाऽस्त्वित्यर्थः । सर्वथापि बलशालितया । बलप्रमत्ततयेत्यर्थः । उच्छेदपरां धियं दधानः । मां जिघांसुरित्यर्थः । अतोऽयं मृगो नियमेनावश्यं मया निबर्हणीयो वध्यः । प्रमापणं निबर्हणम् इत्यमरः । तथा हि—अरातिभङ्गं शत्रुवधं परमं लाभमाहुः ॥ १२ ॥

यह चाहे जो हो दैत्य या दानव (इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं) बल से गर्वित होकर यह मेरे ही नाश की बुद्धि रखता है अतः मेरे द्वारा यह अवश्य वध्य है क्योंकि शत्रु का विच्छेद करना सब से बड़ा लाभ है ॥ १२ ॥

ननु तपोविरोधिनी हिंसेत्याशङ्क्याह—

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्माम् ।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम् ॥ १३ ॥

कुर्विति ॥ हे तात वत्स मार्गदायी न भवतीति अमार्गदायी । रन्ध्रान्वेषिणां प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । कुरु । तथाविधस्त्वमित्याह—विजयाय तपांसि कुर्विति मुनिर्व्यासो मामलं भृशम् । अन्वशात् अनुशिष्टवान् । शासु अनुशिष्टौ । ननु मुनिर्वा कथं मध्यममन्वशात् तत्राह—बलिन इति । अस्य मृगस्य बलिनः प्रबलस्य वधादृते वधं विना । अन्यारादितरर्ते इत्यादिना पञ्चमी । अन्यथा उपायान्तरेण व्रतसंरक्षणं तपोरक्षणं कर्तुं न शक्यम् । हिंसापि दुष्टनिग्रहात्मिका नाधर्म इत्यर्थः ॥ १३ ॥

'हे तात छिद्रान्वेषणकारियों को मार्ग न देते हुए विजयार्थ तपश्चरण करो' इस प्रकार की शिक्षा व्यास जी ने मुझे दिया है परन्तु बलशाली इस वराह के वध किये बिना मैं किसी अन्य उपाय से व्रत की रक्षा नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

इति तेन विचिन्त्य चापनामप्रथम पौरुषचिह्नमाललम्बे ।
उपलब्धगुण परस्य भेदे सचिव शुद्ध इवाददे च बाण ॥ १४ ॥

इतीति ॥ तेनार्जुनेन । इतीत्थ विचिन्त्य वितर्क्य चापनाम चापाख्य प्रथम पौरुषचिह्नम् । तस्य मुख्यायुधत्वादिति भाव । आललम्बे गृहीतम् । कर्मणि लिट् । अथ परस्य शत्रोर्भेदे विदारण उपजापे च उपलब्धगुणो ज्ञातशक्ति । बाणस्तु प्राप्तमौर्वीकश्चेति शेष । शुद्धो ऋजुर्दिग्धत्वादिदोषरहितो वा । 'न कर्णिभिर्नो दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजसै' इति निषेधात् । अन्यत्र,-शुद्धो निर्मलचित्त इति यावत् । बाणश्च सचिव इव । आददे जगृहे । अत्र बाणसचिवयो शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषालंकार, प्रकृताप्रकृतविषय इति सर्वस्वकार । उपमैवेति केचित् ॥ १४ ॥

इस तरह सोच विचार कर अर्जुन ने सब से पहले पुरुषार्थ का सूचक धनुष उठाया । (फिर) विशुद्ध मन्त्री की तरह निर्दोष बाण को, जिसकी शत्रु भेदन शक्ति छिपी हुई नहीं थी । अर्थात् जिसकी शक्ति वे स्वय जानते थे, धारण किया (हाथ में लिया) ॥१४॥

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसवादि धनुर्धनञ्जयेन ।
स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमान गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥ १५ ॥

अनुभावेति ॥ गुरु महत्स्थूल च स्थिरत्वात् सारवत्त्वात् । अविसवादि अभङ्गुरम् । अन्यत्र,-प्रतिष्ठितत्वाद्विसवादरहितम् । गुणवत् सज्यम् । अन्यत्र,-औदार्यादिगुणवत् । धनुर्मित्रमिवानुभाववता निश्चयबुद्धिमता । 'अनुभाव प्रभावे च सता च मतिनिश्चये' इत्यमर । धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि तपसा क्षीणत्वेऽपि । अन्यत्र,-स्व धन तदेव बल तस्य व्यसने ह्रासेऽपि । पीड्यमानमाकृष्यमाणमवरुध्यमान च सत् मित्रमिव । आनतिं नम्रतामानुकूल्य च प्रपेदे । अलकारस्तु पूर्ववत् ॥ १५ ॥

निश्चयात्मक बुद्धि शाली अर्जुन के द्वारा—महान् (गाण्डीव) धनुष जो कि सारपूर्ण होने से अभङ्गुर था तथा प्रत्यञ्चा से युक्त था, तपस्या के कारण अर्जुन के सैन्य बल क्षीण हो जाने पर भी—आकृष्ट होकर मित्र की तरह झुक गया ॥ १५ ॥

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्र पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।
अधिरोहति गाण्डिव महेषौ सकल सशयमारुरोह शैल ॥ १६ ॥

प्रविकर्षेति ॥ तदानीं तस्मिन्काले महेषौ बाणे गाण्डिवमर्जुनधनु । अधिरोहति सति । 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुन्नपुसकौ' इत्यमर । 'गाण्ड्यजगात्सज्ञायाम्' इति वप्रत्यय । प्रविकर्षेण व्यास्फालनेन यो निनादस्तेन भिन्नरन्ध्रो विदलितगह्वर तथा, पदविष्टम्भेन पादाक्रमणेन निपीडितो युक्त सकल समूल शैल सशय जीवितसदेहम् । आरुरोह । प्रापेत्यर्थ । अत्र शैलस्य सशयासबन्धेऽपि सबन्धकथनादतिशयोक्तिरलकार ॥ १६ ॥

उस समय अर्जुन के गाण्डीव धनुष पर बाण के चढ़ाने की प्रत्यञ्चा के आकृष्ट होने से उत्पन्न ध्वनि के कारण सम्पूर्ण गुफाएं गूंज गईं । अर्जुन के पदप्रक्षेप के कारण पर्वत झुक गया जिससे पर्वत के निवासियों को अपने अस्तित्व में आशंका होने लगी ॥ १६ ॥

ददृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः ।
रचितस्तिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ॥ १७ ॥

ददृश इति ॥ अथ शरसन्धानानन्तरं शिवेन स्थिरं निश्चलं पूर्णं च यथा तथा आयतं आकृष्टं चापमण्डलं तिष्ठतीति तथोक्तः । चापमण्डलमध्यवर्ती स्थित इत्यर्थः । तिसृणाम् । न तिसृचतसृ इति दीर्घप्रतिषेधः । पुराम् । त्रिपुरासुराणामित्यर्थः । वधं संहारं विधातुं कर्तुं रचितः कल्पितः । स्थानविशेषे स्थापित इति यावत् । आत्मा स्वरूपमिव परेषां भयानको भयंकरः सोऽर्जुनः सविस्मयं ददृशे दृष्टः । उपमालंकारः ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर शङ्कर भगवान् ने देखा कि—पूर्ण विस्तार युक्त धनुष के मण्डल में अभिमान भाव से खड़े हुए त्रिपुरासुर का वध करने के लिये धनुष मण्डल गत स्वयं की तरह शत्रु के लिये (वह अर्जुन) भयङ्कर प्रतीत हो रहे हैं ॥ १७ ॥

अथ पिनाकिकृत्यमाह—

विचकर्ष च संहितेषुवज्रं चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रम् ।
धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शम्भुः ॥ १८ ॥

विचकर्षेति ॥ अथ शम्भुश्च संहितेषुः सन् । चरणास्कन्दनेन पादविक्रमेण नामितोऽधो नीतोऽचलेन्द्रो येन स तथोक्तः । आयतभोग आकृष्टकायो वासुकिरेव ज्या तस्य वदनग्रन्थेन प्रतिपक्षेण विमुक्तः वह्निर्यस्य तत् धनुर्विचकर्षेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

शङ्कर भगवान ने भी सावधान पूर्वक धनुष बाण लिया उनके चरण को दबाव से पर्वत झुक गया और पिनाक वासुकी के मुखों से जो कि उस धनुष की प्रत्यञ्चा का काम दे रहे थे अग्नि के स्फुलिङ्ग निकलने लगे ॥ १८ ॥

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहायम् ।
रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ॥ १९ ॥

स इति ॥ सह संभूय अपमानितमत्स्यप्रयोजनं विधास्यतोः करिष्यतोः । अन्यत्र—सहार्थमभिधेयमभिधास्यतोरित्यर्थः । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूत इति वचनात् । भवक्षयैकहेतोः संसारोच्छेदनिदानस्य भवस्य शिवस्य सितसप्तेरर्जुनस्य च मध्यं रिपुर्वराहः । यस्मात्प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिर्धात्वादिः प्रत्ययः सनादिः तयोर्मध्यमनुबन्ध इत्संज्ञको वर्णः । यथा भूतं भूतिरित्यादौ ककारः । स इव पराभवाय नाशाय लोपार्थमेव आप । न तु स्थित्यर्थमित्यर्थः ॥ १९ ॥

जिस तरह शब्द में व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रकृति और प्रत्यय होते हैं। ये दोनों एक साथ मिलकर एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्यय के साथ जब कभी अनुबन्ध होता है उसका लोप कर देते हैं। उदाहरण के लिये 'भूत' इस पद को लीजिये इसमें 'भू' धातु (प्रकृति) है और 'क' (क्त) प्रत्यय है और 'क्त' में क् अनुबन्ध है उसका लोप हो जाता है फिर प्रत्यय तकार जो अवशेष रह जाता है उसीसे प्रकृति के साथ अर्थ का भान होता है। उसी तरह जन्म मरण रूप जो संसार का बन्धन है उसके नाश करने में अद्वितीय शङ्कर भगवान् और अर्जुन दोनों एक साथ लक्ष्यभेद रूप अर्थसिद्धि के विधान करने की अभिलाषा कर रहे थे। उनके बीच में वह सूकर (शत्रु) नाशार्थ प्राप्त हुआ न कि स्थित्यर्थ ॥ १९ ॥

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रवविश्रासितवारणादवार्यः ।
निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः ॥ २० ॥

अथेति ॥ अथ रिपोर्मर्मप्रवेशानन्तरं दीपितं वारिवाहवर्त्मं आकाशं येन सः । अवार्यो दुर्वार इषुः शरो रवविश्रासितवारणात् स्वघोषभीषितगजात् पिनाकात् शिवधनुषः । 'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः । महतोऽभ्रान्मेघात्, विद्युतोऽयं वैद्युतः कृशानुरशनिरिव जवाद्वेगात् । निपपातास्त्राव ॥ २० ॥

इसके अनन्तर अमोघ बाण आकाश पथ को विभासित करता हुआ बड़े वेग से शङ्कर के महान् अजगव धनुष से, जिसके टङ्कार से हाथियों का झुण्ड थर्रा जाता था, मेघमण्डल से विद्युज्ज्वाला की तरह छूटा ॥ २० ॥

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्कः ।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ॥ २१ ॥

व्रजत इति ॥ व्रजतो धावतोऽस्य बाणस्य बृहद्भ्यः पतत्रेभ्यः पक्षेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तः । कृता तार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्का गरुडागमनवेगभ्रमो येन सः । अत एव, महोरगाणां सर्पाणां हृदयानि श्रोत्राणि च भिनत्तीति हृदयश्रोत्रभित् । 'सम्बुद्धाभाव' इति सूत्रे पूर्वनिपातव्यभिचारात् 'श्रोत्र' शब्दस्य पूर्वनिपातव्यभिचारः । प्रतिनादैः प्रतिध्वनिभिः महान् सम्मूर्च्छितो नादः उत्पपात उत्थितः । अत्र नादस्योरगहृदयभेदकत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः । सा च तार्क्ष्यवेगभ्रमोत्थापितेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ २१ ॥

उदय की ओर महान् वेग से जाते हुए शङ्कर के उस बाण का शब्दने, जो कि विशाल शर पुङ्ख से प्रादुर्भूत हुआ था, और जिससे गरुड के वेग पूर्वक आगमन की शङ्का होती थी, प्रतिध्वनित होकर विशालरूप धारण कर लिया। उससे भीषण सर्पों के हृदय और कान फटने लगे ॥ २१ ॥

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतरं यतः पिशङ्गैः ।
विदधे [illegible] डिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ॥ २२ ॥

नयनादिवेति ॥ शूलिनो नयनात् प्रसुतैर्निर्गतैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । नेत्राग्निरिव ज्वालकल्पैरित्यर्थः । पिशङ्गैः पिङ्गलैः विलसत्तडिल्लतानिभैर्विद्युल्लतातुल्यैरित्युपमा । मनस शिघ्रतादपि आशुतरं शीघ्रतरम् । आशु शब्दादाबन्तमव्ययमेतत् । अतः किमेत्तिडव्यय-इत्यादिनाम्प्रत्ययो न । क्लीबे शीघ्रायसत्वे स्यात्त्रिष्वेषां सत्त्वगामि यत् इत्यमर । यतो गम्यत । ष्यण प्रत्यय । मार्गणस्य बाणस्य । कलम्बमार्गणशरा इत्यमरः । किरणैर्व्योम्नि आकाशे मार्ग उल्काकारः शरणा विदधे विरचित इति स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ २२ ॥

मन से भी शीघ्रगति से जाने हुए (अक्कर भगवान् के) बाण की किरणों के द्वारा जो कि शङ्कर भग वान् के तीसरे नेत्र से निर्गत ज्वाला के समान थीं तथा परिस्फुरण करती हुई बिजली के समान पिङ्गल वर्ण की थीं आकाश में उल्कारेखा सा मार्ग बन गया ॥ २२ ॥

अपथं धनुषः शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहान ।
युगपद्ददृशे विशन्वराहं तदुपोढैश्च नभश्चरैः पृषत्कः ॥ २३ ॥

अपथमिति ॥ पृषत्को बाणः । पृषत्कबाणविशिखा इत्यमरः । धनुषः पिनाकात् । अपथम् नियत् । निर्गच्छन्नित्यर्थः । इण गतौ प्रत्यय । शिवान्तिकस्थैर्नभश्चरैः । अभिख्यया शोभया विहाय । शोभां गच्छन्नित्यर्थः । ओहाङ् गतौ इति धातो शानच् । अभिख्या नामशोभयो इत्यमर । विवरे सीदन्तीति विवरेसदस्तैः विवरेसद्भिरन्तराकाशवर्तिभिर्नभश्चरैः । सत्सूद्विष-इत्यादिना क्विप् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् इति लुक । अथ वराह विशन् प्रविशन् तदुपोढैस्तैः वराहमुपोढैः प्रत्यासन्नैः । वहेः कर्तरि क्त । नभश्चरैर्युगपद्ददृशे दृष्ट इति वाक्यभेदोक्तिः । अत्र क्रमेण पिनाकनिर्गमनवराहविशि-मार्गविहीनस्य बाणस्य शिवान्तिकादिभिन्नदेशस्थनभश्चरकर्तृकदर्शनयोगायथासम्भवेऽपि तत्सम्बन्धोक्तिरूपातिशयोक्त्या शीघ्रगमनतेति विभावनालंकारेण वस्तुध्वनि ॥ २३ ॥

भगवान् शङ्करी के समीप के और उस वराह के पास स्थित अन्तराल विचरण शाली नभश्चरों ने धनुष से मुक्त होकर वराह को भेदन करते हुए सुन्दर बाण को एक ही साथ देखा अर्थात् बाण इतने वेग से लक्ष्यपर पहुँचा कि किसी ने देखा और किसी ने नहीं देखा ॥ २३ ॥

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविपक्तवेगः ।
भयविप्लुतमीक्षितो नभःस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥ २४ ॥

स इति ॥ स बाण । तमालनिभे तमालश्यामे । नीलाभ इति यावत् । सुराणां रिपौ वराहे घननीहारे सान्द्रतुहिन इव अविपक्तवेगोऽप्रतिबद्धवेग सन् । तथा नभस्थैः खेचरैः भयेन विप्लुत निहन्त यथा तथा ईक्षित सन् । आपां समबन्धि वेग आपः अपां समूहो वा आपस । आपेन गच्छतीति आपगा नदी तां ग्राहातीति ग्राहो

जलग्राह । जलचर इति यावत् । 'जलचरे' इति वक्तव्यात् 'विभाषा ग्रह' इति णप्रत्यय । स इव । जगतीं भूमिम् । 'जगती विष्टपे भूम्या वास्तुच्छन्दोविशेषयो' इति वैजयन्ती । जगाहे विवेश । अन्तर्हित इत्यर्थ ॥ २४ ॥

जिस प्रकार घडियाल नदी में अन्तर्हित [redacted] जाता है उसी तरह शकर भगवान् का बाण तमाल [redacted] सदृश नीले वर्ण के सूकर के शरीर में, जो तुषार राशि के सदृश फाँद था बिना किसी अवरोध के प्रविष्ट होकर भूमि में अन्तर्हित हो गया। आकाशचारियों ने भयविह्वल नेत्रों से यह दृश्य देखा ॥ २४ ॥

अथार्जुनबाणप्रयोगमाह—

सपदि प्रियरूपपर्वरेख सितलोहाग्रनख खमाससाद ।

कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन् प्राणभृत कपिध्वजेषु ॥ २५ ॥

सपदीति ॥ सपदि शिवबाणपातसमय एव प्रिया रूपमाकृति पर्वाणि ग्रन्थयो रेखा रचनाश्च यस्य स । अङ्गुलिपक्षे, पर्वरेखा प्रसिद्धा । लोहाग्रमेव नख तलनखमिवेत्युपमितसमास । सित लोहाग्रमग्र यस्य स । कुपितस्यान्तकस्य मृत्योर्या तर्जना तस्या अङ्गुलिस्तर्जनाङ्गुलि तर्जनी तस्या श्रीरिव श्रीर्यस्य स कपिध्वजेषुरर्जुनबाण प्राणभृतो व्यथयन् भीषयमाण खमाकाशम् । आससाद प्राप । उपमालङ्कार ॥२५॥

भगवान् शकर के बाण प्रयोग समय में ही अर्जुन का भी बाण, जो कि क्रुद्ध यमराज कि तर्जना अगुली के सदृश था, जिसकी आकृति और पर्वों की रेखा मनोहारिणी थी, और जिसका अग्रभाग, जो कि स्वच्छ लोह से बनाया हुआ था, और उस अँगुलि के स्वच्छ नख की शोभा का वहन करता था, जीवधारियों को व्यथित करता हुआ आकाशमण्डल में जा पहुँचा ॥ २५ ॥

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेज स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु ।

स जवेन पतन् पर शतानां पतता व्रात इवारव वितेने ॥ २६ ॥

परमेति ॥ परमास्त्रपरिग्रहेण दिव्यास्त्राधिष्ठानेन उरु महदत एव स्फुरदुल्काकृति । उल्कावद्दीप्यमानमित्यर्थ । तेजो वनेषु विक्षिपन् विकिरन्सन् । जवेन पतन् धावन् स बाण । शतात्परे पर शतास्तेषाम् । शताधिकसंख्याकानामित्यर्थ । 'पर शताद्यास्ते येषा परा सख्या शतादिकात्' इत्यमर । 'पञ्चमी—' इति योगविभागात्समास । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्युपसर्जनस्य 'शत'शब्दस्य परनिपात । पारस्करादित्वात्सुडागम । पतता पतत्रिणाम् । 'पतत्पत्ररथाण्डजा' इत्यमर । व्रात समूह इव, आरव वितेने विस्तारयामास ॥ २६ ॥

उसने (अर्जुन के बाण) दिव्यास्त्र होने के कारण महान् तेज को, जो कि उल्का के सदृश चमक रहा था, वन में फैलाता हुआ तथा वेग के साथ गमन करता हुआ सहस्रों पक्षियों के समूह के समान अपने रव को विस्तृत कर दिया ॥ २६ ॥

अविभावितनिष्क्रमप्रयाण शमितायाम इवातिरंहसा स ।

सह पूर्वतर नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ॥ २७ ॥

अविभावितेति ॥ अतिरहसाऽविभेयेन । अविभाविते अलक्षिते निष्क्रमो गाण्डीवा न्निःसरणं प्रयाणम् अन्तरागमनं च यस्य स । तथा अभिताम्रम् संचितवैर्यं इव स्थित इत्युपमा । अत्र वेगगुणनिमित्ता दैर्घ्यगुणाभावो प्रेक्षा । स शर । सह नु सह धा । चित्तवृत्त्येति शेष । चित्तवृत्ते पूर्वतर नु प्रागेव वा । उभयत्रापि लक्ष्ये पतितेति शेष । अथवा अपतित्वा नु । लक्ष्य इति शेष । लक्ष्यभेदं चकार । अत्रोपात्तवेगगुण निमित्ताद्भागस्य चित्तवृत्त्या सहपातपूर्वपातपतनाभावोऽभेदासित्व उत्तरोत्तरे क्रमेण वेगातिशय व्यञ्जिका इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ २७ ॥

उस अर्जुन के बाण ने जिसका गाण्डीव से मुक्त होना और चलना अलक्षित था (अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि किस क्षण में वह धनुष से छूटा और बीच में उसको क्या समय लगा) मानो वेग से मार्ग के विस्तार को संक्षिप्त करके मनोगति के साथ ही अथवा कुछ पहिले ही लक्ष्यभेद किया अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उसने लक्ष्य पर पहुँचने से पहिले ही लक्ष्यभेद कर दिया । इस कथन से अर्जुन के बाण के वेग का परिचय मिलता है ॥ २७ ॥

स पुरुषव्रजसाधकप्रभिन्नं जयहेतुं प्रतिकायमेषणीयम् ।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ॥ २८ ॥

स इति ॥ जयहेतुः स शरो पुरुषव्रजसाधकप्रभिन्नं शिलासारभिन्नम् । एषणीयम् । लब्धुमिति शेष । इषेरिच्छार्थादनीयर् प्रत्यय । प्रतिकायम् प्रतिशरीरम् । प्रतिपक्षमिति यावत् । विधिना दैवेन उदीरितं फलसाधनतया प्रतिपादितमर्थं यौगादिक प्रयत्न पुरुषव्यापार इव । लघु अक्लेशेन यथा तथा साधयितुम् । स्वाधीनीकर्तुमित्यर्थः । प्रसेहे शशाक । उपमालङ्कार ॥ २८ ॥

विजयदायक वह अर्जुन का बाण पुरुषजाहत (शूकर) के शरीर से भिड़ प्रतिपक्षी को पुन भेदन करने की अवस्था से आकाश में हो लक्ष्य साधन में इस प्रकार समर्थ हुआ जिस प्रकार पुरुषव्यापार विधिवाक्य से प्रतिपादित अर्थ को साधन करने में समर्थ होता है ॥२८॥

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव संश्रितानुरागम् ।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसादं विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ॥ २९ ॥

अविवेकेति ॥ अविवेकोऽन्तरानभिज्ञत्वं वृथाश्रमो निष्फलव्यापारस्तौ अर्थं धनमिव । अस्थानविनियोगहेतुत्वादनयोर्धनहानिकरत्वमिति भाव । क्षयोऽनुपचयो लोभोऽदातृत्वं तौ संश्रितानाम् अनुजीविनाम् अनुरागमिव । अकिंचित्करे स्वामिन्यनुरागस्यानवस्थानादिति भाव । अनयो दुर्नीति प्रमादोऽनवधानता तौ विजिगीषुमिव । तन्मूलत्वाद्व्यसनस्येति भाव । विशिखौ शिवार्जुनबाणौ तं वराहम् । अवसादं नाशमैत्यर्थं विनिन्यतुर्नीतवन्तौ । नयतिर्द्विकर्मकः । मालोपमेयम् ॥ २९ ॥

शिव और अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त शरोंने उस वराह को इस प्रकार अवसन्न (जर्जरित) कर दिया जिस प्रकार विचार शून्यता और निष्फल परिश्रम धनको, क्षय और अदातृत्व आश्रित व्यक्तियोंके अनुराग को, एवं दुर्नीति और असावधानता (लापरवाही) विजयाभिलाषी व्यक्ति को सङ्कटग्रस्त कर देती हैं ॥ २९ ॥

अथ दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः स सम्भ्रमेण।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरु धरां च मेने ॥ ३० ॥

अथेति ॥ अथ स वराहो दीर्घतमं तमो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यन्। मरिष्यन्नित्यर्थः। सहसा झटिति रुग्णरयो भग्नवेगः सम्भ्रमेण भ्रान्त्या। 'सम्भ्रमो भ्रान्तिहर्षयोः' इति विश्वः। उष्णरश्मिमुर्व्यां भूमौ निपतन्तमिव मेने। धरां च वलयीभूता मण्डलीभूतास्तरवो यस्यास्तां तथा मेने। तथा बभ्रामेत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

अनन्तर वह वराह ने घोरनिद्रा में प्रवेश करता हुआ (अर्थात् इस दुनियाँ से विदा होता हुआ) एकाएक वेग रहित होकर भ्रान्ति के कारण सूर्य को पृथ्वी पर गिरता हुआ और पृथ्वी के वृक्षों को घूमते हुए देखा। (अर्थात् जिस क्षण वह सूकर मरने लगा उस क्षण उसमें वह वेग न रहा तथा मरण काल में असह्य दुःख से व्यथित होकर चारों तरफ घूमकर पृथ्वी पर गिर पड़ा जिससे उसको मालूम पड़ा कि सूर्य पृथ्वी पर उतर आया है और पृथ्वी के सब वृक्ष एक वृत्त में महान् वेग के साथ भ्रमण कर रहे हैं) ॥ ३० ॥

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ॥ ३१ ॥

स इति ॥ क्षितिं गतः क्षितौ पतितः उष्णेन प्रत्यग्रेण शोणितेनार्द्रः क्लिन्नः खुराणां दंष्ट्राणां चाग्राणां निपातेनाघातेन दारिताश्मा पाटितपाषाणः। किंच, क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुः। स्वार्थविघातरोषादिति भावः। अत एव, विहितः कृतोऽमर्षगुरुः क्रोधोद्धतो ध्वनिः क्रन्दितं येन स तथोक्तः स वराहोऽसुभिः प्राणैर्निरासे निराकृतः। त्यक्त इत्यर्थः। अस्यतेः कर्मणि लिट्। इयं च स्वभावोक्तिः ॥ ३१ ॥

उस वराह ने भूमिशायी होकर अपने खुर और तीक्ष्ण दाँतों के अग्रभाग के आघात से वहाँ का पत्थर तोड़ फोड़ डाला। और उसका शरीर उष्ण रक्त से लथपथ हो रहा था। क्षण मात्र उसने अर्जुन को देखा। फिर क्रुद्ध होकर चिंघाड़ता हुआ प्राणों से वियुक्त हो गया अर्थात् वहीं मर गया ॥ ३२ ॥

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥ ३२ ॥

स्फुटेति ॥ अथ वराहपातानन्तरं पार्थोऽर्जुनः प्राज्यशरः प्रभूतशरः। सन्नपीत्यर्थः। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः। स्फुटपौरुषं व्यक्तविक्रमं वराहभेदिनं शरं जिघृक्षुर्ग्रहीतुमिच्छुः। ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। आपपाताधावति स्म। कृतज्ञतया शरग्रहणं,

न तु लोभादित्यर्थः । न चान्येऽप्युपकर्तारं पुनः किमित्यत्रैवादरस्तत्रेत्यत आह—कृतवेदिनां कृतज्ञानां कृतावदानं कृतकर्मा । अवदानं कर्मवृत्तम् इत्यमरः । यथा म्रियतामेति तथा करिष्यन् उपकरिष्यश्च म्रियतामेति । कृतकरिष्यमाणयोः कृतं बलीय इति न्यायादिति भावः ॥ ३२ ॥

लक्ष्यभेद में सफल होने के कारण उस बाण का पराक्रम व्यक्त था । अतः अर्जुन बहुत शरों अपने पास होने पर भी उस बाणको लेने के लिये दौड़ पड़े । कारण यह है कि—कृतज्ञ पुरुषों के लिये कृतकर्मा पुरुष जितना प्रिय होता है उतना भविष्य में उपकार करनेवाला व्यक्ति प्रिय नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

अथ युग्मेनाह—

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम् ।
कृतशक्तिरधोमुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ॥ ३३ ॥

उपकार इति ॥ असति नीचे प्रयुक्त उपकार इव मृगे स्थितिमप्राप्य प्रणाशमदर्शनं गतः इत्युपमा । यथा कृतशक्तिः कृतपौरुषो गुरुत्वात् कोऽहमारम्भमहत्त्वाद् अधोमुखो नम्रमुखः । अत एव आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥३३॥

असत्पुरुष में किये गये उपकार की तरह अर्जुन का बाण वराह के शरीर में स्थान न पाकर अलक्षित हो गया । उसने अपना विक्रम दिखलाया था तथापि गौरवभार के कारण नीचे की तरफ गिरते समय मालूम पड़ रहा था कि वह अपने पुरुषार्थ से लज्जित होकर अधोमुख हो रहा है ॥ ३३ ॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः ।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चैः परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम् ॥ ३४ ॥

स इति ॥ उत्तमां स्वरुचं कान्तिं कीर्तिमिव दधानः इत्युत्प्रेक्षा । किञ्च विचिन्त्य मदीयो बाणोऽयमिति विमृश्य समुद्धरता तेनार्जुनेन उच्चैः स्ववार्तं स्वपातवृत्तम् । वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम् इति यादवः । अनुयुक्तः पृष्ट इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । आदरातिशयप्रतीत्यर्थ इत्यर्थः । प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च इत्यमरः । स बाणो विलोचनाभ्यां नयनाभ्यां कृत्वा भृशं परिरेभे नु आलिङ्गितः किमित्युत्प्रेक्षा । तेनात्यादरेण दृष्ट इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वह बाण कीर्ति की तरह अपनी कान्ति से युक्त होकर ऊँचे स्वर में अपने क्रिया पाटव को जानने की अभिलाषा करता हुआ पड़ा था । उसको अपना समझ कर अर्जुन ने अपने नेत्रों से उस बार बार आलिङ्गन किया (अर्थात् आदरपूर्वक देखा) ॥३४॥

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम् ।
सन्निकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः ॥ ३५ ॥

तत्रेति ॥ तत्र प्रदेशे महाभुजोऽर्जुनः कुसुमचापविद्विषः स्मरारेः शासनं वक्ष्यमाणमादेशं संनिकाशयितुं संनिधेक्षयितुम् । निवेदयितुमिति यावत् । अग्रतः स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा झटिति पश्यति स्म । इत प्रभृति रथोद्धतावृत्तम्—'रो नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ ३५ ॥

उस प्रदेश में महाबाहु अर्जुन ने एकाएक पुष्पधन्वा (कामदेव) के शत्रु (शङ्कर) की आज्ञा सूचित करने लिये सामने उपस्थित धनुर्धारी एक किरात को देखा ॥ ३५ ॥

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम् ।
सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वचः ॥ ३६ ॥

स इति ॥ स वनेचरो महीपतेस्तनये राजपुत्रेऽर्जुने आत्मजातिसदृशीं किरातजात्यनुरूपां किल । 'किल' इति जातेरलीकतां दर्शयति । वस्तुतः परमार्थतः प्रमथ एव सः । आनतिं प्रणतिं प्रयुज्य सान्त्वपूर्वं सामपूर्वकम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । अभिनीतिहेतुकं प्रियमुक्तिहेतुकं वचः । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमुपचक्रमे उपक्रान्तवान् ॥ ३६ ॥

वह वनेचर जात्यनुसार राजपुत्र (अर्जुन) को प्रणाम करके सान्त्वनापूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त वचन वक्ष्यमाण प्रकार से कहने के लिये उद्यत हुआ ॥ ३६ ॥

तत्र तावच्चतुर्भिः सान्त्वमाह—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्वयावयवदातमाकृतिः ॥ ३७ ॥

शान्ततेति ॥ शान्तता बहिरनौद्धत्यं ते तव विनययोगि विनयेनाभियुक्तं मानसं कर्म प्राह नु ब्रूते खलु । तथा, भूरि बहु धाम तेजो यस्मिंस्तत्तपः कर्तृ विमलं सम्प्रदायशुद्धं श्रुतं प्राह । किञ्च, द्यौर्दिवं ओको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम् । पृषोदरादित्वात्साधु । 'दिव स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । सदृशी तुल्या आकृतिर्मूर्तिः अवदातं शुद्धम् अन्वयाय वंशं प्राह । 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । शान्त्यादिभिर्लिङ्गैर्विनयादयोऽनुमीयन्ते । अन्यथा तदसम्भवादिति भावः ॥ ३७ ॥

किरात ने कहा—(महाराज) ! शान्त भाव आपके हृदय की कोमलता प्रकाशित करता है । तेजोराशिसम्पन्न आपका सम्प्रदायशुद्ध तप आपके शास्त्रज्ञान की सूचना देता है । देवताओं के समान जो आपकी यह आकृति है इससे आपके शुद्ध वंश में जन्म ग्रहण करने का परिचय प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

दीपितस्त्वमनुभावसंपदा गौरवेण लघयन्महीभृतः ।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥ ३८ ॥

दीपित इति ॥ मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । अनुभावसंपदा प्रभावातिशयेन दीपितः प्रकाशितः । 'अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः । गौरवेण महत्तया

महीभृतो राज्ञो लघयन् लघूकुर्वन् । त्वम् ॥इहाद्रौ। सततमन्योरिदं शातमन्यवमैन्द्रम्। तस्येदम् इत्यण्प्रत्ययः । शतम मुर्दिवसशिः इत्यमरः । अधिपतेः कर्म आधिपत्यं त्रैलोक्यरक्षाधिकारम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । कारयन्निव इन्द्रेणेति शेषः । राजसे तस्याप्युपजीव्य इति प्रतीयसे । त्वम हिमेत्यय ॥ ३८ ॥

इसका ऐश्वर्यहीन होते हुए भी प्रताप की अतिशयिता के कारण आप प्रकाशित हो रहे हैं । आप अपनी महत्ता से राजाओं को भी तुच्छ कर दे रहे हैं। मुनि होते हुए भी तीनों लोकों के रक्षक इन्द्र के काम को आप ही कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसंपदाम् ।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः ॥ ३९ ॥

तापस इति ॥ विभुतां प्रभावम् । उपेयिवानुपगतः । अत एव तापसोऽपि त्वं सर्वसंपदामास्पदं स्थानमसि। आस्पदं प्रतिष्ठायाम् इति निपातः । विभुतामेव समर्थयते—हि यस्मात् भवतस्तव जनैर्विनापि। एकाकिनोऽपीत्यर्थः । सचिवैरन्वितस्येव अमात्यादियुक्तस्येव द्युतिस्तेजो दृश्यते । अतः सर्वसंपदास्पदत्वं युक्तमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तपस्वी होते हुए भी आप प्रभावशाली हैं । इसलिये आप सब सम्पत्तियों के अधिष्ठान हैं। यद्यपि यहां आप अपने अमात्य (मन्त्री) वर्गों के साथ नहीं हैं तथापि आप की कान्ति से विदित होता है कि आप उन लोगों से युक्त हैं ॥ ३९ ॥

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ॥ ४० ॥

विस्मय इति ॥ किंच जयश्रिया हेतुना । प्राप्तयापीति शेषः । क इव वा विस्मयः किमाश्चर्यम् । न कश्चिदित्यर्थः । विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम् इत्यमरः । अतो मुक्तिरपि ते तव दवीयसी दूरतरा दुर्लभा न भवत्येव । स्थूलदूर इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तथा हि—निर्जितौ रजस्तमसी एव गुणौ येन स भवत्सदृशः पुरुषः कस्येप्सितस्य वाञ्छितस्य। उपाश्रय आस्पदं न भवेत्सर्वस्यैवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

आपको विजयलक्ष्मी प्राप्त होने में कोई आश्चर्य नहीं है। मुक्ति (जन्ममरण से मुक्त होना) भी आपके लिये बहुत दूर नहीं है। क्योंकि जिसने रजोगुण और तमोगुण पर विजय प्राप्त कर लिया है वह किस अभिलषित मनोरथ का स्थान नहीं है अर्थात् सर्वविध अभिलषित वस्तु प्राप्त कर सकता है ॥ ४० ॥

अथागमनप्रयोजनमुपाक्रमसुखेनाह—

हेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्यनुपपन्नपौरुषः ।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिनं नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ॥ ४१ ॥

हेपयन्निति ॥ त्विषा तेजसा । अहिमतेजसमुष्णतेजसं हेपयन् लज्जयन् उप

पत्रपौरुष सम्भावितपराक्रम स प्रसिद्धस्त्वं वराहभेदिनम्। कृतोपकारमित्यर्थः। पुनः स्वत्करगतम्। अस्मदधिपस्य सायकं शरम्। इत्थं साहसेन हर्तुं नार्हसि ॥४१॥

आप अपने तेज से तीक्ष्णांशु (सूर्य) को लज्जित करते हुए सामर्थ्यवान् होकर भी मेरे स्वामी के इस वराहभेदी सायक (बाण) को इस तरह साहसपूर्वक अपहरण करने के योग्य नहीं हैं ॥ ४१ ॥

अनर्हत्वमेवाह—

स्मर्यते तनुभृता सनातनं न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः।
ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना ॥ ४२ ॥

स्मर्यत इति ॥ उत्तमैर्नृभिः सत्पुरुषैर्मन्वादिभिः। तनुभृता शरीरिणा सनातनं नित्यं न्याय्यं न्यायादनपेतम्, आचरितमाचारः स्मर्यते। कर्तव्यतयेति शेषः। न्याय्याचार इत्यर्थः। अथाप्यनाचारेण दोषमाह—ध्वंसत इति। भवादृशः भवादृशस्ततः सदाचाराद् ध्वंसते भ्रश्यन्ते यदि तथा तेन वर्त्मना न्याय्यमार्गेण कः प्रयातु गच्छतु वद कथय। न कोऽपीत्यर्थः। तथा च सन्मार्ग एव शील इत्यर्थः भावः ॥ ४२ ॥

मनु, याज्ञवल्क्य और पराशरादिक ऋषियों ने शरीरियों (प्राणियों) के लिये 'सर्वदा न्यायपथावलम्बन करना' कर्तव्य उपदेश किया है। यदि आप जैसे पुरुष उस मार्ग से भ्रष्ट हों तो फिर उस मार्ग से, दूसरा कौन व्यक्ति उसको आधार मानेगा ॥ ४२ ॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः संनिवृत्तिमपथान्महापदः।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः शीलयन्ति यतयः सुशीलताम् ॥ ४३ ॥

आकुमारमिति ॥ किंच, योगशक्त्याऽऽत्मज्ञानमहिम्ना जितौ जन्ममृत्यू यैस्ते यतयो योगिनः। कुमारेभ्य आ आकुमारम्। कुमारादारभ्येत्यर्थः। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। महत्य आपदो यस्मिंस्तस्मात् महापदः। महानर्थहेतोरित्यर्थः। अपथात् अमार्गात्। 'पथो विभाषा' इति निषेधविकल्पात्समासान्तः। 'अपथं नपुंसकम्'। संनिवृत्तिमपगमम्, उपदेष्टुमिच्छवः सन्त सुशीलतां सद्वृत्ततां। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। शीलयन्ति अभ्यस्यन्ति। अतो न त्याज्यं शीलमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

जिन योगी महात्माओं ने योगशक्ति से जन्म और मरण को जीत लिया है वे बाल्यकाल से ह्यानर्थमूलक, न्यायविरुद्ध मार्ग से निवृत्त होने के लिये उपदेशेच्छु होते हुए सच्चरित्र का ही अभ्यास करते हैं ॥ ४३ ॥

न केवलं सौशील्यादनर्थनिवृत्तिः, किं स्वर्गप्राप्तिरपीत्याह—

तिष्ठता तपसि पुण्यमासजन् सम्पदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम्।
योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ॥ ४४ ॥

विष्ठतामिति ॥ तपसि स्थिता तपोनिष्ठानाम् । धर्मार्थिनामित्यर्थः । पुण्यं धर्मम् । आसजन् संपादयन् । स्याद्धर्मस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष इत्यमरः । सुखेप्सिनां सुखार्थिनां संपदः सुखसाधनभूतानर्थान् । अनुगुण्यन्नुत्पादयन् । अथ कामयोरपि हेतुभूत इत्यर्थः । तथा योगिनां मुमुक्षूणामपवर्गाय परिणमन् संपद्यमानो विनयः सौशील्यं केन हेतुना सतां प्रियो नास्तु । सम्भावनायां लोट् । सर्वथा विनय एव चतुर्वर्गसाधनमित्यर्थः । अतस्त्वया नास्मत्स्वामिनश्चौर्यं कार्यमिति तात्पर्यम् ॥ ४४ ॥

सदाचार तपस्वियों को पुण्य प्रदान करता है, सुखेच्छुओं को सम्पत्ति प्रदान करता है और योगियों को मुक्ति प्रदान करता है। अतः कौन ऐसा कारण हो सकता है जिससे यह सज्जनों का प्रिय नहीं हो सकता ? (अर्थात् उसे सज्जनों का प्रिय न बनने में कोई कारण नहीं है) ॥ ४४ ॥

अथवा किं मयाऽऽक्षेपेणैवं सम्भाव्य मतो भ्रान्तिरपि संभाव्यत इति मत्वा समाधानमाह—

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः ।
सोऽयमित्यनुपपन्नसंशयः कारितस्त्वमपथे पदं यया ॥ ४५ ॥

नूनमिति ॥ अयमस्मदीयः सायकोऽत्रभवतः । पूज्यस्येत्यर्थः । पूज्यस्तत्रभवान् अत्रभवान् इति सज्जनः । इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते इति सार्वविभक्तिकस्त्रसिः प्रत्ययः । सुप्सुपेति समासः । शराकृतिं सर्वथा रूपेण रेखादिना सर्वप्रकारेण अनुयात्यनुसरति । अत्यन्तमनुकरोतीत्यर्थः । नूनम् इति वितर्के । ययाऽऽकृत्या कर्त्र्या त्वमनुपपन्नसंशयोऽस्य तत्साम्यादनुत्पन्नस्वान्यदीयत्वसंदेहः सन् । सोऽयमिति यः स्वकीयः स एवायमिति । भ्रान्त्येत्यर्थः । अपथेऽमार्गे परस्वहरणरूपे पदं कारितः । निधापित इत्यर्थः । हृक्रोरन्यतरस्याम् इत्यणि कर्तुः कर्मत्वम् । 'अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' इति वचनात् ॥ ४५ ॥

यह निश्चय है— "यह मेरे स्वामी के बाण की आकृति सब तरह से आपके बाण से मिलती जुलती है जिस आकृति ने आपको अपना होने में संशय न उत्पन्न करके विमार्ग का अवलम्बन कराया है ॥ ४५ ॥

पुनरपि स्तेयमेव प्रकृत्य दोषान्तरमापादयति—

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहृते ।
निघ्नतः परनिबर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः ॥ ४६ ॥

अन्यदीयेति ॥ सह चेतसा वर्तत इति सचेतसो मनस्विनः । तेऽन्यदीयविशिखे विषये यत् आहृतमाहरणम् । भावे क्तः । तस्मिन् । अन्यदीयविशिखस्याहरण इत्यर्थः । निःस्पृहस्य केवलं निःस्पृहेणैव न भवितव्यम् । किंतु परनिबर्हितं परेण महता मृगं निघ्नतः महतस्ते । व्रीडितव्यमपीत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । व्रीडि

तव्य लज्जितव्यमपि । भावे तव्यप्रत्यय । सम्प्रति तु त्वया परविद्ध मृग विद्ध्वापि न व्रीड्यते प्रत्युत स्तेय च क्रियत इत्यहो महत्साहसमित्यर्थ । मृगमित्यत्र शेषत्वा-विवक्षणात् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषा हिंसायाम्' इति षष्ठी न भवति शेषाधि-कारात् । निप्रहणेत्यत्र निप्रयो सघातव्यस्तविपर्यस्ताना ग्रहणात् ॥ ४६ ॥

आप सचित्त हैं (अर्थात् मनस्वी हैं), किसी अन्य के बाणापहार से विमुख होना सन्तोषजनक न होगा, किन्तु अन्य के द्वारा वध किये हुये मृग का पुन वध करने से आपको लज्जित भी होना चाहिये ॥ ४६ ॥

अथास्मिन्कृतप्रतापियोग स्वीयोपकारकत्व वर्णयितु विकत्थनदोष तावदुन्मेन परिहरन्नाह—

सतत निशामयन्त उत्सुका यै प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि य व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ॥४७॥

सततमित्यादि ॥ सूरयो विद्वास । अस्य अस्मत्स्वामिन सम्बन्धिभि , यैश्चरितै करणभूतै सतत सततमुत्सुका सोत्कण्ठा सन्तो निशामयन्तश्चरितानि शृण्वन्तो मुद प्रयान्ति । अत्र चरिताना मुख्यासौ साधक करणत्वम् । अर्थात्श्रवणकर्मत्वमिति विवेक । तानि चरितानि हसितेऽपि परिहासेऽपि कीर्तितानि परैरुच्चारितानि सन्ति य मानिन व्रीडयन्ति । मानित्वाद्व्रीडा, न तु चरितदोषात् । तेषामलकारकत्वादिति भाव ॥

विद्वान लोग मेरे स्वामी (किरातनाथ) के जिस चरित्र को उत्कण्ठापूर्वक श्रवण करके प्रसन्न होते हैं । वे (चरित्र) परिहास के समय भी यदि कथन किये जाते हैं तो उससे मानी व्यक्ति को लज्जित होना पड़ता है ॥ ४७ ॥

अन्यदोषमिव स स्वक गुण ख्यापयेत् कथमधृष्टताजड ।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ॥ ४८ ॥

अन्येति ॥ अधृष्टतया विकत्थनेन शालीनतया जड स्तब्ध । अविकत्थन इत्यर्थ । सोऽस्मत्स्वामी । अन्यदोष परावरगुणमिव स्वक स्वकीय गुण कथ ख्यापयेत् प्रकट-येत् । 'आत्मप्रशसा परगर्हामिव वर्जयेत्' इति स्मरणादिति भाव । तथापि कार्य-वत्तया । कार्यार्थितयेत्यर्थ । स स्वगुण उच्यते खलु । कार्यार्थिन कुतो गर्व इति भाव । निर्विण्ण इवाह—धिगिति । विभिन्नबुधसेतुमतिक्रान्तसुजनमर्यादाम् । अर्थिता याचना धिक् । निन्द्यामीत्यर्थ । यद्वयमपीत्थ विकत्थयितु प्रवृत्त इति भाव । 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयो ' इत्यमर । 'अभितसर्वतसो कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्विती-याम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति द्वितीया ॥ ४८ ॥

वही स्वामी आत्मप्रशसा से विरत होते हुये अन्य व्यक्तियों के अवगुण के सदृश अपने गुणों का प्रशसा किस तरह कर सकते हैं ('आत्मप्रशसा को दूसरे के अवगुण के समान समझ कर परित्याग कर देना चाहिये' यह स्मृतिकार का वचन है) परन्तु नहीं,

कायवश वही मान्प्रकृता की भी जाती है। सज्जनमर्यादोल्लंघिनी यात्रा को धिक्कार है जिसके कारण वे भी आत्मप्रशंसा करने में प्रवृत्त हैं ॥ ४८ ॥

सम्प्रति स्वकृतोपकारं दर्शयति—

दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥ ४९ ॥

दुर्वचमिति ॥ वाहिनीपतिः सेनापतिरस्मत्स्वामी शितेन पत्रिणा शरेण। एनं मृगम्। आशु न प्रत्यपत्स्यत यदि नाभिमुखीकुर्याच्चेत् असौ मृगः ओजसा बलेन त्वयि विषये यदकरिष्यत् यदनिष्टं कुर्यात् तद्दुर्वचं दुर्वाच्यममङ्गलतया वक्तुं न शक्यते। तदनिष्टम् अथासम्भावितमपि मा स्म भूदिति सोऽवर्णकथनम्। तदुपेक्षणे स मृगस्त्वां हन्यादिति भावः। किञ्चिदिति शङ्के क्रियातिपत्तौ इति लृङ्। एव सेम लङ ॥ ४९ ॥

किरात-सेनानी मेरे स्वामी यदि इस सूकर को तीक्ष्ण शर के द्वारा विद्ध न करते तो यह अपने महान पराक्रम से जो अनिष्ट कर डालता वह अमङ्गलकारी होने के कारण बखान किया नहीं जा सकता। भगवान करे वह अनिष्ट आपको कभी न हो। यदि उसकी उपेक्षा की जाती तो वह सूकर तुम्हें मार डालता ॥ ४९ ॥

ननु मयैव हतो न तु सेनापतिना तत्राह—

को ऽन्य इह हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्घ्रिसंहतिम् ।
वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम् ॥ ५० ॥

क इति ॥ हरितुरङ्गमायुधमिन्द्रायुधं तद्वत् स्थेयसीं स्थिरतराम्। अकुण्ठिता मित्यर्थः। स्थिरशब्दादीयसुन्। प्रियस्थिर— इत्यादिना स्थादेशः। अङ्घ्रिसंहतिं नखसंघातं दधतं धारयन्तं वेगवत्तरं दुर्वारवेगम्। इमं दंष्ट्रिणं वराहं चमूपतेः किरातवाहिनीपतेर्ऋते चमूपतिं विना। अन्यारात्— इत्यादिना पञ्चमी। को नु को वा शरेण। एकेनेति भावः। हन्तुमर्हति। न कोऽपीत्यर्थः ॥ ५० ॥

इन्द्रास्त्र (इन्द्र के वज्र) के सदृश कठिन खुरों को धारण करते हुए अत्यन्त वेगशाली इस वराह को एक बाण से वध करने में सेनापति के अतिरिक्त अन्य कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ॥ ५० ॥

अस्तु स एव मृगस्य हन्ता ततः किमित्यत आह—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते ।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ॥ ५१ ॥

मित्रमिति ॥ तथा च तस्यैव मृगहन्तृत्वे सत्येवेत्यर्थः। अयं मेदिनीपतिः किरातभूपतिः। ते तव संशये प्राणसङ्कटे। उपकारि उपकारकारकम् इष्टं मित्रम्। ततोऽपि किं तत्राह—तमिति। तं मित्रभूतं विरोध्य सज्जनैकवसतिः भवादृशसुजनमात्राधारा

कृतज्ञता उपकारवेदित्वं मा निरासि न निराक्रियतां भवता। अन्यथा जगति कृतघ्नताऽस्तं यायात्, कृतघ्नता च ते भवेदित्यर्थः। अस्यतेः कर्मण्याशिषि माङि लुङ् ॥ ५१ ॥

यह पुलिन्दवाहिनीपति आपके जीवन संकट के समय उपकार करके इष्ट मित्र बन गया है। अतः उसके साथ विरुद्धाचरण द्वारा सुलभाश्रया कृतोपकारिता को गला पकड़ कर निर्वासित न कीजिये ॥ ५१ ॥

ननु सर्वस्यार्थमूलत्वादर्थ एवास्तु, किं मित्रेणेत्याशङ्क्य मित्रस्य सर्वाधिक्यमुखेनाह—

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतयः ।

स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसम्पदः ॥ ५२ ॥

लभ्यमिति ॥ जिगीषतां जेतुमिच्छताम्। जयतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। दुर्लभा कृच्छ्रेणापि लब्धुमशक्या, तथापि असुरक्ष्यभूतयो रक्षितुमशक्यमहिमानः। तथापि निरयरक्षणादिक्लेशावहाश्चेति भावः। अन्तविरसाः। नश्वर्य इत्यर्थः। लभ्यन्त इति लाभाः अर्थास्तेषां सम्पदः। एकसुकृतेनैकोपकारेण लभ्यं सुलभं न तु दुर्लभम्। रक्षितारं न तु रक्ष्यं स्वन्तं शुभावसानं न त्वन्तविरसं मित्रलाभमनु मित्रलाभाद्धीनाः। निकृष्टा इत्यर्थः। 'हीने' इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। तद्योगे द्वितीया। अत्रोपमेयस्य मित्रलाभस्य लाभान्तरं प्रत्याधिक्याभिधानाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ५२ ॥

जयेषुओं (जय की अभिलाषा करने वालों) के लिये मित्रलाभ एक ही सुकृत के द्वारा लभ्य है और अन्य सम्पत्तियाँ दुष्प्राप्य हैं। वह [मित्रलाभ] उनका रक्षक होता है उसके विपरीत [सम्पत्तियों की रक्षा करना] टेढ़ी खीर हो जाती है। मित्र लाभ का अवसान भी मङ्गलमय होता है। सम्पत्तियों का लाभ अस्थिर है। इस तरह का मित्रलाभ सर्वोत्कृष्ट है और सम्पत्तिलाभ निकृष्ट है ॥ ५२ ॥

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः ।

भूधरस्थिरमुपेयमागतं माऽवमंस्त सुहृदं महीपतिम् ॥ ५३ ॥

चञ्चलमिति ॥ किंच, वसु धनं नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमप्युन्नताः प्रबला अरातयो हरन्ति। मित्रं तु न तथेत्याह—भूधर इति। भूधरवत् स्थिरमुपेयमन्वेष्य गन्तव्यं आगतं स्वतः प्राप्तमपि महीपतिम्। सर्वधुरीणमित्यर्थः। सुहृदं मित्रं माऽवमंस्त मावज्ञासीत्। भवानिति शेषः। अन्यश्लोकगतो 'भवत्' शब्दो विभक्तिविपरिणामेनात्र द्रष्टव्यः। अन्यथा मध्यमपुरुषः स्यात्। मन्यतेः कर्तरि माङि लुङ्। अलङ्कारस्तु व्यतिरेक एव। भूधरस्थिरमित्युपमासङ्कीर्णः सङ्करः ॥ ५३ ॥

धन तो अत्यन्त चपल है [स्थायी नहीं होता], प्रबल शत्रु भूमि को भी अपहरण कर लेते हैं। अतः पर्वत के सदृश स्थिर, स्वयं समागत किरातसेनापति जैसे मित्र का आप तिरस्कार न करें ॥ ५३ ॥

ननु मुमुक्षो किं मित्रसम्प्रार्थनेन तत्राह—

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः ।

प्राप्स्यते च सकलं महीभृता सङ्गतेन तपसः फलं त्वया ॥ ५४ ॥

जेतुमिति ॥ भवता जेतुं जयार्थमेव तपस्यते तपश्चर्यते । कामना तामस— इत्यादिना यश्चो वचः । ततो भाव लट् । पुनः । मुमुक्षवो मोक्षार्थिन आयुधानि न दधते न धारयन्ति । अतो मित्रसंग्रहः कार्य इति भावः । तथापि किं भवदर्थामिम त्येन तत्राह—प्राप्स्यत इति । महीभृता सह सङ्गतेन त्वया सकलं च तपसः फलं प्राप्स्यते । अतस्ते सहायोऽस्मत्स्वामी युक्त इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

आप विजयार्थ ही तपस्या कर रहे हैं । क्योंकि मुमुक्षु लोग शस्त्रधारण नहीं करते । [अतः मित्रसंग्रह करना आप के लिये निश्चित आवश्यक है] हम (राजा) भूमिपालक मेरे स्वामी से आप समग्र तपस्या के फल को प्राप्त कर सकेंगे ॥ ५४ ॥

ननु किंचन दुर्भोरस्तु स्वतो तत्राह—

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिशः ।

काञ्चनं किमिव तस्य पत्रिणा केवलं न सहते विलङ्घनम् ॥ ५५ ॥

वाजीति ॥ तस्य भूपतेर्वाजिभूमिरश्वाकर इभराजानां काननं गजोत्पत्तिस्थानं भूरिशो रत्ननिचयाश्च । सन्तीति शेषः । मन्वीतस्या किमेतानि काञ्चनपत्रकाण्यप कल्पयते तत्राह—अस्य काञ्चनेन सार्वभौम पत्रिणा गोविन्द किमिव । न किंचिदस्यो नमस्तीत्यर्थः । परन्तु केवलं विलङ्घनं व्यतिक्रमं न सहते । नाप तत्तुल्य किमपि विशेषापहिष्णुरित्यर्थः । अत्र प्रथमार्थं समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः ॥ ५५ ॥

मेरे स्वामी के यहां किसी वस्तु की कमी नहीं है । क्योंकि उनके पास घुड़ों की खान है, गजराजों के जङ्गल हैं तथा बहुसंख्यक रत्नों की राशि है । उनको बाण के द्वारा सोने से ही क्या लाभ हो सकता है ? केवल अधिक्षेप [निन्दा] उनके लिये असह्य है ॥ ५५ ॥

मन्वीतल्लुब्ध किमुपकर्तुं तत्राह—

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि ।

अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम् ॥ ५६ ॥

सावलेपमिति ॥ महान्स्व रजस्यपि धूलावपि परैः सावलेपं सगर्वम् । उपलिप्सिते उपलब्धुमिष्टे जिघृक्षिते सति विकृतिमभ्युपैति । प्रकुप्यतीत्यर्थः । अर्थितो याचितस्तु जीवितं धनायितुं धनीकर्तुम् । स्वयमप्यातुम् । न समीहते नोत्सहते । जीवितमप्यात्मनो नेच्छतीति । किमर्थित भवत्यतीत्यर्थः । तर्हि धनं किमु । धनमात्मन इच्छितुं धनायितुमिति विग्रहः । अत्र इच्छामात्रार्थं अन्यथा धनमित्यनेन पौनरुक्त्यं स्यात् । सुप आत्मनः क्यच् । अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु इति निपातनादाकारः ॥ ५६ ॥

कोई व्यक्ति यदि उन महान् आत्मा से अभिमान के साथ तृण अथवा धूल का कण भी लेना चाहे तो वह व्यक्ति उनके क्रोध का पात्र होगा ही। यों यदि कोई व्यक्ति उनसे याञ्चा करे तो वे प्राण तक दे देते हैं, धन की तो बात ही क्या? ॥ ५६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वा गुरु यदृच्छयागतम् ।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥ ५७ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात् तदीयविशिखस्यातिसर्जनात् प्रत्यर्पणात् । वां युवयोः । 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' इति वामादेशः । राघवप्लवगराजयो रामसुग्रीवयोरिव यदृच्छया दैवादागतं गुरु महत् युक्तमनुरूपम् । इतरेतराश्रयमन्योन्यविषयं प्रेम सख्यम् । अस्तु ॥ ५७ ॥

अतः उनके उस बाण के लौटा देने से आपका और उनका परस्पर महान् प्रेम [मित्रता] स्वयं समागत श्री रामचन्द्र तथा वानरेन्द्र [सुग्रीव] की मित्रता की तरह सम्बद्ध हो जायगा ॥ ५७ ॥

ननु शरकोमाभिमिथ्याभियुज्यस इत्याह—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु चादरः ।
सन्ति भूभृति शरा हि नः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥ ५८ ॥

नेति ॥ त्वमनृतं मिथ्याऽभियोक्तुमभ्याख्यातुम् । मृषोऽर्थग्रहणाद्विकर्मकता । 'मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम्' इत्यमरः । अस्माभिरिति शेषः । नेष्यसे नेष्टोऽसि । कुतः । तपस्वी मुनिः शोच्यश्च । 'मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति शाश्वतः । तस्य, विशिखेषु क आदरः कास्था । न कापीत्यर्थः । हि यस्मात्, नोऽस्माकं भूभृति शैले परेऽन्येऽपि शराः सन्ति, ये शराः वज्रिणः शक्रस्य पराक्रमवसूनि पराक्रमधनानि । शौर्यसर्वस्वभूता इत्यर्थः । 'वज्रिग्रहणादश्वादप्यतिरिक्ता इति सूच्यते । अत्र शरेषु पराक्रमसाधनेषु पराक्रमरूपेण वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

हमलोग आप पर झूठ का अपवाद नहीं लगा सकते क्योंकि तपस्वी के बाणों में आस्था ही क्या? [चल कर देखिये] इस पर्वत पर हम लोगों के पास बहुत से बाण हैं जो [बाण] इन्द्र के पराक्रम और सर्वस्वरूप हैं ॥ ५८ ॥

अथ ते शरापेक्षा चेत्तर्हि सयोच्यतामित्याह—

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः ।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

मार्गणैरिति ॥ अथ तव मार्गणैः शरैः प्रयोजनं कृत्यं तर्हि भूभृतो गिरेः पतिं प्रभुं किमु न नाथसे किमिति न याचसे । 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' इति धातोर्लट् । न च याच्ञाभङ्गशङ्का कार्येत्याह—त्वदिति । सोऽस्मत्स्वामी त्वद्विधं विधा

प्रकारो यस्य स त्वद्विध स्तादृशम् । महानुभावमित्यर्थः । तथापि सुहृदं मित्रभूतम् अर्थिनमेव लब्ध्वा प्रेम्णी विजित्य न यच्छति न ददाति किम् । किं तु दास्यत्येव । किं पुनः शरानिति भावः ॥ ५९ ॥

यदि आप को बाणों की ही आवश्यकता है तो हम वनेचर [किरात] से क्यों नहीं माग लेते । आप जैसे याचक मित्र को पाकर वे क्या समग्र पृथ्वी को जीत कर नहीं दे सकते ? बाण तो एक तुच्छ वस्तु है ॥ ५९ ॥

यदुक्तम्–त्वद्विधम् (श्लो० ५९) इत्यादि तत्रोपपत्तिमाह—

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।
सीदतामनुभवन्निवार्थिनां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥ ६० ॥

तेनेति ॥ तेन कारणेन सूरिर्विद्वान् अत एव उपकारिताधनः उपकारित्वमात्रधनः स किरातभूपतिः । याचितं याच्ञां वृथा कर्तुं नेच्छति । कुतः । यत् येन कारणेन सीदतां क्लिश्यतामर्थिनां प्रणयभङ्गवेदनां याच्ञाभङ्गदुःखं स्वयमनुभवन्निव वेद वेत्ति । अतो न वैफल्यशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ ६० ॥

इसलिये विद्वान् किरातराज जिनका उपकार ही एक मात्र धन आप की प्रार्थना को विफल नहीं कर सकते क्योंकि वह दु:खानुभवी याच्ञाकारी पुरुषों के विफल मनोरथ होने पर जो दुःख होता है उसमें वे स्वयं परिचित हैं ॥ ६० ॥

ननु स्वयमाहृत्य किं याच्ञयेत्यत आह—

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाऽधिकबले विपत्फला ॥ ६१ ॥

शक्तिरिति ॥ अर्थपतिषु विषये शक्तिः सामर्थ्यं स्वयंग्रहं स्वाम्यनुज्ञां विना ग्रहणं कारयति । यद्वा निरत्ययमपराधेऽप्यविकारि निर्वैरं प्रेम वा स्वयंग्रहं कारयति । ग्राहकः प्रियो वा परस्य धनं स्वयं गृह्णातीत्यर्थः । अन्यथा दोषमाह—इदं पूर्वोक्तं कारणद्वयं निरस्यतस्त्यजतः । पुंस इति शेषः । अधिकबले प्रबले विषये प्रार्थना तद् गतिग्रहणा विपत्फलानर्थफलका । अशक्तस्याप्रियस्य सतः प्रबलधनग्रहणाशा फणिशिरो मणिग्रहणसाहसवदनर्थाय कल्पत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

धनियों से धन दो तरह से लिया जा सकता है एक तो याचक समर्थ हो दूसरे उसका उसमें घनिष्ठ प्रेम हो । इसके विपरीत होने से अर्थात् निर्बल और अप्रिय व्यक्ति की प्रार्थना विपत्तिरूप फल की उत्पादिका है ॥ ६१ ॥

ननु शस्त्रार्थसंपत्त्या याच्ञाकर्मिमात्र इत्याह—

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य चेह भुजवीर्यशालिनः ।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ॥ ६२ ॥

अस्त्रवेदमिति ॥ इह जगति तापसेषु तपस्विनां मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति

सप्तमी। जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः। 'गर्गादिभ्यो यञ्'। तम्, अपहाय। परशुरामं विनेत्यर्थः। अस्त्रवेदं तत्त्वतोऽधिगम्य। भुजवीर्येण शालन्त इति भुजवीर्यशालिन। उभयसम्पन्नस्येत्यर्थः। शालनक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानिर्देशः। कस्य चायुधं चरितं प्राप्तोऽर्थो येन तत् चरितार्थं सार्थकं गीयते। न कस्यापीत्यर्थः। अतस्त्वयापि तापसत्वादकिंचित्करस्य तेन सह सख्यमेव युक्तमिति भावः ॥ ६२ ॥

इस संसार में परशुराम को छोड तपस्वियों में कौन ऐसा व्यक्ति है जो अस्त्रविद्या के तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान रखते हुए भुजाओं में पराक्रम धारण करता है और उसके अस्त्र की उपयोगिता का गीत जनता के द्वारा गाया जाता है? ॥ ६२ ॥

ननु युष्मन्मृगवधशरहरणाभ्यां द्रोहिणो मम तेन कथं सख्यं स्यादित्याशङ्क्य सत्यमथापि तावन्मृगवधापराधः क्षमिष्यत इत्याह—

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः।

अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ ६३ ॥

अभ्यघानीति ॥ त्वया मुनिचापलात्। ब्राह्मणचापल्यादित्यर्थः। क्षितिपतेरस्मत्स्वामिनः। परिगृह्यत इति परिग्रहः। तेन स्वीकृत इत्यर्थः। 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः। यन्मृगोऽभ्यघानि अभिहत इति। हन्तेः कर्मणि लुङ्। तत् हननम्। अयमस्मत्स्वामी। अक्षमिष्ट सोढवानेव। तथा हि—प्रमाद्यताम्, अविमृश्यकारिणामित्यर्थः। दोषमपराधम्। अज्ञताऽज्ञानिता संवृणोति आच्छादयति। मौढ्यस्यापराधो गण्यत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

'ब्राह्मण लोग स्वभावतः चञ्चल होते हैं' इनके कारण यदि आपने मेरे स्वामी के द्वारा वश किये हुये मृग का जो वध किया है उसे उन्होंने सहन कर लिया क्योंकि जो लोग विवेकपूर्वक कार्य नहीं करते उनकी अज्ञानता उनके दोषों को छिपा लेती अर्थात् अज्ञ होने के कारण क्षम्य हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

अथ सुहृद्भावेन हितमुपदिशति—

जन्मवेषतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम्।

आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ ६४ ॥

जन्मेति ॥ जन्म सत्कुलप्रसूतिः, वेषो जटावल्कलादि, तपो नियमः, तेषां विरोधिनीं विरुद्धाम्। अमूमेवंविधाम्। अपक्रियामपकारम्। पुनः। इतः परमित्यर्थः। मा कृथा मा कुरु। करोतेः कर्तरि माङि लुङ्। 'वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम्। आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥' इति स्मरणात्। उक्तवैपरीत्ये दोषमाह—आपदिति। हि यस्मात्, अपथे वर्तमानं दुर्मतिम्। पुरुषमिति शेषः। उभौ लोकौ दूषयति हन्तीति उभयलोकदूषणी। 'तद्धितार्थ—'इत्यादिनोत्तरपदसमासः। आपद्। एति प्राप्नोति। समासविषये 'उभ' शब्दस्थाने 'उभय' शब्दप्रयोग

एव साधु । यदाह कैयटः—'उभाद्युदात्तो नित्यमिति नित्यग्रहणस्य प्रयोजनं वृत्तिविषये उभशब्दस्य प्रयोगो मा भूत्, उभयशब्दस्यैव रूपं यथा स्यादिति उभयपुत्र इत्यादि भवति' इति ॥ ६४ ॥

प्रतिष्ठित वंश में जन्म, ऋषियों का वेषभूषा और तपश्चर्या इन सबों के विरुद्ध व्यवहार आप न करें (अर्थात् उक्त वेष तथा तपस्या की मर्यादा का पालन करते हुए व्यवहार करें) क्योंकि कुमार्गगामी दुर्बुद्धि पुरुष को विपत्ति आ दबोचती है। जिससे वह पुरुष न इस लोक का और न परलोक का रह जाता है ठीक उसी तरह (धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का) इस कहावत के जैसा होता है ॥ ६४ ॥

यदुक्तम् अरण्यवासि (श्लो० ६१) इति तदेव स्फुटयति—

यष्टुमिच्छसि पितॄन्न साम्प्रतं संवृतोऽर्चिचयिषुर्दिवौकसः ।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः ॥ ६५ ॥

यष्टुमिति ॥ साम्प्रतं संप्रति । संप्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । पितॄन् कव्यवाडादीन् यष्टुमर्चयितुं नेच्छसि । यतः संवृत एकान्ते स्थितः । तथा दिवौकसो देवान् । अर्चिचयिषुरर्चयितुमिच्छुरपि नासि । अतो न पित्रर्थं हिंसा नापि देवतार्था । तदाराधने तद्विहितत्वादिति भावः । अथ 'सततमात्मानं गोपायीत' इति श्रुतेरात्मत्राणार्थमिति चेत्तत्राह—दातुमिति । हे अङ्ग पदवीं मार्गं दातुमेव । न तु हन्तुम् । क्षमः शक्तोऽसि इति भावः । तथापि शक्तोऽपि योग्यः सन्नपि । किं किमर्थं मृगे विशिखं न्यवीविशो निवेशितवान् । विशतेर्ण्यन्ताल्लुङ् । अभिधावतो मृगान्पलायनेनैवात्म रक्षणे कर्तव्ये पदवधीकरणायोगात् । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति श्रुतिनिषेधाच्चेति भावः ॥ ६५ ॥

पितरों का श्राद्ध करने की आपको इच्छा नहीं रही होगी क्योंकि आप निर्जन प्रदेश में हैं अथवा देवताओं के पूजन करने की अभिलाषा थी सो भी नहीं (अर्थात् आप की हिंसा न तो पित्रर्थ है और न देवार्थ)। यदि आपने अपनी रक्षा के निमित्त उसका वध किया हो तो सो भी उचित नहीं आप उसे बिना छेड़ छाड़ किये चले जाने देते फिर आपने उस वराह पर बाण प्रहार किस लिये किया ? इसमें चापल्य के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ॥ ६५ ॥

किं बहुना परमार्थं श्रूयतामित्याह—

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ॥ ६६ ॥

सज्जन इति ॥ सज्जनोऽसि । अत एव चापलं चपलस्य कर्म विजहीहि त्यज । जहातेर्लोट् । 'आ च हौ' इतीकारः । सर्वदा क इव वा को वा सहिष्यते । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोः' । असहने कारणमाह—वारिधीनिति । अनिभृताः

अपला पुन पुनरकार्यकारिणो गुरून् धैर्ययुक्तानपि । अन्यत्र,—विशालानपि । युगान्तवायव प्रलयपवना वारिधीनिव समुद्रानिव क्षोभयन्ति । उपमानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यास ॥ ६६ ॥

विशेष वार्तालाप से प्रयोजन क्या ? तथ्य बात सुनिये —

आप सज्जन हैं अत आप चपलता का परित्याग कर दें। हमेशा कोई सज्जन नहीं रहेगा बार बार अनुचित करनेवाले पुरुष धैर्यशालियों को भी क्षुभित कर देते हैं जिस प्रकार प्रलयकाल का झंझावात विशाल समुद्रों को भी क्षुभित कर देता है ॥ ६६ ॥

ननु किरात क्षुभित किं करिष्यसि, तत्राह—

अस्त्रवेदविदयं महीपति पर्वतीय इति माऽवजीगण ।

गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भित ॥ ६७ ॥

अस्त्रेति ॥ अयं महीपति । अस्त्रवेदवित्, निग्रहानुग्रहसमर्थ इति भाव । अत पर्वते भव पर्वतीय । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्यय । इति हेतो माऽवजीगण । वनेचरबुद्ध्या माऽवज्ञासीरित्यर्थ । गणयतेर्माङि लुङ् । 'ई च गण' इतीकार । अस्त्रविदामलौकिकमर्यमिह वने वसति, तत्राह—गोपितुमिति । मरुत्वता इन्द्रेण । इमां भुवं गोपितुं रक्षितुम् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पात् 'गुपूधूप—' इत्यादिना न आयप्रत्यय । अनुनीय प्रार्थ्य, शैलवास लम्भित प्रापित । 'गत्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति वचनाण्णिकर्तु कर्मणि क्त । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिनाऽपि कर्तु कर्मत्वम् ॥ ६७ ॥

'यह कोलभिल्ल की जाति मेरा क्या कर सकता है' यह बात तो आप स्वप्न में भी न सोचें क्योंकि —

ये भूमिपाल (मेरे स्वामी) अस्त्रवेद के ज्ञाता हैं अर्थात् जो चाहें सो कर सकते हैं इन्हें वनेचर समझ कर तिरस्कार मत कीजिये। इन्द्र ने इस पर्वतस्थली की रक्षा के लिये प्रार्थना पूर्वक इनको यहां रखा है ॥ ६७ ॥

उपसंहरति—

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपति ।

बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसंपद ॥ ६८ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मान्मुनिचापलात् । मुने सम्बन्धि इदं मृगवधरूपमागो मया तितिक्षितं सोढम्, इति चमूपतिरवोचत । शरद्रोहस्य प्रत्यर्पणमेव प्रतीकार इत्याह—अत्रभवते पूज्याय स्वामिने । अत्रभवान् व्याख्यात । निजं बाणं तदीयमेव शरं दिशन् प्रत्यर्पयन्, त्वमपि सर्वसंपद आप्नुहि । सख्येनेति भाव ॥ ६८ ॥

'मैंने इन मुनि के शरहरण अपराध को क्षमा कर दिया' इस तरह का वचन किरातराज (मेरे स्वामी) ने कहा है। आप उनके बाण को प्रत्यर्पित करके सम्पूर्ण सम्पत्तियों को उपलब्ध कीजिये ॥ ६८ ॥

ननु महात्मैतमस्वत्यमव न रोचते, किं पुनस्तत्स्पृहा सम्पद्यतामाह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः ।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसङ्गमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हितं आत्मनीनम् । आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः । उपतिष्ठते सङ्गच्छते । उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणा विनयादयः सम्भवन्ति आपदश्च विरमन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलभाजि नानाफलोपायके आर्यसङ्गमे साधुसङ्गमे । अर्थिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत् । सर्वथा भवत्येव ॥ ६९ ॥

सज्जनसङ्गति से अपना कल्याण होता है, विनयादि गुण प्राप्त होते हैं तथा आपत्तियाँ समूल विनष्ट हो जाती हैं—इस तरह के अनेक फल प्राप्त होते हैं तो फिर उसे प्राप्त करने की चाह किसी को क्यों नहीं होगा ? ॥ ६९ ॥

न चाय दूरे वर्तत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः ।
साहिनीपतिरिव स्थितः पुरो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । 'हेतिर्ज्वालास्त्रयोरपि' इति हैमचन्द्रः । पृतनाभिर्वाहिनीभिः । 'वाहिनी पृतना चमूः' इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः । साहिनीपतिः समुद्र इवोक्तः । किन्तु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । इत्थेन निर्दिशन्नाह—अयमनोकहान्तरे वृक्षान्तरे स्थितः । पुरः इति शेषः । दृश्यताम् । अनोकहः कुटः शाखी पलाशी द्रुमागमा इत्यमरः ॥ ७० ॥

सर्प और मगर से व्याप्त सागर की तरह तीक्ष्ण [illegible] सेना से व्याप्त शबर [illegible] सेनापति के साथ [illegible] हैं । जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादारूप पुल का उल्लंघन नहीं करता उसी तरह यह भी अपने वचन के कारण रुके हुए हैं ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सख्यमनुवदति योऽधिपतिस्तवायं श्रेयांस्यनेन हरितुरगमपेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः ।



सख्यमिति ॥ श्रेयान् [illegible] । [illegible] इत्यादिना [illegible] । [illegible] पतिः । हरितुरगकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां वहन् । अधिपति लोप इव स्थवीय-स्थूलतरम् । 'स्थूलदूर' इत्यादिना पूर्वस्य गुणः [illegible] । सह अनया सख्यं धनु

वहति । हे मतिमन् ! अस्य चमूपतेः मतिमनुकूलयानुकूलां कुरु । सख्यं कुर्वित्यर्थः । मतिमत्तायाः फलमेतदिति भावः । कुतः । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥७१॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः ।



हे नाथ ! शेषनाग के समान स्थूल अत्यन्त अविचल भावसे अवस्थित जो किरात सेनापति इन्द्र के ध्वजा की शोभा को जीतते हुए धनुष धारण किये हुए हैं । उन्हें अपने अनुकूल कीजिये । इनके साथ मित्रता करनेसे सम्पूर्ण अभिलषित मनोरथों को सिद्ध कर सकोगे ॥ ७१ ॥

त्रयोदश सर्ग समाप्त



चतुर्दशः सर्गः ।

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ॥१॥

तत इति ॥ ततः किरातवाक्यानन्तरम् । उद्धतैः प्रगल्भैः किरातस्य वचोभिः । अर्णवाम्बुभिः शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोपं स्तम्भयामासेत्यर्थः । तथा हि—साधवः सज्जनाः सुदुर्ग्रहं सुष्ठु दुरासदमप्रतिकूल्यमन्तःकरणं येषां ते सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ १ ॥

अनन्तर जलनिधि के जलसे (अभिहत) पर्वत की तरह किरात के प्रगल्भ वचनों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए, कारण कि—ऐसे सज्जन पुरुषों का हृदय अदम्य होता है ॥ १ ॥

सलेशमुल्लङ्घितशात्रवेङ्गितः कृती गिरां विस्तरतत्त्वसंग्रहे ।
अयं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः ॥ २ ॥

सलेशमिति ॥ सह लेशैः सलेशं सकलं यथा तथा, उल्लङ्घितमुद्भूतलिङ्गं कृतम् । लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थः । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लङ्घितं येन सः । गिरां वाचां सघन्धिनि विस्तरे तत्त्वसंग्रहेऽर्थसंक्षेपे । वैमापिको द्वन्द्वैकवद्भावः । कृती कुशलः प्रमाणीकृतं प्रधानीकृतं काल एव साधनं येन सः । अवसरोचितं विदधदित्यर्थः । अयं पाण्डवः प्रशान्तसंरम्भः क्षोभरहित इव वचः आददे । उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

ननु महामेतत्सख्यमेव न रोचते किं पुनस्तत्प्रार्थना तत्राह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः ।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसंगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हितं आत्मनीनम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' । उपतिष्ठते संगच्छते । 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणाः विनयादयः सम्भवन्ति आपदश्च विरमन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलभाजि नानाफलोत्पादके आर्यसंगमे साधुसंगतौ । अर्थिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत् । सर्वदा भवत्येव ॥ ६९ ॥

सज्जनसंगति से अपना कल्याण होता है, विनयादि गुण प्राप्त होते हैं तथा आपत्तियाँ समूल निर्मूल हो जाती हैं—इस तरह के अनेक फल प्राप्त होते हैं तो फिर इसे प्राप्त करने [redacted] बाद किसी को क्यों नहीं होती ? ॥ ६९ ॥

न चायं दूरे वर्तत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः ।
साहिनीपतिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । 'हेतिर्ज्वालास्त्रसूर्यांशुषु' इति वैजयन्ती । पृतनाभिर्वाहिनीभिः । वाहिनी पृतना चमूः' इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः । साहन्त्यां समर्थां वीचयो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धतः । किंतु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । इत्थं निमित्तमाह—अयमनोकहान्तरे द्रुमान्तर्वर्तिनि । वर्तत इति शेषः । दृश्यताम् । अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः [redacted] ॥

यहाँ और वृक्ष के आड़ में समुद्र की तरह उद्धत तिरस्कारादि युक्त सेना के मध्य में तीक्ष्ण शस्त्र सम्पन्न सेना के साथ अवस्थित है । जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी तरह यह भी अपने समय के कारण रुके हुए हैं ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः ।

सज्यमिति ॥ ज्ययाऽऽततं सज्यम् । स्थिरमतिशयेन स्थेयान् । 'प्रियस्थिर' इत्यादिना स्थादेशः । महापृथिवीपतिः । हरितुरगमकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां जयन् । अहिपतिः शेष इव स्थवीयः स्थूलतरम् । 'स्थूलदूर' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । सह अनेन सख्या वशु

ननु महामेतरसत्यमेव न रोचते किं पुनस्तन्मूला सम्पदस्तत्राह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः संभवन्ति विरमन्ति चापदः ।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसंगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हितम् आत्मनीनम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' । उपतिष्ठते संगच्छते । 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणा विनयादयः संभवन्ति आपदश्च विरमन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलभाजि नानाफलप्रदे आर्यसंगमे साधुसंगतौ । अर्थिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत् । सर्वथा भवत्येव ॥ ६९ ॥

सज्जनसंगति से अपना कल्याण होता है, विनयादि गुण प्राप्त होते हैं तथा आपत्तियाँ समूल निर्मूल हो जाती हैं—इस तरह के अनेक फल प्राप्त होते हैं तो फिर इसे प्राप्त करने की चाह किसी को क्यों नहीं होगी ? ॥ ६९ ॥

न चायं दूरे वर्तत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः ।
साहिनीपतिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । 'हेतिर्ज्वालास्त्रसूर्यांशुषु' इति हैमः । पृतनाभिर्ध्वजिनीभिः । वाहिनी पृतना चमूः इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः । साहसः सत्पर्वा वीचयो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धतः । किन्तु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । इत्थं नियतमाह—अयमनोकहान्तरे द्रुमान्तर्धाने । वर्तत इति शेषः । दृश्यताम् । 'अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुमागमाः' इत्यमरः ॥ ७० ॥

हर्ष और वेग से भरपूर समुद्र की तरह उद्धत किरातसेनानायक वृक्ष के मध्य में तीक्ष्ण शस्त्र सम्पन्न सेना के साथ अवस्थित है । जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादारूप पुल का उल्लंघन नहीं करता उसी तरह यह भी अपने वचन के कारण रुके हुए हैं ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः ।



सज्यमिति ॥ स्थेयान् स्थिरतरः । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना स्थादेशः । यश्चमूपतिः । हरितुरगकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां जयन् । अहिपतिः शेष इव स्थवीयः स्थूलतरम् । 'स्थूलदूर—' इत्यादिना गुणयणादिपरलोपौ । सह ज्यया सज्यं धनुः

वहति । हे मतिमन् ! अस्य चमूपते मतिमनुकूल्यानुकूला कुरु । सख्यं कुर्वित्यर्थ । मतिमत्ताया फलमेतदिति भाव । कुत । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखसक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥७१॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्याया त्रयोदश सर्ग समाप्त ।



हे प्राज्ञ ! शेषनाग के समान स्थूल अत्यन्त अविचल भावसे अवस्थित श्री किरात सेनापति इन्द्र के ध्वजा की शोभा को जीतते हुए धनुष धारण किये हुए हैं। उन्हें अपने अनुकूल कीजिये। इनके साथ मित्रता करनेसे सम्पूर्ण अभिलषित मनोरथों को सिद्ध कर सकेंगे ॥ ७१ ॥

त्रयोदश सर्ग समाप्त



चतुर्दशः सर्गः ।

तत किरातस्य वचोभिरुद्धतै पराहता शैल इवार्णवाम्बुभि ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डव सुदुर्ग्रहान्त करणा हि साधव ॥१॥

तत इति ॥ तत किरातवाक्यानन्तरम् । उद्धतै प्रगल्भै किरातस्य वचोभि । अर्णवाम्बुभि शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचित्तत्व न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोप स्तम्भयामासेत्यर्थ । तथा हि—साधव सज्जना सुदुर्ग्रह सुष्ठु दुरासदमप्रतिकुप्यमन्त करण येषा ते सुदुर्ग्रहान्त करणा हि । अर्थान्तरन्यास ॥ १ ॥

अनन्तर जलनिधि के जलसे (अभिहत) पर्वत की तरह किरात के प्रगल्भ वचनों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए, कारण कि—वैसे सज्जन पुरुषों का हृदय अटल होता है ॥ १ ॥

सलेशमुल्लङ्घितशात्रवेङ्गित कृती गिरा विस्तरतत्त्वसग्रहे ।
अथ प्रमाणीकृतकालसाधन प्रशान्तसरम्भ इवाददे वच ॥ २ ॥

सलेशमिति ॥ सह लेशै सलेश सकल यथा तथा, उल्लङ्घितमुद्भूतचिह्न कृतम् । चिह्नैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थ । शत्रुरेव शात्रव । स्वार्थेऽण्प्रत्यय । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लङ्घित येन स । गिरा वाचा सबन्धिनि विस्तरे तत्त्वसग्रहेऽर्थसक्षेपे । वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भाव । कृती कुशल प्रमाणीकृत प्रधानीकृत काल एव साधन येन स । अवसरोचित विवक्षुरित्यर्थ । अथ पाण्डव प्रशान्तसरम्भ क्षोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थ ॥ २ ॥

वाणी विस्तार के तत्त्व को संक्षेपपूर्वक संग्रह करने में निपुण अर्जुन किरात के वचनों से शत्रु के अभिप्राय को पूर्णतया समझ कर तथा समयरूप साधन को प्रधान मानकर (अर्थात् अवसर पाकर) कुछ कहने के — इच्छुक होते हुए क्रोधरहित की तरह वचन बोले — (अर्थात् उनके हृदय में क्रोध की मात्रा तो थी परन्तु उसे व्यक्त न करके ही बोले) ॥ २ ॥

सान्त्वपूर्वकमेवाह—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ ३ ॥

विविक्तेति ॥ विविक्ताः असंयोगादिना अश्लिष्टाः स्फुटोच्चारिता वर्णा अक्षराण्येवाभरणानि यस्याः सा। अन्यत्र तु—विविक्तानि शुद्धानि वर्णाः रूपमाभरणानि च यस्याः सा। 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्युभयत्राप्यमरः। सुखा श्रुतिः श्रवणं यस्याः सा सुखश्रुतिः। श्राव्येत्यर्थः। अन्यत्र—श्रूयत इति श्रुतिर्वार्ता। सा सुखा यस्याः सा। मधुराभिधायिनीत्यर्थः। द्विषामपि हृदयानि प्रसादयन्ती। किं पुनः सुहृदामिति भावः। प्रसन्नानि वाचकानि गम्भीराणि अर्थगुरूणि च पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि यस्याः सा। अन्यत्र तु—प्रसन्ना विमला गम्भीरपदाऽलब्धचरणा सरस्वती वाक् स्त्रीरत्नं च। तथा चोक्तम्—'सरस्वती सरिद्भेदे गोवाग्देवतयोरपि। स्त्रीरत्ने च' इति। न कृतं पुण्यकर्म येषां तेषां न प्रवर्तते न प्रसरति। किं तु सुकृतिनामेवेत्यर्थः। भवद्वाणी चैवंविधेति धन्यो भवानिति भावः। अत्र वाचि वाग्देवता च प्रतीयते। तथा च समासोक्तिरलङ्कारः। विशेषणमात्रसाम्येन अप्रस्तुतप्रतीतेः। अत एव न श्लेषः ॥ ३ ॥

स्पष्ट (व्यक्त) वर्ण ही जिसके आभूषण हों जो कर्णकटु न हो अर्थात् श्रोतानन्द जनक हो जो शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न बना देती हो और जिसके सुप्तिङन्तरूप पद अर्थ गौरव शाली हो ऐसी वाणी का विलास बिना सुकृत के नहीं होता ॥ ३ ॥

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गम्भीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

भवन्तीति ॥ ते पुरुषा विपश्चितां विदुषाम्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः। मध्ये सभ्यतमाः समर्थाः साधुतमाः निपुणतमाः। 'साधुः समर्थो निपुणश्च' इति काशिकायाम्। भवन्ति। ये मनोगतं मनसा गृहीतं अर्थं वाचि निवेशयन्ति। वाचोद्गिरन्तीत्यर्थः। तेष्वप्युपपन्ननैपुणाः समाश्रितकौशलाः कतिचिदेव गम्भीरं निगूढमर्थं प्रकाशतां स्फुटतां नयन्ति। लोके तावज्ज्ञातार एव दुर्लभाः तत्रापि वक्तारः, तत्रापि निगूढार्थप्रकाशकाः। त्वमपि तथाऽसीति स्तुतिः। वनेचरवाक्यरहस्यं ज्ञातमिति स्वयमपि तादृश एवेति हृदयम् ॥ ४ ॥

वे पुरुष विद्वानों के बीच निपुणता में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं जो मनोगत भाव को

वाणी में स्थापित करते हैं (अर्थात् वाणी से व्यक्त करते हैं) उनमें भी जो अत्यन्त कुशलतासे निगूढार्थ को व्यक्त कर देते हैं । तात्पर्य यह कि एक तो जानने वाले दुर्लभ हैं फिर सब कुछ जानते हुए उसके वक्ता दुर्लभ हैं। उनमें भी गम्भीर अर्थ के बोध कराने वाले तो अत्यन्त दुर्लभ हैं । परन्तु तुम में ये सब गुण वर्तमान हैं ॥ ४ ॥

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥ ५ ॥

स्तुवन्तीति ॥ किं च, केचिद्गुर्वीं महतीमभिधेयसम्पदमर्थसम्पत्तिं स्तुवन्ति । अपरे विपश्चित उक्तेः शब्दस्य विशुद्धिं सामर्थ्यं स्तुवन्ति। इति प्रतिपूरुषं रुचौ प्रीतौ स्थितायां व्यवस्थितायां सर्वमनोरमाः सर्वेषां शब्दार्थरुचीनां पुंसां मनोरमा गिरः सुदुर्लभाः । त्वद्गिरस्तु सर्वमनोरमा उभयसर्वगुणसम्पत्त्येति भावः ॥ ५ ॥

कुछ लोग वाणी की वाच्यार्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, और कुछ लोग शब्द सामर्थ्य की ही प्रशंसा करते हैं इस तरह के भिन्न भिन्न विचार के लोग होते हैं फिर इस प्रकार की वाणी दुर्लभ है जो सर्वप्रिय हो । परन्तु तुम्हारी वाणी तो सवगुण सम्पन्न होने से सर्वप्रिय है ॥ ५ ॥

समस्य सम्पादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम् ।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य वाग्मिना वनेचरेणापि सताधिरोपितः ॥ ६ ॥

समस्येति ॥ धुरं वहतीति धुर्यस्तत्सम्बोधने हे धुर्य ! हे कार्यनिर्वाहक ! 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः । अत एव समारोपितभार हे स्वामिना निहितसन्ध्यादिकार्यभार । तथाह मनुः —'दूते सन्धिविपर्ययौ' इति । इमां 'शान्तताविनययोगोग्यादिकां भारतीं वाचं गुणैर्विभक्तवर्णत्वादिभिः समस्य सयोज्य प्रगल्भं निर्भीकं यथा तथा सम्पादयता रचयता । व्याहरतेत्यर्थः । त्वया वनेचरेणापीत्यर्थः । सता 'अपि'शब्दो विरोधद्योतनार्थम् । आत्मा स्वयं वाग्मिना वाचोयुक्तिपटुनात्र। 'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः । 'वाचो ग्मिनिः' इति मत्वर्थीयो ग्मिनिप्रत्ययः । धुरि अग्रेऽधिरोपितः । स्थापित इत्यर्थः । 'रुह पोऽन्यतरस्याम्' इति पकारः । अत्र मनुः —'वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते' इति ॥ ६ ॥

ऐ कार्यनिर्वाहक ! तथा स्वामी के द्वारा सन्ध्यादिक कार्य के लिये नियुक्त, 'शान्तताविनययोगि' इस पूर्वोक्त वाणी को स्पष्टाक्षरत्वादिक गुणों से युक्त कर निर्भीक होकर बोलने वाले तुमने किरात होते हुए भी व्याख्यानपटुओं के समक्ष अपनी आत्मा को रखा है अर्थात् तुम वाग्मियों में सबसे बढ़कर हो ॥ ६ ॥

वाग्मितामेवाह—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम् ।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥ ७ ॥

प्रयुज्यति ॥ शान्तताविनययोगी त्वादिना साम सान्त्वम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । प्रयुज्य नियुज्य विलोभनप्रलोभनं मित्रमिष्टम् इत्यादिनाऽऽचरित सपादितम् । तथा धिको बुद्धेर्विभेदाय व्यामोहनार्थम् 'शक्तिरयपतिषु' इत्यादिना मर्यं प्रदर्शितम् । किंच शिलीमुखार्थिना । न तु न्यायार्थिनेति भावः । त्वयेति शेषः । 'मामियोक्तुम्' (१३।५८) इत्यादिना तवाऽभियुक्तं कथितं यथेतरत् न्यायादन्यत् । अन्याय्यमित्यर्थः । न्याय्यं न्यायादनपेतमिवावभासत इत्युपमा । अनेन वाग्मिनामग्रेसरोऽसीति भावः ॥ ७ ॥

'शान्तताविनययोगि' इससे तुमने साम नीति का प्रयोग करके मित्रमिष्ट इससे प्रलोभन (लालच) दिखलाया है । बुद्धि को भ्रम में डालने के लिये तुमने 'शक्तिरयपतिषु' इससे भय प्रदर्शित किया है । बाण प्राप्त करने की इच्छा से तुमने इस प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है जो सरासर अन्यायपूर्ण होते हुए भी न्यायसंगत सा मालूम पड़ता है ॥ ७ ॥

सत्यं किमत आह—

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः ।

हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ॥८॥

विरोधीति ॥ किंतु सिद्धेः फलस्य विरोधि विघातकमिति इत्थमस्मदाक्रमणरूपं कर्म कर्तुमुद्यतः स भूपतिर्महीपतिर्भवता । युद्धेऽपीति भावः । किं न वारितो न निषिद्धः । निवारणे हेतुमाह—भूतिमिच्छता ऐश्वर्यम् च श्रेयोऽर्थिना सहार्थनाशेनार्थनाशो स्वार्थानर्थौ यस्य तेन सहार्थनाशेन । समानसुखदुःखेनेत्यर्थः । अनुजीविना भृत्येन नृपः स्वामी हिते नियोज्यो नियम्यः खलु । अन्यथा स्वामिप्रयोजनस्य [illegible] यतो भक्तः स्यादिति भावः ॥ ८ ॥

सिद्धि में विघ्नकारक कार्य करने के लिये तत्पर अपने स्वामी को तुमने क्यों नहीं मना किया । दुःख-सुखभागी अनुचर (दास) का कर्तव्य है कि स्वामी के हित की कामनासे उसे भले कार्य में नियुक्त करे ॥ ८ ॥

वहिं नो बाणः क गतः किमत्र वा न्याय्यम् तत्राह—

ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।

न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ ९ ॥

ध्रुवमिति ॥ प्रहितस्य प्रयुक्तस्य पत्रिणः शरस्य प्रणाशोऽदर्शनं ध्रुवं निश्चितम् । प्रहितश्चेदिति भावः । तस्य नष्टस्य पत्रिणः शिलोच्चये शैले । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । विमार्गणमन्वेषणं नयो न्यायः । अन्वेषणं विचयनं मार्गणं मृगणा मृगः इत्यमरः । अत्र विषये आर्यजनातिलङ्घनं सतामत्यतिक्रमो न युक्तम् । हि यस्मात्कारणात् सतामतिक्रमोऽपायमनर्थं दिशति ददाति ॥ ९ ॥

फेंका गया बाण का अन्तर्हित होना कोई असम्भव बात नहीं। न्याय तो यह है कि इस पर्वत पर उसके अन्वेषण करने में सुजनता का व्यतिक्रम उचित नहीं। क्योंकि सुजनता का लंघन करना अनर्थकारी होता है ॥ ९ ॥

यदुक्तम् 'हर्तुमर्हसि' (१३।२१) इति, तत्रोत्तरमाह—

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता ।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥ १० ॥

अतीतेति ॥ खाण्डवमिन्द्रवनम् अत्तु भक्षयितुम्, इच्छताऽग्निना ममातीतसंख्याः शिलीमुखाः शरा विहिता दत्ताः । खाण्डवदाहेऽक्षयतूणीरदानमुक्तं भारते । अतोऽमरसायकेष्वपि अनादृतस्यादररहितस्य । भावे क्तः । ततो नञा बहुव्रीहिः । मम कथं शैलजनाशुगे किरातबाणे धृतिरास्था स्थिता । न कथंचिदित्यर्थः । अतो नापहारशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ १० ॥

खाण्डव (इन्द्र का वन) वन को निगल जाने के अभिलाषी अग्नि देव ने मुझे असंख्य शर प्रदान किये हैं। देवताओं के बाणों की भी मुझे कोई आवश्यकता नहीं फिर तुम्हीं बतलाओ कि एक कोलभिल्ल के बाण ले लेने के लिये मेरा विचार कब हो सकता है। तुमने जो 'हर्तुमर्हसि' यह कहा, वह सर्वथा अनुचित कहा ॥ १० ॥

यदुक्तम् 'स्मर्यते तनुभृताम्' (१३।४२) इत्यादिना सदाचारं प्रमाणमिति, तत्रोत्तरमाह—

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥ ११ ॥

यदीति ॥ आर्यचेष्टितं सदाचारः प्रमाणीकृतं यदि । साधुत्वेनाङ्गीकृतं यदीत्यर्थः । तर्हि, अदोषेण दोषाभावेऽपि । 'क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समासः' इति भाष्यकारः । उपलक्षणे तृतीया । वयं किमिति तिरस्कृताः । न युक्तमित्यर्थः । हि यस्मात्, परिवादगोचरं परनिन्दास्पदम् । अयातपूर्वा सतां वाणी गुणमेव भाषते न दोषम् । अतस्ते मृषादोषभाषिणो न सदाचारप्रामाण्यबुद्धिरिति भावः । पूर्वं न यातेत्ययातपूर्वा । सुप्सुपेति समासः । परत्वात्सर्वनाम्नो निष्ठायाः पूर्वनिपातः । 'स्त्रियाः पुंवत्-' इत्यादिना पुंवद्भावः पूर्वशब्दस्य च । अर्थान्तरन्यासः ॥ ११ ॥

यदि सज्जनाचरण को प्रमाण मानते हो तो फिर अवगुण के न होते हुए भी मेरी इस प्रकार की अवहेलना तुमने क्यों की? क्योंकि जो सज्जन-वाणी किसी व्यक्ति की जुगुप्सा करने के लिये कभी प्रवृत्त नहीं हुई वह गुण का ही अभिभाषण करती है (अवगुण का नाम नहीं लेती) ॥ ११ ॥

नन्वप्रत्यक्षा परबुद्धिः कथं दुष्टेति निश्चीयते, तत्राह—

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम् ।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ॥ १२ ॥

धनुष के धारण करने वाले व्यक्तिपर उन्होंने दया की है यह किस तरह माना जा सकता है? तात्पर्य यह कि—असमर्थ पर दया की जाती है पर जो स्वयं आत्मरक्षा में समर्थ है उसपर दया कैसी?॥ १६॥

अथ कृपामभ्युपगम्याह—

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम्।
अविघाते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपतेः॥ १७॥

अथो इति॥ अथो प्रश्ने। 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। तेन नृपेण मदर्थं यथा तथा। अर्थेन सह नित्यसमासः। शर उज्झितस्त्यक्तः। तस्य उज्झितस्य फलं च प्रतिकायस्य प्रतिपक्षस्य साधनं वधः। 'साधनं निर्वृतौ मेढ्रे सैन्ये सिद्धौ वधे गतौ' इति विश्वः। अविघातेऽप्रतिहते तत्र तस्मिन्फले मयात्मसात्कृते स्वाधीनीकृते सति। 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः। चमूपतेरधिका कृतार्थता साफल्यं नन्वस्तु। एतावुभयस्य परस्परानुग्रहपात्रप्रतिपादनमेकहेलया सिद्धमित्यर्थः। तथाप्ययं याचत इति कृपालुतया स्वकीयमपि जिहीर्षतीति भावः॥ १७॥

अच्छा मैंने मान लिया कि किरातनाथ ने मुझपर दया दिखलायी किन्तु—

उन्होंने यदि मेरा उपकार करने के लिये शर प्रक्षेप किया है तो उसका फल भी यह है कि (मेरे) शत्रु का नाश हो—इस प्रकार की फल सिद्धि पूर्णतया सम्पादित होने पर यदि बाण मुझे प्राप्त हो जाता है तो इसमें किरातनाथ को और अधिक सफलता प्राप्त हो जाती है॥ १७॥

मार्गणैरथ तव प्रयोजनम् (१३।७२) इत्यादिनोक्तं निराचष्टे—

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम्।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः॥ १८॥

यदिति॥ स नृपः कामं भवता याच्यतामिति यदात्थ। मामिति शेषः। एतदनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न युक्तम्। कुतः? प्रसह्य बलात् आहरणैषिणामाहर्तुमिच्छताम्। 'क्षत्रियस्य विजितम्' इति स्मरणादिति भावः। परावनत्या याच्ञादैन्येन मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः। न कथंचिदित्यर्थः॥ १८॥

जो तुमने कहा कि—'बाण की आवश्यकता हो तो माँग लीजिये' यह मनस्वियों को शोभा नहीं देता। बलात्कार किसी वस्तु के ग्रहण करने के अभिलाषियों को किसी की प्रार्थना करके अपनी श्री को दूषित करना भला कब अच्छा लगेगा॥ १८॥

अथ पौरुषमुखेन मतं दूषयति—

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः॥ १९॥

अभूतमिति ॥ तव नृपोऽभूतमनृतम्, आसज्य । मिथ्याभियुज्येत्यर्थः । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः । अलभ्यं लब्धुमशक्यं विरुद्धं विपरीतफलकम्, ईहितं मनोरथं बलाल्लिप्सते लब्धुमिच्छति । न चैतच्चित्रमित्याह—हि यस्मात्, अनयस्य दुर्नयस्य रौद्रता भयंकरत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्य मतिर्बुद्धिः । अपाये विनाशकाले परिमोहिनी भवति । परिमुह्यतीति परिमोहिनी । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये इति णिनिप्रत्ययः । तथा चोक्तम्—'विनिर्मितः केन न दृष्टपूर्वो हेम्नः कुरङ्गो न च कुत्र वार्ता । तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥' इति । तस्माद्विनाशकाले विपरीतबुद्धिर्भवतीति भावः ॥ १९ ॥

तुम्हारे राजा असत्यका प्रयोग कर बलात्कार अत्यन्त विपरीत फलोत्पादक मनोरथ की सिद्धि की कामना करते हैं । दुर्नीति को भोगता परिचित पुरुष की भी बुद्धि विनाशकाल में व्यामोहोत्पादिका होती है । (इसकी पुष्टि में किसी कविका कथन है— किसी ने आज तक सुवर्णका हरिण न तो निर्माण किया और न आज तक कहीं सुनने में आया तथा इसके पहले किसीने देखा भी नहीं यहां तक कि उसकी चर्चा मात्र भी न थी यह सब कुछ होते हुए भी रामचन्द्रजी को उसे प्राप्त करने की तृष्णा था दबोची, कारण इसका यही हो सकता है कि विनाशकाल में बुद्धी विपरीत हो जाती है ॥ १९ ॥

अथ सर्वथा कथ्यते शरस्तर्हि किमनेन, सुखं विभज्य याच्यतां वारोऽस्यहेत्याह—

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते ।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः ॥२०॥

असिरिति ॥ असिः खड्गः शरा वर्म कवचम्, उच्चैरुत्कृष्टं धनुश्च धनुर्वा ते तव ईश्वरेण स्वामिना विविच्य पृथक्कृत्य विभज्य किं न प्रार्थितं न याचितम् । येन प्रयोजनं तद्दास्यामीति भावः । नपुंसकैकशेषः । अथास्य वीराभिमानिनो नृपस्य शक्तिरस्ति । चेदिति शेषः । याच्ञया कृतमेवालमेव । साध्याभावाद् याचितव्यमेवेत्यर्थः ॥ याच्ञा-क्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थमव्ययम् । यतः शक्तिमतां स्वयंग्रहो बलाद्ग्रहणं न दूषितः । किंतु भूषणमेव वीराणामिति भावः ॥ २० ॥

खड्ग, शर, कवच, अथवा सर्वोत्तम धनुष इनमेंसे कोई एक वस्तु तुम्हारे स्वामी अच्छा समझ कर क्यों नहीं मांग लेते ? (मैं स्वयं देने के लिये प्रस्तुत हूं) अथवा यदि उनके पास पुरुषार्थ हो तो फिर याञ्चा से क्या प्रयोजन ? बलप्रयोग से ही लेलें क्योंकि शक्तिशालियों की वस्तु बलात्कार अपहरण करने में कोई दोष नहीं ॥ २० ॥

'राघवलवणराजयोरिह' (१३।७०) इत्यादिनोपदिष्टं सख्यं प्रत्याचष्टे—

सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयाऽसूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥ २१ ॥

सखेति ॥ स नृपः कथं त्वया युक्तो योग्यः सखा कथितः । न कथञ्चिदुपपन्नमित्यर्थः । कुतः । यो नृप तपस्यते तपस्विने । अनपराधिने इत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरिता' इत्यमरः । असूयति असूयां करोति । 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः । प्रत्युत शत्रुरेवायमित्याह—हि यस्मात् गुणानामर्जने च उत्कर्षे तत्स्य विरुद्धा विमुखा बुद्धिर्येषां ते तथा असाधवो दुष्टाः सतां सज्जनानां प्रकृत्यमित्राः प्रकृत्या शत्रवः । 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः ॥ २१ ॥

तुमने जो कहा— वे किरातराज आप के लिये उपयुक्त मित्र हैं ? जिस तरह रामचन्द्र के लिये सुग्रीव उपयुक्त मित्र थे यह भी ठीक नहीं ? क्योंकि जो तपस्वी पर मनमाना दोषारोप करता है वह तुम्हारा सखा कैसे हो सकता है ? क्योंकि असज्जनों की बुद्धि सर्वदा गुणों के अर्जन या उत्कर्ष के विरुद्ध होती है। अतः वे स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं ॥ २१ ॥

हीनजातित्वाच्च सख्यमसङ्गतमित्याह—

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥ २२ ॥

वयमिति ॥ वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्षित्रयकुलजाता वयं राजानः क्व । जातिहीना मृगजीवितच्छिदो हिंसाजीविनो व्याधाः क्व । कश्चिदाह—अपकृष्टैरुत्कृष्टानां सहत्वं दृष्टमिति । अपकृष्टानां सङ्गतं सख्यं न । महतामिति शेषः । तथा हि—दन्तिनो गजा गोमायूनां शृगालानां सखायो गोमायुसखा न भवन्ति । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायु-मृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः । अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

तुम्हारे स्वामी हम दोनों के मित्र कदापि नहीं हो सकते इसका कारण यह भी है कि—

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने में योग्य हम कहाँ ! और निकृष्ट जाति के जीवों की हिंसा में तत्पर तुम्हारा स्वामी कहाँ ! नीचों के साथ उच्च व्यक्तियों की मित्रता नहीं होती क्योंकि हाथी शृगालों के साथ मैत्री नहीं करते ॥ २२ ॥

नीचसख्यं कथमपि विप्रकृत इति चेत्तत्राह—

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम् ।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥ २३ ॥

पर इति ॥ अज्ञताजडो मोहात्मा परोऽवजानाति यत्तत् अवज्ञानम् उन्नतानां महतां धीरतां निर्विकारचित्तत्वं न विहन्ति । न विकारं जनयतीत्यर्थः । क्रोष्टेव सिंहस्येति भावः । किन्तु समानानि तुल्यानि वीर्यान्वयपौरुषाणि शक्तिकुलविक्रमा येषां

तेषु मध्ये। निर्धारणे सप्तमी। स कश्चिदित्यर्थः। अतिक्रान्तिमतिक्रम करोति चेत्, असौ सदृशजनातिक्रमस्तिरस्क्रिया तिरस्कार। यथा सिंहे सिंहस्येति भाव ॥ २३ ॥

यदि अज्ञानोपहत शत्रु तिरस्कार करता है तो उससे महान् व्यक्तियों के धैर्य में न्यूनता नहीं होती। जो पुरुष बल, वश, और सामर्थ्य में समान है वह यदि अतिक्रमण करे तो तिरस्कार की बात होगी ॥ २३ ॥

तर्हि नीचे कीदृशी वृत्तिरित्यत्राह्व सोपपत्तिकमाह—

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।

स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ॥ २४ ॥

यदेति ॥ यदा विगृह्णाति विरुणद्धि। पृथग्जनेनेति शेषः। तदा यशो हतं नाशितं भवेत्। अथ मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः। भवेयुरिति शेषः। इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य प्रसक्त्यं विमृश्य, परीक्षको विवेचकः पृथग्जनं नीचजनम्, अवज्ञयाऽनादरेण उपहतं तिरस्कृतं करोति। उपेक्षत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

नीच व्यक्ति से विग्रह करने से यश का नाश होता है अथवा यदि उनके साथ मित्रता किया जाय तो गुण कलंकित होते हैं। अतः दोनों तरफ की वस्तुस्थिति को विचार कर परीक्षक को उसकी तिरस्कार करनी चाहिये ॥ २४ ॥

उपसंहरन्नाह—

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।

शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः ॥ २५ ॥

मयेति ॥ अनेन हेतुना सन्धिविरुद्धमहेतेन कारणेन मया मृगान्हन्तुर्व्याधस्य सम्बन्धि। हन्तेस्तृन्प्रत्ययः। अत एव 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। विरुद्धमसिपदयत्, आक्षेपवचस्तिरस्कारवचनं तितिक्षितं सोढम्। ननु सत्यस्याग्रहीकारे बलाज्जिघृक्षतीत्याशङ्कयाह—शरेति। अथ शरार्थमेष्यति इष्टौ विषं यस्य तस्मात् दृष्टिविषात्, सर्पविशेषात् शिरोमणिं जिघृक्षतो ग्रहीतुमिच्छतो गतिं दशां लप्स्यते प्राप्स्यति ॥ २५ ॥

यही कारण है—मैंने मृगपशुविघाती के विपरीत अधिक्षेप वचन को सहा। यदि बाण लेने के लिये आयेंगे तो उसी दशा को प्राप्त होंगे जिस दशा को सर्प के मणि लेने की इच्छा करने वाला प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

इतीरिताकूतमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा।

ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ॥ २६ ॥

इतीति ॥ इतीत्थम्, ईरिताकूतमुक्ताभिप्रायम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं दूतो जयाय तेजसा प्रतापेन प्रतितर्ज्य। असामर्थ्यमत्वा क पमिष्यसीति भीषयित्वे-

र्थः । ध्वजिनीमुपेयुषः सेनासंगतस्य प्रसन्नरूपस्य । अर्जुनं प्रतीति शेषः । विरूपचक्षुषस्त्र्यम्बकस्य समीपं ययौ ॥ २६ ॥

वह किरातधिराज का दूत अर्जुन के अभिप्राय को समझ कर और उन्हें जयोपरान्त भी तेज और प्रताप से गर्वित कर सेना के साथ चलते हुये त्रिलोचन भगवान् शङ्कर (व्याध) के, जो अर्जुन के प्रति प्रसन्नतासूचक स्वरूप धारण कर रहे थे समीप गया ॥२६॥

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्रादवती महाचमूः ।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिवीचिसंहतिः ॥ २७ ॥

तत इति ॥ ततः पताकिनीपतेः सेनापतेः अपवादेनादेशेन । अपवादोऽन्यथादेश इति सज्जनः । निर्ह्रादवती ध्वनिमती महाचमूः सेना युगान्तवातैरभिहता आन्दोलिता अत एव निनादं कुर्वती अम्भोनिधिवीचिसंहतिरर्णवोर्मिसमूह इव चचाल ॥ २७ ॥

इसके अनन्तर सेनापति के आदेश से किरातराज की विशाल सेना गम्भीर घोष करती हुई प्रलयकाल के झञ्झावात से प्रेरित होकर जलनिधि के लहरों के समूह की तरह दौड़ी ॥ २७ ॥

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसन्ततिः ।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः ॥२८॥

रणायेति ॥ जेतैव जैत्रो जयशीलः । अनुकूल इत्यर्थः । जयतेस्तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तरङ्गिता सञ्जाततरङ्गा यथा तथा आलम्बिता अवलम्बिता केतुसंततयो येन सः सह घनैः सान्द्रैरम्बुशीकरैः सघनाम्बुशीकरः सुरभिः सुगन्धः समीरणो वायू रणाय त्वरां प्रदिशन्निव त्वरयन्निव बलानां सैन्यानां पुरोऽग्रे शनैः प्रतस्थे प्रस्थितः । [illegible] ॥ २८ ॥

(उस समय) जयशील (अनुकूल) सुगन्धित पवन प्रचुर जलकण के साथ लहरती पताकाओं को लेकर संग्राम के लिये शीघ्रता का आदेश करते हुये की भाँति उस किरातनाथ के आगे धीरे २ चला ॥ २८ ॥

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः ।
असम्भवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः ॥ २९ ॥

जयेति ॥ जयारवैर्जयशब्दैः क्ष्वेडितनादैः सिंहनादैश्च मूर्च्छितो वर्धितः शरासनज्यानां धनुर्गुणानां तलत्राणानां तलवारणानां च ध्वनिर्भूधरराजकुक्षिषु गिरिगुहासु असंभवन् अमान् । अवकाशमलभमान इत्यर्थः । अत एव गां भुवं प्रकम्पयन् । एतेन बलानां बाहुल्यमुक्तम् । दिशोऽवतस्तरे व्यानशे । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' । अत्र मूर्च्छनप्रकारस्य विशेषणगत्याऽसंभवनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् रूपकं तु गिरिकुक्षिरूपापेक्षया ध्वनेरावेशनाधिक्योक्तेरधिकालङ्कारश्च । तेभ्यश्चेयम

समवधिति व्यञ्जकं विनोत्प्रेक्ष्यमाणोपात्तमूर्च्छागुणनिमित्ता प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा । सैरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यत इति सङ्करः ॥ २९ ॥

वन्दीजनों के जय जय कार के सिंहनाद से वर्धित होकर प्रत्यञ्चा की टङ्कार तथा ढाल की खटखटाहट गिरिराज (हिमालय) की कन्दराओं में न समाकर पृथ्वी को कम्पित करती हुई दशो दिशाओं में गूँज गयी ॥ २९ ॥

निशातरौद्रेषु विकासतां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम् ।
वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ॥ ३० ॥

निशातेति ॥ निशातास्तीक्ष्णा अत एव रौद्रा भीषणाश्च ये तेषु निशातरौद्रेषु । विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविशेष्यत्वविवक्षया इष्टत्वाद्विशेषणसमासः । वने सीदन्तीति वनेसदो वनेचराणाम् । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । हेतिषु आयुधेषु । 'हेतिः स्त्रियोऽपि पुंस्त्रियो' इति केशवः । भिन्नविग्रहैः सञ्जातमूर्तिभिरत एव विकासतां विपुलत्वतां गतैरत एव ककुभां दिशाम्, अन्तरमवकाशं प्रदीपयद्भिः प्रभासयद्भिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । रश्मिमतः सूर्यस्य । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' इति मतुपो मकारस्य न वकारः । मरीचिभिः करैः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयो' इत्यमरः । विपुस्फुरे भावे । स्फुरतेर्भावे लिट् ॥ ३० ॥

अंशुमाली (सूर्य) की किरणें, जो वनेचरों के तीक्ष्णता के कारण भीषण शस्त्रों पर प्रकाशमान होकर विस्तृत हो रही थीं, दिशाओं के मध्यन्तराल को प्रकाशित करती हुई दीप्त होने लगीं ॥ ३० ॥

उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः ।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गुणानामुपरीव मध्यगः ॥ ३१ ॥

उदूढेति ॥ उदूढेनोन्नतेन वक्षसा स्थगितमाच्छादितमेकमेकतरं दिङ्मुखं येन सः । विकृष्टमाकृष्टमत एव विस्फारितं निर्घोषितं चापमण्डलं येन स विभुः शिवः । आयतं विस्तृतं पक्षद्वयं पार्श्वद्वयं वितत्य स्वमहिम्ना व्याप्य । 'पक्षः साध्यगरुत्पार्श्वसहायबल-भित्तिषु' इति वैजयन्ती । गुणानां मध्यगो मध्यस्थोऽपि उपरि स्थित [illegible] बभौ । सर्वोन्नतत्वात्तथा लक्षित इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

शंकर भगवान् ने धनुष की प्रत्यञ्चा को आकृष्ट किया जिससे गम्भीर एवं प्रतिध्वनित हो उठा । उन्होंने अपने विशाल वक्षस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को अवरुद्ध कर दिया और विस्तृत पार्श्वद्वय को अपने तेज से व्याप्त कर दिया । प्रमथ गणों के मध्य में स्थित होते हुये वे सबसे उन्नत सुशोभित हुये ॥ ३१ ॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः ।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ वनं निरुच्छ्वाससमिवाकुलाकुलम् ॥ ३२ ॥

सुगेष्विति ॥ सुखेन दुःखेन च गच्छन्त्येष्विति सुगेषु सुगमेषु दुर्गेषु दुर्गमेषु च ।

समविषमदेशेऽप्यविस्पर्शं । सुदुरोरधिकरणार्थे डो वक्तव्यः । अत एव हिलोपः । सुखं विक्रमैर्लोघवात्समसञ्चारे यथाऽऽयात् । अहपूर्विकयाऽहमहमिकया । अहपूर्वमहपूर्वमित्यहपूर्विका स्त्रियाम् इत्यमरः । पियासुभिर्यातुमिच्छुभिः । याते सन्नन्तादुप्रत्ययः । गणैः प्रमथैः । मनोज्ञादित्वाद्वुञ्प्रत्ययः । पृषोदरादित्वाद्घस्वभावः । गणाः प्रमथसङ्घौघा इति वैजयन्ती । अविच्छेदेन निष्क्रमत एव आकुलाकुलमाकुलप्रकारम् । प्रकारे गुणवचनस्य इति द्विर्भावः । वन निरुन्ध्यमान निरुद्धमानमिव । आयमो इत्युत्प्रेक्षा ॥ २२ ॥

समान मन्दवाली शिव के पक्ष को सुगम और दुर्गम पथ में समसञ्चरण करते हुए 'न पहले चलूंगा नहीं मैं पहले चलूंगा' इस प्रकार की अहपूर्विका भाव से वेगपूर्वक चलने की इच्छा कर रहे थे । अतः वन प्रदेश सर्वत्र व्याकुल होकर व्याकुल सा प्रतीत होने लगा ॥ २२ ॥

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नुवानाः सहसातिरिक्तताम् ।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिताः भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥ २३ ॥

तिरोहितेति ॥ किरातसैन्यैस्तिरोहितानि छन्नानि श्वभ्रनिकुञ्जरोधांसि गर्तकुञ्जतटानि यासां ताः । अत एव भुवः । प्रवेशात् सहसाऽतिरिक्ततामुन्नततां समश्नुवानाः प्राप्नुवत्यः । तथा अपिधायाच्छाद्य रेचिता रिक्तीकृता मुक्ताः क्षणं निम्नतया गाम्भीर्येण भेजिरे इव प्राप्ता इत्युत्प्रेक्षा । सैन्यैर्वा भुवो व्याप्तास्तथा प्रतीयन्ते । तैर्मुक्तास्ता एव निम्नाः प्रतीयन्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

किरातों की सेनाओं से गड्ढों के पड़ने व्याकुल तथा तटप्रदेश आच्छादित हो जाने के कारण वहाँ की भूमि उन्नत दृष्टिगोचर होती थी और जब वे उस स्थली का परित्याग करके आगे बढ़ जाते थे तो फिर वह यथावत् निम्न दिखलाई पड़ती थी ॥ [illegible] ॥

पृथूरुपर्यस्तबृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना ।
गणाधिपानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ॥ २४ ॥

पृथ्विति ॥ पृथुभिर्विशालैरूरुभिः सक्थिभिः पर्यस्ता क्षिप्ता बृहत्यो लताततयो यया सा जवानिलेन वेगमारुतेनाऽऽघूर्णिता भ्रामिताः शालाः सर्जतरवश्चन्दनानि च यया सा । आकारवृक्षयोः साले शालः सर्जतरुः स्मृतः इति शाश्वतः । परितः सर्वत्र प्रसारिणी प्रसरणशीला गणाधिपानां संहतिः समूहो वनान्यवाञ्चि न्युब्जानीव चकारेत्युत्प्रेक्षा । अवाञ्चयतेरुक्तो वाञ्चति । अवपूर्वादञ्चतेः क्विप् । 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः ॥ २४ ॥

प्रमथ गणों की सर्वत्र प्रसरणशील सेनाने अपने स्थूल जंघों के द्वारा सुदूर विस्तृत लता समूह को नष्ट भ्रष्ट करते हुए तथा अपने वेगोत्थ मारुत से शाल और चन्दन के वृक्षों को झकझोरते हुए विपिनों को मानो अवाङ् मुख कर दिया ॥ २४ ॥

अथाष्टभि श्लोकैरर्जुनं विशेषयन् गणानां तदभियोगमाह—

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम् ।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥ ३५ ॥

तत इत्यादि ॥ ततः सदर्पं सगर्वं श्रान्तं सारं तपस्यया तपश्चर्यया । तपस्यते क्यजन्तात्स्त्रियामप्रत्यये टाप् । प्रतनुं कृशमत एव मदस्रुत्या मदक्षरणेन क्षामं कृशम् । 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः । एकवारणमेकाकिनं गजमिव स्थितमित्युपमा । पुनः । भूभृतां राज्ञां निधनाय नाशाय परिज्वलन्तं तेजस्विनमत एव, आशा दिशो दहन्तं जातवेदसमग्निमिव स्थितमित्युपमालङ्कारः । 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

[श्लो०नं०३५—४२ तक का अन्वय एक साथ है । श्लोक नं० ४२ के अन्त के दो चरणों में कर्ता, कर्म और क्रिया एक ही साथ हैं, देखिये—'उपालभे तोयवना यथा इव गणा अनीकवाजिनं समासेदुरिति, इससे अवशिष्ट पद ३५—४२ के भीतर जो आये हैं सब अनीकवाजिन (अर्जुन) की विशेषता प्रकट करते हैं ।]

श्वेताश्व (अर्जुन) यद्यपि मान्त सार सम्पन्न थे तथापि तपस्साधन से कृश काय होने के कारण मदक्षरण से दुर्बल गजराज के सदृश अकेले मालूम पड़ते थे । (इसके अतिरिक्त) शत्रु के विनाशार्थ तेज पुञ्ज को वहन करने से दिशाओं को भस्मसात् करते हुए अग्नि देव के समान प्रतीत हो रहे थे ॥ ३५ ॥

अनादरोपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम् ।
शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ॥ ३६ ॥

अनादरेति ॥ पुनश्च, अनादरेणावगणनयोपात्तो निषङ्गादुद्धृतो धृतश्चैकः सायको येन तं, तथाऽनुकूले सुहृदीव जये सस्पृहम् । जयमिच्छन्तमित्यर्थः । पुनश्च, अपूर्णो न्यूनः प्रतिकारो बाणाद्धरणप्रत्यर्पणरूपो यस्य सः । अत एव पेलवो लघुस्तस्मिन् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ सेनासमुद्रे शनैरसम्भ्रमेण नयने दृष्टी निवेशयन्तमिति धीरस्वभावोक्तिः । बलमुदधिरिवेत्युपमितसमासः । 'पेषंवासवाहनधिषु च' इत्युदकस्योदादेशः ॥ ३६ ॥

उन्होंने अनादर से निषङ्ग से एक बाण निकाल कर हाथ में धारण कर रखा था । विजय काम में अनुकूल मित्र के सदृश उनकी उत्कट इच्छा थी । अत एव उस सैन्यसमुद्र पर, जो कि प्रतिकार करने में न्यूनता के कारण लघु दिखाई पड़ रहा था दृष्टि लगाये हुए थे ॥ ३६ ॥

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानपायिनि ।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥ ३७ ॥

निषण्णमिति ॥ पुनश्च, आपदां प्रतिकारस्य कारणे साधनेऽनपायिनि स्थिरे एवम्भूते शरासने धैर्यं इव निषण्णं स्थितं प्रकृतौ स्वभावे स्थितमपि । निर्विकारमपीत्यर्थः ।

अत एव अलङ्घनीयमनतिक्रमणीयमत एव निपातमिष्कर्म भावाभावाभ्रिरचकम्। निपातावाश्रयावाती इत्यमरः । आपगापतिं समुद्रमिव स्थितम् ॥ ३७ ॥

वे आपत्ति निवारण में साधनभूत इव अर्जुन का साक्षात् धैर्य के समान अवलम्बन करते थे। वे स्वाभाविक रूप से थे यद्यपि वायु के अभाव दशा में अविचल सरित्पति (समुद्र) के सदृश अनतिक्रमणीय थे (अर्थात् अजेय थे) ॥ ३७ ॥

उपेयुषीं बिभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः ।
पुरः समावेशितसत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हूतमध्वरे ॥ ३८ ॥

उपेयुषीमिति ॥ पुनश्च अदूरे समीपे पतितस्य दंष्ट्रिणो वराहस्य । व्रीह्यादित्वाद् इनिप्रत्ययः । वधाद्धतो उपेयुषीं प्राप्ताम् अन्तकस्येव यमस्येव द्युतिस्तां बिभ्रतं धारयन्तम् । तथा च द्विजैर्ब्राह्मणैः । अध्वरे यज्ञे । यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । हूतमाहूतं पुरोऽग्रे समावेशितः स्थापितः सत्पशुर्मेध्यपशुर्यस्य तम् । पशूनां पतिं रुद्रमिव स्थितम् ॥ ३८ ॥

वे समीप में पड़े हुये वराह के वध करने के कारण स्वयं सम्प्राप्त अन्तक की द्युति धारण कर रहे थे। तथा ब्राह्मणों के मन्त्र द्वारा यज्ञ में आमन्त्रित साक्षात् महाकाल (शंकर) के सदृश जिसके सामने यज्ञीय पशु पड़ा हुआ हो दिखलाई पड़ रहे थे ॥ ३८ ॥

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा ।
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥ ३९ ॥

निजेनेति ॥ पुनश्च निजेन नैसर्गिकेण भूयसा बहुकेन धैर्यमेव गुणस्तेन विजितम् अन्येषां गौरवं गाम्भीर्यं यस्मिन्कर्मणि तथा गभीरतां दुरवगाहत्वं नीतम् । अत एव घना सान्द्रा उरवश्च महत्यो वीरुधो लता यस्मिंस्तेन घनोरुवीरुधा वनोदयेन वनप्रादुर्भावेन सम अन्धकारीकृतं दुरवगाहीकृतम्, उत्तमाचलमिव स्थितम् । समन्ततोऽन्धकारो यस्य स इति विग्रहः ॥ ३९ ॥

वे अपने अविचल [redacted] गुण से इतर पुरुषों की गरिमा को जीत कर गहन गाम्भीर्य को प्राप्त हो गये थे जिससे व सघन और सुदूर विस्तृत लतालतायुक्त एक नूतन वन के प्रादुर्भाव के कारण अन्धकाराच्छन्न उत्तमाचल के सदृश बन गये थे ॥ ३९ ॥

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।
समुज्जिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥ ४० ॥

महर्षभेति ॥ महर्षभस्य महावृषभस्य स्कन्ध इव स्कन्धावंसौ यस्य तम् । उप मानपूर्वपदत्वादुत्तरस्कन्धलोपः । 'ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । 'स्कन्धो भुजशिरोंसोऽस्त्री' इत्यमरः । अनूनकन्धरं स्थूलग्रीवम् । 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । बृहच्छिलावप्र महाशिलावप्रं तद्वद् घनेन कठिनेन वक्षसा उपलक्षितम् । महाभरां दुर्धरतिभारवतीं जगतीं महीं समुज्जिहीर्षुं दुष्टराक्षसाभावात् समुद्धर्तुमिच्छुम्

अत एव महतोऽर्णवाज्जगतीं समुज्जिहीर्षुमुक्तविशेषणविशिष्टं च महावराहमिव स्थितम्। अर्थसाधर्म्यादियमुपमा न श्लेषः, शब्दमात्रसाधर्म्येण तस्य विधानादिति रहस्यम् ॥ ४० ॥

उनके स्कन्ध प्रदेश बलीवर्द (गवेन्द्र) के सदृश थे तथा उनकी ग्रीवा स्थूल थी। पत्थरों की चट्टान के सदृश उनका वक्षस्थल था। अतः वे विशाल समुद्र से अतिशय भाराक्रान्त पृथ्वी के उद्धार करने के लिये शूकरावतार विष्णु के सदृश मालूम पड रहे थे ॥ ४० ॥

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः।
मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनम् ॥ ४१ ॥

हरिदिति ॥ पुनश्च, हरिन्मणिश्यामं मरकतमणिश्यामलम्। उदग्रविग्रहमुदारमूर्तिं देहिनः सर्वान् परिभूय तिरस्कृत्य प्रकाशमानम्। जलमेवाऽऽदर्शो मुकुरस्तस्मिन्, अंशुमालिनं सूर्यमिव। मनुष्यभावे मनुष्यरूपे स्थितं पुरातनं पुरुषम्। यो बदरीतपोवननिवासी नारायणसहचरो नरो नाम स एवायमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उनके शरीर का वर्ण मरकत मणि के सदृश था। उनकी आकृति उदार थी। वे सब प्राणियों को तिरस्कृत कर प्रकाशित हो रहे थे। मनुष्य रूप में स्थित बदरीकाश्रमवासी साक्षात् नारायण के अवतार थे तथा जलरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित भगवान् भास्कर के सदृश थे ॥ ४१ ॥

गुरुक्रियारम्भफलैरलंकृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः।
गणाः समासेदुरनीलवाजिनं तपात्यये तोयघना घना इव ॥ ४२ ॥

गुर्विति ॥ गुरुभिः क्रियारम्भाणां फलैरलंकृतम्। सफलकर्मारम्भमित्यर्थः। जगत्प्रमाथिनो जगद्विजयिनः प्रतापस्य तेजसो गतिं स्थानम्। अतोऽस्य बहूनामेकरक्ष्यस्य च युक्तत इति सद्भावाभिप्रायः। पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं गणाः प्रमथाः तपात्यये तोयघनास्तोयभरिताः। वार्षिका इत्यर्थः। घना मेघा इव। महाबलमिति शेषः। समासेदुः। अवापुरित्यर्थः। कुलकम् ॥ ४२ ॥

वे कार्यारम्भ के महान् फलों से विभूषित थे। वे विश्वविजयी तेज के आश्रय थे। इसतरह के पूर्वकथित विशेषणसम्पन्न शुभ्र अश्ववाहन अर्जुन के समीप वर्षाकाल के जलभाराक्रान्त अतएव नील मेघ के सदृश प्रमथ गण पहुँचे ॥ ४२ ॥

यथास्वमाशासितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे।
ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥४३॥

यथास्वमिति ॥ पुरा पूर्वम्। स्वं स्वमनतिक्रम्य यथास्वम्, अहमेवैनं जेष्यामीति आशासिता काङ्क्षिता कथिता वा विक्रमा यैस्ते परे शत्रवो मुनिप्रभावात्क्षततेजसो हतप्रभावाः सन्तः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां मोहान्धतां ययुः। तथा हि—महानुभावोऽतिप्रतापः पौरुषं पुरुषस्य चेष्टितं प्रतिहन्ति नाशयति ॥ ४३ ॥

शत्रुओं (प्रमथ गण) ने पहिले अपने अपने बल पराक्रम के अनुसार (अर्थात् मैं ही शत्रु को जीतूंगा' इस प्रकार) लड़ने लगे। पश्चात् तपस्वी अर्जुन के प्रभाव से क्षीण बल होकर किंकर्तव्य विमूढ हो गये (अर्थात् वह नहीं समझ सके कि क्या करना चाहिये) क्योंकि प्रताप को अनिश्चिमिता पुरुष के द्वारा विचेष्टित भाव को नष्ट कर देती है ॥ ४३ ॥

तत प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्यो यबलोपपत्तिभि ।
महोदयानामपि सङ्घवृत्तिता सहायसाध्या' प्रदिशन्ति सिद्धय ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ तत एकैकस्याशक्तौ। अपेक्षिता वाञ्छिताऽन्योन्यबलोपपत्तिरन्योन्य सामर्थ्यसम्भो यै'। तै' प्रमथै। तत्रार्जुने। क्रियाधारत्वात्सप्तमी। समं युगपदेव प्रजह्रे प्रहृतम्। भावे लिट्। तथा हि—सहायसाध्या' सिद्धय' कार्यसिद्धयो महोदयाना मपि महानुभावानामपि। सङ्घेन वृत्तिर्व्यापारो येषां तेषां भावस्तत्ता तां सङ्घवृत्तितां संभूयकारितां प्रदिशन्ति। अतो गणानामपि सम्भूयकारित्वं न दोष इति भाव' ॥४४॥

इसके अनन्तर उस सेना के वीरों ने एक एक करके अपने बल की परीक्षा कर एक साथ होकर अर्जुन पर आक्रमण (प्रहार) किया। कार्य की सिद्धियां सदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अत वे महानुभावों को भी सम्भूय रूप से काम करने की अनुमति देती हैं ॥ ४४

किरातसैन्यादुरुचापनोदिता समं समुत्पेतुरुपात्तरंहस ।
महावनादुन्मनस खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनय शिलीमुखा' ॥ ४५ ॥

किरातेति ॥ उरुभिर्महद्भिश्चापैर्नोदिता प्रहिता उपात्तरंहस आत्तवेगा प्रवृत्तपत्र ध्वनय' सञ्जातपत्त्रस्वना' शिलीमुखा बाणा'। महावनादुन्मनस' क्वापि गन्तुमुत्सुका। तथा उक्तविशेषणविशिष्टाश्च खगा' पक्षिण इव। किरातसैन्यात् समं समन्तात् समुत्पेतु ॥ ४५ ॥

जिसप्रकार विहङ्गम कहीं भी गमन करने की इच्छा से उन्हें की क्रिया में प्रवृत्त पक्षों के शिलन के साथ महावन से एक ही साथ उड़ पड़ते हैं उसी तरह किरात कार्मुक (धनुष) से प्रेरित होकर बाण अपने पुङ्ख शिलन के साथ साथ प्रबल वेगपूर्वक शबर-सेना से एक ही साथ छूट पड़े ॥ ४५ ॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृत' प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु ।
धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिश' ॥ ४६ ॥

गभीरेति ॥ गभीररन्ध्रेषु गम्भीरगह्वरेषु महीभृत' सानुषु ये प्रतिस्वनास्तैर्भृश मुन्नमितेनोत्थापितेन दार्घीकृतेन जवादुपेयुषा आसन्नता धनुषो निनादेन दिशो विभि द्यमाना विदीर्यमाणा इव दध्वनुरिव चक्रु ॥ ४६ ॥

पर्वत के शिखरों की गम्भीर गुफाओं [illegible] प्रतिध्वनित होकर वृद्धि को प्राप्त तथा प्रबल वेगयुक्त धनुष के रव से दिशायें इस प्रकार ध्वनित हुईं मानों वे विदीर्ण हो गईं ॥४६॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा ।
महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः ॥ ४७ ॥

विधूनयन्तीति ॥ भूरुहां गहनानि वनानि । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । विधूनयन्ती कम्पयन्ती तिरोहितानि छादितानि उपान्तानि प्रान्तानि नभोऽन्तरिक्षं दिगन्तराणि च यया सा । गणमार्गणावलिः प्रमथशरसंहतिः । अनिलेन वायुना । ईरिता प्रेरिता । महीयसी वृष्टिरिव रवं वितेने विस्तारयामास ॥ ४७ ॥

शङ्कर भगवान् [illegible] गणों के सायक राशि ने (वृक्षों के) वनों को कम्पित करती हुई तथा आकाश और दिशाओं के उपान्त को आच्छादित करके पवनप्रेरित मुसलधारा वृष्टि की तरह कुलकध्वनि करने लगी ॥ ४७ ॥

अधीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः ।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥ ४८ ॥

अधीमिति ॥ ऋतूनां अधीं षण्मासान् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनिलाशिनो वायुभक्षकस्य । कृशस्येत्यर्थः । सतः, तथापि रणाय रणं कर्तुं प्रहृष्यतः उत्सहमानस्य । 'क्रियार्थोप–' इत्यादिना चतुर्थी । जिष्णोरर्जुनस्य वपुषि पोषमुपचयं प्रयाति गच्छति सति शिथिलेन । प्रथममिति शेषः । वर्मणा कवचेन विदुषेवानन्तरकरणीयं जानतेवेत्युत्प्रेक्षा । सत्वरं शीघ्रं घनत्वं दृढत्वम् । ईये प्राप्तम् । अन्यथानुपयोगादिति भावः । इण् कर्मणि लिट् ॥ ४८ ॥

तीन ऋतु पर्यन्त अर्थात् छः महीने पर्यन्त वायुभक्षण के द्वारा प्राणरक्षा करते हुए (अत एव) दुर्बल तथा संग्राम करने के लिये उत्साहित अर्जुन का शरीर वृद्धि को प्राप्त होने लगा पश्चात् कृशता के कारण जो कवच ढीला पड़ गया था वह शीघ्र ही शरीर के परिमाण का हो गया मानो वह अनन्तरकरणीयता को जानता था ॥ ४८ ॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषतः ।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥ ४९ ॥

पतत्स्विति [illegible] शस्त्रेषु रोदसी द्यावापृथिव्यौ । 'द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ' इत्यमरः । समन्ततो वितत्य व्याप्य पतत्सु सत्सु धनुर्दुधूषतः कम्पितुमिच्छतः । आस्फालयत इत्यर्थः । धूञः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पादिड्भावः । तस्यार्जुनस्य सम्बन्धिनी । भीष्यतेऽनया इति भीषणा । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । विनिपातशंसिनी विनाशसूचिका दृष्टिस्तद्विशेषणम् । उल्केव बलेषु सरोषं यथा तथा पपात ॥ ४९ ॥

शस्त्रों, पृथ्वी और आकाश के अन्तराल को सर्वत्र व्याप्त करके प्रहार करने पर गाण्डीव

अर्जुन के वधनाभिलाषी अर्जुन की क्रोधपूर्ण अमोत्पादक दृष्टि जो विध्वंस की सूचना दे रही थी प्रमथ सैन्य पर भयसूचक उत्पात (तारा टूटना) की तरह पड़ी ॥ ४९ ॥

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम् ।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः ॥ ५० ॥

दिश इति ॥ क्षयकाल- कल्पान्तकाल इव । अवर्त प्रलय कल्प क्षय कल्पान्त इत्यपि इत्यमरः । दारुणो रौद्रो मुनिरर्जुन इषुभिर्बाणैः । दिशः समूहन्निव एकत्र समाहरन्निव । अन्यथा तासां पारदृश्यत्वं न स्यादिति भावः । रवेः प्रभां विक्षिपन्निव क्षिपन्निव । अन्यथा सा कथं न दृश्यत इति भावः । तथा अनिलं वायुमाकुलयन्निषुभिरन्तराले आपूर्यमाणत्वात् । तस्य तथा गतिविघातादिति भावः । स शैलां क्षितिं चलयन्निव कम्पयन्निव । तथा तदाभासादिति भावः । चचाल गतिमकरोत् । सर्वत्र इवशब्द उत्प्रेक्षायाम् ॥ ५० ॥

प्रलयकाल के सदृश भयंकर अर्जुन ने अपने बाणों से दिशाओं को आच्छादित करते हुये की भांति सूर्य की किरणों को दूर प्रक्षिप्त करते हुए की भांति वायु की गति का अवरोध कर उसे व्याकुल करते हुए की तरह और पर्वतों को लिये दिये हुए पृथ्वी को कम्पित करते रणाजिर में सब ओर घूमने लगे ॥ ५० ॥

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः ।
स निर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ॥ ५१ ॥

विमुक्तमिति ॥ आशंसिताः काङ्क्षिताः शत्रुनिर्जयो येस्तैः । अहमहमिकया शत्रुं जिगीषद्भिरित्यर्थः । वनेचरैरेकावसरं समकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विमुक्तमनेकं बहु आयुधम् । जात्यैकवचनम् । सोऽर्जुनः क्रियाफलमतिपातितोऽतिक्रान्तः काल इव । अतिक्रान्तकालस्य कर्मणो निष्फलत्वादिति भावः । अन्तरा मध्ये शरैर्निर्जघान ॥ ५१ ॥

मैं ही देवल शत्रु को जीतूंगा इस प्रकार की आकांक्षा करके किरातों ने (शिव के गणों ने) एक साथ शस्त्र प्रहार किया । वे (अर्जुन) क्रियाफल के अतिक्रमण कारक समय की तरह बीच बीच में शरों को प्रहार करने लगे ॥ ५१ ॥

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः ।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः ॥ ५२ ॥

गतैरिति ॥ पाण्डुनन्दनोऽर्जुनः परेषामविभावनीयतां लघुप्रयोगात्, अन्यत्र गूढप्रयोगाच्च अलक्ष्यतामप्रकाश्यतां च गतैर्विपदमनर्थं निवारयद्भिर्विदूरगैर्दूरलक्ष्यगैः परमण्डलप्रविष्टैश्च बृहत्फलैरायताग्रैर्महाफलैश्च । 'फलं बाणाग्रलाभयोः' इति शाश्वतः । शरैरुपायैः सामादिभिरिव भृशमुपचितः प्रवृद्धो बभूव । अत्र शब्दमात्रसाम्यात् महत्तामहत्तश्लेषः । उपमेति केचित् ॥ ५२ ॥

अर्जुन ने बाणवर्षा से प्रमथ गणोंको विवश कर दिया अर्थात् उन्हें सवत्र बाण ही बाण दृष्टि गोचर होने लगे। अत ये सशय ग्रस्त हो गये। जिस प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार नीतियां गूढप्रयोग के कारण अलक्षित रहती हैं, (शत्रु उसको समझ नहीं पाता है) विपत्ति प्रतिकार करने में समर्थ होती हैं और परराष्ट्र मण्डल में प्रविष्ट होकर महान् लाभ कराती हैं जिससे पुरुष अभ्युदय को प्राप्त होता है। उसी प्रकार अर्जुन के शरक्रिया पाण्ड के कारण शत्रु के द्वारा दुर्विभाविनीय थे, विपत्ति निवारण में समर्थ थे, दूरगत लक्ष्य तक पहुँच जाते थे, और उनमें सौख्य फल लगे हुए थे जिससे अर्जुन अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ५२ ॥

दिव पृथिव्या ककुभा नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजस।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुने शरा शरीरा दिति तेऽभिमेनिरे ॥५३॥

दिव इति ॥ शरा दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या भूगोलाद्वा ककुभा मण्डलाद्वा दिशा मण्डलाद्वा, उत तिग्मतेजसोऽर्कस्य बिम्बात् मण्डलाद्वा, अथ वा सकृद्विकृष्टात् कार्मुकाद्वा, मुने शरीराद्वा पतन्तीति ते गणा अभिमेनिरे ज्ञातवन्त । अन्यथा कथमसी विश्वमन्तर्धाय शरा समाव्यन्त इति भाव । अत्र सर्वत्र शरसमानवर्षणात् सम्भावनया पृथिव्यादीनामन्यतमस्यापादानत्वोत्प्रेक्षा । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् 'नु'शब्दस्तु सशये ॥ ५३ ॥

'ये बाण आकाश से, पृथिवी से, दिशाओं के मण्डल से, प्रखरकिरणमाली के बिम्ब से, अथवा इस तपस्वी के शरीर से किम्वा एक ही बार धनुष की प्रत्यञ्चा के आकृष्ट करने से गिर रहे हैं' ऐसा किरात सैन्य ने माना ॥ ५३ ॥

गणाधिपानामविधाय निर्गतै परासुता मर्मविदारणैरपि।
जवादतीये हिमवानधोमुखै कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभि ॥ ५४ ॥

गणेति ॥ मर्मविदारणैरपि। मर्मस्थानान्येव विदारयद्भिरपीत्यर्थ । गणाधिपानां परासुता मरण अविधायाकृत्वा निर्गतै । तेषाममर्त्यत्वादिति भाव । तस्य मुने पत्रिभि शरै कृतापराधैरिव स्वामिकार्याकरणात् सापराधैरिवेत्युत्प्रेक्षा । अधोमुखै सद्भि जवाद्धिमवानतीयेऽतिचक्रमे । तत्र प्रविष्टमित्यर्थ । लज्जितस्य किञ्चिन्निलयनमुचितमिति भाव ॥ ५४ ॥

अर्जुन के बाण मर्मभेदी होने पर भी प्रमथ गणों के प्राण को सहार करने में असमर्थ और (प्रमथ गण अमर होते हैं। अत बाणविद्ध होकर जीवित रहे) अपराधी की तरह (लज्जा से) अवनत मुख होकर बड़े वेग के साथ हिमालय को पार कर गये। अर्थात् हिमालय में कहीं छिप गये लज्जा उसको (बाणों को) इस लिये आई कि ये तो अमोघ थे परन्तु देवताओं के अमर होने के कारण वे कुछ न कर सके। अत स्वामी का कार्य

साधन न करने के कारण वे अपराधी बन गये। यही कारण था कि व नीचे मुख कर पहाड़ की कन्दरा में कहीं छिप गये। (लज्जित व्यक्तियों की यही दशा होती है) ॥ ५४ ॥

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥ ५५ ॥

द्विषामिति ॥ प्रथमे । प्रथममुक्ता इत्यर्थः । शिलीमुखा मुनिबाणा द्विषां देहावरणानि वर्माणि विभिद्य याः क्षतीः महारान् चक्रिरे तासु क्षतिषु पुनः पश्चात्प्रयुक्तैर्मुनेर्विशिखैर्न पेते न पतितम्। पिष्टपेषणदोषापातादिति भावः । तथा हि—अरुन्तुदत्वं पीडितपीडनं महतां सतामगोचरोऽविषयो हि । सन्तः पीडितपीडां न कुर्वन्तीत्यर्थः । न हन्याद्व्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् इति निषेधस्मरणादिति भावः । अरुर्व्रणं तुदतीति अरुन्तुदः । व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः इत्यमरः । विध्वरुषोस्तुदः इति खश् प्रत्ययः । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् इति मुमागमः ॥ ५५ ॥

पहिले के छोड़े हुये तपस्वी (अर्जुन) के बाण शत्रुगण का भेदन करके जहाँ पर गिर गये थे पुनः वहाँ घाव पर प्रहार न किये क्योंकि महानुभाव व्यक्ति पीड़ित को पीड़ा नहीं देते ॥ ५५ ॥

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय संकोचमुमापतेश्चमूम् ॥ ५६ ॥

समुज्झितेति ॥ यावन्तोऽरातयो यावदराति । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः । यावदराति यथा तथा समुज्झिताऽरातिसमसंख्यया मुक्ता मुनिबाणसंहतिः सहैव एव निर्यती निष्क्रामन्ती । तावत्सदस्य कौशलमिति भावः । यातेः शतरि ङीप् । मुनिबाणसंहतिरुमापतेश्चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिमिव संकोचं निनाय मापयामास । वृत्ता विपाठाद्यपविद्धिक्रमः ॥ ५६ ॥

जिस तरह चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उदय होने के साथ ही कमलवन को सङ्कुचित कर कर देती है वैसी तरह अर्जुन के बाणों की संहति (समूह) शत्रु संख्या के अनुकूल प्रक्षिप्त हो गये अर्थात् धनुष से निकलते ही शङ्कर भगवान् की सेना को सङ्कुचित कर डाली ॥ ५६॥

अजिह्ममोजिष्ठममोघमक्लमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्नियोजितम्।
प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विषः ॥ ५७ ॥

अजिह्ममिति ॥ अजिह्मं सरलगतौ यस्य तमजिह्मम्। अन्यत्र तु जिह्मत्यागमपूर्वो न भवतीत्यजिह्मस्तम् । ओजिष्ठमोजस्विन तादृचम तेजिष्ठ च । उभयत्रापि ओज स्विन्शब्दाद्विषन्तादिष्ठन् । विन्मतोर्लुक् इति लुक् । टिलोपश्च । अमोघमवन्ध्यम् अक्लमं निरन्तरव्यापारेऽप्यश्रान्तं बह्वीषु क्रियासु भेदनभेदनपातनादिकर्मसु पृथक् भेदेन नियोजितम्। कर्मानुगुण्येन विनियुक्तमित्यर्थः । अस्य मुनेः शरौघमुत्साहमौत्सुक्यमिव । वीररसस्य स्थायिभावं प्रयत्नविशेषमिवेत्यर्थः । सादिताः कर्शिता विद्विषः

शस्त्रं सादयितुं प्रतिकर्तुं न प्रसेहिरे न शेकुः । तस्योत्साहवदेव शरवर्षं दुर्धर्षमभूदिति भावः ॥ ५७ ॥

इनके (पाण्डुपुत्र के) बाणसमूह, जो देखने में तथा गमन करने में भी वक्र न थे, ओज पूर्ण थे, लक्ष्य पर चूकने वाले न थे, छेदन, भेदन और पातन कर्म में नियुक्त किये गये थे, विपत् में पकड़ कर प्रतिकार करने में शत्रु भी असमर्थ हो गये ॥ ५७ ॥

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रतः स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम् ।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ॥ ५८ ॥

शिवेति ॥ अनेकदेशगा नानादेशस्था शिवध्वजिन्यो हरसेना । उग्रेषवो मयूखा इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र तु,-उग्रेषव इव मयूखा इति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । तेषां माला अस्यास्तीति तं तथा उग्रेषुमयूखमालिनम् । व्रीह्यादित्वादिनिः । एकदेशस्थमेकत्रैव स्थितं तं मुनिमर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधं योधं योधं प्रति । 'अव्ययं विभक्ति-' इत्यादिना प्रत्यर्थे वीप्सायामव्ययीभावः । अग्रतः स्फुरन्तं निदध्युर्ददृशुः । यथैकोऽर्क एकत्रैव स्थितोऽपि नानादेशस्थानामपि प्रतिपुरुषं ममैवाग्रे वर्तत इति युगपत् प्रतीयते तद्वद्गणचर्यो मुनिरपि प्रतियोधं तथैव प्रत्यक्षादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

शङ्कर भगवान् की सेनायें अनेक स्थल में रहती हुई भी, एकस्थान स्थित तपस्वी (अर्जुन) को, जो सूर्य की प्रकार किरणों के सदृश तीक्ष्ण बाणों के समूह को धारण कर रहे थे, प्रत्येक योद्धा के समक्ष स्फुरण करते हुए इस प्रकार देखा जिस प्रकार संसारी (लोग) उग्र ताप के सदृश प्रखर किरणपुञ्जधारी सूर्य को एक स्थान में स्थित होने पर भी (जो जहाँ रहता है वहीं से) अपने सामने देखते हैं ॥ ५८ ॥

मुनेः शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता ।
विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रजः ॥ ५९ ॥

मुनेरिति ॥ प्रकोपात् अमर्षादिव विष्वक् समन्तात् । आयताऽऽप्लुता, उग्ररंहसा तीव्रवेगेन मुनेः शरौघेणोक्तविशेषणेन । महानिलेन वात्यया निदाघजं ग्रीष्मोत्थं रज इव । विधूनितं व्याहतं तत् बलं शिवसैन्यं सङ्गिनीमनुबन्धिनीम् । अविच्छिन्नामिति यावत् । भ्रान्तिमनवस्थानम् । इयाय प्राप ॥ ५९ ॥

कुपित के तरह चतुर्दिक विस्तार करते हुये, प्रबलवेग सम्पन्न अर्जुन के सायकसमूह से संक्षुब्ध शङ्कर की सेना प्रबल वायु (बवंडर) से उत्थापित निदाघकाल की धूलि की तरह लगातार भ्रान्तिमती होने लगी ॥ ५९ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकमाह—

तपोबलेनैव विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून्निरस्यति ।
अमुष्य मायाविहतं निहन्ति न प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥६०॥

तप इत्यादि ॥ एष मुनिः । तपोबलेन तपःसामर्थ्येन भूयसीर्बह्वीः । अदृश्या-

स्तनूरात्मनः शरीराणि विधाय सृष्ट्वा इषुभिरस्यति क्षिपति स्वित् किम् । अथवा अमुष्यास्य मुने । मायया विहतं प्रतिहतं स्म स्वकीयमिव आयुधं प्रतीपं प्रतिकूलम् । आगत्य । प्रत्यागत्येत्यर्थः । नोऽस्माकं निहन्ति किमु । जासिनिप्रहण—इत्यादिसूत्रेण कर्माणि षष्ठी । शेषाविवक्षायां तु द्वितीया ॥ ६० ॥

अब अर्जुन के हस्तकौशल को देख कर किरातवाहिनी अनेक प्रकार के संशयरूप झूले में झूलने लगी—

क्या यह तपस्वी अपने तपोबल से अनन्त अनेक शरीर निर्माण करके बाणप्रक्षेप कर रहा है ? अथवा हम लोगों का ही बाण इसकी माया से प्रतिकूल होकर हम लोगों पर प्रहार तो नहीं कर रहा है क्या ? ॥ ६० ॥

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।

कथं न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥ ६१ ॥

हृता इति ॥ यद्वा—अस्य मुनेर्गुणैः शान्त्यादिभिः हृता आकृष्टाः । वशीकृता इति यावत् । भयेन त्रासेन वा । अथाविर्भावस्य पूर्वरूपं । देवतास्तिरोहिताः सत्यः प्रहरन्ति स्वित् । तदुक्तं । अन्यथा अस्य मुनेः । अमी सायका जलधेरूर्मय इव कथं नु संततमनेकेऽसंख्या भवन्ति । एकस्योपलम्भसंभवेऽपि बहूनां न सम्भवतीत्यर्थः ।
[एक शब्दस्यैकशेषे कृते एक इति रूपमिति केचित् । तु शब्दस्त्वर्थे] ॥६१॥

(कुछ समझ में नहीं आता) ऐसा तो नहीं है कि इस तपस्वी के शम दमादि गुणों से अथवा भय से वशीभूत देवता कौन ही अन्तर्हित होकर प्रहार करते हैं ? यदि वे सब बातें नहीं हैं तो फिर समुद्र की असंख्य लहरों के सदृश इनके ये बाण कैसे अनेक हो रहे हैं ॥६१॥

जयेन कच्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।

तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥ ६२ ॥

जयेनेति ॥ कच्चिदयं रणात् जयेन विरमेत् । अस्मान्जित्वा कच्चिदयं युद्धमुपसंहरेदित्यर्थः । अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् कच्चित् । अपि स्थावरजङ्गमं जगत् विनश्येदित्यर्थः । 'अपि'शब्दः संभावनायाम् । प्रार्थनायां किम् । इति प्रतर्काकुलिता पूर्वोक्तैः प्रतर्कैः आकुलिता विह्वला । अत्र सहेतुकं विक्षेपमाह—नृपसूनुमार्गणैरर्जुनबाणैः कीर्णा क्षिप्ता पताकिनी सेना । किरातसेनेत्यर्थः । तताप तापं प्राप ॥ [illegible] ॥

यदि यह (तपस्वी) विजयलाभ कर संग्राम से विरत हो जाय तो स्थावर और जङ्गम (प्राणिमात्र) का कल्याण हो जायगा (अन्यथा यह सबका नाश कर देगा) राजपुत्र अर्जुन के बाणों से भिन्न प्रमथ गणों की सेना उक्त प्रकार के तर्क-वितर्कों में पड़ कर सन्तप्त होने लगी ॥ ६२ ॥

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः ।

बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना ॥६३॥

अमर्षिणेति ॥ अमर्षिणा कोपवता क्षमाश्रयं शान्तिसाध्यं कृत्यमिव । क्षमासाध्यं

हि कृत्य सामर्थैर्निरस्यते, तद्य निरस्त न शोभते । मदोद्धतेन पुंसा हितं प्रियं वचो निरस्तं तिरस्कृतमिव । यथा बलीयसा बलवत्तरेण विधिना दैवेन निरस्तं पौरुषमिव। बलीयसा दैवेन प्रतिहतपुरुषव्यापारस्य निष्फलत्वादिति भावः । तथा जिष्णुनाऽर्जुनेन निरस्तं शिवं बलं किरातसैन्यं न रराज । मालोपमा ॥ ६३ ॥

जिस प्रकार क्रोधी पुरुष से निरस्त शान्तिसाध्य कार्य की तरह, मदोन्मत्त पुरुष से त्यक्त कल्याणप्रवर्तिनी और श्रोत्राभिराम वचन की तरह, और प्रबल भाग्य से प्रतिहत पुरुषार्थ की तरह अर्जुन [illegible] ध्वस्त शबरसेना शोभित न हुई ॥ ६३ ॥

प्रतिदिशं प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः ।
रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ प्लवगानामधिपोऽधीशो लक्ष्मी यस्य तेन वानरचिह्नेन । 'कपि-प्लवङ्गप्लवग—' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामरः । अर्जुनेन विशिखसंहति-तापितमूर्तिभिरिति । विशिखा बाणास्तेषां संहतयः समूहाः । 'क्रिया तु संहतिर्वृन्दम्' इत्यमरः । ताभिस्तापिताः पीडिता मूर्तयो देहा येषां तैस्तथाभूतैः । शरनिकरकर्शित-कलेवरैरित्यर्थः । शिवबलैः प्रमथसैन्यैः कर्तृभिः, रविकरेण ग्लपितैः सूर्यकिरणशोषितैः वारिभिर्जलैरिव प्रतिदिशं दिक्षु परिमण्डलता । परितश्चक्राकारमण्डलतेति यावत् । दधेऽधारि प्रतिदिशं मण्डलाकारेण स्थितमित्यर्थः । धाञ् कर्मणि लिट् । आतपतप्तं हि नीरं परिक्रमति तद्वन्मुनिपीडितं सैन्यं बभ्रामेत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् —'द्रुत-विलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

शिवसेना कपिध्वज के शरजाल से पीडित होकर सूर्य की किरणों से क्रमशः क्षीण होते हुए जल की तरह चारों तरफ से वृत्ताकार (गोल) बन गई ॥ ६४ ॥

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले विधुवति धनुराविर्मण्डलं पाण्डुसूनौ ।
कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातुं विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे ॥ ६५ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्दशः सर्गः ।

प्रविततेति ॥ प्रविततानि विस्तृतानि यानि शरजालानि तैः छन्नमाच्छादितं विश्वान्तरालं येन तस्मिन्शरसमूहपूरितब्रह्माण्डोदरे पाण्डुसूनौ अत एव आविर्मण्डलमाविर्भूतमण्डलं धनुः । आविर्भूतं मण्डलं यस्य धनुष इति वृत्तौ भूतार्थस्यानुप्रवेशात् 'भूत'शब्दस्याप्रयोगः । विधुवति कम्पयत्यास्फालयति सति भीतभीतेव भीतप्रकारेव जयलक्ष्मीर्विजयश्रीः कथमपि केनचित्प्रकारेण । महता कष्टेन या। विषमनयनसेनापक्षपातं शिवसैन्यानुरागं विहातुं त्यक्तुं विषेहे । शशाकेत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ६५ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ॥

पाण्डुनन्दन (अर्जुन) के सबलोकव्यापी शरसमूह से अखिल विश्व के अन्तराल पूर्ण हो जाने पर महाप्रकृति अर्जुन का समाकलन करते रहने पर विजयलक्ष्मी रखती हुई महान् पद के साथ त्र्यम्बक (शिव) सेना से शत्रुराज को रोकने में समर्थ हुई (अर्थात् शिवसेना भीषण संग्राम करने पर भी अन्त में पराजित ही [illegible]) ॥ ६५ ॥

अर्जुन विजयनामक चतुर्दश सर्ग समाप्त

पञ्चदश सर्ग ।

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथानन्तरम् । तत्र रणे भूतानि सर्वप्राणिनः । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा इन्द्रः । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तस्यापत्यं पुमान् वार्त्रघ्नोऽर्जुनः । 'तस्यापत्यम्' इत्यण्प्रत्ययः । तस्य शरेभ्यस्तत्रसुर्बिभ्युः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति विभक्त्यादेशाद्यासक्तोपादान । सा चमूश्च । इष्वासोऽस्यन्त एभिरितीष्वासा धनूंषि । 'धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः' इति हैमचन्द्रः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति करणे घञ् । परित्यक्ता महान्त इष्वासा यया सा । परित्यक्तायुधेत्यर्थः । दिशो भेजे । पलायाञ्चक्रे इत्यर्थः । अत्र भूतत्राससेनापलायनयोः समुच्चयकथनात्सिद्धविषय क्रियासमुच्चयोऽलंकारः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति सामान्यलक्षणात् । तस्य समरेण सङ्करः ॥ १ ॥

वृत्रासुरविघाती के पुत्र (अर्जुन) के बाणों से वहां के सब जीव जन्तु भयभीत हो गये । किरातधिनाथ (शंकर) की सेना भी बड़े २ धनुषों का परित्याग कर भाग गई ॥१॥

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः ।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलितं मनः ॥ २ ॥

अपश्यद्भिरिति ॥ गणैः प्रमथैः । ईशानं स्वामिनं शिवम् । पुरोवर्तिनमिति भावः । अपश्यद्भिरिव रणान्निववृते निवृत्तम् । भावे लिट् । तथा हि—कृच्छ्रेषु आपत्सु सम्भ्रमेण साध्वसेन ज्वलितं तप्तम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्' इति विश्वः । मनो मुह्यत्येव । अतः पुरोवर्तिनोऽप्यदर्शनमुपपन्नम् इति भावः ॥ २ ॥

प्रमथ गण (पुरोवर्ति) शूली भगवान् को न देखते हुए संग्राम से पराङ्मुख हो गये क्योंकि आपत्ति के समय में [illegible] मन व्याकुल हो ही जाता है ॥ २ ॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया ।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम् ॥ ३ ॥

खण्डितेति ॥ खण्डिता त्यक्ता आशंसा जयाशा यस्मात्तया तेषां गणानां सवन्धिन्या तया । अतिसंनिकृष्टयेत्यर्थः । पराङ्मुखतया रणवैमुख्येन । पलायनेनेत्यर्थः । केतौ ध्वजे कृत आरोपित उच्चैर्महान् वानरो हनूमान् येन तं नरं पुरुषम् । कपिध्वजमित्यर्थः । कृपा करुणा । आविवेश । तदीयदुर्दशां दृष्ट्वा स कृपाविष्टोऽभूदित्यर्थः । यमकालंकारः ॥ ३ ॥

विजयकी आशा के प्रति निराश होकर उन प्रमथ गणों की संग्राम से पराङ्मुखता को देख कपिकेतन (अर्जुन) को दया ने आकृष्ट कर लिया ॥ ३ ॥

ननु शत्रुषु कथं करुणा तत्राह—

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ४ ॥

आस्थामिति ॥ आस्थां यत्नमालम्ब्य । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः । वशं नीतेषु क्षुद्रेषु तुच्छेषु अरातिषु शत्रुषु विषयेऽनुकम्पया कृपया महतां धीराणां माहात्म्यं महानुभावत्वं व्यक्तिं स्फुटत्वम् । आयाति प्राप्नोति । स्वपौरुषनिर्जितेष्वरातिष्वपि करुणा भूषणमेव महतामिति भावः ॥ ४ ॥

यत्नों के आधार नीच शत्रुको आधीन कर लेने पर भी दया करने से महानुभावों की उदारता व्यक्त होती है ॥ ४ ॥

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥ ५ ॥

(एकाक्षरपद्यम् ।)

स सासिरिति ॥ सहासिना वर्तमानः सासिः ससङ्गः असून् सुवन्ति प्रेरयन्तीत्यसुसुवो बाणाः । 'षू प्रेरणे' इति धातोः 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । असुसूभिः सह वर्तत इति सासुसूः सबाणः । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते शरा अनेनेत्यासो धनुः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ् । आसेन सह वर्तत इति सासः सचापः । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । येयाः यातव्याः यानसाध्याः अयेयाः अयातव्याः यानं विनैव साध्याः । 'अचो यत्' इति यत्प्रत्ययः । येयाश्च अयेयाश्च येयायेयाः, तेषां ह्यानामायो स्वर्णगजादिलाभे आसि प्राप्नोतीति येयायेयायायः । अयः शुभावहदैवं यातीत्यययः । येयायेयायायश्चासौ अययश्चेति येयायेयाययाययः । याधातोरुभयत्रापि 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । ललो लडति विलसतीति ललः । 'लल विलासे' पचाद्यच् । अलोलोऽचपलः । शशिन ईशः शिवस्तस्य शिशुः स्कन्दस्तं शमादि हिनस्तीति शशीशशिशुशीः । क्विप् । शशन् प्लुतगतिं कुर्वन् । 'शश प्लुतगतौ' इति धातोः शतृप्रत्ययः । सोऽर्जुनो लीलां शोभां ललौ आप । 'ला आदाने' कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

सासि =तलवार (खड्ग) लिये हुए सासुसूः=असु (प्राण) को जो प्रेरणा करे वह असुसू अर्थात् बाण। असुसू के सहित अर्थात् हाथ में बाण लेकर सासः=(आस= धनुष) आसके सहित अर्थात् धनुष लेकर येयायेयाययाययः =येय=यान के द्वारा साध्य अयेय=जो यान के बिना ही साध्य है। येयायेय यानसाध्य और अयानसाध्य आय=सोना चाँदी इत्यादि के लाभ को जो जाता हो। अयय =शुभावह भाग्य को जो प्राप्त करता है। लल =[लल विलासे धातु से बना है] इसलिये इसका अर्थ है शोभा सम्पन्न अलोल=अ[लोल =चञ्चल] लोल=चञ्चल अर्थात् शान्त शशीशशिशुशीः = [शशि=चन्द्रमा ईश=स्वामी शिशु=बालक शी=मारनेवाला] चन्द्रमा के स्वामी [शंकर] के पुत्र को मारनेवाला [अर्जुन] शशन् =प्लुतगति से गमनकारी लीला= शोभाको ललौ=प्राप्त हुआ।

वह अर्जुन हाथ में खड्ग बाण और गाण्डीव धनुष को धारण करता हुआ यानसाध्य तथा अयानसाध्य दोनों प्रकार के स्वर्ण मणिरत्न लाभ को प्राप्त करनेवाला तथा सुन्दर भाग्य को प्राप्त शोभा सम्पन्न गम्भीर [शान्त] अर्जुन जिसने चन्द्रमा के स्वामी [शंकर] के पुत्र [षडानन] को मार भगाया था प्लुतगति से गमन करता हुआ परमशोभा को प्राप्त हुआ [अर्थात् उस क्षण वह अनुपम शोभा को प्राप्त हुआ इस श्लोक के प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के अक्षर हैं अतः ऐसी रचना को एकाक्षर पाद कहते हैं ॥ ५ ॥

त्रासजिह्मं यतश्चैतान् मन्दमेवान्वियाय सः ।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ॥ ६ ॥

त्रासेति ॥ सोऽर्जुनः । त्रासजिह्मं भयकुटिलं यथा तथा यतो गच्छतः । पलाय मानानित्यर्थः । एतान् गणान् मन्दमेव । अन्वियायानुजगाम । तथा हि—महौजसो महानुभावा भग्नानतिपीडयितुं नेच्छन्ति ॥ ६ ॥

अर्जुन ने भय से विकल होकर भागते हुए उन प्रमथगणों का अनुसरण मन्दगति से ही किया क्योंकि महान पराक्रमवाले [उदार] व्यक्ति असमर्थ दुःखियों को पीड़ित नहीं करते ॥ ६ ॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥ ७ ॥

(निरोष्ठ्यम्)

अथेति ॥ अथाग्रे । बलानामित्यर्थः । हसता गणदर्शनात्स्मयमानेन साचिस्थितेन तन्निवारणाय तिर्यगवस्थितेन । तिर्यगर्थे साचि तिर इत्यमरः । स्थिरकीर्तिना । स्वयमभङ्गत्वादिति भावः । किञ्चिदीषत् आयस्तं खिन्नं चेतो यस्य तेन स्वकीयगणभङ्गादीषत्खिन्नचित्तेन सेनान्या स्कन्देन । 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः

वह्निर्मूर्गुह' इत्यमरः । ते गणाः प्रमथाख्यो जगदिरे उक्ताः । ओष्ठ्यवर्णाभावा-न्निरोष्ठ्यमेतत् ॥ ७ ॥

सेना को भागते हुए देख उसे रोक रखने के लिये तिरछे हो खड़े होकर शिवकुमार [स्वामिकार्तिक], जिनकी कीर्ति अविचल है, सेना के आगे मन्दहास करते हुए कुछ खिन्न होकर प्रथम गणों से बोले । इस श्लोक में ओष्ठ से उच्चारण होने वाले वर्ण एक भी नहीं आये हैं इस लिये इसे 'निरोष्ठ्य' रचना कहते हैं ॥ ७ ॥

अथैकविंशतिभिः श्लोकैः स्कन्दवाक्यमेवाह—

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः ।
क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः ॥ ८ ॥

(पादान्तादियमकम्)

मा विहासिष्टेत्यादि ॥ रन्तव्यं रमणं क्रीडा । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । संयुद्धम् । 'समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । समे रन्तव्यसंयती येषां ते समरन्तव्यसंयतः तुल्यक्रीडासंगराः इति तेषां सम्बोधनम् । यूयं समरं संग्रामं मा विहासिष्ट न त्यजत । जहातेर्माङि लुङ् । सम्भ्रमपरिहुतवचनम् । क्षुण्णाः पराजिता असुरगणा यैस्तैः । भवद्भिरिति शेषः । अगणैरिव गणेभ्योऽन्यैरिव किं किमर्थं यशः क्षतं नाशितम् । गैरयुक्तं महाशूराणां भवादृशामित्यर्थः ॥ ८ ॥

[अये प्रमथगणो ! आप लोगों के लिये खेल और युद्ध समान है क्योंकि आपलोगों ने राक्षसों के समूह को मर्दन करके छोड़ा है फिर गणों से इतर देवता, राक्षस तथा मनुष्यों की तरह संग्राम से विरत होकर आप लोग क्यों अपने यश को कलङ्कित करते हैं ? वीरों के लिये यह उचित नहीं है ॥ ८ ॥

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः ।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासयः ॥ ९ ॥

विवस्वदिति ॥ विवस्वदंशुसंश्लेषेण सूर्यकिरणसम्पर्केण द्विगुणीकृतानि उत्तेजितानि तेजांसि येषां ते तथोक्ताः मोघं व्यर्थं उद्गूर्णा उद्यताः । 'गुरी उद्यमने' इति धातोः कर्मणि क्तः । वो युष्माकम् । अमी महासयः खड्गा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । किं पलायमानानां खड्गैरिति हासः ॥ ९ ॥

ये बड़े बड़े खड्ग, [तलवार], जो सूर्य की किरणों के सम्पर्क से द्विगुण प्रकाशित हो रहे हैं तथा व्यर्थ ही ऊपर को उठे हुये हैं, आप लोगों की दशा पर हँसते हुए की तरह मालूम पड़ रहे हैं ॥ ९ ॥

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम् ।
बाणैर्बाणैः समासक्तं शङ्केऽशं केन शाम्यति ॥ १० ॥

वस इति ॥ वनसदां वनेचराणाम् । वासये रवके वने मार्गं मृगानुबधिन मार्गं पन्थानम् । उपेयुषाम् । पलायमानानामित्यर्थः । युष्माकमिति शेषः । वाणो व्यक्तिरे धामस्तीति तैर्वाणैर्व्यंनियुक्ते । वन सामव्युये इति धातोर्यम् । ततः मर्षाभावविम्य मृत्यमत्यय । समकत्वादुभयोरर्थे । उक्तं च वकयोर्डलयोस्तद्वत्पोयवयोरपि । सबिन्दुकाबिन्दुकयो स्यादभेदेन कल्पनम् ॥ इति । वाणै शरैः समासक्त समास क्षितं यथा तथा तत् केन यास्यतीति वाह । केनोपायेन यास्यतीति विधा स्यामीत्यर्थः ॥ १ ॥

आपलोग वननिवासियों के पक्ष [वाला] इस वन में मृगों के मार्ग का अनुसरण करते हुए भागे जा रहे थे तो फिर इस वाणधारी वाणों के साथ साथ आगे भागा हुआ किस उपाय से शान्त होगा ? मुझे इस बात का भ बड़ा सन्देह है ॥ १ ॥

पार्थिवोत्सुकमाहात्म्ये सहन्नयमकीर्तिमि ।

गुर्वीं कामापद् हन्तु कृतमात्मविसाहसम् ॥ ११ ॥

पार्थिवेति ॥ पार्थिवे क्षत्रिय उत्सुकमाहात्म्यमुत्सुकमहात्मो पैसैः लोकता आहता आपत्ता निरस्ता कीर्तयो यैस्तैः । युष्माभिरिति शेषः । कां गुर्वीमापदं हन्तुम् । न कीर्तिविपरीतम् । आत्मविसाधविकृति तैव साहसं कृतम् । अत प्रापय मम किंचि त्तस्सन्नस्तीति भावः । तदुक्तं मनुना भवतु नीतः पराभूत लघुमानो हन्यते परैः । मार्ग पद्गुणत्वं विभिनत्तर्यं प्रतिपद्यते ॥ भवानस्य गुरुत्वं किंचित्कुत्रयमनुपपन्नितम् । भर्तां तस्समक्षमात्रे पराभूयमानस्य तु ॥ इति ॥ ११ ॥

आप लोगों ने अपने गौरव पर ध्यान न देकर अपनी प्रभुत्वाभिलाषीकीर्ति को भ्रष्ट करके किस महान् आपत्ति के प्रतिकार के लिये समान से विरुद्ध होने का साहस किया ॥ ११ ॥

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः ।

ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राक्षसः ॥ १२ ॥

(गोमूत्रिकाबन्धः)

नेति ॥ किंच अयमसुरो दैत्यो न । नागो नागराजो वा पन्नगो न । धरः इव स्थिता यस्य स धरसंस्थः पर्वताकारः । महाकायत्वात् इत्यमरः । संस्था व्यवस्था प्रणिधिसमाप्त्याकारेषु इति वैजयन्ती । राक्षसो न । किंतु अयं सुखयतीति सुखः । सुखमाप्य इत्यर्थः । नवाभोगोऽभिनवाभोगः । महोत्साह इत्यर्थः । आभोगो वरुणच्छत्रे पूर्णतायत्नयोरपि इति विश्वः । धरणिस्थो भूतलवासी राक्षसो रजोगुण प्रधानो ना पुरुषो हि । मनुष्य इत्यर्थः । पुरुषाः पूरुषा नरः । मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः इत्यमरः । अतो न पलायनमुचितमिति भावः । गोमूत्रिकाबन्धः—'वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः । गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो

विदु ॥' इति लक्षणात् । षोडशकोष्ठद्वयेऽधंद्वय क्रमेण विलिख्यैकान्तरविनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धार ॥ १२ ॥

यह पुरुष दानव, नाग, पहाड़ और राक्षस इनमें से कोई भी नहीं है। महान् उत्साहशाली होने की आशङ्का हो तो यह भी नहीं है किन्तु भूमिचारी रजोगुणी मनुष्य है अत एव यह सरलतापूर्वक विजित किया जा सकता है ॥ १२ ॥

सन्दधत्यभिषुलता कृपया मुनिरेष व ।
प्रगुणत्यागतावज्ञ जघनेषु पशूनिव ॥ १३ ॥

सन्दधिति ॥ एष मुनिर्घृणया कृपया । इषु लता शाखामिव सन्दधत्यम् क्षिपन् वो युष्मान् पशूनिवागतावज्ञ यथा तथा जघनेषु प्रगुदति चोदयति । किमत पर कष्टमस्तीति भाव ॥ १३ ॥

यह तपस्वी कृपा करके हरी हरी शाखाओं के सदृश बाण प्रक्षिप्त करते हुए [हरी हरी शाखा के खाने के लालच से समागत] पशु की भाँति जघन प्रदेश में प्रहार करता है, इससे बढ़कर और कष्ट क्या हो सकता है ? ॥ १३ ॥

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १४ ॥

(एकाक्षर ।)

नेति ॥ पदच्छेदस्तावत्—न ना ऊननुन्न नुन्नोन ना अना नानानना ननु । नुन्न अनुन्न ननुन्नेन ना अनेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ अथ योजना—हे नानानना नानाप्रकाराण्याननानि येषा ते । नानाविधास्या इत्यर्थ । ऊनेन निकृष्टेन नुन्नो विद्ध ऊननुन्नो य स ना न पुरुषो न । तथा नुन्न ऊनो येन स नुन्नोनो ना पुरुषोऽना ननु अपुरुष खलु । कश्चिद्देव एव अयमसौ किं पलायनीयमिति भाव । किन्च, नुन्न इव स्वामी यस्य [illegible] नुन्नेन । स [illegible] भवतीति ननुन्नेन । नञर्थस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समास । स नुन्नो विद्धोऽपि अनुन्नोऽविद्ध एव । यूयमनुन्नस्वामिकत्वादनुन्ना एवेति भाव । तथा नुन्ननुन्ननुदतिशयेन नुन्ना नुन्ननुन्नास्तान्नुदतीति नुन्ननुन्ननुत् । अतिपीडितपीडको ना पुरुषोऽनेना निर्दोषो न भवतीति, किंतु सदोष एवेति । 'नार्तं नातिपरिचतम्' इति निषेधादित्यर्थं । अत एव नैतादृश इति । न पलायितव्यमिति भाव । अयमेकाक्षरश्लोक । अन्त्यस्तकारस्तु न दोषावह, 'नान्त्यवर्णस्तु भेदक' इत्यभ्युपगमात् ॥ १४ ॥

हे नानानना ! =अनेकविध मुखधारी, ! ऊननुन्न =नीचविदार का, ना न =पुरुष नहीं है, नुन्नोन ना अना =न्यूनता का विघाती पुरुष अथवा पुरुषसे भिन्न कोई देवता है, ननुन्नेन = जिसका स्वामी विद्ध न हो, वह नुन्न =(यद्यपि) विद्ध किया

(तथापि) अविद्ध की तरह है तु नतुन्नतुरः = अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त को व्यथित करनेवाला पुरुष अनेनाः = निर्दोषी नहीं होता किन्तु दोषी होता है ऐसा यह पुरुष नहीं है।

हे विविध युद्धवालों ! (प्रमथ वर्गों) यह क्षुद्र विचार का पुरुष नहीं है। यह न्यूनता (बुराई) का समूल नष्ट करने वाला पुरुष से अतिरिक्त कोई देखता है। विदित होता है कि इसका स्वामी भी है (अर्थात् शुम्भकर नहीं है)। यह बाणों से आहत है तथापि अनाहत की तरह प्रतीत होता है। अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त पुरुष को व्यथित करना दोषावह होता है इस दोष से भी यह पुरुष मुक्त है। (अतः युद्ध से विमुख होकर भागना नहीं चाहिए) ॥ १४ ॥

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान् ।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः ॥ १५ ॥

वरमिति॥ कृता पूर्वमुत्पादिताः पश्चाद्ध्वस्ता नाशिताः कृतध्वस्ताः । पूर्वकालैक—इत्यादिना समासः । कृतध्वस्ता गुणा यस्य तस्मात् पुंसः । अत्यन्तमतिशयेनागुणो निर्गुणः पुमान् वरं मनाक्प्रियः । किंचिदिष्ट इत्यर्थः । 'वरं क्लीबे मनाक्प्रिये' इत्यमरः । तथा हि—प्रकृत्या स्वभावेन । अमणिर्मणिरहितोऽलङ्कारः श्रेयान् । च्युतोपलो प्रशस्तो न श्रेयान् । उपलः प्रस्तरे रत्ने इति विश्वः । एकाक्षिदु समरादसमर एव वरमिति भावः । अत्र कृतध्वस्तगुणोऽपि प्रतिबिम्बकरणा दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १५ ॥

जो पुरुष गुणों को प्राप्त करता है और पश्चात् उसे नीचे नष्ट कर डालता है ऐसे पुरुष की अपेक्षा निर्गुणी पुरुष कुछ अच्छा होता है। पहले से ही आभूषण में रत्न जटित न किया जाय वह भूषित अच्छा है परन्तु रत्नजटित होने के पश्चात् वे रत्न उस स्थान से अलग हो जाय तो वह आभूषण शोभा को नहीं पाता है (अर्थात् युद्धक्षेत्र से भाग जाने की अपेक्षा युद्ध में न आना ही अच्छा है) ॥ १५ ॥

स्यन्दना नो चतुरगाः सुरेभा वाविपत्तयः ।
स्यन्दना नो च तुरगाः सुरेभा वा विपत्तयः ॥ १६ ॥

(समुद्गक ।)

स्यन्दना इति ॥ स्यन्दन्ते प्रस्रवन्तीति स्यन्दना अश्वाः । स्यन्दना रथा नो सन्ति । अन्यादित्वात्स्यु । चतुरं भयमन्तीति चतुरगाः । तुरगाश्च अश्वा नो सन्ति । सुरेभाः शोभनवृंहणाः । सुरेभा वा सुरगजाश्च नो सन्ति । अविपत्तयो विपत्तिरहिता विपत्तयो वा विशिष्टाः पदातयो नो सन्ति । अतो न भेतव्यमिति भावः । अत्र पूर्वोत्तरार्धयोः स्थितिपदानां विशेषणानां चोद्देश्योद्देशिभूतानां यथासंख्यसम्बन्धानुक्रमाद्यथासंख्यालङ्कारो समुद्गकेन संसृष्टः ॥ १६ ॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध के सम्पूर्ण पद पूर्वार्द्ध की भांति हैं अर्थात् पूरे छन्द में एक एक पद दो दो बार आये हुए हैं।

योजनाक्रम—स्यन्दना =स्यन्दन्ते इति स्यन्दना अर्थात् वेगवान्, स्यन्दना =रथ, चतुरगा =चतुर (अच्छी चाल से) (गा=चलने वाले) तुरगा =घोड़े, सुरेभा = सुन्दर बृंहण वाले, सुरेभा =ऐरावत, अविपत्तय =विपत्ति से हीन, विपत्तय =विशिष्ट पैदल सिपाही।

इस पुरुष के पास वेगशाली रथ, अच्छी चाल का घोड़ा, सुन्दर गर्जनकारी ऐरावत हाथी तथा सुसज्जित पैदल सिपाही इन सब में से एक भी नहीं है ॥ १६ ॥

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषैः ।
ह्रदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्तः पङ्को दुरुत्तरः ॥ १७ ॥

भवद्भिरिति ॥ अधुनाऽरातिभिः परिहापितानि त्याजितानि पौरुषाणि येषां तैः। अर्कनिष्पीतैरर्केण सशोषितैर्ह्रदैरिव। दुरुत्तरो दुस्तरः पङ्क इव पङ्को दुष्कीर्तिरूपः प्राप्तः ॥ १७ ॥

आप लोगों का पुरुषार्थ इस समय शत्रु के द्वारा भगा दिया गया है जिसके कारण आप लोग घर्म भगवान् की किरणों के द्वारा सुखाये हुए जलाशय (तालाब) की तरह हो गये हैं। और एक दुस्तर कर्दम में फँस गये हैं। अर्थात् अयश के पात्र बन रहे हैं ॥ १७ ॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।
यात किं विदिशो जेतुं तुजेशो दिवि किंतया ॥ १८ ॥

(प्रतिलोमानुलोमपादः ।)

वेत्रेति ॥ वेत्राणि वंशाः फलिन्यो वा शाकाः सर्जतरवश्च कुजा वृक्षा यस्मिंस्तस्मिन् वेत्रशाककुजे। शत्रुणा दुष्प्रवेश इत्यर्थः। 'वेत्र वंशफलिन्योश्च' इति विश्वः। 'शाकः सर्जतरवश्च' इत्यमरः। लेशेन स्तोकेनाप्येजते कम्पत इति लेशैजः। स न भवतीति अलेशैजस्तस्मिन्। अत्यन्ताकम्पन इत्यर्थः। 'एजृ कम्पने'। पचाद्यच्। न कोकते नाद्रियत इत्यकुकः ग्रहणासमर्थः शात्रवो यस्मिंस्तस्मिन् अकुकशात्रवे। 'कुक आदाने'। पचाद्यच्। शैले पर्वते। केया भाव किंता कुत्सितता तयोपलक्षिताः सन्तः। 'कुत्सा-प्रश्नवितर्केषु क्षेपे किंशब्द इष्यते' इति शाश्वतः। विदिशो जेतुं यात गच्छत किम्। याते सप्तमे लोट्। मध्यमपुरुषबहुवचनम्। दिवि स्वर्गेऽपि। तुजेशा इति तेषां सम्बोधनम्। तुजन्त इति तुजा हिंसका दैत्याः। 'तुजि हिंसायाम्' पचाद्यच्। तेभ्यो दैत्येभ्य ईशत इति तुजेशाः। ईशो क्विप्। तेभ्योऽपि शक्ता इत्यर्थः। स्वर्गेऽप्यसुर-विजयिना युष्माकमत्र क्षुद्रस्थले क्षुद्रशत्रौ पलायनमनुचितमिति भावः ॥ १८ ॥

बास, फलशाली वृक्ष और भी अनेक प्रकार के व्यर्थ के वृक्षों से भरे हुए, रेणु मात्र भी उस से मस न करने वाले पहाड़ पर जहाँ शत्रु कुछ कर नहीं सकता, क्या

अन्यच्च न चलतीति कर्म ख्याप्यते यथाह—

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥ २३ ॥

(प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्)

तन्विति ॥ तनुमावृणोत्याच्छादयतीति तनुवार वर्म । कर्मण्यण् । तेन भमस्ति भासत इति तनुवारभसः । भस दीप्तौ । पचाद्यच् । भास्वान् तेजस्वी चारुणा भास्वताऽविनतेनोन्नतेन । उरसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः । एवंविधोऽपि अधीरो धैर्यरहितो रसितेन शब्दितेनैवाश्नाति ग्रसतीति रसिताशी तस्मिन् । रवेणैव विश्व प्राणहारिणीत्यर्थः । भाभीत्यर्थे णिनिः । जन्ये युद्धे । युद्धमायोधनं जन्यम् इत्यमरः । अभीतो निर्भीकः सन् को रमते कः क्रीडति । यदि रमते तर्ह्यधमेवेति भावः । निर्भयस्वभावादेवास्य निमज्जत्वे निश्चीयत इत्यर्थः । पूर्वश्लोकस्यायं प्रतिलोमः ॥ २३ ॥

कवच से सुशोभित और तेजस्वी पुरुष जिसका वक्षःस्थल रम्य और उन्नत है तथापि धैर्य की न्यूनता के कारण निर्भीक होकर कौन ऐसा व्यक्ति है जो रव मात्र से विध्वंसकारी संग्राम में खेलेगा (अर्थात् खेलता है तो नहीं खपती) ॥ २३ ॥

अथ पञ्चभिः युद्धमाह—विभिन्नेत्यादिभिः—

विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि ।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले ॥ २४ ॥

आहव विभिन्नेति—विभिन्नानि विदारितान्यत एव पातितान्यश्वीया अश्वसमूहाः । पूर्वकाल— इति समासः । तैररुद्धान्यवरुद्धानि रथानां वर्त्मानि यस्मिन् तस्मिन्नायोधने । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः । केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् इति छप्रत्ययः । हतास्ताडिता द्विपा गजा एव नगाः शैलाः । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । तैः ष्ठ्यूतानि उद्गीर्णानि । ष्ठीवतेः कर्मणि क्तः । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेशः । तानि रुधिराण्येवाम्बूनि तेषां नद्यः प्रवाहैराकुले व्याप्ते ॥ २४ ॥

युद्ध स्थल में रथों का मार्ग कटकर गिरे हुए घोड़ों के ढेर से अवरुद्ध हो जाता है । पर्वताकार आहत हाथियों के शरीर से बनी रक्त की जलधारा के सदृश एक प्रवाह से नद बहने लगता है जिससे युद्ध स्थल व्याप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा ।
काकारेभभरे का का निस्वभव्य व्यभस्वनि ॥ २५ ॥

(सर्वतोभद्रः ।)

देवेति ॥ पुनश्च देवानाकामयन्तु स्वीयास्तु आह्वयतीति देवाकानी तस्मिन् देवाकानिनि । कन दीप्तौ इति धातोर्ण्यन्ताण्णिनिः । यद्वा—कै शब्दे इति धातोराङ् पूर्वस्य भावे घञि आकायं आह्वानमस्त्यस्येति यावत् । देवानां तद्गतीत्यर्थः ।

कावाद् ईषद्वादो वाक्कद् । 'ईषदर्थे' इति 'कु'शब्दस्य कादेशः । तद्वति कावादे । अर्शआदिभ्योऽच् । वाहिका पर्यायेण रणमारोढुमुत्कम् । वहे पर्याये धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्प्रत्ययः । वाहिकया क्रमप्राप्तरणक्रियया सुष्ठु शोभनं यथा तथाऽस्वकान् परानाजिहीतेऽभियुङ्क्ते । योत्स्यतीति यावत् । वाहिकास्वस्वकाह्वास्तस्मिन् । योद्धृधर्मो युद्ध उपचर्यते । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोर्क्विप्प्रत्ययः । 'सोमपा'शब्दवत्प्रक्रिया । 'वा' शब्दश्चार्थे ॥ क मदोदकमाकिरन्तीति काकारा मदस्राविणः । किरतेराङ्पूर्वात्क र्मण्यण् । एवंविधा इभभरा गजघटा यत्र तस्मिन् काकारेभभरे । काका इव काका गर्ह्या इति लक्षणया तेषामामन्त्रणम् । निस्वा निरुत्साहा भव्याः सोत्साहास्ताः उभयानप्ययं भिया सम्भवन्तीति भिस्वभव्यव्या 'व्येञ् संवरणे' । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । सैवंभस्ति भासत इति भिस्वभव्यव्यमस्वास्तस्मिन् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिप् । सर्वतो भ्रमणात्सर्वतोभद्राख्योऽयं चित्रबन्धः । यथाह दण्डी–'तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इति । उद्धारस्तु–चतुष्कोष्ठे चतुरश्रबन्धक्रमेणायपङ्क्तिचतुष्टये पादचतुष्टयं विलिख्यमानमन्तरपङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यथ क्रमेण पादचतुष्टयलेखने अथ माद्यु चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमं पादः सर्वतो वाच्यते, द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥

रणस्थल देवताओं को भी प्रोत्साहित कर देता है। इसमें वाक्कलह बहुत थोड़ा बीच होता है। दूसरे लोग भी की छोड़ कर इसमें कार्य करते हैं। मदस्रावी हाथियों की कतारें समास्थल व्याप्त रहता है। इसमें उत्साही निरुत्साही दोनों प्रकार के लोगों को भी काल से डरना पड़ता है। (वस्तुत यह श्लोक अस्पष्ट क्लिष्ट है मल्लिनाथी टीका से सहायता लीजिये।) ॥ २५ ॥

भ्रनृत्तशवनित्रस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ ।
मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि ॥ २६ ॥

भ्रनृत्तेति ॥ भ्रनृत्तशवेभ्यो नृत्यत्कबन्धेभ्यो वित्रस्तैः क्षुभितैस्तुरगैराक्षिप्ता अवधूताः सारथयो यत्र तस्मिन् । तथा मारुतेनापूर्णैर्व्याप्तैस्तूणीरैर्निषङ्गैर्विक्रुष्टाः शब्दायमाना हताः स्ताडिताः सादिनस्तौरङ्गिका यत्र तस्मिन् । पाठान्तरे मारुतापूर्णतूणीरैर्विक्रुष्टा आकर्षिता अतएव हता मारिताः सादिनोऽश्ववारा यत्र तस्मिन् ॥ २६ ॥

रणक्षेत्र में वीरों के शिर विच्छिन्न होने से धड़ तड़ फड़ाने लगते हैं जिसे देखकर घोड़े भयभीत होकर सवारों को फेंक देते हैं और वे उसी युद्धस्थल में पड़े हुए रहते हैं। रणभूमि में पड़े हुए वीरों के निषङ्ग पवन हवा से पूर्ण हो जाते हैं तो उससे ध्वनि निकलती है उस ध्वनि से आकृष्ट होने पर आहत अश्वारोही भी वहीं पड़े हुए रहते हैं ॥ २६ ॥

ससस्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि ।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥ २७ ॥

(अर्धभ्रमक ।)

दृवेर्युधेसा । आशा दिशो ध्वनयत् शब्दयुक्ताः कुर्वन् दध्वान शब्दमकरोत् । दिशस्तु ककुभ काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः इत्यमरः ॥ ३४ ॥

शङ्कर के अर्जुन पर बाणप्रक्षेप करने पर नगराज (अर्जुन) की टङ्कार से पूर्व इन्द्रकील पर्वत ने मानो विदीर्ण होते हुए सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए शब्द किया ॥ ३४ ॥

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः ।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ॥ ३५ ॥
(द्विपादयमकम् ।)

तदिति ॥ भीमं तयोर्हरपाण्डवयोः । तत् प्रसिद्धं युद्धं गणाः प्रमथाश्चित्रसंस्थाः भिन्नाकाराः अचलाः शैला इव । तथापि चित्र आलेख्ये संस्था स्थितिर्येषां ते चित्रसंस्थाः चित्रलिखिता इव अचलाः आश्चर्यरसाविष्टाः सन्तो विस्मयेन ददृशुः ॥ ३५ ॥

प्रमथ गण जो चित्राकार पहाड़ के सदृश थे अर्जुन और शङ्कर के भीषण युद्ध को चित्रलिखित के तरह निश्चल होकर आश्चर्य पूर्वक देखने लगे ॥ ३५ ॥

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया ।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना ॥ ३६ ॥

परीति ॥ शिक्षालाघवलीलया अभ्यासपाटवातिशयेन हेतुना परिमोहयमाणेन व्यामोहयता । अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् इति परस्मैपदे प्राप्ते न पादम्याङ्यम इत्यादिना तत्प्रतिषेधादात्मनेपदं प्राप्तम् । भीस्म्योर्हेतुभये इति हस्वस्य नत्वं वा पात्वम् । पिनाकिना हरेण जिष्णोरर्जुनस्येयं जैष्णवी विशिखश्रेणी बाणसमाधिः परिजह्रे निरस्ता ॥ ३६ ॥

अभ्यासनैपुण्य की अतिशयिता के कारण मन्त्रमोहित करते हुए शङ्कर भगवान् ने अर्जुन के बाणराशि (शर समूह) को काट डाला ॥ ३६ ॥

अवद्यन्पत्रिणः शंभोः सायकैरवसायकैः ।
पाण्डवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ॥ ३७ ॥
(आद्यन्तयमकम् ।)

अवद्यन्निति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः । अवसायकैरवसानकरैः । ण्यन्तादन्तकर्मण्युण्प्रत्ययः । सायकैर्बाणैः शंभोः पत्रिणः शरान् । अवद्यन् खण्डयन् । षोऽन्तकर्मणि इति धातोः शतृप्रत्ययः । ओत श्यनि इत्योकारलोपः । शिक्षया लब्धु शक्तिमिच्छया । उत्साहेनेत्यर्थः । रणे शिक्षयाऽभ्यासेन च परिचक्राम । उत्साहनैपुण्याभ्यां चचारेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अर्जुन अन्तकारी बाणों से शङ्कर भगवान् के बाणों को खण्डित करते हुए उत्साह और रणचातुरी से समरक्षेत्र में घूमने लगे ॥ ३७ ॥

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः ।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥ ३८ ॥
(द्व्यक्षरः ।)

चारैरिति ॥ चारैर्गतिविशेषैर्वित्त इति चारचुञ्चु । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः । चिरमारेचयति रिक्तीकरोति शत्रूनिति चिररेची । चञ्चलत्चलतश्चीरस्य वल्कलस्य रुचा प्रभया । रोचत इति रुच्यः शोभमानः । 'इगुपध-' इति कः । रुचिरः । सुन्दरः । चर्य्यते भृशं चरतीति चञ्चुरः । चरतेर्यङन्तात्पचाद्यच् । 'चरफलोश्च' इति नुमागमः । 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् । आचारस्य युद्धव्यवहारस्य चञ्चुरो भृशमाचरिता स मुनिश्चारु यथा तथा चारैश्चक्रादिबन्धैर्गतिविशेषैः । चचार । 'चारः प्रियालवृक्षे स्याद्गतौ बन्धापसर्पयोः' इति विश्वः ॥ ३८ ॥

चारचुञ्चु अर्थात् गति विशेष से युक्त, चिररेची अर्थात् अधिक समय में शत्रुको रिक्त करने वाले, चञ्चलचीररुचारुच अर्थात् फहराते हुए भूर्जपत्र की कान्ति से शोभित होते हुए, चारु अर्थात् सुन्दर आचारचञ्चुर अर्थात् युद्ध के पूरे अभ्यासी अर्जुन चक्रबन्धादि अनेक रणकालिकी गति से समराङ्गण में परिभ्रमण करने लगे ॥ ३८ ॥

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः स बृहद्धनुः ।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ ॥ ३९ ॥

स्फुरदिति ॥ स मुनिरर्जुनः स्फुरन्ती पिशङ्गी पिशङ्गवर्णा मौर्वी ज्या यस्य तत्स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकम् । 'नद्युतश्च' इति कप्प्रत्ययः । बृहद्धनुर्गाण्डीवं धुनानः कम्पयन् । धृत उल्कानलः-स्तेन युतो योगो येन तेन । अंशुमताऽर्केण सूर्येण तुल्यं बभौ । उपमा । ३९ ॥

अर्जुन उस बृहत् (विशाल) गाण्डीव धनुष को—जिसकी प्रत्यञ्चा कपिश वर्णा की थी—कम्पित करते हुए उल्का रूप अग्नि से संयुक्त सूर्य के समान सुशोभित होने लगे ॥३९॥

पार्थबाणाः पशुपतेरावव्रुर्विशिखावलीम् ।
पयोमुच इवारब्धाः सावित्रीमंशुसंहतिम् ॥ ४० ॥

पार्थेन । पार्थबाणा अर्जुनशराः पशुपतेर्विशिखावलीं शरसंघातम् । सवितुरियं सावित्री ताम् । अंशुसंहतिं किरणसमूहम् । आरब्धा निबिडाः पयोमुचो मेघा इव । आवव्रुस्तिरोदधुः ॥ ४० ॥

अर्जुन के बाण ने चन्द्रशेखर (शंकर) प्रेरित शर संहति को इस प्रकार आच्छादित कर लिया जिस प्रकार सूर्य के किरणपुञ्जों को घने घने बादल आच्छादित कर लेते हैं ॥४०॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना ।
रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ॥ ४१ ॥

शरेति ॥ त्रिलोचनः शिवः । सव्येन सचते समवैतीति तेन सव्यसाचिनाऽर्जुनेन । उदस्तां क्षिप्तामुर्वीं महतीं शरवृष्टिं मार्गणैः शरैर्विधूय निरस्य तपनस्य रवेर्मार्गं रुरोधावृणोत् ॥ ४१ ॥

शंकर भगवान ने पार्थ के द्वारा प्रक्षिप्त प्रचुर शर वर्षा को निरस्त कर के अपने शरों से सूर्य भगवान् के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥ ४१ ॥

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलानना ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥ ४२ ॥

(शृङ्खल यमकम्)

तेनेति ॥ तेन शिवेन भीमा भयकरास्तथा भियो भयस्य मार्जनं निरासस्तदेव फलं प्रयोजनं येषां तानि आननान्यग्राणि येषां ते भीमार्जनफलाननाः । तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरजानि बर्हाणि तान्येव वासांसीव वासांसि पक्षा येषां ते शिखाधरजवाससो मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा बाणाः अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्यातेनिरे इति न । किं त्वनुकम्प्यैवेत्यर्थः । अनुजिघृक्षयैवेति भावः । सम्भाव्यनिषेधने द्वौ प्रतिषेधाविति युक्तम् ॥ ४२ ॥

शङ्कर भगवान् के द्वारा भयहारक बाण जिनके अग्रभाग भय के दूर करने में सफल थे तथा शिखी (मयूर) से उत्पन्न पर (पिच्छ) उनके लिये वस्त्र रूप में दया का परित्याग करके ही चारों तरफ व्याप्त हो गये ऐसा नहीं कि वे दया से युक्त हो थे ॥ ४२ ॥

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥ ४३ ॥

(गूढचतुर्थपादः)

द्युवियदिति ॥ द्यौः स्वर्गः वियदन्तरिक्षं च गामिनी व्यापिनी द्युवियद्गामिनी । द्विती यात्र्यक्षरे भित्वादिषु गम्यादीनामुपसंख्यानादिति समासः । तारेणोच्चैस्तरेण संरावेण नादेन विहता भिन्ना श्रुतयः कर्णा यया सा तथोक्ता । हैमी हेममयी इषुमाला शिवशरपङ्क्तिर्विद्युतां संहतिरिवोपचितेव विद्युन्मालेव । शुशुभे चतुर्थपादवर्णानां त्रिपाद्या समन्वयाद्गूढचतुर्थपादमिदम् ॥ ४३ ॥

शङ्कर भगवान् के द्वारा प्रक्षिप्त सुवर्ण मयी बाणसंहति जो कि स्वर्गलोक आकाश पथ में सञ्चरण कर रही थी अपने उच्चस्वर से कान के पर्दे को भेदन करती हुई (कान के पर्दे को फाड डालती थी) बिजली के समूह के सदृश देदीप्यमान होने लगी ॥ ४३ ॥

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥ ४४ ॥

विलङ्घ्येति ॥ शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पक्षिणां विजयशरावलिं विलङ्घ्यातिक्रम्य भिन्नो विद्धः कपिध्वजोऽर्जुनो ज्यायः प्रशस्तम् । वृद्धप्रशस्ययोर्ज्यादेशात् इत्यभरः । वीर्यं सामर्थ्यम् । उपाश्रित्यावलम्ब्य न चकम्पे न चचाल । किन्तु तान् सम्यक् सेहे इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

शङ्कर भगवान् के बाणों ने अर्जुन के बाण समूह को लाँघ कर (काटकर) उन्हें विद्ध कर दिया । फिर भी कपिध्वज (अर्जुन) अपने पराक्रम का आधार ले रणभूमि से विचलित न हुये (किन्तु वे हीं सहन करते रहे) ॥ ४४ ॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥ ४५ ॥

(अर्थत्रयवाची)

जगतीति ॥ अर्थत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ नगराज इति पदच्छेदमाश्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते-(१) ईशस्य रणे युक्त सक्तः । अन्यत्र,-जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तः स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र,-हरिणा सिंहाना कान्तः आवासदानात्प्रियः । सुधां दधाति धारयति श्रवा इति सुधा । क्विबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,-सुधालेपद्रव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः कृताशंसः कृतजयाभिलाषः । अन्यत्र, दानवैर्देवैर्स्त्रैर्गिभिः इना कामेन च कृताशंसः नानाफलाभिलाषो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुनः । नगराजो हिमवानिव आत्मानमाविष्येकोऽर्थः ॥ (२) ॥ अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं युध रयन्ति तन्कुर्वन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्त इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि समासमेतत् । सुधासितोऽमृतवत् स्वच्छः । पुष्कल,-शीतल, अन्यत्र,-वर्णत इति विवेकः । दानवर्षी मदमदो मदस्रावी च । कृताशंस उभयत्र कृतजिगीषः । पार्थो नगराज इव ऐरावत इव । आबभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) ॥ अथ दीप्तीपरमुच्यते—जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि तुल्यम् । सुधां दधातीति सुधा । वसुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः । 'षिञ् बन्धने' कः । अन्यत्र,-सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतमिव इत्यर्थः । दानवाश्च नाऽपमश्च (इन्द्रोक्तीश शम्भि) तैः कृताशंसो विहितप्रयासः । उभयमपि तुल्यमेतत् । सोऽर्जुनो नागराज शेष इवाबभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

इस श्लोक में तीन प्रकार के अर्थ भासित होते हैं । उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है —

(१) नगराजपक्षीया शोभना—जगतीशरणे युक्त हरिकान्त सुधासित दानवर्षी कृताशंस ना नगराज इव आबभौ ॥

जगति=इस संसार में ईशरणे=शंकर भगवान् के रण में युक्त=समर्थ हरिकान्त= सिंह के सदृश मनोहर सुधासित=श्रवा का धारक कृष्ण वर्ण दानवर्षी=प्रचुर परिमाण में दान के दाता कृताशंस=जय की अभिलाषा रखते हुये नरपुरुष (अर्जुन) इन्हीं सब विशेषणों से युक्त नगराज=शैलों के राजा हिमालय की तरह, जो जगतीशरणे युक्त = पृथ्वी की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा के द्वारा निर्मित (पहाड़ों के कारण पृथ्वी जगह जगह से रुकी [illegible] है ऐसा विद्वानों का सिद्धान्त है), सिंहों को आवासस्थान प्रदान करने से प्रिय है, सुधा एक तरह का लेपद्रव्य (चूना) है उसके समान धवल वर्ण है, अनेक प्रकारके रत्नों

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलाननाः ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥ ४२ ॥

(भङ्गयमकम्)

तेनेति ॥ तेन शिवेन भीमा भयङ्करास्तथा भियो भयस्य अर्जनं निरासस्तदेव फलं प्रयोजनं येषां तान्याननान्यग्राणि येषां ते भीमार्जनफलाननाः । तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरजानि बर्हाणि तानि वासांसीव वासांसि पक्षा येषां ते शिखाधरजवाससो मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा बाणाः अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्यातेनिरे इति न । किं त्वननुकम्प्यैवेत्यर्थः । अननुकम्प्यैव व्यातेनिरे इति भावः । सम्भाव्यनिषेधने द्वौ प्रतिषेधाविति युक्तम् ॥ ४२ ॥

शङ्कर भगवान् के द्वारा भयजनक बाण जिनके अग्रभाग भय के दूर करने में सफल थे तथा शिखी (मयूर) से उत्पन्न बर्ह (पिच्छ) उनके लिये वस्त्र रूप थे दया का परित्याग करके ही चारों तरफ व्याप्त हो गये ऐसा नहीं किन्तु दया से युक्त हो थे ॥ ४ ॥

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥ ४३ ॥

(गूढचतुर्थपाद)

द्युवियदिति ॥ द्यां स्वर्गं वियदन्तरिक्षं च गामिनी व्यापिनी द्युवियद्गामिनी । द्वितीयाश्रितातीतेषु गम्यगाम्यादीनामुपसंख्यानात्समासः । तारेणोच्चैस्तरेण संरावेण नादेन विहता भिन्ना श्रुतयः कर्णा यया सा तथोक्ता । हैमी हेममयी इषुमाला बाणधारा तडिद्विद्युतां संहतिरिवोक्तविशेषणा विद्युन्मालेव । शुशुभे चतुर्थपादवर्णानां त्रिपाद्यां सम्भवाद्गूढचतुर्थपादमिदम् ॥ ४३ ॥

शङ्कर भगवान् के द्वारा प्रक्षिप्त सुवर्णमयी बाणपङ्क्ति जो कि स्वर्ग तथा आकाश पथ में सञ्चरण कर रही थी अपने उच्चस्वर से सब प्राणियों के श्रवण को भेदन करती हुई (कान के पर्दों को फाड़ डालती हुई) बिजली के समूह के सदृश शोभायमान होने लगी ॥ ४३ ॥

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥ ४४ ॥

विलङ्घ्येति ॥ शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पङ्क्तिं विशिखावलिं विलङ्घ्यातिक्रम्य भिन्नो विद्धः कपिध्वजोऽर्जुनो ज्यायः प्रशस्तम् । 'वृद्धप्रशस्ययोर्ज्यायान्' इत्यमरः । वीर्यं सत्त्वम् । उपाश्रित्यावलम्ब्य न चकम्पे न चचाल । किन्तु तान्सहमानस्तस्थाविवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

शङ्कर भगवान् के बाणों ने अर्जुन के बाण जाल को बीच कर (काटकर) उन्हें विद्ध कर दिया । फिर भी वे कपिध्वज (अर्जुन) उत्कृष्ट पराक्रम का आधार ले रणभूमि से विचलित न हुये (किन्तु उन्हें सहन करते रहे) ॥ ४ ॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥ ४५ ॥

(अर्थत्रयवाची)

जगतीति ॥ अर्थत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ अगराज इति पदच्छेदमाश्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते-(१) ईशस्य रणे युक्तः शक्तः ।अन्यत्र,-जगतीशरणेभूरक्षणे युक्तः स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र,-हरिणा सिंहानां कान्तः आवासदानात्प्रियः ।सुधं दधाति पालयति प्रजा इति सुधा । क्विबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,-सुधालेपद्रव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः कृताशसः कृतजयाभिलाषः ।अन्यत्र, दानवैर्दैत्यैरर्णोभिः इभा कामेभ्य श्च कृताशंसा नानाफलाभिलाषो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुनः । अगराजो हिमवानिव आबभाविति योजनाऽयम् ॥ (२) ॥ अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं घ्नन्ति स्यन्ति वा तत्कुर्वन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्त्रत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि समानमेतत् । सुधासितोऽमृतवत् स्वच्छः । पुष्कलः,-शीतलः, अन्यत्र,-वर्णेन इति विवेकः । दानवर्षी मदप्रदो मदस्रावी च । कृताशंसः उभयत्र कृतजिगीषः । पार्थो नागराज इव ऐरावत इव । आबभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) ॥ अथ शेषोपम्यमुच्यते—जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि तुल्यम् । सुं दधातीति सुधा । बहुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः । 'षिञ् बन्धने' च । अन्यत्र,-सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतमिव इत्यर्थः । दानवाश्च अपयश्च (ईर्ष्यमीश्च तानि) तै कृताशंसो विहितमतः । उभयत्रापि तुल्यमेतत् । सोऽर्जुनो नागराज शेष इवाबभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

इस श्लोक में तीन प्रकार के अर्थ आश्रित होते हैं । उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है —

(१) अगराजपक्षीया योजना—जगतीशरणे युक्त हरिकान्त सुधासित दानवर्षी कृताशंस ना अगराज इव आबभौ ॥

जगति=इस संसार में ईशरणे=शंकर भगवान् के रण में युक्त=समर्थ हरिकान्त= सिंह के सदृश मनोहर सुधासित=प्रजा का पालक कृष्ण वर्ण दानवर्षी=प्रचुर परिमाण में दान के दाता कृताशंस=जय की अभिलाषा रखते हुये ना=पुरुष (अर्जुन) इन्हीं सब विशेषणों से युक्त अगराज=शैलों के राजा हिमालय की तरह, जो जगतीशरणे युक्त = पृथ्वी की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा के द्वारा निर्मित (पहाड़ों के कारण पृथ्वी जगह जगह से रुकी हुई है ऐसा विद्वानों का सिद्धान्त है), सिंहों को आवासस्थान प्रदान करने से प्रिय हैं, सुधा एक तरह का लेपद्रव्य (चूना) है उसके समान धवल वर्ण है, अनेक प्रकारके रत्नों

का मनाता है और जिसमें देवता और ऋषि लोग अनेक फल प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं सुशोभित हुये ॥

(२) नागराजपक्षोक्ता योजना—पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट नागराज=ऐरावत इव आबभौ अहर्नी=पूर्वोक्तो रवन्ति=शब्द करे इति नगतीभासीवर्त्ये युक्त. अर्थात् राक्षसों के संग्राम में समान दोनों पक्षमें नहीं अर्थ है हरिकान्त=इन्द्रका मित्र (अर्जुन और ऐरावत दोनों हैं) सुवासित=अर्जुन के समान स्वच्छ, अर्जुन पक्षमें शक्तिके कारण स्वच्छ और ऐरावत पक्ष में नव स्वच्छ (शुभ्र) दानवर्षा=दान मनाता और ऐरावत पक्ष में मदस्रावी सुवासित=दोनों पक्ष में विशेषयुक्त है पार्थ नागराज=ऐरावत की तरह सुशोभित हुये ॥

(३) तृतीयपक्षोक्ता योजना—पूर्वविशेषणसम्पन्न स अर्जुन नागराज इव शेष नाग इव आबभौ ॥

जगतीशरणे=पृथ्वी की रक्षा करने में युक्त=नियुक्त हरिकान्त=जो इन्द्रप्रिय वाले देवमहर्षि नाममात्रस्य महत इस परिवार से सुवासित=अनुपमा में बंधा हुआ अथवा अर्जुन के द्वारा बंधा हुआ अर्थात् जगत्प्रिय दानवर्षीड़ताराशन=देत्य आदि और है=नमों के द्वारा सराहित वह अर्जुन नागराज अहिराज (शेष) के समान सुशोभित हुये ॥ ४५ ॥

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना ।

गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चक्राम हुताशनः ॥ [redacted] ॥

विफलीति ॥ शंभुना क्षतबाणस्य अत एव विफलीकृतयत्नस्य निष्फलप्रयत्नस्य गाण्डीवं धनुर्यस्य तस्य गाण्डीवधन्वनोऽर्जुनस्य । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः । खेभ्य इन्द्रियरन्ध्रेभ्य । 'खमिन्द्रिये मुखे रन्ध्रे' इति विश्वः । हुताशनोऽग्निः । निश्चक्राम निष्क्रान्तः । क्रोधादिति भावः ॥ ४६ ॥

त्रिशूलधारी (शंकर) के द्वारा बाणों के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण विफल प्रयास वाले गाण्डीवधारी अर्जुन के इन्द्रियों से अग्नि की ज्वाला निकल पड़ी ॥ ४६ ॥

स पिशङ्गजटावलिः किरन्नुरु तेजः परमेण मन्युना ।

ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ॥ ४७ ॥

स इति ॥ पिशङ्गजटावलिः पिशङ्गजटाजूटः परमेणोत्कटेन मन्युना क्रोधेन । उरु महत्तेजः किरन् विक्षिपन् सोऽर्जुनो ज्वलिता औषधयस्तद्रूपो योऽपि जातवेदा दवाग्निः यस्मिंस्तेन हिमशैलेन समं तुल्यं हिमगिरिरिव विदिद्युते दिदीपे । हिमाद्रिवद्बभासे इति बिम्बप्रतिबिम्बभावोपमा ॥ ४७ ॥

कपिश वर्ण जटाजूटधारी अर्जुन अत्यन्त क्रोध के द्वारा अपने महान् तेज को बिखराते हुए हिमालय के सदृश जो कहीं-कहीं जगमगाती औषधियाँ तथा दावाग्नि से युक्त रहता है शोभित होने लगे ॥ ४७ ॥

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रजिघायेषुमघातुकं शिवः ॥ ४८ ॥

शतश इति॥ शिवः शतशो विशिखानवद्यते खण्डयते रणवेगशालिने रणसंरम्भशोभिनेऽस्मै पार्थाय भृशमत्यर्थम्। अनिवार्यवीर्यताम्। निजामिति शेषः। तस्मै प्रथयन् दर्शयन्। किं तु अघातुकममारकम्। 'लष पत'—इत्यादिना उकञ्। इषुम्। जातावेकवचनम्। प्रजिघाय प्रयुयुजे। 'हि गतौ' इति धातोर्लिट्। 'हेरचङि' इति कुत्वम् ॥ ४८ ॥

भगवान् शूली ने सैकड़ों शरों को खण्डित करते हुए संग्राम के वेग से सुशोभित उस अर्जुन को अपने अनतिक्रमणीय पराक्रम का प्रभाव दिखलाते हुए उन बाणों से, जो घातक नहीं थे, प्रहार किया ॥ ४८ ॥

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम् ॥ ४९ ॥

शम्भोरिति॥ सिताश्वोऽर्जुनः शम्भोर्धनुर्मण्डलतो धनुर्मण्डलात् प्रवृत्तं निष्क्रान्तमिषुम्। अंशुभर्तुरर्कस्य मण्डलात् प्रवृत्तमंशुमिव। अत्रापीषुजातावेकवचनम्। निवारयिष्यन् निवारयितुकामः। क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः। धरित्रीं भुवं शिलीमुखानां छाया शिलीमुखच्छायम्। 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम्। तेन वृतां व्याप्तां विदधे कृतवान्। शरच्छायावृतां धरित्रीमकरोदित्यर्थः। उपमालङ्कारः ॥ ४९ ॥

शुभ्रतुरङ्गमवाहन (अर्जुन) ने शंकर के धनुष (अवयव) मण्डल से निस्सृत बाण से, जो कि सूर्यमण्डल से निस्सृत किरण के सदृश था, रक्षा के लिये बाणों की छाया से पृथ्वी को ढँक लिया ॥ ४९ ॥

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारबाणोऽयुगलोचनस्य।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥ ५० ॥

घनमिति॥ अयुगलोचनस्य विषमनेत्रस्येशस्यालोचनस्य। लोच्यतेऽसौ लोचनः। कर्मणि ल्युट्। न लोचनोऽलोचनस्तस्य अलोचनस्यात्यासुष्मज्ञानविषयस्य सम्बन्धी [illegible]रो बलः बाणः शब्दस्ताभ्यां सारबाणाभ्यां स्थिरशब्दाभ्यां सह वर्तत इति ससारबाणः। बवयोरभेद इत्युक्तम्। न युज्यते कुत्रापीत्ययुक् सङ्गरहितः। क्विप्। बाणः शरः। जातावेकवचनम्। घनं सान्द्रमर्जुनस्य बाणपूगं शरजालं विदार्य विभिद्य घनं निबिडं विदार्यो भूमिकूष्माण्डो लताविशेषः अर्जुनाः ककुभवृक्षाः बाणा नीलसैरेयकाः पूगाः क्रमुकास्तेषाम्। 'विभाषा वृक्ष-' इत्यादिना द्वन्द्वैकवद्भावः। विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार। विवेशेत्यर्थः। 'सृ गतौ'। यद्वा,—तदालोचनं सुगलोचनस्यार्जुनस्य ससारेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अथवा तुम ज्ञानविषय अर्थात् ज्ञानगम्य त्रिलोचन भव तत् धनुर का बाण जो कि सार पूर्ण था और सर सराय' की ध्वनि कर रहा था अर्जुन के असह्य बाणसंहति को फटकार बिना कहीं रुके हुये अर्जुन नामिरा बता मिट्टी और पूलोफल के घने कुर्सों को विदीर्ण करते हुए उसी में प्रविष्ट कर गया अथवा उसी समय कुम्भोचन अर्जुन का बाण भी चला ॥

इस श्लोक में प्रथम और द्वितीय के समान तृतीय और चतुर्थ चरण है परन्तु इसेषपूर्ण है मल्लीनाथ की टीका पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है ॥५॥

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः ।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसंघैर्बुबुधे धनंजयः ॥ ५१ ॥

रुजन्निति ॥ बहुधाशुपातिन शीघ्रमापततो महेषून् मुहुः शरौघैः रुजन् भञ्जयन् तथा दिशामपवारयन्नाच्छादयन् । क्रियावशात् कुलकर्मोयघतया । चलाचलो अतिचञ्चलो धनंजयोऽर्जुनो महर्षिसंघैरनेको बहुविध इव बुबुधे दृष्टो ॥ ॥५१ ॥

अनेक प्रकार से पतनशील शिव के बाणों को व्यर्थ करते हुए बार बार बाण पुञ्जों से दिशाओं को आच्छन करते हुए युद्ध की गति के कारण अत्यन्त चञ्चल अर्जुन महर्षियों के द्वारा अनेक देखे गये ॥ ५१ ॥

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥ ५२ ॥
(महायमकम् ।)

विकाशमिति ॥ जगतीशस्य पृथिवीपतेरर्जुनस्य मार्गणा बाणा विकाशं प्रकाशम् ईयुः । तथा जगति लोके ईशमार्गणाः शम्भुशरा विकाशं विषमगतिम् ईयुः । प्राप्ता ईयुरित्यर्थः । तथा जगतीं रयन्ति तनूकुर्वन्तीति जगतीशा दानवाः । जातोऽनुप सर्गे कः । तान्मारयन्तीति जगतीशमाराः । क्विबन्तेभ्यस्ताच्छिल्ये । ते च ते गणाः प्रमथाः जगतीशमारगणा विकाशमुल्लासं हर्षम् ईयुः । प्रापुरित्यर्थः । अहो दैवेऽनयस्य च रामप्रसर इति विस्मयादिति भावः । अथान्ये मार्गयन्तीति मार्गणा अन्वेषकाः । कर्तरि ल्युट् । जगतीशस्य त्रैलोक्यनाथस्य मार्गणा अन्वेषकाः शिवमुखादयो देवर्षयो वीणां पक्षिणां कायो गतिरत्रेति विकाशमाकाशम् ईयुः । विस्मयेति भावः ॥५२॥

जगतीश = पृथ्वीके स्वामी अर्जुन के, मार्गण = बाण विकाश = विस्तारको ईयुः = प्राप्त हुए अर्थात् अर्जुनके बाण चारों तरफ फैल गये । जगति = लोकमें ईशस्य = शंकरके, मार्गणा शर विकाश = विषम गतिको प्राप्त हो गये अर्थात् कुण्ठित हो गये । जगतीं पृथ्वीं रयन्ति तनूकुर्वन्ति इति जगतीशा दानवाः अर्थात् पृथ्वीको जो सूक्ष्म करे अर्थात् दानव लोग । तान् मारयन्ति इति जगतीशमार अर्थात् दानवों को नाश करनेवाले है च ते गणा पूर्वोक्त विशेषण युक्त जो प्रमथगण विकाश = उल्लासको ईयुः = प्राप्त हुए अर्थात् आश्चर्य में पड़ गये । मार्गयन्ति इति मार्गणा = अन्वेषणकारी जगतीशस्य = त्रिभुवनपति शिव के

अन्वेषक विकाश = वीना = पक्षियोंकी काश = गतिको अर्थात् आकाशमें प्राप्त हुए । शंकर भगवान्‌को देखनेके लिये उनके भक्त लोग आकाशमें उपस्थित हुए ।

अर्जुनके असंख्य बाण सर्वत्र व्याप्त होगये जिससे शंकर भगवानके बाण खण्डित कर दिये गये इस प्रकारके अर्जुनके रण कौशलको देख दानवापहारी शङ्करके गण आश्चर्यमें पड गये—मनुष्यमें यह अलौकिक सामर्थ्य है । शङ्कर भगवान और तपस्वी अर्जुनके युद्धको देखनेके लिये शङ्करके भक्तलोग आकाशमें आ पहुँचे ॥ ५२ ॥

संपश्यतामिति शिवेन वितायमानं लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम् ।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभराम्बभूवु ॥५३॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चदशः सर्गः ।

संपश्यतामिति ॥ इति इत्थं शिवेन वितायमानं विस्तार्यमाणम् । 'तनोतेर्यकि' इति वैकल्पिक आकारादेशः । लक्ष्मीवतो भाग्यवतः । 'मादुपधायाः–' इत्यादिना मतुपो मस्य वकारः । क्षितिपतेस्तनयस्यार्जुनस्य वीर्यं शौर्यं संपश्यतां तत्त्वविदामपि हरेरवतारोऽयमिति विदुषामपि । किमुतान्येषामिति भावः । मुनीनामङ्गानि गात्रा-[illegible] । अभिन्नमविरलम् । अञ्चिततरमतिरुचिरतरं रोमाञ्चं रोमहर्षं बिभाराम्बभूवुर्बभ्रुः । 'भीह्री–' इत्यादिना विकल्पादाम्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चदशः सर्गः समाप्तः ।

जयश्री सम्पन्न धराधिपकुमार (अर्जुन) के पराक्रम को, जो कि शङ्कर भगवानके द्वारा विस्तृत हो रहा था, देखते हुए 'यह अर्जुन विष्णुके अंश हैं' इस रहस्यके ज्ञाता तपस्वियोंके अङ्ग अविरल और अत्यन्त रम्य रोमाञ्च (रोमहर्ष) को धारण करने लगे अर्थात् वे लोग रोमाञ्चित हो उठे ॥ ५३ ॥

पञ्चदश सर्ग समाप्त

षोडशः सर्गः ।

ततः किराताधिपतेरलघ्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततोऽनन्तरं किराताधिपतेः शबरस्वामिनः । अलघ्वीं गुर्वीम् । आजिक्रियां रणकर्म वीक्ष्य विवृद्धमन्युर्विवृद्धकोपो विविक्तो निष्कलङ्कस्तर्क ऊहो ज्ञानं वा यस्य सोऽर्जुनः कारणानि रणभराधिक्यकारणानि विचिन्वन् विमृशन् । इति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण तर्कयामासाभ्यूहितवान् ॥ १ ॥

अनन्तर किरातवीरों (अनुचर गणनाथ) की मतवाली रथचातुरीको देख अर्जुनका क्षोभानक मचक उठा । विशुद्धात्मा पराक्रमकारी अर्जुन बहुत देरतक कारणोंका विचार करते हुये तर्क वितर्क करने लगे ॥ १ ॥

अथ षड्भिर्विंशतिश्लोकैर्वितर्कमेवाह—

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।

सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः ॥ २ ॥

मदेत्यादि ॥ इहास्मिन्युद्धे मदस्रुतिभिर्मदजलैः श्यामाः कृष्णा इति श्यामिता गण्डलेखाः कपोलभागा येषां ते विक्रान्ताः पराक्रमं कुर्वन्तः शूरा इत्यर्थः । 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः । तैर्नरैरधिरूढाः सहिष्णवो रणधुरन्धराः युधां युद्धानामभिज्ञाः । शिक्षिता इत्यर्थः । प्रयोगात्कर्मणि षष्ठी । किंच नगानामुच्छ्रायं पर्वतानामौन्नत्यम् । अत्र तेनोपपदस्य समासो नोपपद्यते इत्याश्रयः । क्रियाग्रहणेऽनुपसर्गे इत्यनुपसर्ग इति निषेधात् । आक्षिपन्त अधिक्षेपयन्त इव स्थिताः । तथोक्ता इत्यर्थः । नागाः गजा इह सङ्ग्रामे न क्रामन्ति न चलन्ति । यथा युद्धाभ्यस्तेष्वपि ते । एवमुक्तमपि सत्य इत्यर्थः । तथापि कर्म मे सविस्मयोऽस्मीति सर्वत्र तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

इस रणक्षेत्रमें संग्रामके भारको सहन करनेमें समर्थ युद्धमें शिक्षित किये गये और पर्वतकी ऊँचाईको भी तिरस्कारकारी हाथी जिनके कपोल मदजलसे श्यामवर्ण हो रहे हैं तथा जिनपर पराक्रमी शूरवीर आरूढ़ हैं नहीं विचरते हैं जैसा अन्य समान-क्षेत्रमें विचर रहे थे । और यह समझमें नहीं आता—मेरी अधिक भाव इतना शान्त क्यों हो गया है ॥ २ ॥

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नभासा ।

महारथौघेन न संनिरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥ ३ ॥

विचित्रेति ॥ विचित्रया नानावर्णया केतनानां रत्नानि तेषां भासा प्रभया भिन्नां सङ्कीर्णां रवेः रुचं कान्तिं चित्रयता चित्रवर्णां कुर्वतेव स्थितेनेति केतनोपलक्ष्य निमित्तेनमुत्प्रेक्षा । पयोदमन्द्रध्वनिना मेघगम्भीरघोषेण महता रथानामोघेन समूहेन धरित्री न संनिरुद्धा भाति ॥ ३ ॥

यहां कि और युद्धमें होता था वैसा यह रणभूमि मेघके सदृश गम्भीर निर्घोषकारी रथके बड़े रथोंके समूहसे जो पताकाओंमें खचित विविध रत्नोंकी किरणोंसे मिश्रित होनेके कारण सूर्यकी किरणोंको चित्र विचित्र वर्णोंका बना देता है आच्छन्न भी नहीं है ॥ ३ ॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति ।

विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः ॥ ४ ॥

समुल्लसदिति ॥ इह युद्धे प्रासाः कुन्ताः । 'प्रासस्तु कुन्तः' इत्यमरः । ते महोर्मय इव तेषां मालाः समुल्लसन्त्यो यत्र तत् समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालम् । चामराणि

फेना इव चामरफेनास्तेषां पङ्क्तयः परिस्फुरन्त्यश्चामरफेनानां पङ्क्तयो यत्र तत्त-थोक्तम् । अश्वीयमश्वसमूहः । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः । जलधेरम्भ इव विभिन्नमर्यादमुन्मर्यादमुच्छलत्सलिलं यथा तथा, आशा दिशो नातनोति नावृणोति ॥ ४ ॥

चमचमाते हुये भाले उत्तुङ्ग तरङ्गके सदृश और स्फुरण करते हुए चमर फेनराशिके सदृश हैं। इनसे युक्त अश्वों के समूह, जो समुद्रीय जल के सदृश हैं, इस संग्राम में क्षुब्ध हो कर स्वच्छन्द स्वतन्त्रतापूर्वक दिशाओं को क्यों नहीं व्याप्त करते हैं ? ॥ ४ ॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतयः प्राप्ततडित्त्विषः खे विवस्वदंशुज्वलिताः पतन्ति ॥ ५ ॥

हतेति ॥ हत प्रहरत । आहत विध्यत । हन्तेर्लोट् । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । 'अनुदात्तोपदेश–' इत्यादिनाऽनुनासिकलोपः । आहतेत्यत्र कर्मणि प्रयोगासम्भवेऽपि हन्ते स्वाभाविकसकर्मकत्वस्यानपायात् । अकर्मकत्वस्य चात्राविवक्षितत्वेन कर्मण्युत्पत्तेः सम्भवात् 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदम् । इत्येवमुद्धताः प्रगल्भा भीमाश्च घोषा येषां तैः । योद्धृभिर्योधैः । अभ्यमित्रममित्राभिमुखं समुज्झिताः मुक्ता विवस्वतोऽंशुभिः प्रतिफलितैरिति भावः । ज्वलिताः दीपिताः अत एव प्राप्तास्त्विषा त्विष इव त्विषो याभिस्ताः हेतयः शस्त्राणि । खे न पतन्ति । तद्वदसन्तो न दृश्यन्त इत्यर्थः । 'हेति-र्ज्वालायुधे' इति विश्वः ॥ ५ ॥

इस रणभूमिमें 'मारो ! काटो !' इस प्रकारके तुमुलरवकारी योद्धाओंके द्वारा शत्रुओं पर प्रक्षिप्त शस्त्र आकाशमें सूर्यकी किरणोंसे उद्दीप्त हो विद्युल्लता की कान्ति धारण करते हुये अब नहीं गिर रहे हैं (अन्य रणक्षेत्र में ऐसा होता था) परन्तु नहीं कहा जा सकता कि इस निर्बलताका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

अभ्यायतः संततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥ ६ ॥

अभीति ॥ अभ्यायतो वीरान्हन्तुमभ्यागच्छतः । इण् शतृप्रत्ययः । अन्तकस्य कालस्य सम्बन्धि संततं सततं धूमवद्धूम्रं व्यापि व्यापकं प्रभाजालमिव स्थितं प्रतूर्णै-र्वेगवद्भिरश्वै रथाङ्गै रथचक्रैश्च नुन्नं प्रेरितं रजो मातरिश्वा मरुत् । व्योमन्यन्तरिक्षे न तनोति न विस्तारयति ॥ ६ ॥

यह पवन वीरों का वध करनेके लिये समागत यमराजके प्रभापुञ्जके सदृश सर्वदा धूमके सदृश धूम्रवर्णको, वेगशाली घोड़े और रथके पहियोंके द्वारा सञ्चूर्णित सर्वत्रव्यापिनी धूलको आकाशमें फैला नहीं रहा है (जैसा अन्य लड़ाइयोंमें होता था। फिर क्या कारण है मेरी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है ?) ॥ ६ ॥

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम् ॥ ७ ॥

भूरेणुनेति ॥ अत्राहवे रासभो गर्दभस्तद्वद्धूसरेणेषत्पाण्डुना । 'रासभो गर्दभः खरः' इत्यमरः । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इति च । भूरेणुना रजसा लोचनानां वर्त्मनि चक्षुर्मार्गे तिरोहिते सति तेजस्विभिस्तेजस्विषु वीरेषु । उत्सुकानाम् । वीरवरणार्थमागतानामित्यर्थः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति विकल्पात्तृतीया । सुरसुन्दरीणामह्नि दिवस एव प्रदोषो रात्रिमुखं नास्ति । अन्धकारत्वात् केलिलोलानामभिसरः स्यादिति भावः ॥ ७ ॥

इस युद्धमें यह भी तो नहीं है—गधेके समान धूमिल रंगवाली धूलिसे नेत्रोंके मार्ग जब आच्छन्न हो जाते हैं तो दिनमें ही वीरवरणार्थ उत्कण्ठित सुरसुन्दरियोंके लिये प्रदोष काल हो जाता है ॥ ७ ॥

रथाङ्गसंक्रीडितमश्वहेषा बृंहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि ।
सङ्घर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्रादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ॥ ८ ॥

रथाङ्गेति ॥ रथाङ्गसंक्रीडितं रथचक्रकूजितम् । अश्वानां हेषा हेषितानि ह्रेषितानि । अश्वानां हेषा ह्रेषा च निःस्वनः इत्यमरः । बृंहन्ति महान्ति मत्तद्विपानां बृंहितानि । 'बृंहितं करिगर्जितम्' इत्यमरः । सङ्घर्षयोगादिव परस्परस्पर्धासंबन्धादिव मूर्च्छितानि वृद्धिं गतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक-' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । दुन्दुभीनां भेरीणां ह्रादं निर्घोषम् । 'स्वाननिर्घोषनिर्ह्राद' इत्यमरः । न निगृह्णन्ति न तिरस्कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

इस युद्धमें रथोंके पहियोंका शब्द घोड़ोंकी हिनहिनाहट और मतवाले हाथियोंकी गम्भीर चिग्घाड़ भी अन्योन्य स्पर्द्धाके कारण वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं भेरी (नगारे) के निर्घोषको तिरस्कृत नहीं कर रहे हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् यशःपौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।
मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः ॥ ९ ॥

अस्मिन्निति ॥ अस्मिन् रणे यशःपौरुषयोर्लोलुपानां लुब्धानामत एव अरातिभिः प्रत्युरसमुरसि । 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' इति समासान्तः । क्षतानां विद्धानां सम्बन्धि मूर्च्छान्तरायो रणविघ्नस्तम् । आसारशीतं वर्षधाराशीतलम् । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । करिणां शीकर एव अम्भः मुहुर्नोच्छिनत्ति न नाशयति ॥ ९ ॥

इस रणस्थलमें कीर्ति और पुरुषार्थके लोभी तथा हृदय प्रदेशमें विद्ध वीरोंकी मूर्च्छा रूप संग्रामविघ्नको वर्षाजलके समान शीतल हाथियोंका सीकर (जलकण) बारम्बार दूर नहीं कर रहा है (तथापि न मालूम क्यों यह दशा होती है ?) ॥ ९ ॥

असृङ्नदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भिः पदवीं ध्वजिन्याः ।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥ १० ॥

असृगिति ॥ असृङ्नदीनां तटान्युपचीयमानैरुपचयं नीयमानैस्तथा ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिः सञ्चारं कुर्वद्भिः । 'विदूरयद्भिः' इति पाठे विदूरां दूरसञ्चारां कुर्वद्भिः । आश्यानाः ईषच्छुष्काः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यायतेर्निष्ठानत्वम् । घनाः सान्द्रास्तैः । आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैरिवोच्छ्रायं वृद्धिं नायान्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

रुधिर की नदियों के तट शोणित से सम्यक् रक्तराशि का कीचड़, जो कि सेना के रास्ता को तोड़ रहा था, मानो शुष्क कीचड़ के ढेर से ऊँचे तो इस युद्ध में नहीं जाते हैं ॥१०॥

परिच्युते वक्षसि दन्तिदन्तैः प्रियाङ्कशीता नभसः पतन्ती ।
नेह प्रमोहं प्रियसाहसानां मन्दारमाला विरलीकरोति ॥ ११ ॥

परीति ॥ इह रणे दन्तिदन्तैर्गजदन्तैः परिक्षते क्षतिते वक्षसि नभसः पतन्ती प्रियायाः अङ्क इव शीता शीतला सुखकरी मन्दारमाला । सुरैर्मुक्तेति शेषः । प्रियं साहसं येषां तेषां प्रियसाहसानाम् । यतो गजाभिघातिनामिति भावः । प्रमोहं प्रहारमूर्च्छां न विरलीकरोति मन्दीकरोति । नापनयतीति यावत् ॥ ११ ॥

इस युद्ध में हाथियों के दाँत से विदीर्ण वीरों के वक्ष स्थल पर कामिनी के अङ्क के सदृश शीतल मन्दार की माला, जो देवताओं से मुक्त होकर आकाश से गिरती है, उन वीरों की, जो साहस प्रिय हैं मूर्च्छा को न्यून नहीं करती ॥ ११ ॥

निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे परीयमाणो करिशीकरेण ।
अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥ १२ ॥

निषादीति ॥ करिणां शीकरेण शुण्डाम्बुकणेन परीयमाणे व्याप्यमाने निषादिनो हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । तेषां सन्नाहाः कवचानि तेषां मणिप्रभौघे रत्नांशुजाले । अर्कस्य त्विषा तेजसा । उन्मीलितमुत्पादितम् । आखण्डलकार्मुकस्य इन्द्रधनुषः । 'आखण्डलः सहस्राक्ष' इत्यमरः । खण्डं नाभ्युदेति ॥१२॥

महावतों (हाथी के सवारों) के कवच में जटित रत्नों के किरणपुञ्ज हाथियों के शुण्ड से निस्सृत जलकण से व्याप्त हो सूर्य की किरणों से सम्बन्धित इन्द्रधनुष के खण्ड की भाँति इस युद्ध में उदय नहीं होता है (जैसा अन्य युद्ध में होता था) ॥ १२ ॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन ।
नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः ॥ १३ ॥

महीति ॥ पक्षवता सपक्षेण महीभृता मैनाकेनेव परवारणेन शत्रुगजेन मध्यं विगाह्य प्रविश्य भिन्ना क्षोभिता ध्वजिन्यः सेनाः । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः ।

क्षपां निधेः सागरस्य । आप इव । आवर्तमाला अम्भसां सत्य । स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः इत्यमरः । भीमं न निनदति ॥ १३ ॥

जिस प्रकार सपक्ष मैनाक पर्वत ने वेग के साथ समुद्र के बीचोबीच गिरकर समुद्र के जल को भिन्न कर दिया था और वह भ्रमित होकर गम्भीर गर्जन करने लगा था उसी तरह शत्रु के हाथी सेना के बीच में घुसकर उसे भिन्न कर दिया पुनः सेना भ्रमित होकर प्रचुर ध्वनि जैसी अन्य युद्ध में होती थी इस युद्धक्षेत्र में तो वैसा नहीं होता है फिर मेरी इस दशा का क्या कारण है ?) ॥ १३ ॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः ॥ १४ ॥

महारथानामिति ॥ प्रतिदन्त्यनीकं दन्तिसैन्यं प्रति । अनीकं तु रणे सैन्ये इति विश्व । अधिस्यदा महारथाः स्यन्दना यथा यत्र तत्तथा । रहस्त्वरसी तु रयः स्यद इत्यमरः । उत्थितानां प्रस्थितानां महारथानां रथिकविशेषाणाम् । आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन्युध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥ इति लक्षणात् । पन्था मार्गः आमूलात् लूनैश्छिन्नैः । मातङ्गहस्तैर्गजकरैः । अतिमन्युनाऽतिक्रोधेनेव न व्रियते न निरुध्यते ॥ १४ ॥

महारथियों की सेना के प्रति जिसमें महान् (अचक) वेगशाली रथ थे युद्धार्थ प्रस्थान किया । महारथियों के मार्ग का अवरोध हाथियों के समूल विच्छिन्न शुण्ड के द्वारा अत्यन्त क्रोध के साथ भी तो (इस युद्ध में) नहीं होता ॥ १४ ॥

च्युतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः ।
न बर्हभारः पतितस्य शार्ङ्गैर्निषादिवक्षस्युपहासमातनोति ॥ १५ ॥

च्युतेति ॥ पतितस्य पक्षि अथवा शार्ङ्गोऽस्त्रोऽस्य सम्बन्धी । वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम् इत्यमरः । बर्हभारस्तन्वूकबद्धो काञ्चनपिच्छकलापो च्युतोत्पलापीडः कुवलयशेखरो यस्मिन् स प्रियायाः सम्बन्धी शिथिलः तस्य शिरोरुहाणां कलापः केशपाश इव निषादिनो हस्त्यारोहस्य वक्षःस्थलं मातनोति व्याप्नोति ॥ १५ ॥

वक्षःस्थल पर पड़े हुये प्रिया के शिथिल केशपाश जिसमें कमल पुष्प का आभूषण लगा हुआ हो की तरह वीरों के वक्षःस्थल में गड़े हुये बरछे के मूल में हुये उस शिखी पिच्छ (मोर पंख) इस युद्ध में और युद्ध की भाँति वक्षःस्थल को व्याप्त तो नहीं करते हैं (क्या बात है कुछ भी समझ में नहीं आती ?) ॥ १५ ॥

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि ।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥ १६ ॥

उज्झत्स्विति ॥ अत्र आहवे । संहारे कल्पान्त इव तेजस्विषु वीरेषु । प्रस्तसंस्यम-सव्यं यथा तथा, अह्नाय झटिति । 'द्राक्झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । जीवितान्युज्झत्सु त्यजत्सु सत्सु मृत्युर्लोकत्रयस्यास्वादने भक्षणे लोला गृध्नुर्जिह्वा यस्मिंस्तत् । आननं न व्यादद्वाति न विवृणोति । 'आङो दोऽनास्यविहरणे' इत्यत्रानास्यविहरण इति निषेधात् परस्मैपदम् ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य संग्राम में मुझे जहाँ (अवसर प्राप्त हुआ है) मैंने देखा है— प्रलयकाल के समान युद्ध में बड़ी शीघ्रता के साथ असख्य वीर जब अपने प्राण का परित्याग कर रहे थे उस क्षण मृत्यु तीनों लोक के जीवों के भक्षण रस के आस्वादन से चञ्चल जिह्वायुक्त मुख को खूब मनमाना खोल देती थी परन्तु इस युद्ध में वह वैसा नहीं करती है (इसमें क्या रहस्य है पता नहीं?) ॥ १६ ॥

सत्यमेव, तथापि किमेतत्कुतूहलम्, तत्राह—

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम् ।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥ १७ ॥

इयमिति ॥ इयं मम शक्तिश्च दुर्वारा पराक्रमिणो महारथा येषु तेषां महतां बलानां वीर्यमाक्षिप्य निरस्य ताराधिपधाम्नि चन्द्रतेजसि । सूर्यस्येयं सौरी । 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इति ङीप् यकारस्य लोपः । दीप्तिरिव हीनयुद्धे किरातरणे । अवस्यत्यवसीदति । एतच्च विस्मयमयुक्त चेति भाव । 'षोऽन्तकर्मणि' इति धातोर्लट् ॥ १७ ॥

यह मेरी दयाशक्ति महान् पराक्रमी महारथियों की विशाल सेना के वीर्य को तिरस्कार कर मेरी भी इस युद्धस्थल में सूर्यसम्बन्धिनी दीप्ति जिस प्रकार शशाङ्कमण्डल के मण्डल में प्राप्त होकर बेचारी बनी रहती है उसी प्रकार वह किरात के साथ समाम में प्राप्त होकर अवसन्न हो रही है ॥ १७ ॥

माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः ।
गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥ १८ ॥

मायेति ॥ एषा शक्तिह्रासरूपा माया स्वित् देवतामोहनं नाम । मतिविभ्रमो बुद्धिविपर्ययो वा । अथवा मे वीर्यं ध्वस्तं नष्टं नु । उताहमन्योऽर्जुनो न वा । कुतः ? हि यस्मात्, गाण्डीवमुक्ता मे शराः यथापुरा यथापूर्वम् । परिपन्थिष्विवेत्यर्थः । किराते न पराक्रमन्तेऽप्रसिवन्मेन प्रवर्तन्ते । 'उपपराभ्याम्' इति क्रमावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्ध ॥ १८ ॥

यह शक्ति ह्रास-रूपात्मिका माया तो नहीं है, अथवा मेरी बुद्धि में ही पत्थर तो नहीं पड़ गया है अथवा मेरा सारा बल ही क्षीण हो गया है। वह जो सम्भव हो सकता है कि—

में अर्जुन ही नहीं । क्योंकि गाण्डीव से प्रक्षिप्त मेरे बाण जिसप्रकार पहले पराक्रम करते थे वैसा इस किरात के विषय में पराक्रम नहीं दिखलाते किन्तु मुख फेर लेते हैं ॥१८॥

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन् धनुषः प्रणादैः ।
नूनं तथा नैष यथास्य वेषः प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा ॥ १९ ॥

पुंस इति ॥ किंच उत्तमस्य पुंसः पुरुषोत्तमस्य मध्यमं पदमाकाशं धनुषः प्रणादैः । उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य इति णत्वम् । द्विधा कुर्वन्निव विदारयन्निव स्थितः स एष किरातो नूनं तथा तथाभूतो न । कीदृशस्तत्राह—अस्य पुरुषस्य यथा यथाभूतो वेषः । वर्तत इति शेषः । वेषतः एवायं किरातो न स्वरूपत इत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्, चेष्टा व्यापारः प्रच्छन्नमपि निगूढमपि स्वरूपम् । ऊहयते तर्कयते । तस्याः स्वभावादव्यभिचारादिति भावः ॥ १९ ॥

यह पुरुष धनुष की प्रबल टङ्कार से नारायण के मध्यम स्थान (आकाश) को विदीर्ण करके दो भाग करते हुए की तरह मालूम पड़ता है वह किरात अवश्य वैसा इसका वेष दृष्टिगोचर हो रहा है वैसा नहीं है अर्थात् वेष भूषा से तो यह किरात है स्वरूपतः तो कोई अन्य ही क्योंकि कर्तव्यानुष्ठान गुप्त वस्तु के प्रकाशन करने में समर्थ होता है ॥ १९ ॥

अथ चतुर्भिस्तदेवाचष्टे—

धनुः प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।
संधानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसंभेद इवापवर्गे ॥ २० ॥

धनुरिति ॥ धनुः रुषेव प्रबन्धेनाविच्छेदेन ध्वनितम् । ध्वनतेः कर्तरि क्तः । मौर्वी च सकृद्विकृष्टा विततेवैकवाराकर्षणादेव विततेव स्थिता । संधानं बाणसंधानं उत्कर्षं समागुरुसरणं व्युदस्येव वर्जयित्वा । किन्तु कृतमिति शेषः । अपवर्गे बाणमोक्षेऽपि मुष्टेरसंभेदोऽसंश्लेष इव । मुष्टिबन्धं विनैव बाणमोक्षः कृत इवेति हस्तलाघवोक्तिः ॥ २० ॥

क्रोध के साथ ही इस पुरुष के धनुष में अविच्छिन्न ध्वनि निकलने लगती है । एक बार के खींचने से धनुष की प्रत्यञ्चा मालूम पड़ता है खींची हुई रह जाती है (वस्तुतः बार बार बाण छोड़ने के लिये खींची जाती है परन्तु पता नहीं चलता) बाणों का संधान इस प्रकार से हो रहा है जैसे तूणीरसे निकाला ही नहीं जा रहा है स्वयं निकलते हुए की तरह है । बाण मोक्ष के विषय में तो कहना ही क्या ! मुष्टि तो बाँधना ही नहीं पड़ता (अर्थात् बाण का आदान और मोक्ष बड़े लाघव के साथ हो रहा था) ॥ २० ॥

असावनवष्टब्धनतौ समाधिः शिरोधराया रहितप्रयासः ।
धृता विकारांस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मीः शशलाञ्छनस्य ॥ २१ ॥

असाविति ॥ किंच असावनवष्टब्धो निरालम्बस्तथापि नतौ च तौ नतौ चानवष्टब्धनतौ शिरोधराया कंधरायाः समाधिः संस्थानविशेषेण रहितः प्रयासो यस्य स तथोक्तः ।

निःप्रयास इत्यर्थः । तथा विकारास्त्यक्ता । अस्तत्वान्निर्विकारेणेत्यर्थः । मुखेन शशलाञ्छनस्य इन्दोः प्रसादरूपमीधंता । असमवस्तसम्बन्धो निदर्शनालङ्कार ॥ २१ ॥

इस किरातराज के कंधे अविचल और झुके हुए हैं। ग्रीवा भी सस्थान विशेष से अविचल है किसी प्रकार का प्रयास विदित नहीं होता है। मुखमण्डल पर किसी प्रकार की विकृति नहीं है जिससे शशाङ्क (चन्द्रमा) की प्रसन्नतारूपी शोभा छायी हुई है ॥ २१ ॥

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देह. ।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम् ॥ २२ ॥

प्रहीयत इति ॥ तस्य देह कार्यवशेन प्रयोजनवशेन आगतेषु स्थानेष्वालीढादि-स्थानकेषु विष्टब्धतया स्थिरतया कर्त्रा न प्रहीयते न त्यज्यते । किंतु स्थिर इव तिष्ठतीत्यर्थः । सुष्ठु भाव सौष्ठव लाघवम् । उद्गात्रादित्वादञ्प्रत्यय । तेन सह वर्तमान ससौष्ठव शराणा पातस्थ स्थिताम्यचलानि प्रयातानि चलानि तेषु स्थित-प्रयातेषु चलाचलेषु लक्ष्येषु विषये सदृश एकरूप ॥

इनका शरीर समागस्थल में प्रयोजनवश पैतरा बदलते समय विचलित नहीं होता किन्तु स्तब्ध रहता है। एक ओर अविचल उभयविध लक्ष्यों पर लाघव के साथ इनका बाणप्रक्षेप भी एक समान है ॥ २२ ॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोग प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे ।
भीष्मेऽप्यसभाव्यमिद गुरौ वा न सभवत्येव वनेचरेषु ॥ २३ ॥

परस्येति ॥ किंच, परस्य विवरे रन्ध्रे । अल्पेऽपीति शेष । भूयान् भूयिष्ठ प्रसह्य हठादिति अभियोगो ग्रहणम्। परस्य रन्ध्रज्ञानात्प्रहारोद्योग इत्यर्थ । आत्मनो रन्ध्रे विवरे । अनल्पेऽपीति शेष । प्रसह्य हठादिति सरक्षण गोपन [illegible] । भूयिष्ठमिति शेष । इद द्वय भीष्मेऽपि गुरौ वा द्रोणे वापि असंभाव्य दुर्विलभ्यं वनेचरेषु न संभवत्येव।अतो नाय किरात, किंत्वेष तिरोहितवेष कोऽप्यमानुष पुरुष इति भाव ॥

शत्रु में यदि अल्पमात्र की भी त्रुटि देख पाते हैं तो उसके सम्पूर्ण छिद्रों को जान लेते हैं। अपना दोष यदि अधिक भी है तो उसे शीघ्र ही गोपन कर देते हैं ये दोनों कार्य (शत्रु के अल्प दोष से उसके सम्पूर्ण छिद्रों को जान लेना और अपने अधिक से अधिक दोषों का निगूहन कर लेना) भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण में असम्भावित सा है फिर जङ्गली जाति में तो इसकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अत यह किरात नहीं है किन्तु अपना वेष छिपाये हुये कोई देवता या दानव है ॥ २३ ॥

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम् ।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकारस्य रिपोर्विवृद्धि ॥ २४ ॥

धमाकृत्स्येति ॥ अनाक्रान्तस्योपकारीत्वादसाधारणत्वम् । आहवदुर्मदस्य रणमत्तस्य । अस्य किरातस्य वीर्यं तत्रोऽस्त्रबलेन दिव्यास्त्रमहिम्ना निवार्य निवारणीयम् । अन्यथाऽभिभाव्यत्वमस्येति भाव । तथा हि—अल्पीयसोऽप्यनवद्यस्यापि । आमयतुल्यवृत्ते रोगसमानविक्रियस्य । रोगस्याधिपदुरमत्व दुरुत्तरः । रिपोर्विवृद्धिर्महापकाराय कित्वय महानुभाव इति भाव । कुलकम् ॥ २४ ॥

इस रणमत्त असाधारण पुरुष (किरात) का पराक्रम (तेज) महास्त्र के द्वारा निवारण कर देना चाहिये रोग के समान काम है जिसका ऐसी अल्प भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार कर देती है ॥ २४ ॥

स सम्प्रधार्यैवमहार्यसारः सारं विजेष्यन् सगणस्य राज्ञो ।
प्रस्थापनास्त्रं ध्रुवमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्र ॥ २५ ॥

स इति ॥ अहार्यसारोऽनिवार्यवीर्यः सोऽर्जुन एवं सम्प्रधार्य निश्चित्य सगणस्य सानुगस्य राज्ञो सारं सत्त्वं विजेष्यन् जयनेष्यन् । प्रस्थाप्यते स्वाप्यतेऽनेनेति प्रस्थापन तदेव अस्त्रम् । घनानद्धो मेघमालाछन्नोऽर्धरात्रो निशीथ । अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ इत्यमर । अर्धं नपुंसकम् इति समास । अह सर्वैकदेश इत्यादिना समासान्त । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंलिङ्गता । ध्वान्तमिव सुतमामाजहाराचकर्ष ॥ २५ ॥

अनन्त पराक्रमशाली उस अर्जुन ने उपर्युक्त प्रकार से निश्चय कर के ही गणों के साथ शङ्कर के पराक्रम को दूर करते हुए प्रस्थापन अस्त्र को उस प्रकार खींचा जिस प्रकार मेघ व्याप्त निशीथ भाग (अन्धकार) को खींच कर लेता है ॥ २५ ॥

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्ररश्मेः ।
महावनानीव महातमिस्रा छाया ततानेशबलानि काली ॥ २६ ॥

प्रसक्तेति ॥ प्रसक्त संततो यो दावानलधूमस्तद्वद्धूम्रा धूसरा सहस्ररश्मेर्धाम तेजो निरुन्धती आवृण्वती काली कृष्णवर्णा । आनपत्र इत्यादिना ङीप । छाया कान्ति । ईशबलानि महातमिस्रा महती तमस्ततिरिव । तमिस्रा तु तमस्ततिरिति विश्व । महावनानीव ततान व्यानशे । सुगमम् ॥ २६ ॥

कृष्ण वर्ण की माया ने जो सर्वदा जलने वाले दावानल के धूम के सदृश धूम वर्ण की है महाबाहु (सूर्य) की किरणों को आवृत करती हुई महान् तमतोम (अन्धकार राशि) की तरह जो कि विशाल वनों को व्याप्त कर लेता है शङ्कर की सेना को व्याप्त कर लिया ॥ २६ ॥

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भताया पदवीं हरन्ती ।
सभेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ॥ २७ ॥

आसादितेति ॥ तदेवासादन प्रथम तत्प्रथम यथा तथा प्रसह्यासादिता कल्पिता प्रगल्भताया व्यवहारधाष्टर्यस्य पदवीं हरन्ती भीमा भयंकरी निद्रा उक्तविशेषणा सभा

ससर्दिव। नयाना प्रतिभा प्रज्ञाशक्ति सैव गुणस्तस्य निरास प्रतिभाक्षय विदधे चक्रे ॥ २७ ॥

यह घोर निद्रा सभा के समान प्रमथगणों को ही सबसे पहले हठात् प्राप्त करके मूढ़ता की पद्धति का विनाश करती हुई प्रमथ गणों के बुद्धि शक्ति रूप गुणों का नाश कर दिया (अर्थात् सब की सब सेना निद्रा निलीन हो गई) ॥ २७ ॥

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।

केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ॥ २८ ॥

गुर्विति ॥ केचिदुत्तमवंशजत्वात् वंशो वेणु कुल च। 'वंशो वेणौ कुले च' इति विश्वः। गुरूणि महान्ति स्थिराणि दृढानि च गुरुस्थिराणि । अनुशीलनेन परिचय-बलेन विज्ञात सारो बलं येषां तानि गुणैर्मौर्वीभिः शौर्यादिभिश्च अन्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि मित्रकुलानीव समाश्रित्य तस्थुः । धनूंष्यवलम्ब्य निद्रयुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

सेना के कुछ लोगों ने उत्तम जाति के बाँस से उत्पन्न होने के कारण पुष्ट मजबूत से युक्त तथा विशाल धनुषों का, जिनकी पुष्टता पर अनुशीलन करने के कारण भरोसा था, अवलम्बन लेकर जहाँ के तहाँ बैठ गये जिसप्रकार उत्तम वंश में जन्म लेने वाले तथा परिश्रम के कारण जिसका हृदय विदित था ऐसे गुणयुक्त सज्जन कुल के आधार पर लोग स्थिति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २८ ॥

कृतान्तदुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे ।

अतर्कितं पाणितलान्निपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥ २९ ॥

कृतान्तेति ॥ कृतान्तदुर्वृत्ते दैवदुश्चेष्टित इव। 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इति विश्वः। पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि प्रतिकूलवर्तिनि सति तदा तस्मिन्काले। अपरेषामायुधानि क्रियाफलानीव कृष्यादिफलानीव अतर्कितमविचारितमेव पाणितलान्निपेतुः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार दैव निश्चेष्टित नहीं जाना जा सकता उसी तरह पाण्डुपुत्र (अर्जुन) का अस्त्र विपक्षी बनकर पुरोवर्ती (सामने) था असम्भावित क्रिया फल के सदृश शेष लोगों के हाथ से बिना विचार किये ही शस्त्र छूटकर गिर पड़े (अर्थात् भाग्य के पलटा खाने पर कृष्यादि सम्बन्धी फल नष्ट हो जाते हैं जिनके नष्ट होने की कभी सम्भावना नहीं रहती) ॥ २९ ॥

असस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवता तरूणाम् ।

मदेन मीलन्नयना सलीलं नागा इव स्रस्तकरा निषेदुः ॥ ३० ॥

असेति ॥ अभिन्नधैर्यास्तदानीमप्यचलधैर्याः केचिदंसस्थलैरंसभागैः सह संश्लेषवता संगच्छता तरूणां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु मदेन मीलन्ति नयनानि येषां ते नागा गजा इव स्रस्तकराः स्रस्तहस्ताः सन्तः सलीलं निषेदुर्निषण्णाः ॥ ३० ॥

अब भी कुछ लोग धैर्यविच्युत न होकर कभी से सहित शस्त्रों के प्रकाण्डों के आधार पर मद के कारण आखें निमीलित करते हुये लीलापूर्वक हाथ टोककर हाथी के समान खड़े हो गये ॥ ३ ॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः ।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातमायया छन्नचन्द्रात् शम्भुमूर्ध्नः सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसम्बन्धि बिम्बमिव । तपसां निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमानं पिशङ्गं तेजः उच्चैरूर्ध्वम् । उदियाय प्रादुर्बभूव । तत्र न मा प्रमितिमाय ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की परिस्थिति को किरातवेशधारी भगवान् के ललाट [illegible] जो चन्द्रमा [illegible] आवृत रहता है सुमेरु शिखर से सूर्य सम्ब धी बिम्ब के समान पिङ्गल वर्ण का तेज युक्त जिसे तपस्वी लोग सूर्य समझकर प्रणाम कर रहे थे ऊपर को उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥

छाया विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्यः ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेर्द्युतिः कान्तिः । तत्त्वस्य संवित्तिस्तत्त्वज्ञानम् । अपविद्यामविद्यामिव तां तमोमयीं छायां निद्रां विनिर्धूय निरस्य गणेभ्य आलोकं चक्षुःप्रकाशमभ्यादिशती वितरन्ती विकासं विस्तारं ययौ ॥ ३२ ॥

शंकर भगवान् की वह द्युति उस अन्धकारमयी घोर निद्राको इस प्रकार दूर करती हुई जिसप्रकार तत्त्वज्ञान अविद्या (अज्ञान) का नाश करता है प्रमथगणों के लिये प्रकाश की रचना देती [illegible] सबत्र प्रसरण करने लगी ॥ ३२ ॥

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव सन्ध्या ।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्विषामिति ॥ सर्वतः पाटलिताः पाटलीकृता अम्बुवाहा यया सा तथोक्ता त्विषां तेजसां ततिः । पूर्वं सरतीति पूर्वसरी । पूर्वे कर्तरि इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पूर्वा शब्दस्य पुंवद्भावः । सन्ध्या प्रातःसन्ध्येव उल्लसन्ती प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

तेज की राशि जो सबत्र मेघमण्डलों को लोहित वर्ण में परिवर्तित कर दी थी प्रभात कालीन सन्ध्या के सदृश प्रसार करती हुई उन प्रमथगणों के नेत्रकमलों को शीघ्र ही प्रस्फुटित कर दी (अर्थात् वे लोग जागने व नेत्र खोले) ॥ [illegible] ॥

पृथग्विधान्यस्त्रनिरासमुग्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ॥ ३४ ॥

पृथगिति ॥ अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपशमेन सुद्दा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्विभागा दिगन्ता ज्योतींषि नक्षत्राणीव । 'ज्योतिस्तारासिताब्जालाद्वमकारसात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि नानाविधानि शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे । जगृहुरित्यर्थं ॥ ३४ ॥

प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवोपशमनान्तर वे शङ्कर भगवान् के प्रमथगण निद्रा का परित्याग कर फिर इसप्रकार अनेक शस्त्र धारण करने लगे जिसप्रकार मेघों के पटलों से मुक्त दिशायें तथा विदिशायें निर्मल होकर फिर नक्षत्रों को धारण कर लेती हैं ॥ ३४ ॥

द्यौरुन्मनामेव दिश प्रसेदु स्फुट विसस्रे सवितुर्मयूखै ।
क्षय गतायामिव यामवत्या पुन समीयाय दिन दिनश्री ॥ ३५ ॥

द्यौरिति ॥ तदा यामवत्या रात्रौ क्षय गताया विभातायामिव द्यौरन्तरिक्षम् । उन्मनामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेत्युत्प्रेक्षा । दिश प्रसेदु । सवितुर्मयूखै स्फुट स्पष्ट विसस्रे विसृतम् । भावे लिट् । दिनश्रीर्दिवसकान्ति पुनर्दिन समीयाय सङ्गगाम । अत्र वैयधिकरण्येन गुणक्रिययो सहत्वेन समुच्चयोऽलङ्कार । तस्य च समुच्चयनोत्प्रेक्षया 'गुणक्रियाभ्यामप्यनुपमेयाकरणम् सङ्कर । दिक्प्रसादो गुण । शोषा क्रिया ॥ ३५ ॥

अर्जुन के अन्धकारास्त्र के शान्त होनेपर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होनेपर आकाशरूप आवरण हट जाता है और दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं मानो उसी प्रकार दिशायें निर्मल हो गई, सूर्य भगवान् की किरणें चारों तरफ प्रसार कर गईं, पुन दिवसलक्ष्मी ने दिन का आश्रय ग्रहण किया ॥ ३५ ॥

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्न दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णु ॥ ३६ ॥

महास्त्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुरर्जुनो महास्त्र प्रस्वापनास्त्र तद्दुर्गमिव तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमप्रयासे यथा तथा रुग्णे भग्ने सति । 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क्त । 'ओदितश्च' इति निष्ठातकारस्य नत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान् । प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

दिग्गज के द्वारा दुर्गभेद की भांति थोड़े ही परिश्रम में रुद्र के द्वारा स्वापनास्त्र के खण्डित [illegible] जाने पर अर्जुन ने, जिसकी भुजायें पराक्रमपूर्ण थीं, शत्रुसेना को पूर्णतया बांध लेने के लिए सर्परूप पाश का प्रहार किया ॥ ३६ ॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्र लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ॥ ३७ ॥

जिह्वेति ॥ लसन्तस्तडिल्लोला विद्युच्चञ्चला विषानला विषाग्नयो येषु तानि जिह्वा-

अब भी कुछ लोग धैर्यविच्युत न होकर कानों से संक्षिप्त शब्दों के प्रकाण्डों के आधार पर मद के कारण आखें निमीलित करते हुये लीलापूर्वक हाथ जोड़कर हाथी के समान खड़े ही गये ॥ ३० ॥

तिरोहितेन्दोरथ शंभुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसा निवासैः ।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातभावात् छन्नचन्द्रात् शंभुमूर्ध्नः सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसंबन्धि बिम्बमिव । तपसां निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमानं पिशङ्गं तेजः उच्चैरुन्नतम् । उदियाय प्रादुर्बभूव । तच्च चान्द्रमिति भावः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की परिस्थिति की विषमावस्थापर झुककर भगवान् के ललाट में जो चन्द्रमा है आच्छन्न रहता है सुमेरु शिखर से सूर्य सम्बन्धी बिम्ब के समान पिङ्गल वर्ण का तेज पुञ्ज जिसे तपस्वी लोग सब समझकर प्रणाम कर रहे थे ऊपर को उदय हुआ ॥ ३१ ॥

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्यः ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेर्द्युतिः कान्तिः । तत्त्वस्य संवित्तिस्तत्त्वज्ञानम् । अपविद्यामविद्यामिव तां तमोमयीं छायां विनिर्धूय निरस्य गणेभ्य आलोकं वस्तुप्रकाशं चिरमभ्यादिशती वितरन्ती विकासं विस्तारं ययौ ॥ ३२ ॥

पुनः भगवान् की यह द्युति उस अन्धकारमयी छाया को इस प्रकार दूर करती हुई जिस प्रकार तत्त्वज्ञान अविद्या (अज्ञान) का नाश करता है प्रमथगणों के लिये प्रकाश की रचना देती हुई सब ओर प्रसरण करने लगी ॥ ३२ ॥

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव संध्या ।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्विषामिति ॥ सर्वतः पाटलिताः पाटलीकृता अम्बुवाहा यया सा तथोक्ता त्विषां तेजसां ततिः । पूर्वं सरतीति पूर्वसरी । 'पूर्वे कर्तरि' इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पूर्वाशब्दस्य पुंवद्भावः । संध्या प्रातःसंध्येव उल्लसन्ती प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

तेज की राशि जो सर्वत्र मेघखण्डों को लोहित वर्ण में परिवर्तित कर रही थी प्रभातकालीन सन्ध्या के सदृश प्रसार करती हुई उन प्रमथगणों के नेत्रकमलों को शीघ्र ही प्रस्फुटित कर दी (अर्थात् वे लोग जागने व नेत्र खोले) ॥ ३३ ॥

पृथग्विधान्यस्त्रनिरासमुग्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ॥ ३४ ॥

पृथगिति ॥ अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपरमेण क्षुब्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्विभागा दिगन्ता ज्योतींषि नक्षत्राणीव। 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालादृक्प्रकाशात्मसु' इति वैजयन्ती। पृथग्विधानि नानाविधानि शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे। जगृहुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवोपशमनान्तर वे शङ्कर भगवान् के प्रमथगण निद्रा का परित्याग कर फिर इसप्रकार अनेक शस्त्र धारण करने लगे जिसप्रकार मेघों के पटलों से मुक्त दिशायें तथा विदिशायें निर्मल होकर फिर नक्षत्रों को धारण कर लेती हैं ॥ ३४ ॥

द्यौरुन्ननामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः।
क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ॥ ३५ ॥

द्यौरिति ॥ तदा यामवत्यां रात्रौ क्षयं गतायां विनाशितायामिव द्यौरन्तरिक्षम्। उन्ननामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युत्प्रेक्षा। दिशः प्रसेदुः। सवितुर्मयूखैः स्फुटं स्पष्टं विसस्रे विसृतम्। भावे लिट्। दिनश्रीर्दिनकान्तिः पुनर्दिनं समीयाय सङ्गताम। अत्र वैयधिकरण्येन गुणक्रिययोः समुच्चयेन समुच्चयोऽलङ्कारः। तस्य च समुन्ननामेत्युत्प्रेक्षया 'द्ववाव्यवाव्ययाङ्गप्रवेशलक्षणः सङ्करः। विमलत्वादो गुणः। शेषा क्रिया ॥ ३५ ॥

अर्जुन के अन्धकारास्त्र के खण्डित होनेपर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होनेपर आकाशरूप आवरण हट जाता है और दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं मानो उसी प्रकार दिशायें निर्मल हो गईं, सूर्य भगवान् की किरणें चारों तरफ प्रसार कर गईं, पुनः दिवसलक्ष्मी ने दिन का आश्रय ग्रहण किया ॥ ३५ ॥

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ॥ ३६ ॥

महास्त्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुरर्जुनो महास्त्रं प्रस्वापनास्त्रं तदेव दुर्गमिव तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा रुग्णे भग्ने सति। 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क्तः। 'ओदितश्च' इति निष्ठातकारस्य नत्वम्। प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान्। प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

दिग्गज के द्वारा दुर्गभेद की भांति थोडे ही परिश्रम में शत्रु के द्वारा स्वापनास्त्र के खण्डित हो जाने पर अर्जुन ने, जिसकी भुजायें पराक्रमपूर्ण थीं, शत्रुसेना को पूर्णतया बाँध लेने के लिए सर्परूप पाश का प्रहार किया ॥ ३६ ॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ॥ ३७ ॥

जिह्वेति ॥ लसन्त्यस्तडिल्लोला विद्युच्चञ्चला विषानला विषाग्नयो येषु तानि जिह्वा-

गरुड के कुङ्कुम के पक्षों से उत्थित वायु अनेक पत्र को धारण करते हुए अपने वेग से वृक्षों को शुष्क तृणपुञ्ज के सदृश भ्रमण कराता हुआ आकाश में उड़ गया ॥ ४४ ॥

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।
व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ॥ ४५ ॥

मनःशिलेति ॥ मनःशिला धातुविशेषस्तस्या भङ्गः खण्डस्तन्निभेन तत्सदृशेन भासां निकरेण कान्तिपुञ्जेन पश्चाद्भागे निरुध्यमानमवष्टभ्यमानं व्यूढैर्विशालैरुरोभिर्वक्षोभिश्च । उरो वत्सं च वक्षश्च इत्यमरः । विनुद्यमानं प्रेर्यमाणं नभः खगानां गरुडानां पुरः ससर्पेव ससारेव । उत्तरोत्तरदेशस्तिरोधानेन गच्छतां खगानामपूर्वोऽपि पुरोभाग आकाशस्यापूर्ववद्गुपलभ्यमानतया नभस एव देशान्तरं ससर्पेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

मनःशिला के खण्ड के सदृश कान्ति पुञ्ज से आवृत आकाश जो विशाल वक्षस्थल से प्रेरित हो रहा था गरुडों के आगे आगे प्रसर्पण करते हुए की भाँति ज्ञात होता था ॥ ४५ ॥

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीब इवाचकम्पे ॥ ४६ ॥

दरीति ॥ जवानिलेनाघूर्णितानि भ्रमितानि सानुजालानि यस्य स हिमाचलः । आसवस्य रागो रक्तता तद्वत् ताम्रम् । गुणयोरेवोपमानोपमेयभावः । विकासि विकस्वरं रुक्मच्छदाः सुवर्णपत्रास्तार्क्ष्यास्तेषां धाम तेजो दरीमिर्मुखैरिव दरीमुखैः पीत्वा क्षीबो मत्त इवाचकम्पे चचाल । उपमाव्यापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

यह हिमालय जिसके शिखर वेगानिल से भ्रान्तिमान हो रहे थे अपने कन्दरारूपी मुख से मदिरा के सदृश लोहित तथा भास्वर सुवर्ण पक्ष के तेज को पान कर मदिरामत्त व्यक्ति के समान कम्पायमान होने लगा अर्थात् गरुडों के पक्षों के वेग से प्रकम्पित हो उठा ॥ ४६ ॥

प्रभूतनक्तंदिवसंधिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः ।
अन्तर्हितार्कैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिक्षिपिरे वनानाम् ॥ ४७ ॥

प्रभूतेति ॥ नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम् । अचतुर— इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्ययोर्द्वन्द्वैकवद्भावनिपातः समासान्तः । लक्षणया त्वहोरात्रमात्रवाची । प्रभूतः प्रादुर्भूतो यो नक्तंदिवस्य संधिः संध्या तद्वद्दीप्तैः शोभितैः । नभस्तलं गां भुवं च पिशङ्गयद्भिः पिशङ्गीकुर्वद्भिः । अन्तर्हित आच्छादितोऽर्को यैस्तैः पतद्भिः पक्षिभिः परितः सर्वतो वनानां छाया समाचिक्षिपिरे समाक्षिप्ताः । स्वतेजसा तेजान्तरेणाक्षिप्ता व्यन्तर्हिता इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

उन विहङ्गमों ने जो रात्रि और दिन के सन्धिमान के तरह देदीप्यमान हो रहे थे सूर्य को आच्छादित कर आकाश और पृथ्वी को कपिश वर्ण से रञ्जित करते हुए वनों की छाया को इधर उधर प्रक्षिप्त कर दिया अर्थात् उनके पक्ष के तेज से वे अन्तर्हित हो गई ॥ ४७ ॥

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्ना सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।
महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन ॥ ४८ ॥

स इति ॥ स भोगिसङ्घः सर्पसमूहः उग्रधाम्ना तेजस्विना विनतासुतानां तार्क्ष्यपक्षिणां सैन्येन महाध्वरे महाक्रतौ विध्यपचारदोषः कर्मस्खलनदोषो महोदयेन महासामर्थ्येन, अथवा महता फलेन । तन्मूलेन प्रकृतक्रियासिद्धेरिति । कर्मान्तरेण प्रायश्चित्तेनेव शमं शान्तिं निन्ये प्रापितः ॥ ४८ ॥

जिसप्रकार महान् यज्ञ में विधिविधान की न्यूनतारूप दोष को प्रायश्चित्त के द्वारा शमन कर देते हैं उसीप्रकार परम तेजस्वी विनता कुमारों की सेना के द्वारा सर्पसमूह शमन को प्राप्त हो गया ॥ ४८ ॥

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥४९॥

साफल्यमिति ॥ अस्त्रे सर्पास्त्रे । भाग्ये प्राग्भवीये शुभे कर्मणीव । रिपुपौरुषस्य रिपुपराक्रमस्य साफल्यं कृत्वा, अपवर्गमवसानं समाप्तिं गते सति । स्वामिवृत्त्या परसाफल्यस्याफलीकरणोपचारः । समन्युः सक्रोधो जिष्णुरर्जुनोऽनिन्धनस्येन्धनं विनैवोत्पादितस्य ज्वलनस्य ज्वलनप्रदीपकं अस्त्रमाग्नेयास्त्रं प्रसभं चीव्रं समाददे जग्राह ॥ ४९ ॥

जन्मान्तरीय शुभकर्म के सदृश सर्पास्त्र के समाप्त हो जाने पर अर्जुन ने क्रुद्ध होकर इन्धनादि सामग्री के बिना ही प्रज्वलित होने वाला पावकास्त्र (अग्निबाण) को उठाया ॥४९॥

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः ।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्रास्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ॥ ५० ॥

ऊर्ध्वमिति ॥ ऊर्ध्वं तिरश्चीनं तिर्यक् । 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति खप्रत्ययः । अधश्च कीर्णैर्विस्तृतैर्ज्वाला एव सटाः केसराः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । तैः, लङ्घितमेघपङ्क्तिरतिक्रान्तजलदालिः । आयस्तस्य उद्यतस्य सिंहस्येवाकृतिर्यस्य स जातवेदा अग्निः प्राण्यन्तं प्राणिनां संहारमिच्छन्निवोत्पपात ॥ ५० ॥

उद्दहन के लिये उद्यतसिंह की आकृति के सदृश अग्निदेव अपने ज्वाला रूप केसर से ऊपर, और नीचे, अगल-बगल (सर्वत्र) व्याप्त कर तथा मेघमण्डल का अतिक्रमण करके मानों प्राणिमात्र की जीवनलीला समाप्ति कर देने की इच्छा से ऊपर को प्रज्वलित हो उठे ॥५०॥

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्ज्वालाविष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।
विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः ॥ ५१ ॥

भित्त्वेति ॥ भाभिस्तेजोभिः सवितुर्मयूखान् किरणान् । 'किरणोस्रमयूखांशु-' इत्यमरः । भित्त्वेवाभिहत्येव विष्वक् समन्ताद्विसृताः स्फुलिङ्गा यस्य सः । स्फुलिङ्गोदयस्य मयूखाभिघातहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः । अकृशो

अतनु कृशानुर्वह्निः । विकीर्यमाणस्य विदह्यमानो निनादमिव घोरमुद्धत ध्वनिं वितन्वन् जज्वाल ॥ ५१ ॥

प्रचण्ड आग्नेय अपनी दीप्ति से सूर्य की किरणों को छिन्न भिन्न करके सर्वत्र चिनगारियों को बिखेरते हुए तथा विदार्ण होते हुए पत्थरों के सदृश घोर ध्वनि करते हुए जलने लगा ॥ ५१ ॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृङ्गान् क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥ ५२ ॥

चयानिति ॥ वह्निः पवनानुवृत्त्या वायुवशेन चयानिव हिरण्मयान्प्राकारानिव । चय समूहे प्रकारे इति विश्वः । तुङ्गशृङ्गानद्रीनिव क्वचिद्धिरण्मयानीति शृङ्गिणा चय इत्यादिना निपातनात्साधु । पुराणि नगराणीव तथा किंशुकानां पलाशानां वनानि । पलाशे किंशुक पर्णे इत्यमरः । महावनानीव । पुष्पितानीति शेषः । ततान विस्तार । तदाकारेण जज्वालेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

वह अग्नि वायु की सहायता से उच्च शिखरसम्पन्न पर्वतमाला की तरह कहीं कहीं सुवर्ण निर्मित नगर की भाँति और कहीं कहीं विकसित पलाश के वनों के सदृश रूप धारण कर जलने लगा ॥ ५२ ॥

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥ ५३ ॥

मुहुरिति ॥ सान्द्राञ्जनश्यामरुचो घनकज्जलश्यामलास्च पयोदा मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिः लोहितवर्णाभिः चलत्पल्लवलोहिनीभिः । वर्णादनुदात्ता त्तोपधात्तो न इति ङीप् । तकारस्य नकार । शिखिनोऽग्नेः । उच्चैरुन्नताभिः शिखाभिर्ज्वालाभिः । अवलीढा । स्पृष्टा इत्यर्थः । अत एव तलेषु अधोभागेषु मुक्ताविशदा मौक्तिकधवला बभूवुः । अवलीढोपमानमिति भाव । अथ स्वरूपमपोह्य तद्रूप इत्यमरः ॥ ५३ ॥

अत्यन्त कृष्णवर्ण के मेघों का मनोहर अग्नि की ज्वालाओं से जो स्पष्ट चञ्चल नूतन किसलय के सदृश लोहित वर्ण की थी स्पर्श होकर स्फटिक के सदृश स्वच्छ हो गये ॥ ५३ ॥

लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलार्चिषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृता प्रणिन्ये ॥ ५४ ॥

लिलिक्षतीवेति ॥ क्षयकालरौद्रे कल्पान्तकालवद्भयावहे विलोलार्चिषि चलज्ज्वाले रोहिताश्व अनले । रोहिताश्वो वायुसख इत्यमरः । लोकं लिलिक्षति लेढुमिच्छति जिघत्सति सतीव । लिहः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । पिनाकिना पुरहूता आहूता आकारिता महाम्बुवाहा घना यत्र तत् । पाशभृतो वरुणस्य । अस्त्रं प्रणिन्ये प्रयुक्तम् ॥५४॥

इसप्रकार प्रलयकाल के सदृश भयानक अग्नि की अत्यन्त चञ्चल ज्वालायें धकधकाती हुई ज्योंही संसार को चटनी के सदृश चाट जाने की इच्छा कर रही थीं शंकर भगवान् ने उस पर वरुणास्त्र का प्रयोग किया जो अपनी महान् जलधाराओं को साथ लिये हुए था ॥ ५४ ॥

तत्तो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लताखिङ्गितनीलमूर्तयः ।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततो वरुणास्त्रप्रयोगानन्तरं धरित्रीधरतुल्यरोध[redacted] पर्वतसमप्रान्ताः । 'रोधः स्यात्प्रान्तकूलयोः' इति विश्वः । तडिल्लताभिराखिङ्गिता नीलमूर्तयो नीलाङ्गानि येषां ते पयोमुचो मेघा अधोमुखा आकाशसरिदिव निपतन्तीति अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः । अपो जलानि प्रसक्तमनुबन्धमविच्छिन्नं यथा तथा मुमुचुः । इत प्रभृति वंशस्थवृत्तम् ॥ ५५ ॥

वरुणास्त्र के प्रयोग करते ही पर्वताकार मेघ, जिनकी कृष्णकान्ति विद्युल्लता के द्वारा आलिङ्गित की गई थी, (अर्थात् जिनमें बिजली क्षण-क्षण पर चमकती रही थी) नीचे की तरफ प्रवाहित होती हुई आकाश नदी की तरह अविच्छिन्न जल धाराभिवर्षण करने लगे ॥

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥५६॥

पराहतेति ॥ पराहता अभिहता अतो ध्वस्ता निर्वापिता शिखा ज्वाला यस्य तस्मिन् पराहतध्वस्तशिखे । अधिक्षिप्त प्रहारित आक्षिप्तम् । ताडितमिति यावत् । अत समिद्ध इद्धमिति प्रदीप्त तेजो यस्य तस्मिन् । शिखावतोऽग्नेर्वपुषि स्वरूपे । तप्तेऽयसि लोह इव कृतास्पदाः कृतस्थितयः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रथमे पयोनिपाता जलपाता ध्वनिं वितेनिरे विस्तारयामासुः ॥ ५६ ॥

धारापात के गिरते ही अग्नि की ज्वाला के शान्त हो जाने पर तथा आसार के प्रहार से क्षण मात्र के लिये उद्दीप्त [redacted] जाने पर तप्त लोहे के पत्र पर पड़ते हुये जल धारा की तरह ध्वनि सर्वत्र फैल गई ॥ ५६ ॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः क्रथनेन फेनताम् ।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षय जलैर्वितेने दिवि धूमसंततिः ॥ ५७ ॥

महानल इति ॥ महानलेऽग्नौ भिन्नानि खण्डितानि सिताभ्राणीव पतन्तीति भिन्नसिताभ्रपातिभिः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिप्रत्ययः । अत एव सद्यः क्रथनेन पाकेन फेनतां समेत्य प्राप्य परिक्षयं नाशं व्रजद्भिर्जलैरार्द्रेन्धनवद् आर्द्रकाष्ठैस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । दिवि गगने धूमसंततिर्वितेने विस्तारिता । फेनादिकमार्द्रेन्धनेऽपि तुल्यम् ॥ ५७ ॥

उस प्रचण्डाग्नि में खण्ड खण्ड होकर गिरनेवाले शुभ्र बादलों के सदृश जलधारा

गिरकर शीघ्र ही कम्पित होने के कारण फेन बनकर नाश को प्राप्त होती हुई गोले भाड के समान आकाश में धुयें का ढेर रूप गयी ॥ ७ ॥

स्रक्केतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुःप्रभाभिदः ।
असंस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विषः ॥५८॥

स्रक्केतुभिरिति ॥ पाण्डुरैर्नीलैः पाटलैश्च पाण्डुरनीलपाटलैर्विचित्रैः स्रक्केतुभिर्धूमैः समागताः सङ्गताः । अत एव शक्रधनुःप्रभाभिदः इन्द्रधनुर्द्युतिभाजो विभावसोरग्नेस्त्विषोऽसंस्थितामस्थिरां विचित्रस्य चीनांशुकस्य पट्टवस्त्रविशेषस्य चारुतामादधिरे दधुः ॥ ५८ ॥

अग्नि की कान्ति ने कपिश कृष्ण तथा लोहित वर्ण के धुयें से व्याप्त होकर इन्द्रधनुष की शोभा को धारण करती हुई विचित्र वर्ण के चुनरीदार वस्त्र की चारुता को जो रंग बदला करती है धारण किया ॥ ५८ ॥

जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्ललितैधितद्युतिः ।
प्रशान्तिमेष्यन् धृतधूममण्डलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ॥ ५९ ॥

जलौघेति ॥ जलौघानामम्बुप्रवाहाणां संमूर्च्छनेन मेलनेन मूर्च्छितस्वनः प्रवृद्धघोषः । मूर्च्छनं मेलने प्रोक्तं वृद्धौ मूर्च्छितमेव वा इति सज्जनः । प्रसक्तैः सततैर्विद्युल्लतानां ललितैः स्फुरणैरेधिता वर्धिता द्युतिर्यस्य स धृतधूममण्डलो जलधारासम्भूतधूमपटलः पावकः प्रशान्तिमेष्यन् तत्र देशे भूयानिव बभूव । भूयस्त्वया स्थापित इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

उस रणस्थल में अग्नि व प्रचण्डाग्नि जलप्रवाह के सम्पर्क से घनघनाहट की ध्वनि करता हुआ तथा बिजली के चमक जाने से और अधिक कान्ति से सम्पन्न शोभा हुआ वर्तमान हो इतिपन धूमसमूह से व्याप्त होकर बुझते समय अनेक मालूम पड़ने लगा ॥५९॥

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसा चयैर्विभिन्नाः पयसा प्रपेदिरे ।
उपात्तसंध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥ ६० ॥

प्रवृद्धेति ॥ प्रवृद्धानां सिन्धोः समुद्रस्य ऊर्मीणां चयाः राशय इव स्थवीयसा स्थूलतरेण पयसा चयैः पूरैर्विभिन्ना विश्लेषिताः कृशानवोऽग्नय उपात्तसंध्यारुचिभिः प्राप्तसंध्यारागैः पयोदानां विच्छेदलवैः इति विच्छेदाः विच्छिन्नाः विभिन्ना ये लवाः शकलास्तैः सरूपतां समानरूपतां प्रपेदिरे इत्युपमा ॥ ६० ॥

वृद्धि को प्राप्त समुद्र की लहरों के समूह के सदृश ढेर के ढेर जलसमूह से जगह जगह विभाजित अग्नि-पुञ्ज ने सान्ध्यराग की शोभा को प्राप्त मेघ के खण्डखण्ड पड़े हुए टुकड़ों के सदृश स्वरूप धारण किया ॥ ६० ॥

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम् ।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥६१॥

उपैतीति ॥ अनन्तद्युतिर्महातेजा अपि विभिन्नमूलो नष्टमूलोऽसंशयं यथा तथा ऽनुदयाय पुनरनुत्थानाय सद्यः नाशम् । उपैति । तथा हि—तोयौघैर्विभिन्नः संहतिः संघातो यस्य स तथोक्तः हव्यवाहोऽग्निः पराभवं नाशं प्रययौ । विशेषेण सामान्य-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार जड़के छिन्न-भिन्न होने पर महान् तेजस्वी भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार जल समूह नष्ट हो जाने पर वह प्रचण्ड पावकास्त्र पराभूत हो गया ॥ ६१ ॥

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानैरसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।
विकसदमलधाम्नामाप नीलोत्पलानां श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः ॥

अथेति ॥ अथ अग्निनिर्वाणानन्तरम् । विहितविधेयैः कृतकृत्यैः । असितनगस्याञ्जनाद्रेर्नितम्बः कटकस्तद्वत् श्यामभासां घनानां वितानैः पटलैर्मुक्ता द्यौराकाशो वह्निदाहाद्विशेषशुद्धेव । विकसन्ति च तानि अमलधामानि स्वच्छकान्तीनि च तेषां नीलोत्पलानामधिकविशुद्धामत्युज्ज्वलां श्रियं आप । निदर्शनालंकारः ॥ ६२ ॥

पावकास्त्र के शान्त होने पर अञ्जनगिरि के सदृश श्यामकान्तिधारी मेघपटलों से, जो अपने कर्तव्यपालन में सफल व छुटकारा पाकर अन्तरिक्ष वह्निदाह के कारण विकसित तथा निर्मलकान्तिसम्पन्न नीलोत्पल की अत्यन्त स्वच्छशोभा (निर्मल श्री) को प्राप्त हुआ ॥ ६२ ॥

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम् ।
विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः ॥

इतीति ॥ बहुसमरनयाननेकरणोपायान् जानातीति बहुसमरनयज्ञः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । न तु 'इगुपध—' इत्यादिनाऽकारान्तात् 'अनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकव्याख्याने भाष्यकारेण 'अर्थज्ञ'शब्दमुदाहृत्यास्य 'अर्थज्ञ'शब्दस्य कर्मोपपदत्वं दर्शितम् । सव्यसाची अर्जुनः । अरातिं किरातपतिं सादयिष्यन् । अवसादयितुकामः सन्नित्यर्थः । क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण विविधं यदस्त्रमुदासे । प्रक्षिप्तवानित्यर्थः । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् । विपरीतो विधिः प्रतिकूलं दैवम् । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । न्यायेन नीत्या वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य नीतिनिष्ठस्य पौरुषमिव नीलकण्ठः शिवः सपदि तत् अस्त्रं रिक्ततां व्यर्थताम् । उपनिन्ये । संहृतवानित्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ ६३ ॥

अनेक-विध-संग्राम-नीतिवेत्ता सव्यसाची (अर्जुन) ने शत्रुको विफल करने की कामना करते हुए अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया भाग्य के विपरीत होने

पर न्यायनिष्ठ पुरुष के पुरुषार्थ की तरह शङ्कर भगवान् ने शीघ्र ही सभी को व्यर्थ कर दिया अर्थात् अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त सभी अस्त्र को शङ्कर भगवान् ने खण्ड खण्ड कर दिया ॥ ६३ ॥

वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम् ।
अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णुर्वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः ॥ ६४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षोडशः सर्गः ।

वीतेति ॥ भूतपतिना शम्भुना । अनुग्रहीष्यतेति शेषः । अस्त्रेष्वपहृतेषु सत्सु वर्षिष्यता वर्षतव्ये सहस्रगुणं विसिसृक्षता दिनकृता सूर्येण जलेष्वपहृतेषु सत्सु लोक इव वीतप्रभावो गताधाममहिमा । अन्यत्र गतसारः । अत एव तनु क्षीणो वीतप्रभावस्तनुः तथाऽप्यतनुप्रभावो मितसत्त्वः सामर्थ्यादधिकः । अन्यत्र –उद्योग वान् । ततो जिष्णुरर्जुनो जयिनीं जयशीलाम् । विजयिनीमित्यर्थः । भुज वीर्यलक्ष्मीं भुजपराक्रमसंपदम् । अन्यत्रापि भुजबलमिति भावः । प्रत्याकाङ्क्षि तवानिति शेषः । प्रत्याचकाङ्क्ष । प्रत्यादातुमियेषेत्यर्थः । यथा लोको भयाद्विकला पहारेऽप्युपायान्तरेण कृष्यादिना जीवनमिच्छति तद्वदस्त्रापहारेऽपि भुजबलेनैव जेतुमियेषेति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ६४ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षोडशः सर्गः समाप्तः ॥

अनुकम्पा करने की भावना से शङ्कर भगवान् के द्वारा अर्जुन के सम्पूर्ण अस्त्रों के अपहृत हो जाने पर यद्यपि अर्जुन क्षीणशक्ति हो गये तथापि अपने अमित पराक्रम से भविष्य में सहस्रगुण वितरण करने की अभिलाषा से सूर्य भगवान् के द्वारा समस्त जल के शोषण करने पर संसार के लोग की तरह जो कृषि के जल से भी अपनी कृषि की रक्षा कर लेते हैं विजयिनी अपनी भुजा की पराक्रमलक्ष्मी से जीतने का अभिलाष किये अर्थात् अर्जुन सब अस्त्रों का अवलम्ब छोड़ कर स्वयं बाहुयुद्ध के लिये तैयार हो गये ॥ ६४ ॥

॥ षोडश सर्ग समाप्त ॥

सप्तदशः सर्गः ।

अथ पञ्चभिः पार्थं विशेषयन् पञ्चभिः कुलकमाह—अथेत्यादिभिः—

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन् स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥ १ ॥

अथ जयलक्ष्मीप्रत्याकाङ्क्षानन्तरम् । आपदामुद्धरणक्षमेषु आपन्निवारणसमर्थेषु । अस्त्रेषु प्रस्वापनादिषु तादृशेषु मित्रेष्विव तिरोहितेष्वन्तर्हितेषु सत्सु गुरुणा महता स्वपौरुषेणेव तादृशेन शरासनेन धृतिं धैर्यम् । अभिपुष्यन् वर्धयन् । अद्यापि धनुषि पौरुषे च सति कियानयं किरात इति धैर्यमवलम्बमान इत्यर्थः । अत एव गुरुश्रीः प्रभूतशोभासम्पत्तिः । 'पद्मा मा लक्ष्मीः श्रीर्निगद्यते' इति शाश्वतः ॥ १ ॥

(इस श्लोक से ६ तक) अन्वय परस्पर सम्बद्ध है। अन्तिम पद्य के दो चरणों में कर्ता 'पार्थ' और क्रिया 'आश्वसे' है, शेष पद पार्थ के विशेषण हैं।

आपत्ति के प्रतिकार करने में समर्थ मित्र की भाँति स्वापनादि अस्त्रों के खण्डित होजाने पर अर्जुन अपने महान् पराक्रम के सदृश गाण्डीव धनुष के द्वारा धैर्य धारण करते हुए प्रचुर श्रीसम्पन्न हुए ॥ १ ॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्मश्च तदीयवृत्त्या ।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥ २ ॥

भूरीति ॥ पुनश्च, भूरिप्रभावेण महानुभावेन सह रणाभियोगात् युद्धलाभात् प्रीतः, तदीयवृत्त्या शत्रुवृत्त्या विजिह्मो विलक्षश्च तथा स्पष्टो दीप्त्या प्रव्यक्तोऽप्यविस्पष्टो वपुःप्रकाशो यस्य सः । कुतः । सर्पन् प्रसरन् महान्धूमो यस्य स सर्पन्महाधूमोऽद्रिवह्निरिव स्थितः ॥ २ ॥

वे (अर्जुन) महान् व्यक्ति के साथ युद्धलाभ से तो प्रसन्न थे परन्तु शत्रु के उत्कर्ष से उनकी मुखकान्ति म्लान प्रतीत हो रही थी। वे दीप्ति से प्रकाशित हो रहे थे तो भी पर्वतस्थ अग्नि के सदृश, जिसमें धूम ही का आधिपत्य रहता है, अप्रकाशित ही प्रतीत हो रहे थे ॥ २ ।

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।
आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥ ३ ॥

तेज इति ॥ पुनश्च, परैररिभिरहार्यमनभिभवनीयं निजं स्वकीयं महत्तेजो वीर्यं मित्रमिव समाश्रित्य । अत एव भीमे भयानकेऽरिभिरेव दुर्गं तस्मिन् अरिदुर्गे शत्रुसङ्कटे । अस्खलितस्वभावमचलशीलमुरु महत् धैर्यं भुजालम्बमिव हस्तावष्टम्भमिव आसादयन् प्राप्नुवन् । ईदृशे सङ्कटेऽपि महावीर्यत्वाद्धैर्यमत्यजन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

व शत्रुओं के द्वारा अनतिक्रमणीय अपने महान् तत्त्वात् मित्र के समान आश्रय

भीषण शत्रु-शकट के समक्ष द्वार के स्तम्भ के समान अविचल महान् धैर्य को प्राप्त कर रहे थे ॥ ३ ॥

यशोचितत्वादभिमानवत्या सम्प्राप्तया सन्निधितामसुह्य: ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमान: ॥ ४ ॥

यशेति ॥ पुनश्च अभिमानी समन्तात्तुविस्तादृत्या । विपक्षतया कर्मणि कर्तृत्वोपचार: । अभिमानात्मत्वेनेत्यर्थ: । अन्यत्र -कुलस्त्रीकाद्यभिमानवत्या । यशोचितत्वात् स्वकुलानुरूपत्वात् । असुह्य: प्राणेभ्योऽपि सन्निकर्षं संप्राप्तया परेण शत्रुणाऽन्यो समीपे समक्षमपहृत: । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य इति समासान्तष्टच्प्रत्यय: । आदातुमिष्टयाऽऽदित्सितया । आङ्पूर्वाद्दाते: सन्नन्तात्कर्मणि क्त: । वध्वेव कीर्त्या हेतुना परितप्यमान: । कर्तरि शानच् हेतौ इति तृतीया । कान्तया चोक्त इतिवत् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार उत्तम वंश में जन्म लेने के कारण अभिमानशालिनी पत्नी जो प्राणों से भी बढ़कर हो गई हो, आंख के सामने शत्रु के द्वारा अपहरण की जाती हो उसी प्रकार से अर्जुन प्राणों से प्रिय कीर्ति को शत्रु के द्वारा अपहरण होते हुए देख भी अपनी आंखों के सामने देखकर सन्तप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूलं विपक्षं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । तत्पुरुषसमास: । तस्या वेग इव । ईश्वरेण लघुप्रयत्नमप्रयासं यथा तथा निगृहीतवीर्य: प्रतिबद्धशक्ति: । इत्याचष्टेति शेष: । पुराण किल हिमाद्रिविदारणाय गङ्गायास्तदुद्योगमवाप्य तदाऽऽशय निजजटाजूटेन निजग्राहेति पौराणी कथा अनुसन्धेयेत्यर्थ: ॥ ५ ॥

जिस प्रकार त्रिपथगा (गङ्गा) के वेग को अपने अथाह पराक्रम से बद्धमूल तथा पक्षहीन पर्वतराज हिमालय को रसातल में पहुंचा देने की इच्छा कर रहा था शङ्कर भगवान् के द्वारा बिना प्रयास के ही अवरुद्ध कर लिया गया उसी प्रकार शङ्कर के द्वारा अर्जुन का पराक्रम भी अवरुद्ध कर लिया गया था ॥ ५ ॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेत: प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थ: शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ पवमूल पार्थ: संस्कारवत्त्वात् संस्कारविशिष्टवासना । अन्यत्र -साधुत्वम् । तथाभूतं प्रयोगशिक्षाविति शेष: । अथवा संस्कारो व्युत्पत्तिस्तद्वत्त्वात्

चेतो रमयन्तु । प्रयोग सन्धानमोक्षादि शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तद्सहितोऽतिशयो मौर्वी वा, अन्यत्र तु,-प्रयोगोऽभिगुरुत्वव्यवहार शिक्षाऽभ्यासो गुणा स्वस्वस्थानकरणादय श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषण येषा तेषु । यथा यथासूक्त अर्था येषा तेषु यथार्थेषु । अन्यत्र,-नियतार्थेषु । भणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयस्य । तत्त्विर्वाहकत्वात्तदाधारत्वविवक्षाया सप्तमी । शब्देषु पदेषु भाव प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यादि स एव अर्थस्तमिव । आशशासे आशशकाङ्क्षे । शास्तिवत्सस्योराङ्पूर्वयोरिच्छायामात्मनेपदमुपसख्यानात् । यथा शाब्दिका शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदय शरैरेव साधयितुमिमेपेत्यर्थं ॥ ६ ॥

उपर्युक्त विशेषणों से सम्पन्न अर्जुन अपने बाणों के आधार पर शब्दों के प्रकार भावार्थ की तरह विजय की अभिलाषा करने लगे । जिस प्रकार शब्द सस्कार के कारण प्रयोगार्ह होते हैं (प्रसाधु शब्दों के प्रयोग से प्रत्यवाय होता है) उचित प्रयोग को शिक्षारूप गुण ही उसके भूषण है और यथार्थ (शब्दानुकूल अर्थ प्रतिपादन) मे समर्थ होते हैं उसी प्रकार बाण भी विशवासना के अनुकूल होने के कारण चित्त को प्रसन्न रखते ह अर्थात् उत्साह की वृद्धि में समर्थ होते हैं, इनके सधान और मोक्षादि की शिक्षा का अभ्यास ही गुण है, जो विभूषित करता रहता है । यहा भ धातु का अर्थ है हिंसा करना —अत शर हिंसाकारी होते हैं यथा नाम तथा गुण मतयय रूप से इनमें सर्वाश हो जाता है ॥ ६ ॥

भूय समाधानविवृद्धतेजा नैव पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।

स निर्ववामास्रममर्षनुन्न विष महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूय पुनरपि समाधानेन युद्धाय अवोच्यवसायेन विवृद्धतेजा प्रवृद्धप्रताप पुरा पुरातन युद्धमेवमिथ शक्तितायुक्त नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान् परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्या दृष्टिभ्या महानागो महासर्पो विषमिवास्रमश्रु क्रोधोत्थापितम् । अस्रमश्रु निर्ववाम निर्जगार । सात्त्विककाना रससाधारण्यादीदृश मनूयोक्ति । 'स्तम स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदोऽथ वेपथु । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता' ॥ ७ ॥

'ऐसा युद्ध कभी नहीं हुआ था' इस प्रकार के दुःख से सतप्त अर्जुन पुन युद्ध के लिये निश्चय कर प्रवल तेज से प्रदीप्त होकर महानाग के समान, जो अपने दृष्टि से विष वमन करता है, क्रोध से अपने नेत्रों से जलबिन्दु गिराने लगे ॥ ७ ॥

तस्याहवायासविलोलमौले सरम्भताम्रायतलोचनस्य ।

निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्त प्रस्नापयामास मुख निदाघ ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौले लुलितकेशबन्धस्य । 'चूडा किरीट केशाश्च सयता मौलयस्त्रय' इत्यमर । सरम्भताम्रे कोपारुणे आयते विस्तृते लोचने यस्य । 'सरम्भ सभ्रमे कोपे' इति विश्व । तस्यार्जुनस्य । रोषतप्त मुख

भीषण शत्रु-शङ्कर के समक्ष हाथ के सहारा के समान अतिविषम महान् धैर्य को प्राप्त कर रहे थे ॥ ३ ॥

वंशोचितत्वादभिमानवत्या सम्प्राप्तया सम्प्रियतामसुभ्यः ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥ ४ ॥

वंशेति ॥ पुनश्च अभिमानो ममतानुबन्धिस्तद्वत्या । विषयतया कमपि कलुषकोपकार-अभिमानास्पदेनेत्यर्थः । अन्यत्र -कुलस्त्रीत्वादभिमानवत्या । वंशोचितत्वात् स्वकुलानुरूपत्वात् । असुभ्यः प्राणेभ्योऽपि सम्प्रियतां सम्प्राप्तया परेण शत्रुणाऽन्येन समीपे समक्षमक्ष्णोः । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । आदातुं ग्रहीतुमिष्टयाऽऽदित्सितया । आङ्पूर्वाद्ददाते सन्नन्तात् कर्मणि क्तः । वध्वेव कीर्त्या हेतुना परितप्यमानः । कर्तरि शानच् हेतौ इति तृतीया । कान्त्या शोक इतिवत् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार वंश कुल में जन्म लेने के कारण अभिमानशालिनी पत्नी जो प्राणों से भी बढ़कर हो गई हो आँख के सामने शत्रु के द्वारा अपहरण की जाती [illegible] उसी प्रकार से प्राणों से प्रिय कीर्ति को शत्रु के द्वारा अपहरण होते [illegible] उस भी समय अपने आँखों के सामने देखकर सन्तप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूलं विपक्षं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । किञ्च त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । अलुक्समासः । तस्या वेग इव । ईश्वरेण लघुप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा निगृहीतवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिः । हताशस्तिष्ठतीति शेषः । पुरा किल हिमाद्रिविदारणाय गगनात्पतन्तीं गङ्गां प्रभावाद् गर्वितां विज्ञाय हरेण जटासु निरुद्धेति पौराणिकी कथा अनुसन्धेयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार त्रिपथगा (गङ्गा) के वेग जो अपने अपार पराक्रम से बद्धमूल तथा पक्षहीन पर्वतराज हिमालय को रसातल में पहुँचा देने की इच्छा कर रहा था उसको भगवान् के द्वारा बिना प्रयास के [illegible] अवरुद्ध कर दिया गया उसी प्रकार शङ्कर के द्वारा अर्जुन का पराक्रम भी अवरुद्ध कर लिया गया था ॥ ५ ॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ पृथुसूनुः पार्थः संस्कारवत्त्वात् संस्कारो वेगाख्यः । अन्यत्र — साधुत्वम् । प्रयोगः प्रक्षेपोऽभिधानं चेति शेषः । अथवा संस्कारो व्युत्पत्तिस्तद्वत्त्वात्

चेतो रमयन्तु। प्रयोग सन्धानमोक्षादि शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तत्राहितोऽतिशयो मौर्वी वा, अन्यत्र तु,–प्रयोगोऽभियुक्तव्यवहार शिक्षाऽभ्यासो गुणा स्वस्वस्थानकरणादय श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषण येषा तेषु। यथा यथाभूता अर्था येषा तेषु यथार्थेषु। अन्यत्र,–नियतार्थेषु। शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयम्। तन्निर्वाहकत्वात्तदाधारत्वविवक्षाया सप्तमी। शब्देषु पदेषु भाव प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यादि स एव अर्थस्तमिव। आशशसे आचकाङ्क्षे। आङ्पूर्वस्य शसेराङ्पूर्वयोरिच्छायामात्मनेपदमुपसङ्ख्यानात्। यथा शाब्दिका शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदय शरैर्जय साधयितुमियेषेत्यर्थ ॥ ६ ॥

उपर्युक्त विशेषणों से सम्पन्न अर्जुन अपने बाणों के आधार पर शब्दों के अपार भावार्थ की तरह विजय की अभिलाषा करने लगे। जिस प्रकार शब्द संस्कार के कारण प्रयोगार्ह होते हैं (असाधु शब्दों के प्रयोग से प्रत्यवाय होता है) उचित प्रयोग की शिक्षारूप गुण ही उसके भूषण हैं और यथार्थ (शब्दानुकूल अर्थ प्रतिपादन) में समर्थ होते हैं उसी प्रकार बाण भी चित्तवासना के अनुकूल होने के कारण चित्त को प्रसन्न रखते हैं अर्थात् उत्साह की वृद्धि में समर्थ होते हैं, उनके सधान और मोक्षादि की शिक्षा का अभ्यास ही गुण है, जो विभूषित करता रहता है। यहा शृ धातु का अर्थ है हिंसा करना—अत शर हिंसाकारी होते हैं यथा नाम तथा गुण प्रत्यक्ष रूप से उनमें सघटित हो जाता है ॥ ६ ॥

भूय समाधानविवृद्धतेजा नैव पुरा युद्धमिति व्यथावान्।
स निर्ववामाक्रममर्षनुन्न विष महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूय पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोऽवस्थापनेन विवृद्धतेजा प्रवृद्धप्रताप पुरा पुरातन युद्धमेवमित्थ क्वचिदप्येवकार नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान् परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्या दृष्टिभ्या महानागो महासर्पो विषमिवाममर्षनुन्न क्रोधोत्पादितम्। अस्रमश्रु निर्ववाम निर्जगार। सात्त्विकाना रससाधारण्यात्क्रोधेऽप्युक्ति। 'स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदोऽथ वेपथु। वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता' ॥ ७ ॥

'ऐसा युद्ध कभी नहीं हुआ था' इस प्रकार के दु ख से सतप्त अर्जुन पुन युद्ध के लिये निश्चय कर प्रबल तेज से प्रदीप्त होकर महानाग के समान, जो अपने दृष्टि से विष वमन करता है, क्रोध से अपने नेत्रों से जलविन्दु गिराने लगे ॥ ७ ॥

तस्याहवायासविलोलमौले सरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्त प्रस्नापयामास मुख निदाघ ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौले सस्तकेशबन्धस्य। 'चूडा किरीट केशाश्च सयता मौलयस्त्रय' इत्यमर। सरम्भताम्रे कोपारुणे आयते विस्तृते लोचने यस्य। 'सरम्भ सम्भ्रमे कोपे' इति विश्व। तस्यार्जुनस्य। रोषतप्त मुख

निदाघो घर्मो निर्वापयिष्यन् शिशिरीकरिष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। प्रस्वापयामास सिषेच। स्वेदं जनयामासेत्यर्थः। स्वातेर्मि वविकल्पाद्ध्रस्वविकल्पः॥८॥

युद्ध के परिश्रम से उत्पन्न जल के बिन्दुओं के गिरने से तथा क्रोध के कारण उनके विशाल नेत्रों ने तांबे के सदृश अरुण वर्ण धारण किया। ग्रीष्म ने मानो उनके मुखको शीतल करने के लिये ही मानों स्वेद बिन्दुओं से सिंचन करने लगी अर्थात् उनके मुखमण्डल पर श्रमकण झलकने लगे॥८॥

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः॥९॥

क्रोधेति॥ क्रोधोऽन्धकार इव तेनान्तरितः छन्नः सोऽर्जुनो घनोपरुद्धो मेघाच्छादितस्तिग्मरश्मी रविर्वृष्टेः प्रभवाय उत्पादाय तिस्र ऊर्ध्वांशुराजीरिव। भ्रुकुट्यां तु भृकुटिर्भ्रुकुटिस्त्रियाम। रणाय रणप्रवृत्तये तिस्रस्तिस्रः भ्रूभेदो भ्रूभङ्गस्तस्य रेखा बभार॥९॥

क्रोधरूप अन्धकार से आच्छादित अर्जुन ने मेघरूप आच्छादन वाले सूर्य की तरह जो वृष्टि के लिये ऊर्ध्व किरणों की पंक्तियों को धारण करता है, संग्राम में भ्रूभङ्गिमा की तीन रेखाओं को धारण किया अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की ऊर्ध्व किरणें वृष्टि की सूचना देती हैं उसी प्रकार अर्जुन की भौंह के ऊपर जो क्रोध के कारण तीन रेखायें बन गई थीं उनसे सूचित होता था कि ये युद्ध के लिये तत्पर हैं॥९॥

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम्।
बलानि शम्भोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः॥१०॥

स इति॥ सोऽर्जुनोऽम्बुदवन्नदतीति अम्बुदनादि। 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः। चापं दिङ्नागो दिग्गजोऽद्रिशृङ्गमिव हस्तेन करेण प्रध्वनय्य ध्वनयित्वा शम्भोर्बलानि सैन्यानि। अशरीरोऽनङ्गः कामश्चेतांसि युवमनांसि चिन्ताभिः मनोजन्यध्यानैरिव। इषुभिस्तताप तापयामास। तपतिः सकर्मकः। अत्र 'इषुशब्दः स्त्रीलिङ्गः'। अन्ययो-रुपमानोपमेययोर्लिङ्गभिन्नताद्दोषाय। पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः॥१०॥

जिस तरह कामदेव विषयचिन्तनरूप बाणों से युवकों के मन को सन्तप्त करता है उसी प्रकार अर्जुन मेघ के सदृश गम्भीर घोषकारी गाण्डीव को दिग्गज की भाँति जो अपने शुण्ड से पहाड़ के शिखरों को भ्रामित करता है बाणों की वर्षा कर शङ्कर भगवान् की सेनाको सन्तप्त करने लगे॥१०॥

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शराणां शितिकण्ठकाये॥११॥

सद्वादितेति॥ अभिनिविष्टा आत्माभिनिविष्टा बुद्धिर्यस्य स तस्मिन् अभिनिविष्टबुद्धौ आग्रहनिहितमतौ विषये सद्वादिता प्रामाणिकार्थसमर्थकत्वेव। न हि सम्यगभ्यस्तशास्त्रार्थ

प्रति सद्वाद्यपि शक्नोतीति व्याचक्षते केचित्। अन्ये त्वभिनिविष्टबुद्धावाग्रहाविष्टचित्ते विषये सद्वादिता हितोपदेष्टृत्वमिव। न ह्याग्रही हितं गृह्णातीति भावः। विपक्षपाते वीतरागे विषये गुणाभ्यसूया गुणासहिष्णुतेव। स हि समदर्शी द्विषन्तमपि न द्वेष्टीति भावः। अगोचरेऽवाङ्मनसगोचरे ब्रह्मणि वागिव। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः। शराणां शक्तिः शितिकण्ठकाये शिवशरीरे विषये उपरेमे उपरता। तस्याक्षोभ्यमहिमत्वादिति भावः। 'विभाषाकर्मकात्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्पक्षे आत्मनेपदम्। अत्र मालोपमा ॥ ११ ॥

आग्रह बुद्धिसम्पन्न पुरुष में हित की बातों का उपदेश जिस प्रकार व्यर्थ हो जाता है विरक्तपुरुषों के विषय में गुणों के प्रति ईर्ष्या जिसप्रकार स्थान नहीं प्राप्त करती और इन्द्रियों से परे परब्रह्म के विषय में जैसे वाणी मूक हो जाती है उसी प्रकार नीलकण्ठ (शंकर भगवान् के शरीर में अर्जुन के शरों की शक्ति विफल होने लगी ॥ ११ ॥

उमापतिं पाण्डुसुतप्रयुक्ताः शिलीमुखा न व्यथयाम्बभूवुः।
अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥ १२ ॥

उमेति ॥ पाण्डुसुतेन प्रयुक्ताः प्रक्षिप्ताः शिली शल्यं मुखे येषां ते शिलीमुखा बाणा उमापतिं शिवम्। अभ्युत्थितस्याभ्युन्नतस्य। अद्रिपतेर्नितम्बं कटकम्। हेमन्ते भवस्य हैमनस्य। 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यण्प्रत्ययस्तकारलोपश्च। अर्कस्य पादा रश्मय इव। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। न व्यथयाम्बभूवुः। 'मध्ये स्थितस्याशुमतः समूहमर्कस्य' इति पाठान्तरे मध्ये स्थितस्य हैमनस्यार्कस्य पादाः किरणा अंशुमता प्राणिना समूहमिवेति न तु समुत्पादयामासुरिति योजना ॥ १२ ॥

अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त बाण शिव भगवान् को उस प्रकार व्यथित न कर सका, जिसप्रकार हैमन्तकालीन सूर्य की किरणें अत्यन्त ऊँचे हिमालय के नितम्ब को नहीं व्यथित कर पाती हैं ॥ २२ ॥

संप्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम्।
विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥ १३ ॥

संप्रीति ॥ गणानां पतिः शिवः। तीव्रं तस्यार्जुनस्य पराक्रमं वप्रे रोधसि आनतस्य परिणतस्य। तटप्रहारिण इत्यर्थः। सुरद्विपस्यैरावतस्य विषाणभेदं दन्तप्रहारं हिमवानिव संप्रीयमाणः सहन्सन्, अनुबभूवानुभवति स्म। तस्याक्षोभ्यत्वादनुभविष्णुत्वाच्चेति भावः ॥ १३ ॥

तटप्रहारकारी ऐरावत के असह्य दन्तप्रहार को हिमालय की तरह प्रमथगणों के स्वामी शंकर भगवान् प्रसन्न होते हुए उस अर्जुन के तीक्ष्ण पराक्रम का अनुभव करने लगे॥

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम्।
चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ॥ १४ ॥

तस्मै हीति ॥ तस्मै पार्थाय भारस्य भूभारस्य उद्धरणे उद्वहने समर्थं प्रताप बाहुमिव । अपष्टम्भतयेति शेष । अन्यथा भारोद्वहनस्य दुष्करत्वादिति भाव । सप्रताप प्रभावश्च यत्तेज कोशदण्डजम् इत्यमरः । भवास्यता वितरिष्यता कारणानां ब्रह्मादीनामपि कारणेन जनकेन देवेन सोऽयमियोऽर्जुनपरिभव । इदानीं चिरं विषेहे सोढ । वात्सल्यादिति भाव ॥ १४ ॥

उस अर्जुन को पृथ्वी का भार हरण करने में समर्थ प्रताप को भुजावलम्ब के समान वितरण करते हुए कारणों के कारण अर्थात् सृष्टि के उत्पादक ब्रह्मादिक के भी जनक शंकर भगवान् अर्जुनकृत पराभव का सहन करते रहे ॥ १४ ॥

अथ त्रिभिर्भगवदभिप्रायमाविष्कुर्वन्मनुर्भि कलापकमाह—

प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति ।
तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥ १५ ॥

प्रत्याहतेति ॥ प्रत्याहतौजाः परेण प्रतिहतबल सन्नपि कृतसत्त्ववेगः कृतोत्साह तिवाय सन् य पुमान् ज्यायसि स्वस्मादभ्यधिके पराक्रमं तनोति तस्य पुंसो भानोः तेज इव तेजांसीव वीर्येण शौर्येण ज्वलितानि प्रकाशितानि यशांसि निष्पतन्ति । उत्पद्यन्तीत्यर्थ । हीनस्याधिकाभियोगो यशस्कर इति भाव ॥ १५ ॥

शत्रु के द्वारा क्षीण पराक्रम होने पर भी उत्साह शक्ति का अवलम्बन किये हुए जो पुरुष अपने से अधिक बलशाली पुरुष के साथ विक्रम प्रदर्शन करता है उस पुरुष के यश जो शौर्य से प्रकाशमान रहते हैं सूर्य की किरणों के समान निर्गत होते हैं ॥ १५ ॥

तत किमित्यत आह—

दूराग्रपानाद्व्यथतेऽरिलोकः प्रध्वसमेति व्यथिताच्च तेजः ।
तेजोविहीनं विजहाति दर्पः शान्तार्चिषं दीपमिव प्रकाशः ॥ १६ ॥

दूरेति ॥ दूरमवनत समुत्कर्ष यस्य तस्मात् दूराग्रपानाद् उच्चपदस्थात् । अरिलोकः शत्रुजनो व्यथते बिभेति । व्यथितात्तत्त्रस्तात् तेज प्रध्वस नाशम् । एति । तेजोविहीनं दर्प उत्साह शान्तार्चिषं निर्वाणज्वालं दीपं प्रकाश इव विजहाति त्यजति ॥ १६ ॥

जिस पुरुष का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है उससे शत्रुगण त्रस्त रहता है अर्थात् भयभीत होकर तेजहत [illegible] जाता है तेजहत होने पर उत्साह उसे इस प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार दीपक की ज्वाला के निर्वाण हो जाने पर प्रकाश उसका परित्याग कर देता है ॥ १६ ॥

ततः प्रयात्यस्तमदावलेपः स जय्यतायाः पदवीं जिगीषोः ।
गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येव मतङ्गजौघः ॥ १७ ॥

तत इति ॥ ततो दर्पहान्यनन्तरम् । अस्तौ नष्टौ मदावलेपौ मदगर्वौ यस्य सोऽरिलोकः गन्धेन मदगन्धेन अनुमापनशीलस्य । जीतार्थे कृत्प्रत्यय । प्रमुखागत

स्याभिमुखागतस्य प्रतिद्विपस्यान्यो मतङ्गौघो मत्तगजसमूह इव जिगीषोर्नायकस्य जय्यताया पदवीं प्रयाति प्राप्नोति । विजिगीषुणा जेतुं शक्यो भवतीत्यर्थः । 'क्षय्य-जय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः । अत्र श्लोकद्वये व्यायासि पराक्रमकरणादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वकथनात् कारणमालाख्योऽलङ्कारः । युग्मकम् ॥ १७ ॥

पुनः उत्साह से परित्यक्त होकर वह पुरुष अभिमानिता को छोड़ देता है और जयाभिलाषी शत्रु के विजय का इस तरह लक्ष्य बन जाता है जिसतरह मदगन्धि से सम्मुख समुपस्थित जयेच्छु गजराज को हाथियों का समूह विजयी बनने का शुभवसर प्रदान करता है ॥ १७ ॥

एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य कीर्तिं मौलीन्दुलेखाविशदां विधास्यन् ।
इयेष पर्यायजयावसादां रणक्रियां शम्भुरनुक्रमेण ॥ १८ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या प्रतिद्वन्द्विषु प्रत्यर्थिषु मध्ये तस्यार्जुनस्य मौलीन्दुलेखाविशदां कीर्तिं विधास्यन् करिष्यन्, अनुक्रमेणाविपर्यासेन पर्यायेण जयोऽवसादो भङ्गश्च तौ जयावसादौ यस्यां सा पर्यायजयावसादा रणक्रियाम् । इयेषेच्छति स्म । पर्यायानन्तरं भङ्गो भङ्गानन्तरं जय इति पर्यायार्थः । तस्य विपर्यासोऽन्यतरनैरन्तर्यं तदभावोऽनुक्रम इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शंकर भगवान् विपक्षियों के बीच उस अर्जुन की कीर्ति को स्वकीय ललाट पर स्थित चन्द्रलेखा के सदृश शुभ्रवर्ण करते हुए क्रमशः कभी जय तो कभी पराजय रूप युद्धक्रिया के इच्छुक हुए ॥ १८ ॥

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघः ।
सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥ १९ ॥

मुनेरिति ॥ मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान् महान् भूतपतेर्बलौघः आत्मलाभेन जन्मना सह समुत्पतद्भिराविर्भवद्भिः । आजन्मसिद्धैरित्यर्थः । जातयो गोत्वमनुष्यत्वादय, स्वभावा जातिनियता धर्मास्तैः जातिस्वभावैर्जीवलोकः प्राणिजातमिव वशं निन्ये नीतः । कर्मणि लिट् । प्राणिनो जातिधर्मानिव यथा मुनिशरानतिक्रमितुं नोशेकुरित्यर्थः । कलापकम् ॥ १९ ॥

आजन्म सिद्ध जातियों के धर्म के द्वारा संसारी लोग की तरह अर्जुन के विविध प्रकार के विलक्षण अस्त्रों के द्वारा भूताधिनाथ (शंकर) का सेनासमूह वश्यता को प्राप्त हो गया अर्थात् शंकर भगवान का सैनिक वर्ग अर्जुन के अस्त्र शस्त्रों का अतिक्रमण न कर सका ॥ १९ ॥

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निरासुः ।
प्रवेपितं सततवेपथूनि घनागमस्येव गवां कुलानि ॥ २० ॥

वितन्वत इति ॥ त्रस्तानि सैन्यानि सततवेपथूनि निरन्तरकम्पानि गवां कुलानि

वृन्दानि वृष्टिं शुचत उपायनस्य रात्रिमेवस्येव परेषां ऽन्यकारस्त वितन्वतो विस्तार यत तस्य मुने संबन्धिन रव सारपंकोप निशेमुः शुश्रुवुः । न तु किंचिद्दृष्टम् । चेष्टा तु दूरापास्तेति भाव ॥ २० ॥

वृष्टिकर्म में तत्पर रात्रि कालीन मेघ के घनघोर गर्जन से निरंतर काँपते हुए गायों के परिवार के मनुष्य नाना प्रकार का विस्तार करते हुए अर्जुन के व्यक्त निर्घोष को भयभीत होकर की सेनाने सुना ॥ २० ॥

स सायकान्साध्वसविप्लुताना क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन ।
शशीव दोषावृतलोचनाना विभिद्यमान पृथगाबभासे ॥ २१ ॥

स इति ॥ अतिसौष्ठवेनातिकाघवेन सायकान् शरान् क्षिपन् सोऽर्जुन साध्वसेन विप्लुताना भ्रान्तानां परेषां द्विषां दोषेण काचकामलादिरोगेण आवृतलोचनानां पुरुष पुरः शशीव पृथग्विभिद्यमान आबभासे । यथा सदोषचक्षुषैकोऽपि शशी अनेक लक्ष्यते तद्वदेकोऽप्यनेक इव दृष्ट इति भाव ॥ २१ ॥

अत्यन्त क्षिप्रता (लाघव) के साथ बाण प्रक्षेप करते हुए अर्जुन काच कामलादि दोष से दूषित नेत्रों के लिये पृथक पृथक दिखाई चन्द्र बिम्ब की तरह भयभ्रान्त शत्रुओं के लिये एक होते हुए भी अनेक दृष्टिगोचर होने लगे ॥ २१ ॥

क्षोभेण सेनाऽथ गणाधिपाना भेद ययावाकृतिरीश्वरस्य ।
तरङ्गकम्पेन महाहृदाना छायामयस्येव दिनस्य कर्तु ॥ २२ ॥

क्षोभेणेति ॥ अथ गणाधिपाना संबन्धिना सेना क्षोभेण कम्पेन । ईश्वरस्याकृतिराकारो मूर्ति । महाहृदानां तरङ्गकम्पेन छायामयस्य प्रतिबिम्बरूपस्य दिनस्य कर्तुर्विकारस्याकृतिरिव भेद विकार ययौ भाव । स्वत निर्विकारोऽपि प्रतिमासूर्यवत् परसंसर्गाच्चपला प्रतीयत इत्यर्थ ॥ २२ ॥

विशाल लहरों से महाजलाशयों सूर्य विकार प्रतिबिम्ब की भाँति प्रमथगणों के सह विक्षोभ से शंकर भगवान की आकृति भी विकृत हो गई अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमण्डल में किसी प्रकार का विकृति न रहने पर भी तरङ्गों के कम्प के कारण उसका प्रतिबिम्ब कम्पित दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शंकर स्वत निर्विकार होते हुए भी गणों के विक्षोभ से क्षुभित प्रतीत होने लगे ॥ ॥

यदि देवोऽपि विकृतस्तर्हि कोप किं न कृत तत्राह—

प्रसादरागं न तमाप कोप कुत परस्मिन्पुरुषे विकार ।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महता हि वृत्ति ॥ २३ ॥

प्रसादरागमिति ॥ प्रसादरागमर्जुन प्रति प्रसन्नचित्त स देव कोपो नाप न आप । तत्रान्यमुदाह यथाविनि भाव । तत्र हेतु—परस्मिन् पुरुषे परमात्मनि देवे । स्वतो निर्विकार इत्यर्थ । विकार कोपरूप कुत । न कुतश्चिदित्यर्थ । ननु तस्य निर्विकारस्य

कथं बहिराकारभेदः कारणाभावादिति चेत्तत्र विशेषमाह—इदं पूर्वोक्तम्। आकारवैषम्यं च भेजे। किंतु केनापि कारणेन न कुप्यतीत्यर्थः। ननु निर्विकारे कुत आकारभेदस्तत्राह—महतां वृत्तिश्चेष्टा दुर्लक्ष्यचिह्ना दुर्ग्रहहेतुका हि ॥ २३ ॥

यद्यपि शङ्कर भगवान् की आकृति में विकारकृत परिवर्तन हो गया था तथापि अर्जुन के प्रति उन्हें क्रोध न हुआ। परम पुरुष में विकार कहाँ? केवल आकारमात्र में यह विषमता थी। महान् व्यक्तियों का भाव किसी चिह्न विशेष से व्यक्त नहीं हो पाता ॥२३॥

वैषम्यमेवाह—

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥ २४ ॥

विस्फार्यमाणस्येति ॥ ततोऽनन्तरं भूतानि भर्त्रा भूतपतिना। भुजस्तम्भनम्। अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। भुजाभ्याम्। कर्तृकरणयोस्तृतीया। विस्फार्यमाणस्याकृष्यमाणस्य अन्तकस्य इव तस्य धनुरन्तकस्य सन्निभामीं स्फुरन्तीं चलन्तीमत एव भिन्ना द्विधेव दृश्यमानाऽऽकृतिर्यस्यास्तां ज्यां धनुर्गुणं क्रुद्धस्य तक्षकस्य नागविशेषस्य जिह्वामिव ददृशुः। द्विधाभावादुपमाऽस्त्येति भावः ॥ २४ ॥

स्वामी शङ्कर भगवान् के भुजाओं से आकृष्ट किये जाते हुए मृत्यु सदृश धनुष की स्फुरण करती हुई प्रत्यञ्चा को (डोरी), जो भिन्नाकृति धारण कर रही थी, कुपित तक्षक की लप लपाती हुई जिह्वा के सदृश सब लोगों ने देखा ॥ २४ ॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थं किराताधिपमाशशङ्के।
पर्यायसम्पादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥ २५ ॥

सव्येति ॥ पार्थः सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां ध्वनितं नादितमुग्रचापं येन तं किराताधिपम्। अपराद्धः प्रमत्तो यन्ता पर्यायेणानुपूर्व्येण सम्पादितः कर्णयोस्तालः आस्फालनं येन स व्यालः दुष्टः। 'भेदस्तिरु शठे व्यालः' इत्यमरः। गजमिवाशशङ्के। तथापसव्यानुसंधानाद् दुर्जयः कोऽप्ययमनर्थकरमेति शङ्कितवानित्यर्थः ॥२५॥

जिस प्रकार मतवाला हाथीवान बारी बारी से दोनों कर्णतालों का सञ्चालन करते हुए दुष्ट हाथी के प्रति आशङ्का करता है उसी प्रकार अर्जुन वाम और दक्षिण उभय गति से धनुष को निर्घोषित करते हुए किराताधिनाथ (शङ्कर) को देखकर आशङ्का करने लगे ॥ २५ ॥

निजघ्निरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम्।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥ २६ ॥

निजघ्निर इति ॥ हरेषुजालैस्तस्यार्जुनस्य पतन्ति आगच्छन्ति शिलीमुखानां शराणां वृन्दानि। ऊर्जस्विभिः प्रबलैः। अम्बुराशेर्यादोभिर्जलजन्तुभिः सिन्धुमुखेन नदीमुखेन आगतानि यादांसीव निजघ्निरे हतानि ॥ २६ ॥

समुद्र के गरिष्ठ (भीषण) जन्तुओं के द्वारा स्रोतस्विनियों (नदियों) के मुख से समागत जलजन्तु की भाँति शङ्कर भगवान् के वेगशाली बाणसमूहों से उस अर्जुन के बलातनशील शरों के समूह ताडित किये गये अर्थात् छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २६ ॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः ।
नेताऽरिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरेषु शम्भुः ॥ २७ ॥

विभेदमिति ॥ अन्तर्विभेदं व्यूहविश्लेषमनुपजाप च पदवीनिरोधं मार्गं एव प्रतिबन्धनम् अन्यत्र तु-आसारप्रसारप्रतिबन्धं च विध्वंसनं खण्डनं लुण्ठनदाहादिकं चेत्यादि यद् नेता नायको जिगीषुः । अविदितप्रयोगः संवृतमन्त्रत्वादविज्ञातोपायप्रयोगः सन् अरिलोकेषु शत्रुवर्गेषु करोति तत्तच्छम्भुरविदितप्रयोगोऽज्ञातबाणसंधानमोक्षादिकः सन् अस्यार्जुनस्य शरेषु चकार कृतवान् । कर्तरि लिट् । श्लेषालङ्कारः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार सेनानायक या राजा अपरिचित उपाय प्रयोग वाला होकर शत्रु समूह के विषय में भेदनीति का प्रयोग करता है यातायात मार्ग का अवरोध करता है और किले को तोड़ ताड़ कर-छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार शङ्कर भगवान ने अन्य से अपरिचित उपाय प्रयोग (अज्ञात बाण संधान मोक्षादि) वाला होते हुए अर्जुन की तितर बितर कर दिया बाणों को बीच से काट डाला ॥ २७ ॥

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।
छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥ २८ ॥

सोढेति ॥ सोढानि परैरवगीतानि गर्हितानि प्रथमायुधानि सर्वोत्कृष्टबाणा यस्य तस्यार्जुनस्य सम्बन्धिभिः क्रोधोज्झितैः पूर्वबाणवैफल्यात्कोपेन त्यक्तैः । अत एव वेगितया वेगेन पतद्भिरापतद्भिः अत एव छिन्नैरपि त्रासिता वाहिन्यो यैस्तैरत एव कृतार्थैरिव बाणैः पेते । भावे लिट् । वस्तुतस्त्वकृतार्थाः एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

अर्जुन ने जिन बाणों का प्रयोग किया था सभी का अनादर भगवान शङ्कर ने किया किन्तु उनके द्वारा यह जब क्रोध के साथ प्रक्षिप्त बाण वेग से उड़ते हुए शङ्कर भगवान् का ओर से खण्डित कर दिये गये तथापि उनकी सेनाओं को त्रस्त करते हुए सफलीभूत की तरह गिरने लगे अर्जुन विफल रहे ॥ २८ ॥

अलंकृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम् ।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥ २९ ॥

अलमिति ॥ ऋजुताऽवक्रता सरलत्वमवक्रशीलत्वं च सैव गुणस्तेन अलंकृतानां गुरुभिरुपाध्यायगुरुभिर्धनुर्वेदाचार्यैरुपदिष्टां दर्शितां गतिं गमनमाधारं च आस्थितानां प्राप्तानां मार्गणानां बाणानां सतां साधूनामिव । अपर्वण्यपर्णी । अन्यत्र -अप्र

स्तावे । अकाण्ड इत्यर्थः । 'पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे' इति विश्वः । स ईश्वरकृतो भङ्गश्छेदो व्यसनं च जिष्णोरर्जुनस्य कस्यचिज्जित्वरस्य च । 'जिष्णुः शक्रे धनञ्जये । जित्वरे' इति विश्वः । धृतिं धैर्यम् । उन्ममाथ । अहारेत्यर्थः । अकाण्डे साधुविपत्तिदर्शनादिव शरभङ्गदर्शनाद्धैर्यभङ्गोऽभूदित्यर्थः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सज्जन पुरुष का, जो विनम्रता से अलङ्कृत रहता है, तथा धर्मशास्त्र द्वारा प्रदर्शित पथपर अपनी जीवन यात्रा को अवलम्बित रखता है, धैर्य आगन्तुक विपत्ति से छूट जाता है उसी प्रकार सरलता के गुणों से सम्पन्न तथा धनुर्विद्याविशारद गुरुओं के द्वारा प्रदर्शित गति के अनुसारी बाणों के खण्डन ने अर्जुन के धैर्य को मथ डाला अर्थात् उनका धैर्य छूटने-छूटने हो गया ॥ २९ ॥

बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः ।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥ ३० ॥

बाणेति ॥ बाणच्छिदः पार्थशरच्छेदिनस्ते स्मरारेर्विशिखाः अवाङ्मुखीभूतफला-विमुखाग्रा विफलाश्च सन्तः पतन्तः पाण्डवसायकेभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । पाण्डवसायककर्तृकस्य कृतस्य फलभङ्गरूपस्य स्वकर्मणः सद्योऽखण्डितं प्रतिकारमापुः । अत्युत्कटं कर्म सद्यो फलतीति भावः ॥ ३० ॥

कामदेव के शत्रु शंकर भगवान् के बाण, जो अर्जुन के बाणों को छिन्न भिन्न कर रहे थे, अत एव उनके अग्रभाग में लगे हुए फल मुड़कर टेढ़े हो गये थे और किनी २ के निकल कर गिर गये थे, अर्जुन के शरों पर गिरते हुए अपने किये हुए कर्मों के अखण्डफल को प्राप्त कर लिये ॥ ३० ॥

पुनरर्जुनस्य जयमाह—

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तानभवप्रमार्गणानाम् ।
समाकुलायां निचखान दूरं बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ॥ ३१ ॥

चित्रीयमाणानिति ॥ अरातिरर्जुनः । अतिलाघवेनातिशीघ्रत्वात् चित्रीयमाणान्विस्मयाश्चर्यं कुर्वाणान् । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' । भवमार्गणानां प्रमाथिनः खण्डयतस्तान् बाणान् । समाकुलायाः संक्षुभितायाः ध्वजिन्याः सेनायाः हृदयेषु दूरं गाढं निचखान निखातवान् ॥ ३१ ॥

अर्जुन ने हस्तलाघव से (बाण के आदान और प्रक्षेप रूप क्रियाकुशलता से) आश्चर्य में डाल देने वाले बाणों को, जो शङ्कर भगवान् के शरों को खण्डित कर रहे थे, अस्तव्यस्त सेना के वक्षस्थल में गाड़ दिया ॥ ३१ ॥

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।
हन्ता पुरा भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ॥ ३२ ॥

तस्येति ॥ तस्यार्जुनस्य पराक्रमोऽतिशयवानभूत् । अन्योन्यस्य विशेषणेनातिशय करणेन । अतिरिच्यमाने वस्तुन्यसमाने सति पुरां हन्ता त्रिपुरविजयी हरो भूरि प्रभूतं पुष्पवर्षं बाणवर्षम् । पुष्पवन्नामविकिरता हृष्यभर । निदाघे भवो नैदाघो मेघेऽम्बुवाहोऽम्बु जलमिव निरास मुमोच । वसन्ततिलकम् । निदाघ ग्रहण वर्षणस्या तितीव्रत्वद्योतनार्थम् ॥ [redacted] ॥

अनन्तर परिश्रमपूर्वक संग्राम करते करते अर्जुन के पराक्रम की शिथिलता होने ' त्रिपुरनिवासी भगवान् शूली ने ग्रीष्म कालिक मेघको जलवृष्टि सदृश बाणवृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया ॥ २२ ॥

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणाऽनुग्रहिता शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ॥ २३ ॥

अनामृशन्त इति ॥ प्रियैषिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुग्रहिता प्रयुक्ता अत एव क्वचिदेव मर्माण्यामृशन्तोऽस्पृशन्तः शरा सुहृन्मित्र सोऽपि प्रियैषी तेन प्रयुक्ता उच्चारिता नर्मवादाः परिहासवादाश्च मुनेरर्जुनस्य प्रीतिकराः प्रीतिजनका बभूवुः ॥२३॥

अर्जुन के शुभचिन्तक शङ्कर भगवान् के द्वारा प्रेरित बाण उनके मर्मस्थलों को कहीं भी कष्ट न पहुंचाते [redacted] मित्र के द्वारा प्रयुक्त परिहास वचनों की भांति दुःखद न होकर प्रीति प्रद होने लगे ॥ २३ ॥

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलिः ॥ २४ ॥

अस्त्रैरिति ॥ अस्त्रैः स्वायुधैः समाना तुल्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकां वा तस्य मुनेः । इषूणामपि शक्तिं पश्यन् विषादेनोत्साहभङ्गेन वक्तव्यानि निर्वाच्यानि बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी शत्रुमर्दन इन्दुमौलिर्हरोऽपि स्वं बलमात्मीयं महिमानम् । आललम्बे स्वात्मसामर्थ्यमवलम्बितवान् ॥ २४ ॥

शत्रुदमन चन्द्रचूड भगवान् शंकर ने अर्जुन के बाणों की शक्ति को स्वकीय शरों के समान अथवा उ से भी अधिक देखकर उत्साहभंग के कारण सेनाओं को रोकते हुए अपने सामर्थ्य का आश्रय लिया ॥ २४ ॥

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालानि शिवाय जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ॥ २५ ॥

तत इति ॥ ततो महिमप्रादुर्भावानन्तरं तपसस्तपोवीर्येणोद्धतस्य समुद्धतस्य प्रगल्भस्य समर एवार्णवस्तस्य पारमन्तं यियासोर्यातुमिच्छोर्जिष्णोरर्जुनस्य महान्ति महेषुजालानि समग्रबाणसमूहान् । अर्कः सूर्यः पयांसीव जलानीव समाचचाम सञ्जहार ॥२५॥

भगवान् मरीचिमाली के द्वारा जलशोषण की भांति शङ्कर भगवान् [redacted] अपनी महिमा

के व्यक्त करने के अनन्तर वयस्या और पराक्रम से प्रगल्भ तथा समर समुद्रके पारगत होने के अभिलाषी अर्जुन के सम्पूर्ण शरसमूह का आचमन कर लिये ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणिः करो रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण आपीतजले पीततोये नगस्याचलस्याश्मरन्ध्रे शिलागर्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सतृष्णं यथा स्यात्तथा मतङ्गजस्य पाणिः कराग्रवर्ती तुण्डिका कर इव सविस्रम्भं सन्त्येव बाणा इति सविश्वासं निपपात ॥ ३६ ॥

पर्वत के पत्थरों के दरारों में पूर्ण जल को अन्य हाथी के द्वारा शोषण कर लेनेपर उस स्थान के जल पानके अभ्यासी हाथी की तरह, जो जल की सत्ता पर विश्वास करते हुए अपने सूड़ से उसे टटोलता है, अर्जुन का हाथ शंकर के द्वारा बाणशोषण के अनन्तर रिक्त तरकश को बाण की सत्ता का विश्वास करते हुए टटोलने लगा ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।
तत्कालमोघप्रणयः प्रपेदे निर्व्याजताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अर्थो धनं तस्मात् । च्युते भ्रष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथः प्रणयः प्रीतिर्यस्य सः । तत्कालकृतमघप्रार्थनः । पूर्वं कृतार्थ एवेति भावः । स पाणिः । निर्व्याजता कृतकृत्यापवादराहित्यं काममस्य इति निर्व्याजताकामः । 'शीलि कामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्यं प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतघ्नस्तत्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धुं पूर्वोपकारस्मरणात्पुनः पुनरनुयाति तद्वदित्यर्थः ॥३७॥

तरकश की सम्पत्ति तो बाण ही है। उनके नष्ट हो जाने पर भी अर्जुन का हाथ उस क्षण विफल मनोरथ रहता है तो भी उसके पूर्वकृत उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उस व्यक्ति की तरह जो आत्मीय बन्धु के उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसके सर्वस्वापहार दशा में भी उसके समक्ष उपस्थित होता है, तरकश के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्राङ्गुलिरस्य तूणौ ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुनेः । अग्रं चासावङ्गुलिश्चेत्यग्राङ्गुलिः । 'हस्वाग्राग्रह-स्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामनः । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषणे उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गां भुवं जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नय षाड्गुण्यं प्रयोग उपायस्तौ नयप्रयोगाविव तूणी निषङ्गौ सावेगं ससम्भ्रमम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसम्भ्रमः' इति शाश्वतः । गतागताभ्यां यातायाताभ्यामापोद्वापाभ्यां चाऽऽघट्टयामास ।

तस्येति ॥ तस्यार्जुनस्य पराक्रमेऽतिशयात्कृते । अन्योऽन्यस्य विशेषणेनातिशय करणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सति पुरां हन्ता त्रिपुरविजयी हरो भूरि प्रभूतं पृषत्कवर्षं बाणवर्षम् । पृषत्कस्वाम्बविशिखाः इत्यमरः । निदाघे भवो नैदाघो मेघोऽम्बुवाहोऽम्बु जलमिव निरास मुमोच । वस्यतेर्लिट् । निदाघ ग्रहणं पयसस्तापतितीव्रत्वद्योतनार्थम् ॥ २२ ॥

अ य त परिश्रमपूर्वक संग्राम करते करते अर्जुन के पराक्रम की शिथिलता होने पर त्रिपुरविनाशी भगवान् शङ्कर ने ग्रीष्म कालिक मेघकी जलवृष्टि सदृश बाणवृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया ॥ २२ ॥

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणाऽनुग्रहिताः शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुने प्रीतिकरा बभूवु ॥ २३ ॥

अनामृशन्त इति ॥ प्रियैषिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुग्रहिताः प्रयुक्ता अत एव क्वचिदेव मर्माण्यनामृशन्तोऽस्पृशन्तः शराः सुहृन्मित्रं सोऽपि प्रियैषी तेन प्रयुक्ता उच्चारिता नर्मवादाः प्रियवादा इव मुनेरर्जुनस्य प्रीतिकराः प्रीतिजनका बभूवुः ॥२३॥

अर्जुन के शुभचिन्तक शङ्कर भगवान् के द्वारा प्रेरित बाण उनके मर्मस्थलों को कहीं भी कष्ट न पहुँचाते हुए मित्र के द्वारा प्रयुक्त परिहास वचनों की भाँति दुःखद न होकर प्रीतिप्रद होने लगे ॥ २३ ॥

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्वमाससादे बलमिन्दुमौलिः ॥ २४ ॥

अस्त्रैरिति ॥ अस्त्रैः स्वायुधैः समानां तुल्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकां वा तस्य मुनेः । इषूणामपि शक्तिं पश्यन् विषादेनोत्साहभङ्गेन वक्तव्यानि निर्वाच्यानि बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी शत्रुमर्दन इन्दुमौलिर्महादेवः स्वं बलमात्मीयं महिमानम् । आससादे स्वसामर्थ्यमवलम्बितवान् ॥ २४ ॥

शत्रुमर्दन चन्द्रचूड भगवान् शंकर ने अर्जुन के बाणों की शक्ति को स्वकीय शरों के समान अथवा उससे भी अधिक देखकर व साहसभंग के कारण सेनाओं को कोसते हुए अपने सामर्थ्य का आश्रय लिया ॥ २४ ॥

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ॥ २५ ॥

तत इति ॥ ततो महिमप्रादुर्भावानन्तरं देवस्तपोवीर्याभ्यां समुद्धतस्य प्रगल्भस्य समर एवार्णवस्तस्य पारमन्तं यियासोर्जिगमिषोर्जिष्णोरर्जुनस्य अखिलानि महेषुजालानि समग्रबाणसमूहान् । अर्कः सूर्यः पयांसीव जलानीव समाचचाम संजहार ॥२५॥

भगवान् मरीचिमाली के द्वारा जलशोषण की भाँति शङ्कर भगवान् ने अपनी महिमा

के व्यक्त करने के अनन्तर तपस्या और पराक्रम से प्रगल्भ तथा समर समुद्र के पारगत होने के अभिलाषी अर्जुन के सम्पूर्ण शरसमूह का आचमन कर लिये ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणि ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणि करो रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण चापीतजले पीततोये नगस्याचलस्याश्मरन्ध्रे शिलागर्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सतृष्णं यथा स्यात्तथा मतङ्गजस्य पाणि-र्शुण्डया कर इव सविस्रम्भ सन्त्येव बाणा इति सविश्वास निपपात ॥ ३६ ॥

पर्वत के पत्थरों के दरारों में पूर्ण जल को अन्य हाथी के द्वारा शोषण कर लेनेपर उस स्थान के जल पानके अभ्यासी हाथी की तरह, जो जल की सत्ता पर विश्वास करते हुए अपने सूंड से उसे टटोलता है, अर्जुन का हाथ शङ्कर के द्वारा बाणशोषण के अनन्तर रिक्त तरकश को बाण की सत्ता का विश्वास करते हुए टटोलने लगा ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।
तत्कालमोघप्रणय प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अर्थो धनं तस्मात् । च्युते भ्रष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथ प्रणय प्रीतिर्यस्य स । तत्कालकृतमर्थप्रार्थन । पूर्वं कृतार्थं पूर्वेति भाव । स पाणि । निर्वाच्यता कृतज्ञत्वापवादराहित्यं कामयत इति निर्वाच्यताकाम । 'शीलि-कामिभक्ष्याचरिभ्यो ण', स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्यं प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्त-त्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धुं पूर्वोपकारस्मरणात्पुन पुनरनुगच्छति तद्वदित्यर्थः ॥३७॥

तरकश की सम्पत्ति तो नष्ट ही है। उसके नष्ट हो जाने पर भी अर्जुन का हाथ उस क्षण विफल मनोरथ रहता है तो भी उसके पूर्वकृत उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उस व्यक्ति की तरह जो आत्मीय बन्धु के उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसके सर्वस्वापहार दशा में भी उसके समक्ष उपस्थित होता है, तरकश के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्राङ्गुलिरस्य तूणौ ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषो ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुने । अग्र चासावङ्गुलिश्चेत्यग्राङ्गुलि । 'हस्ताग्राग्रह-स्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामन । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गां भुवं जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नयं षाड्गुण्यं प्रयोग उपायस्तौ नय-प्रयोगाविव तूणौ निषङ्गौ सावेगं ससम्भ्रमम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसम्भ्रम' इति शाश्वत । गतागताभ्यां यातायाताभ्यामावापोद्वापाभ्यां चाऽऽघट्टयामास ।

अन्वय गु,-वितर्कयामास । चारम्भणाय पुनःपुनस्तूणयोः पाणिं व्यापारयामासेत्यर्थः ॥

जिसतरह पृथ्वी के जीतने का अभिलाषी और कार्य-अनुष्ठान में उत्साही पुरुष को बुद्धि षाड्गुण्य प्रयोग में लगती है फिर वहाँ से पराङ्मुख हो जाती है अर्थात् अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करती है उसी तरह अर्जुन का हाथ वेग के साथ निषङ्ग तक गमनागमन करता था और सचेष्ट होता था ॥ ३८ ॥

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ ।

युगान्तसंशुष्कजलौ विजिह्मः पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥ ३९ ॥

बभारेति ॥ शून्याकृतिरिष्वभावाच्छिरस्तेजस्कल्पोऽर्जुनः । तौ वीतमहेषुजालौ वीतानि गतानि महेषुजालानि ययोस्तौ महेषुधी अक्षयनिषङ्गौ विजिह्मः शून्यो लोको युगान्ते संशुष्कजलौ । शुष्क क इति निष्ठातकारस्य ककारः । पूर्वापरावम्बुराशी समुद्राविव बभार ॥ ३९ ॥

तरकस में दीप्तिशाली बाण चले गये जिनसे अर्जुन म्लान हो गये । रिक्त तूणीर को अर्जुन ने वैसे भार धारण किया जिसप्रकार प्रलय काल में प्रचण्ड ताप से शुष्क पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों समुद्रों को संसार भ्रष्ट होकर धारण करता है ॥ ३ ॥

तेनातिमितेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयाऽनुतेपे ।

स्वमापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥ ४० ॥

तेनेति ॥ पार्थस्तयोस्तूणयो रिक्ततया हेतुना यथाऽनुतेपे शुशोच तथा तेनातिमितेन बाणक्षयरूपेण दुर्निमित्तेन न शुशोच । तथा हि—सन्तः स्वामापदं प्रोज्झ्य विसृज्य विपत्तिमग्नमुपकारिणां पक्षं वर्गं शोचन्ति । स्वव्यसनादपेक्षया परकीयव्यसन मेव सतामनुतापकमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अर्जुन को निषङ्गों के रिक्त होने से जो सन्ताप हुआ वह सन्ताप बाण के नाश रूप दुर्निमित्त से नहीं हुआ क्योंकि महात्मा लोग अपनी विपत्ति पर ध्यान न देकर विपद्ग्रस्त उपकारी वर्ग पर विशेष ध्यान देते हैं (अर्थात् अपने दुःख की अपेक्षा दूसरों का दुःख महात्मा लोगों को अधिक सन्तापकारी होता है) ॥४ ॥

प्रतिक्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः ।

पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ॥ ४१ ॥

प्रतीति ॥ प्रतिक्रियायै विधुरः प्रतिकर्तुमसमर्थः । तुमर्थाच्च भाववचनात् इति चतुर्थी । अर्जुनस्य स हस्तः पाणिः । पराङ्मुखत्वेऽपि तत्कालवैमुख्येऽपि कृतो पकारात्तस्मात्तूणीमुखान्मित्रकुलादार्यः साधुः कृच्छ्रेण इव । आर्यः साधुकुलीनयो इति विश्वः । कृच्छ्रेण महाकष्टेन विश्लेषमियाय । गौरादित्वात् तूणः शब्दान्ङीप ॥

प्रतिक्रिया में असमर्थ अर्जुन का हाथ विफल मनोरथ होता था तथापि उन तूणीरों के मुख से पूर्व उपकारी मित्र से सज्जन पुरुष की तरह बड़े कष्ट के साथ वियुक्त हुआ ॥४१॥

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।
संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥ ४२ ॥

पश्चादिति ॥ तदानीं भर्तुः स्वामिनः । कर्तरि षष्ठी । पश्चात्क्रिया पृष्ठतः करणं तूणयुगस्योपकारिणीव उपकारिकेव जज्ञे । जाता । तथा हि—संभावनायां स्वयोग्यतायाम् । अधरीकृतायामफलीकृतायां पत्युः स्वामिनः पुरोऽग्रे आसितव्यमासित्वा स्थितिः । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । साहसं न धर्मो न योग्यम् । भर्त्रा संभावितस्यावसरेऽनुपकर्तुरनुजीविनस्तत्सामुख्यमनुचितमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अर्जुन का तरकशों को पीछे रखना उस काल उन (तरकशों) के लिये उपकार हो गया क्योंकि अनुचर वर्ग से जितनी सम्भावना की जाती है उसमें न्यूनता आ जाती है उस समय स्वामी के सम्मुख उसका अवस्थान साहस मात्र ही होता है ॥ ४२ ॥

स शम्भुराक्षिप्तमहेषुजालो लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद ।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥ ४३ ॥

सेति ॥ शम्भुराक्षिप्तानि आहृतानि महेषुजालानि यस्य स शम्भुः तत्त्वविचारमध्ये वादमध्ये हृतोत्तरं निरुत्तरीकृतं विपक्षं प्रतिवादिनं वक्ता वादी गुरुभिर्दोषैर्निग्रहस्थानैरिव लोहैर्लोहमयैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद व्यथयामास ॥ ४३ ॥

शङ्कर भगवान् ने इस तरह से अर्जुन के अस्त्र समूहों को खण्डित करके पुनः लोहनिर्मित बाणों से उनके मर्मस्थानों को इस प्रकार व्यथित करने लगे जिस प्रकार तत्त्वविचार के विषय में विवाद करते हुए विपक्षी को उचित उत्तर न देने पर निरुत्तर होना पड़ता है और उस समय विजेता वक्ता बड़े दोषदानों के द्वारा उसे व्यथित करता है ॥ ४३ ॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम् ।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ॥ ४४ ॥

जहारेति ॥ किंच, अस्मान्मुनेः । अचिरेण शीघ्रं ज्वलद्भिर्मणिभिर्द्योतिता हैम्यः सौवर्ण्यो लेखा यस्य तत्तथोक्तं वर्म कवचम् । चण्डो मरुत् पवनः पतङ्गात् सूर्यात् । एकनीलं केवलकृष्णवर्णम् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । तडित्वतस्तडिद्युक्तस्याम्बुदस्य खण्डमिव जहार । तदा भगवन्मायया मुक्तकञ्चुको मुनिर्मेघनिर्मुक्तः सूर्य इव विदीपे इति भावः ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं किन्तु शङ्कर भगवान् ने अर्जुन से कवच को, जिसमें दीप्तमणियों की प्रभासे स्वर्ण की रेखायें झलक रही थीं ऐसे अपहरण कर लिया जैसे प्रचण्ड वायुवेग विद्युल्लतासम्पन्न कृष्ण वर्ण के मेघों के खण्डों को उड़ाकर सूर्य से दूर कर देता है अर्थात् वायु द्वारा बादलों के टुकड़ों को उड़ा दिये जानेपर सूर्य पुनः प्रकाशित हो उठता है उसी तरह शङ्कर भगवान के द्वारा कवच के अपहरण कर लेने पर अर्जुन सुशोभित हो उठे ॥ ४४ ॥

अथ युग्मेनाह—

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ॥ ४५ ॥

विकोशेति ॥ सोऽर्जुनः । तनुं त्रायत इति तनुत्रं वर्म । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । तेन विना । विकोशः कोशादुद्धृतो निर्धौततनुः शाणोल्लीढमूर्तिः । ततो विशेषणसमासः । तस्य विकोशनिर्धौततनोर्महासेर्महाखड्गस्य तथा त्वचि विच्युतायां सत्यां फणावतश्च मुक्तकञ्चुकस्याहेश्च प्रतिद्विपे प्रतिगजे आबद्धरुषो बद्धकोपस्य समक्षं प्रतिगजस्याग्र आक्षिप्तमुखच्छदस्य निरस्तमुखावरणस्य नागस्य गजस्य च ॥

जो शोभा कोष से निकले हुए खड्ग की, कञ्चुक (केंचुली) से निर्मुक्त आशीविष की प्रतिपक्षी के निमित्त क्रुद्ध हाथी के समान मुखाच्छादन को दूर प्रक्षेप किये हुए गजराज की ॥ ४५ ॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ॥ ४६ ॥

विबोधितस्येति ॥ घनानां ध्वनिना गर्जितेन विबोधितस्य । शैलरन्ध्रात् कन्दरात् । अपेतस्य निष्क्रान्तस्य हरेः सिंहस्य च । तथा निरस्तधूमस्य गतधूमस्य रात्रिवह्नेश्च रुचिं शोभां भेजे । एतेनास्य तीक्ष्णत्वतेजस्वित्वपराक्रमवत्त्वानि व्यज्यन्ते । अत्र रुचिमिव रुचिमिति सादृश्याक्षेपात्सर्वत्र निदर्शनालङ्कारो मालया ॥ ४६ ॥

मेघों का गम्भीर गर्जन को सुनकर कन्दरा से बहिर्निर्गत सिंह की तथा धूम से रहित रात्रिकाल के अग्नि की होती है वही शोभा कवच के बिना अर्जुन की हुई ॥ ४६ ॥

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूनतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
मही गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥ ४७ ॥

अचित्ततायामिति ॥ तदानीं कवचपतनसमये महीं गतौ ताविषुधी निषङ्गौ अचित्ततायामप्यचेतनत्वेऽपि तदीयकृच्छ्रे स्वामिव्यसने युक्तां योग्याम् । नाम किल । अकिंचित्करत्वादिति भावः । अनूनतामवाङ्मुखत्वं प्राप्य चेतनया प्राणिसाधारणज्ञानेनेव योगं सम्बन्धं विवव्रतुरिवोद्घाटयामासतुः । अचेतनत्वेऽप्यवाङ्मुखत्वादिचेतनधर्मयोगादिति भावः ॥ ४७ ॥

कवच पतन के समय भूमि पर पड़े हुए तरकसों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की विपन्नावस्था में सहायता करने में असमर्थ होकर नीचे की तरफ मुख करके चेतन पदार्थों को विशेष रूप से दिखा दिया ॥ ४७ ॥

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम् ।
शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ॥ ४८ ॥

स्थितमिति ॥ विशुद्धे निर्मले नभसि सत्त्वे सत्त्वगुणे स्थितं तपोवीर्यमयेन तपोवीर्याभ्यामागतेन धाम्ना तेजसा युक्तं तमर्जुनम् । ईशस्त्वष्टा विश्वकर्मा विवस्वन्तं सूर्यमिवाजस्रं निरन्तरं शस्त्राभिघातैः शस्त्रकर्षणैः । उल्लिलेख ततक्ष ॥ ४८ ॥

शंकर भगवान् शस्त्रास्त्र प्रहार से सत्त्वगुण में स्थित तथा तपस्या और पराक्रम के द्वारा प्राप्त प्रताप से युक्त अर्जुन को निर्मल आकाश में स्थित सूर्य को विश्वकर्मा की तरह छीलने लगे ॥ ४८ ॥

शरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु चाधिर्यमुपागतेषु ।
मुनेर्बभूवागणितेपुराशेर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः ॥ ४९ ॥

सरम्भेति ॥ सरम्भवेगेन सम्भ्रमातिशयेन उज्झितवेदनेषु त्यक्तदुःखेषु तेषु गात्रेषु चाधिर्यं स्थैर्यमुपागतेषु सत्सु न गणिता इषुराशयो येन तस्य अगणितेपुराशेर्मुनेरर्जुनस्य आत्ममन्युः स्वकोपो लोहस्य विकारो लौहः कार्ष्णायसः तिरस्क्रियत आच्छाद्यतेऽनेनेति तिरस्कारः कञ्चुक इव बभूव । रोषवशात् किंचिदप्रहारदुःखमज्ञासीदित्यर्थः । क्रोधैकवर्मणा वीराणां किमन्यैर्लौहवर्मभिरिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्जुन के शरीर में क्रोध के वेग से वेदना मालूम नहीं पड़ती थी, और उनका शरीर जड़तुल्य हो गया था जिसके कारण बाणों के ढेर का उन्हें कुछ भी ध्यान न था। उनका क्रोध लोहनिर्मित कवच का काम करने लगा ॥ ४९ ॥

अथ युग्मेनाह—

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान्क्षरल्लोहितदिग्धदेहः ।
आस्कन्द्य वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ॥ ५० ॥

तत इति ॥ ततोऽनन्तरम् । अनुपूर्वौ पूर्वमनुगतौ गोपुच्छाकारौ आयतौ दीर्घौ वृत्तौ वर्तुलौ च बाहू यस्य सः श्रीमान् शोभावान् क्षरल्लोहितदिग्धदेहः स्रवद्रुधिरलिप्तगात्रः । पार्ष्णिघातैश्चरणतलाघातैः 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ स्त्रियां पार्ष्णिरधस्तयोः' इत्यमरः । क्षितिं विधुन्वन् प्रकम्पयन्निव वेगेनास्कन्द्याभिद्रुत्य विमुक्तनादः सोऽर्जुनः ॥ ५० ॥

इसके अनन्तर गाय के पूँछ की तरह लम्बी और गोल भुजावाले तथा श्रीसम्पन्न अर्जुन ने जिनका शरीर परिस्रवण करते हुए रुधिर से लिप्त था, चरण तलाघात से भूमि को कम्पित करते हुए और वेग से दौड़कर गम्भीर गर्जन करते हुए ॥ ५० ॥

साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।
शम्भुं बिभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्बं विषाणेन महानिवेभः ॥ ५१ ॥

साम्यमिति ॥ मघोन इन्द्रस्य अस्त्रभिना वज्रस्य सह साम्यं गतेन वज्रकल्पेन शशाङ्कस्य खण्ड शकलं तस्येवाकृतिर्यस्य । तद्वद्वक्रमित्यर्थ । पाण्डुर च । तद्वदेवेति भाव । तेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा संभु बिभित्सुर्भेत्तुमिच्छु सन् । महाभि भोगजो विपाणेन दन्तेन स्तम्भमिव जघान ॥ ५१ ॥

इन्द्र-वज्र की समानता को प्राप्त तथा चन्द्रमा की खण्ड आकृति के सदृश पीले रंग के धनुष से भेदन करने की अभिलाषा से मतवाले हाथी की तरह जो अपने दाँत से खम्भे पर प्रहार करता है उसकर भगवान को मारा ॥ ५१ ॥

रयेण सा संनिदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टिः ।
समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जह्नुनेव ॥ ५२ ॥

रयेणेति ॥ रयेण वेगेन पतन्ती सा चापयष्टिर्भवस्य संसारस्योद्भव उत्पत्तिस्तस्मात्तेन भवोद्भवेन ईश्वरेण परे ओजसि परमे ज्योतिषि स्थितेन जह्नुना राजर्षिणा समुद्धताऽसुरकृताऽनेकमार्गा त्रिस्रोता सिन्धुर्गङ्गेवात्मनि संनिदधे सम्यङ्निहिता । अन्तर्निक्षापितेत्यर्थ ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार परम तेजस्वी जह्नु राजर्षि ने समुद्धत त्रिपथगा गङ्गा को अपने में विलीन कर लिया उसी प्रकार अर्जुन के द्वारा प्रक्षिप्त वेग से गिरते हुए धनुर्दण्ड को सृष्टि के सर्जन कर्ता शङ्कर भगवान ने अपने आप मे विलीन कर लिया ॥ ५२ ॥

विकार्मुकः कर्मसु शोचनीयः परिच्युतौदार्य इवोपचारः ।
विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातैः ॥ ५३ ॥

विकार्मुक इति ॥ विकार्मुको भग्नचापोऽत एव परिच्युतौदार्यो दानवर्जित उप चार सत्कार इव कर्मसु रणक्रियासु कृत्येषु च शोचनीयः शोच्योऽनुकम्प्य सत्वात् दम्भेनाभग्नचित्तत्वाच्च सोऽर्जुनः शूलभृता शिवेन सलीलं सहेलं यथा तथाऽदूर पातैरतिगाढप्रहारैः पत्रिभिः शरैर्दूरमत्यन्तं विचिक्षिपे क्षिप्तः ॥ ५३ ॥

अर्जुन का धनुष नष्ट हो गया । उनकी दशा बिना दान के सत्कार की सी हो गई । रणक्रिया के योग्य नहीं रहा । धैर्य की मात्रा उनमें वर्तमान थी इसीसे वे हताश नहीं थे । उन्हें शङ्कर भगवान ने अपने तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से बड़ी सरलता से दूर फेंक दिया ॥ ५३ ॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः ।
जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य ॥ ५४ ॥

उपोढेति ॥ उपोढमासन्नं कल्याणफलमभ्युदयरूपं स्वर्गादिकं च यस्य स वीर व्रतमाहवादनिवर्तनरूपं तीव्रं तपश्च अभिरक्षन् पालयन् पुण्यो यो रण एवाश्रमस्तत्र तिष्ठतीति पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा नियमितचित्तो मुनिरर्जुन कश्चित्तपस्वी च तैः शिवस्य महादेवस्य । इषुभिः बाणैः । जपोपवासैरिव तेपे तप्त । तपते कर्मणि लिट् ॥

जिस प्रकार पवित्र आश्रम में निवास करके नियमों की रक्षा करता हुआ जितेन्द्रिय

तपस्वी जप, उपवासादि कर्तव्यानुष्ठानों के द्वारा शंकर भगवान् की तपस्या करता है उसी प्रकार अर्जुन, जिनके अस्त्रलाभ का समय अत्यन्त निकट था, रण में वीरव्रत का पालन करते हुए जितेन्द्रिय बन शंकर के उन बाणों के द्वारा भगवान् शूली की तपश्चर्या करने लगे ॥ ५४ ॥

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानमन्यैरतिदुस्तरं स ।
तेजःश्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहङ्कारमिवाललम्बे ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततश्चापान्तर्धानानन्तरम् । सोऽर्जुनोऽग्रभूमिं विपदि गन्तव्यस्थानम् । शरण्यमित्यर्थः । कुत । व्यवसायसिद्धेर्युद्धोद्योगसिद्धेः सीमानमवधिम् । साधकतममित्यर्थः । अन्यैः परैः । अतिदुस्तरं दुरतिक्रमं तेजःश्रियाः प्रतापसम्पदामाश्रयम् । हेतुमित्यर्थः । उत्तमासिं महाखड्गम् । 'सन्महत्–' इत्यादिना समासः । साक्षादहङ्कारं सविग्रहमभिमानमिवाललम्बे जग्राह ॥ ५५ ॥

अब अर्जुन के पास विशाल एक खड्ग के सिवा बचा ही क्या था, धनुष ही तो आधार था वह भी कर भगवान में अन्तर्हित हो गया अतः उन्होंने उत्तम असि की शरण ली। विपत्ति—पड़ने पर वही जीवन निर्वाह का स्थान था, उद्योग सिद्धि का चरम उपाय था, अन्य व्यक्ति [illegible] अतिक्रमण नहीं कर सकता था, तेज की सम्पत्ति का आधार था, और वह साक्षात् मूर्तिधारी अहङ्कार ही था। अर्थात् उन्होंने विशाल खड्ग हाथ में लिया ॥ ५५ ॥

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः ।
हस्तेन निस्त्रिंशभृता स दीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ॥ ५६ ॥

शरानिति ॥ ... कर्माऽनवद्यकर्मा । 'अवद्यपण्य—' इत्यादिना निपातः । शरानवद्यन् खण्डयन् वीरो निस्त्रिंशभृता खड्गयुक्तेन हस्तेन सार्कांशुना अर्कांशुसहितेन ऊर्मिणा तरङ्गेण वारिधिरिव दीप्तो दीपितः सोऽर्जुनः प्रविचारमार्गैः खड्गिनां गतिभेदैश्चित्रं यथा तथा चचार ॥ ५६ ॥

जिस तरह समुद्र सूर्य की किरणों से संयुक्त तरङ्गों से दीप्त होकर हिलोरें लेता है उसी प्रकार निष्कलङ्क अर्जुन बाणों का खण्डन करते हुये तथा हाथ में चमकदार तलवार ग्रहण करने के कारण दीप्त होते हुए अनेक प्रकार के पैंतरे चलने लगे ॥ ५६ ॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः ।
तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स मूर्तैः ॥ ५७ ॥

यथेति ॥ भाभिर्दीप्तिभिरुपलक्षितः । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । सहस्ररश्मिरर्को यथा निजे वर्त्मनि नभसि छायामयः प्रतिबिम्बरूपः सन्, अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिर्भाति तथा सोऽर्जुनो नभसि आकाशे रणस्थलीषु च स्पष्टे द्वे मूर्ती यस्य स स्पष्टद्विमूर्तिः सन् मूर्तैर्गणैर्ददृशे दृष्टः । यथैकोऽर्को नभस्यप्सु चानेक इव

दृश्यते तथा सोऽपि दिवि भुवि चाशुसञ्चारायौगपद्यमप्रमादेकैकोऽप्यनेक इव गणैर्द्द इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार प्रभा से उपलक्षित एक आकाश भाग में स्थित होते हुए जल के मध्य प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से दो (अर्थात् एक आकाश में और एक जल में) दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार अर्जुन अपने पैतरे के मार्ग में स्थित होकर शीघ्रगति के कारण युद्धक्षेत्र में और आकाश में दोनों जगह स्पष्ट रूप से होकर भगवान् के गणों के द्वारा [illegible] गये ॥ ५७ ॥

छिन्नप्रगुण्णेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः ।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥ ५८ ॥

छिन्नेति ॥ छिन्नेन प्रगुण्णः छिन्नस्तेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् मुष्टिप्रदेशमवधिं कृत्वा । त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात् इत्यमरः । अपवर्जिताङ्गो खण्डितविग्रहोऽपि ज्वलन् । तस्याशु तस्य पाणेः करात् । घनस्य मेघस्य वप्रात्तटात् । वैद्युतो विद्युत्सम्बन्ध्यग्निरिव ज्वलन् पपात ॥ ५८ ॥

अर्जुन का तलवार टूटकर भगवान् के द्वारा प्रक्षिप्त बाण से मुष्टिप्रदेश से कटकर चमकती हुई उनके हाथ से इस प्रकार गिरी जैसे मेघमण्डल से बिजली की आग गिरती है ॥ ५८ ॥

आच्छिन्नचापावरणोपजातः सिञ्चलोत्तमासि स क्षणेऽभवत् ।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ॥ ५९ ॥

आच्छिन्नेति ॥ आच्छिन्नान्यपहृतानि चापावरणोपजातानि धनुःकवचबाणसमूहा यस्य स छिन्नोत्तमासिः खड्गसहायो क्षणे रणे । क्षणमात्रमन्तर संक्षणम् इत्यमरः । अत एव रिक्तः सोऽर्जुनः उत्सादितमुत्पाटितमुद्यानं यस्य स भूमेः प्रदेशो भूमिभाग इव रिक्तः शून्यः प्रकाशो निःसम्बाधश्च । प्रकाश इति भावः । बभूव ॥ ५९ ॥

अर्जुन के धनुष कवच और बाणों के समूह अपहृत [illegible] चुके उत्तम खड्ग भी खण्डित कर दिया गया इस प्रकार अभिभूत होकर वे इस प्रकार शून्य हो प्रकाशपूर्ण हो गये जिस प्रकार उद्यान (बाग) के कट जाने पर भूमि का प्रदेश सूना तथा प्रकाशपूर्ण हो जाता है ॥ ५९ ॥

स खण्डनं प्राप्य परादमर्षवान् भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।
ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां द्रवेतरेषां पयसामिवाश्मनाम् ॥ ६० ॥

स इति ॥ परात् परस्माच्छत्रोः । पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा इति विकल्पान्न स्मादादेशः । खण्डनं भङ्गं प्राप्य अमर्षवान् सोऽर्जुनो भुजद्वितीयो भुजमात्रसहायः सन्नपि विजेतुमिच्छया द्रवेभ्य इतराणि तेषां द्रवेतरेषां कठिनानां पयसामिव । करकाणामित्यर्थः । अश्मनां सम्बन्धिनीं परिरुग्णा भग्नाः पादपा यया सा तां वृष्टिं ससर्ज । अश्मभिरप्यहनेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

अर्जुन की इस तरह की दुर्दशा हुई तथापि उन्हें क्रोध न आया। उनका सहायक अब उनके भुजाओं के अतिरिक्त कोई नहीं रहा। वे विजय की कामना से पत्थरों के द्वारा इस प्रकार प्रहार करने लगे जिस प्रकार वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए उपलों की वर्षा होती है ॥ ६० ॥

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानें।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥६१॥

नीरन्ध्रमिति ॥ शिलाविताने शिलाजाले भूतानामधिपतिना शिवेन पृषत्कैर्बाणैः क्षयं परिगमिते नीते सति। इन्द्रसूनुरर्जुन उच्छ्रायेणोत्सेधेन स्थगितमाच्छादितं नभो दिशामन्तरालं च येन तन्नीरन्ध्रं सान्द्रम्। रोहन्तीति रुहाः। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। क्षितौ रुहा वृक्षास्तेषां जालं चिक्षेप प्रेरयामास। 'उच्छ्राय गमितवति' इति प्रामादिकः पाठः ॥ ६१ ॥

अर्जुन का यह भी वार खाली गया—प्रमथगणों के अधिनायक शङ्कर भगवान् ने शरों से अर्जुन के शिलावर्षण को भी समाप्त कर दिया। सुरेन्द्रकुमार अर्जुन ने वृक्षों को, जो अपने औन्नत्य और विस्तार से आकाश और दिशाओं के अन्तरालों को आच्छादित कर देते थे (उखाड़ उखाड़ कर) शिवसेना पर फेंकना प्रारम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम्।
ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तैरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥ ६२ ॥

निःशेषमिति ॥ ईशानः शिवः। शकलितपत्रम्। निःशेषं यथा तथा शकलितानि वल्कलानि त्वचोऽङ्गानि शाखाः सारो मज्जा च येषां तैर्भुवमभितः कषायो यो रागः। स्वरसेन रञ्जनमिति यावत्। 'रागे काथे कषायोऽस्त्री' इति वैजयन्ती। तेन चित्रां विचित्रवर्णां कुर्वद्भिः सकुसुमपल्लवैस्तैर्नगैर्वृक्षै रङ्गे रणरङ्गे या देवतास्ताभ्यो बलिं पूजामिव। आतेने ॥ ६२ ॥

अर्जुन को वृक्षों के प्रहार से भी सफलता न प्राप्त हुई—अर्जुन द्वारा प्रहृत वृक्षों की छाल, शाखाओं तथा अन्तःस्थित पदार्थों को शङ्करभगवान् ने अपने शस्त्रों से छिन्न-भिन्न कर पृथ्वी पर बिछा दिया जिससे भूमि कषायवर्ण की चित्र-विचित्र हो गई मानों शङ्कर भगवान् ने रणक्षेत्र देवता को पुष्प और पत्रों से युक्त वृक्षों से बलिप्रदान किया हो ॥ ६२ ॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ६२

उन्मज्जन्निति ॥ गाण्डीवी अर्जुनः। उन्मज्जन्नुच्चरन् मकरो जलग्रहविशेषोऽमरापगाया गङ्गाया इव बाणनद्या बाणप्रवाहाद्वेगेन प्रतिमुखमभिमुखम्। एत्यागत्य कनकशिला-

निमग्नम् । कनकग्रहणं कान्तिमत्त्वातिशयद्योतनार्थम् । विषमविशेषणस्य ग्यस्वरूप वक्षो हृदयम् शुभाशुभत्वमात्रे साधितवान् । अत्रासमवेतद् विचार्यम् । आहो यमहर" इत्यत्राकर्मकाधिकारात् 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इति वक्तव्यत्वात् । न च शिवस्य प्रतिशुभमित्यन्वयात् कनकशिलामिव कनकनिकषतुल्य स्थाने स्वयं आजघ्ने हृदय इति वाच्यम् अर्थाविरोधात्वात् । न हि शुभाय समदा निपुणा अपि महा स्वयं स्ताडनमाचरन्ति किं तु स्वसुखास्फालनम् । किंच अनन्तर वक्ष्यमाणभवकर्तृकाति नयसहनरोधादेव पूर्वेऽन्वयस्यासमानाच्च पूर्वेण दूषितत्वात् । अतो व्याकरणा नरत्व् तद्वाक्यम् । केचित्तु अयथावत्व च भाष्य इत्यध्याहार स्वीकृत्यात्मनःकर्ता तात्मनेपदमाहुः ॥ ६३ ॥

अर्जुन ने धनुषरहित के वेग से वार करते हुए सदियाल के समान बाणहीन भगों के वेग से सन्मुख उपस्थित हो जाने को सहज के साथ आचरण (शङ्कर भगवान्) के वक्षःस्थल में मुक्कों से प्रहार किया ॥ ६३ ॥

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्योरसुगममरिसैन्यैर्जन्यमन्यापगस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनोरविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तदशः सर्गः ।

अभिलषत इति ॥ कीर्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । अरिसैन्यैरसुगमं दुरासदं विक्रममभिलषतः । सुतुपरो परिमितिविग्रहरक्त मार्गयमाणस्येत्यर्थः । अत एव अनुमन्तिकमागतस्योत्सन्नसाहसस्य च पाण्डवस्याविनयं स्मरारिः । अनेन अकाज्ञानमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे सुप्रियस्य परमप्रियस्यैकस्य सुतः । एक एव सूनुस्तस्य एकसूनोरविनयं जनक इव सेहे सोढवान् ॥ ६४ ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तदशः सर्गः समाप्तः ।

यश और लक्ष्मी के साधन भूत शत्रु की सेना के लिये दुःसह पराक्रम की अभिलाषा रखते हुए व समर उपस्थित शान्त पाण्डुपुत्र अर्जुन की उच्छृंखलता को कामदेव के शत्रु शङ्कर भगवान् ने इस प्रकार सहन किया जिस प्रकार गोद में बैठे हुए सर्वोत्तम वस्तु की प्रार्थना करते हुए, प्रिय इकलौते पुत्र की उच्छृंखलता पिता बचपन में सहन करता है ॥६४॥

सत्रहवाँ सर्ग

अष्टादशः सर्गः ।

तत उपम इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शंकरः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम् । उपमे महति द्विरदे गज इव भीमे भुजा एव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुषि मुनौ शंकरः स्वयमपि सबाणधि सतूण धनुरपास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्घनैर्लोहमुद्गरैरिव प्रतिजघान । आत्ममुनिकृताघातस्य प्रतिघात कृतवानित्यर्थः । 'घना कठिनः सान्द्रमेघकाठिन्यमुद्गराः' इति वैजयन्ती । 'घनस्तु लोहमुद्गरे' इति विश्व । यद्यपि 'मुष्टि' शब्द 'मुष्ट्या तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमर । इत्युभयथा प्रयोगाद्द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमान साकल्यात् पुंलिङ्गो ग्राह्य । द्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥ १ ॥

तपस्वी अर्जुन समानार्थ समागत उन्मत्त हाथी के सदृश थे । भीषण भुजायें ही उनके शस्त्र थे (शेष शस्त्र तो खण्डित कर दिये गये थे) अर्जुन के किये गये आघात के अनन्तर शंकर भगवान् ने भी निषङ्ग के सहित धनुष को दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गर के सदृश मुष्टियों से उन्हें (अर्जुन को) मारा ॥ १ ॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः ।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयो शिवार्जुनयोरमृदु निबिड यथा तथा संवलिता अङ्गुलयो येषा ते । मुष्टिकृता इत्यर्थः । तेषु पाणिषु जातस्तयोक्त । स्फुटन्तीना विपुलन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनिरुत्पतन् उद्गच्छन् दरीभृतो गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद प्रतिदध्वान ॥ २ ॥

शंकर भगवान् और पृथापुत्र अर्जुन के हाथ की अङ्गुलियाँ कठोर रीति से संघटित थीं, उनके हाथों से उत्पन्न होता हुआ आस्फालक शब्द, जो कि टूट कर भहराते हुए विशाल पर्वत खण्ड के भीषण शब्द सदृश मालूम पड़ते थे, पर्वतकी कन्दराओं में गूँजकर प्रतिध्वनित हो उठा ॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुच्छवी सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वज शिवस्य भुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा या पृथ्वी महती छविः प्रहारान् अमारता सुखमिवानुबभूव । दु खकरीरपीति भाव । क्षति-दु ख नाजीगणदित्यर्थः । ननु दु सहदु खवेगेषु कथमगणनेत्यत्राह—क इति । क इव नाम को नु खलु सत्त्ववता सत्त्वाधिकाना बृहन्मनसा तेजस्विनाम् । अनुकृतेरनुकरणस्यापि क्षमो भवेत् । मनस्विना चरित नटवदनुकर्तुमपि न कश्चिदीष्टे, तत्त्वाचरण तु दूरापास्तमिति भाव । रौद्ररसाविष्टमनसा मनस्विना कृत सुखदु खगणनेति भाव ॥

निभम् । कनक ग्रहण काठिन्यातिशयद्योतनार्थम् । विषमविलोचनस्य त्र्यम्बकस्य वक्षो हृदय भुजाभ्यामाजघ्ने ताडितवान् । भुजाभ्यामेव विचार्येव । आहो यमहन इत्यस्मात्कर्मकाधिकारात् स्वाङ्गकर्मकात् इति वक्तव्यत्वात् । न च शिवस्य प्रतिमुखमित्यन्वयात् कनकशिलानिभ कनकनिकषतुल्य श्यामं स्वबल धाव्य इत्यथ इति वाच्यम् अनौचित्यात्तथात् । न हि युद्धाय सनद्धा निपुणा अपि मल्ला स्वबल स्ताम्नमाचरन्ति किं तु स्वभुजास्फालनम् । किञ्च अनन्तर षष्ठसमासकर्तृकावि भयसहनदोषात् पूर्वेत्यन्वयस्यान्वयान्वयानाथ पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो व्याकरणा न्तराद् द्रष्टव्यम् । केचित्तु त्र्यम्बकस्य वक्ष आत्मन इत्यध्याहारं स्वीकृत्याकर्मकत्वा दात्मनेपदमाहुः ॥ ६३ ॥

अर्जुन ने दुरन्तरिक्ष के वेग से पार करते हुए पर्वतखण्ड के समान जलकी नदी के वेग में सम्मुख उपस्थित हो सुवर्ण की चट्टान के सदृश त्र्यम्बक (शंकर भगवान्) के वक्ष स्थल में भुजाओं से प्रहार किया ॥ ६३ ॥

अभिजपत उपाय विक्रम कीर्तिलक्ष्म्योरसुगममरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य ।
जनक [redacted] शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनोरविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तदशः सर्गः ।

अभिजपत इति ॥ कीर्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । अरिसैन्यैरसुगमं दुरासदं विक्रममभिजपत । यद्वा अरिभिरसह्यतरं प्रार्थयमानस्येत्यर्थः । अत एव अनुमन्तिकमभ्यागतस्योत्सङ्गमागतस्य च पाण्डवस्याविनयं स्मरारि । अतेन भक्त- वात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे सुप्रियस्य परमप्रेमास्पदस्य । पुत्र । एक एव सूनुस्तस्य एकसूनोरविनयं जनक इव सेहे सोढवान् ॥ [redacted] ॥

इति किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तदशः सर्गः समाप्तः ।

यश और लक्ष्मी के साधन भूत शत्रु की सेना के लिये असह्य पराक्रम की अभिलाषा रखने । उत्सङ्ग में स्थित पाण्डुपुत्र अर्जुन की उद्दण्डता को कामदेव के शत्रु शंकर भगवान् ने इस प्रकार सहन किया जिस प्रकार गोद में बैठे हुए सर्वोत्तम वस्तु की प्रार्थना करते हुए प्रिय इकलौते पुत्र की उद्दण्डता शैशव काल में उसका पिता सहन करता है ॥६४॥

सप्तदश सर्ग

अष्टादशः सर्गः ।

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम् । उदग्रे महति द्विरदे गज इव भीमे भुजावेव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुषि मुनौ शङ्करः स्वयमपि सबाणधि सतूणं धनुरपास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्घनैर्लोहमुद्गरैरिव प्रतिजघान । प्राङ्मुनिकृताघातस्य प्रतिघातं कृतवानित्यर्थः । 'घनो काठिन्यसङ्घातमेघकाठिन्यमुद्गराः' इति वैजयन्ती । 'घनस्तु लोहमुद्गरे' इति विश्वः । यद्यपि 'मुष्टि' शब्दः 'मुष्ट्या तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । इत्युभयथा प्रयोगाद्द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमानसारूप्यात् पुंल्लिङ्गो ग्राह्यः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १ ॥

तपस्वी अर्जुन समरार्थं समागत उदग्र हाथी के सदृश थे । भीषण भुजायें ही उनके शस्त्र थे (शेष शस्त्र तो खण्डित कर दिये गये थे) अर्जुन के किये गये आघात के अनन्तर शङ्कर भगवान् ने भी निषङ्ग के सहित धनुष को दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गर के सदृश मुष्टियों से उन्हें (अर्जुन को) मारा ॥ १ ॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः ।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयोः किरातार्जुनयोरमृदु निबिडं यथा तथा संवलिताः संहिता अङ्गुलयो येषां ते । मुष्टिकृता इत्यर्थः । तेषु पाणिषु जातस्तथोक्तः । स्फुटन्तीनां विघटन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनिरुत्पतन् उद्गच्छन् दरीभृतो गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद प्रतिदध्वान ॥ २ ॥

शङ्कर भगवान् और पृथापुत्र अर्जुन के हाथ की अङ्गुलियाँ दृढ़तया परस्पर संवलित थीं, उनके हाथों से उत्पन्न होता हुआ त्रासजनक शब्द, जो कि टूट कर गहराते हुए विशाल पर्वत खण्ड के भीषण शब्द सदृश मालूम पड़ते थे, पर्वत की कन्दराओं में गूँजकर प्रतिध्वनित हो उठा ॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतिः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वजः शिवस्य भुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा याः पृथ्वी महत्यः क्षतयः प्रहारा व्रणास्ताः सुखमिवानुबभूव । दुःसहामपीति भावः । दुःखं नाजीगणदित्यर्थः । ननु दुःसहदुःखवेगेषु कथमगणनेत्यत आह—क इति । क इव नाम को नु वा सत्त्ववतां सत्त्वाधिकानां बृहन्मनसां तेजस्विनाम् । अनुकृतेरपि क्षमो भवेत् । मनस्विनां चरितं अन्यस्यानुकर्तुमपि न शक्यते, तस्याचरणं तु दूरापास्तमिति भावः । धीरसात्विकमनसा मनस्विना [illegible] सुहृत्सु ताडनेऽपि भाव ॥

अर्जुन की ध्वजा पर वानर का चिह्न था। अर्जुन ने शिव के भुजाओं के घात से उत्पन्न होने वाले विषाद भयों को सुख के समान समझा अर्थात् यद्यपि वे दुःखोत्पादक थे तो भी उन्हें हर्ष का हेतु माना। क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है जो पराक्रमशाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण मात्र करने में समर्थ है आचरण करना तो दूर रहा ॥ ३ ॥

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।
अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥ ४ ॥

व्रणेति ॥ व्रणमुखेभ्यश्च्युतस्य क्षरितस्य शोणितस्य शीकरैः स्थगितमावृतं शैलतटाभं शिलातटसदृशं भुजान्तरं वक्षो यस्य स तथोक्तः उमापतिरभिनवमौषसरागं संध्यारागं बिभर्तीति तथोक्तेन जलधरेण समानं तुल्यं यथा तथा बभावित्युपमा ॥४॥

पर्वत तट के सदृश भगवान् शंकर का विशाल वक्षस्थल घाव के मुखों से परिस्रवण करते हुए रुधिर कण से व्याप्त था। उस समय शंकर भगवान् नूतन सन्ध्याकालीन लालिमा धारण करते हुए मेघ के सदृश सुशोभित होने लगे ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥ ५ ॥

उरसीति ॥ शूलभृतः शिवस्य। उरसि प्रहिताः प्रयुक्ता अर्जुनस्य मुष्टयः पृथुनि विशाले सह्यमहीभृतः सह्याद्रेः रोधसि तटे भृशरयास्तीव्रवेगाः सिन्धोः समुद्रस्य महोर्मय इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

शूली शंकर भगवान् का वक्षःस्थल सह्य गिरि के तट के सदृश विशाल था। अर्जुन की मुट्ठियाँ समुद्र की वेगशाली तरंगों के सदृश थीं जिस प्रकार समुद्र की तरंगें सह्यगिरि के तट पर वेग के साथ आकर टकराती हैं और पुनः वहाँ से प्रतिहत होती हैं उसी प्रकार अर्जुन की मुष्टियाँ शंकर के वक्षःस्थल पर वेग के साथ प्रहार करनेपर स्वयं प्रत्याहत हो उठीं॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः ।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥ ६ ॥

निपतित इति ॥ अयुगानि चक्षूंषि यस्य तस्य अयुगचक्षुषस्त्रिलोचनस्य। आयते दीर्घ अरत्नियुगे अरत्न्योर्बद्धमुष्ट्योर्हस्तयोर्युगे युग्मे। हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया। सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना इत्यमरः। अत्र तु मुष्टिमात्रविवक्षया प्रयोगः। शिरोधरायामधीति अधिशिरोधरमविभक्त्यर्थे सममुभयपतिते सति। किरीटिनाऽर्जुनेन मदादिव त्रीणि चत्वारि वा त्रिचतुराणि। संख्ययाव्ययासन्न इत्यादिना बहुव्रीहिः। चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम् इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। तेषु त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि घूर्णितनेत्रं यथा तथा चस्खले स्खलितम्। भावे लिट् ॥६॥

त्रिलोचन शंकर भगवान् के कन्धे पर विशाल मुष्टि प्रहार पड़ते ही अर्जुन के नेत्र घूर्णित हो गये और वे उन्मत्त की भाँति तीन चार पग पर्यन्त लड़खड़ा गये ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपितः समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।
भुजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥ ७ ॥

अभिभवेति ॥ अभिभवेनोक्तरूपेण परिभवेन उदितः उत्पन्नो यो मन्युः क्रोधस्तेन विदीपितः प्रज्वलितः सोऽर्जुनो भृशं जवं समभिसृत्य समभिद्रुत्य, ओजसा बलेन शशिकलाभरणस्येन्दुमौलेः शिवस्य भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य वियोज्य समाददे जग्राह ॥ ७ ॥

इस प्रकार के अभिभव से अर्जुन का क्रोध भड़क उठा । उसने बड़े वेग के साथ शंकर भगवान् के समीप आकर बलपूर्वक अपने दोनों बाहुओं से चन्द्रचूड़ की दोनों भुजाओं को वियोजित कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसंचलनाहरणो रणः ।
करणशृङ्खलसंकलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः ॥ ८ ॥

प्रववृत इति ॥ अथ महाहवे महारणे मल्लयोर्बलीयसोः । 'मल्लः पात्रे कपोले च मत्स्यभेदे बलीयसि' इति विश्वः । गुरू भुजावेव आयुधं तेन गर्वितयोस्तयोः शिवार्जुनयोः करणानि करचरणबन्धनान्येव शृङ्खलानि तेषां संकलना संघटना तया गुरुर्दुःसहस्तथाऽचलस्य हिमाद्रेः संचलनं कम्पस्तस्याहरणः आरोपकः । कर्तरि ल्युट् । रणः प्रववृते प्रवृत्तः ॥ ८ ॥

शंकर और अर्जुन दोनों रण बाँकुरे थे । उनको अपनी अपनी विशाल भुजाओं पर अभिमान था । दोनों में पर्वतकम्पी संग्राम, जो कि हस्त पादादिरूपी शृङ्खलाओं के संघटन से दुस्सह था, प्रारम्भ हो गया । अर्थात् शंकर और अर्जुन में मल्लयुद्ध होने लगा ॥ ८ ॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना ।
समधिरूढमनेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अयं पुरोवर्ती पुमान् । असौ भगवान् प्रसिद्धो देवः । तदुक्तम्— 'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥' इति । उत पाण्डवः । अयं हि तिष्ठद्वस्त्वाश्रयो भ्रम इति वेदितव्यम् । अथ पतनावस्थायामाह—मुनिनाऽवाङ्मुखं स्थितमुत शशिमौलिना । अनेन देवेन नु समधिरूढमुपरि स्थितमथ जिष्णुना स्विदर्जुनेन वा समधिरूढम्, इत्येवं गणैः प्रमथैर्वेगवशान्मुमुहे भ्रान्तम् । 'मुह वैचित्त्ये' । भावे लिट् ॥ ९ ॥

मल्लयुद्ध के समय जो व्यक्ति प्रमथ गणों में था उसका यह निर्णय करना बड़ा कठिन था कि यह शङ्कर हैं अथवा अर्जुन ?, नीचे तपस्वी अर्जुन हैं अथवा चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर ? एक दूसरे के ऊपर स्थित होने पर यह भी पता नहीं चलता था कि किरीटी हैं अथवा अजन्मा ? इस प्रकार से वेगके वश होकर गणों की स्थिति भ्रम में ५८

प्रचलिते चलितं स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ॥ १० ॥

प्रचलित इति ॥ असहिष्णुना तयोर्भारमसहमानेन भूभृता शैलेन । अभावभयाद्विनाशभयादिव मुहुर्वृषभ कपिश्च ध्वजे ययोस्तयोर्वृषकपिध्वजयोः प्रचलिते चलने सति चलितं प्रचेले । आस्थिते तूष्णीमवस्थानेऽस्थितं तथैव तस्थे । विनमिते नम्र गात्रनमने सति नतं नम्रीभूतम् । अवनमीति यावत् । उन्नतावुन्नमने सति उन्नतमुन्नमितम् । सर्वत्र भावे क्तः ॥ १० ॥

वृषभध्वज और कपिध्वज (शङ्कर और अर्जुन) का भार सहन करने में असमर्थ होकर हिमालय पर्वत अपने विनाश हो जाने की आशङ्का से उन दोनों के चलने पर स्वयं भी विचलित हो जाता था (अर्थात् काँपने लगता था) जब वे विश्राम लेने लग जाते थे तो वह भी (पर्वत) पूर्ववत् अविचलभाव धारण कर लेता था जब दोनों के झुक जाने पर वह भी झुक जाता था और जब दोनों के खड़ा हो जाने पर वह भी नीचे से ऊपर को उठ जाता था ॥ १० ॥

करणशृङ्खलनिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः ।
चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुः सरितः परितः स्थली ॥११॥

करणेति । करणानि करचरणानि एव शृङ्खलानि तेभ्यो निःसृतयोः । मुक्तयोरित्यर्थः । कृतो भुजध्वनिर्भुजास्फोटशब्दो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा वल्गु सुन्दरं च यथा तथा विवल्गतोरुत्प्लवमानयोस्तयोर्हरपार्थयोश्चरणपातैः पादक्षेपैर्निपातितानि रोधांसि कूलानि यासां ताः सरितो नद्यः स्थलीः परितः स्थलीषु प्रससृपुः प्रसृताः । अभितः परितः—इत्यादिना द्वितीया । जानपद इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप् । स्थलीशब्दो भूमिवाची । तयोः स्थलीः स्थलानि प्राप्य ॥ ११ ॥

दोनों शङ्कर और अर्जुन हाथ और पैर के बन्धन से विमुक्त होकर भुजाओं पर भुजदण्ड ठोंकते हुये वेग के साथ उछल रहे थे जिससे उनके पादाघात से नदियों के तट गिरने लगे और वे (नदियाँ) स्थल की ओर बहने लगीं अर्थात् तट के टूट कर जल में गिरने से जल क्षुब्ध हो गया जिससे छलक कर इधर उधर बहने लगा ॥ ११ ॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः ।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ॥ १२ ॥

वियतीति ॥ वियति अन्तरिक्षे वेगेन परिप्लुतमुत्प्लुतं तिसृणां पुरां जयिनं त्रिपुरान्तकम् । जितं तिसृणां पुराम् इत्यर्थः । कपिध्वजोऽर्जुनश्चरणाभ्यां पदाभ्यामानमिता क्षितिर्येन सः । रयेण वेगेन अन्तरा मध्ये अभिसृत्य अन्तरा मध्यभागे चरणयोः पदयोर्निजगृहे निगृहीतवान् । अत्र तयोस्त भगवतश्चरणौ स्वकराभ्यामग्रहीदित्यर्थः ॥ १२ ॥

त्रिपुरविजेता शङ्कर भगवान् के वेगपूर्वक उछल कर अन्तराल में पहुंच कर नीचे की ओर आते समय कपिध्वज भूमि को कम्पित करते हुये (अर्जुन ने) शीघ्र ही पहुँच कर बीच मार्ग से ही उनके चरणों को पकड़ लिया ॥ १२ ॥

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ॥ १३ ॥

विस्मित इति ॥ तेन कर्मणा चरणग्रहणरूपेण सपदि विस्मितः सविस्मयः कर्मणां क्षयकरः । मोक्षप्रद इत्यर्थः । परः पुमान् परोऽवनौ क्षितौ क्षेप्तुं कामो यस्य तम् । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । अक्लममक्लान्तं तं पार्थं वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष । गाढमालिलिङ्गेत्यर्थः । रथोद्धतावृत्तम् ॥ १३ ॥

प्राणिमात्र के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के क्षयकारी आशुतोष भगवान् शङ्कर ने अर्जुन के इस पादग्रहणरूप कर्म से आश्चर्य चकित होकर पृथ्वी पर उन्हें फेंक देने के अभिलाषी अक्लान्त (थकावट रहित) अर्जुन को हृदय से आलिङ्गन कर दबाया ॥ १३ ॥

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥ १४ ॥

तपसेति ॥ भगवान् देवः । अस्यार्जुनस्य विपुलसत्त्वतया बहुसत्त्वसम्पदा । धैर्यसम्पत्त्येति यावत् । यथा मुदं ययौ तथा तपसा मुदं न ययौ । तथा हि—सतां गुणसंहतेरपि सेवादिगुणसमवायात् समतिरिक्तमतिशयितं निजं सत्त्वमेवोपकारमुपकारकमहो । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १४ ॥

भगवान् शङ्कर जितना अर्जुन के धैर्य और साहस से प्रसन्न हुए उतना तपश्चर्या से नहीं । क्योंकि सत्पुरुषों का पराक्रम गुण की राशियों की अपेक्षा अधिक साहाय्य प्रदान करता है ॥ १४ ॥

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया ।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः ॥ १५ ॥

अथेति ॥ अथ हिमशुचिना हिमशुभ्रेण भस्मना भूषितं शिरसीन्दुलेखया विराजितं शोभितम् अतिमनोहरं सुन्दरं स्ववपुर्दधतं किरातरूपं विहाय निजविग्रहं दधानं हरमुदीक्ष्य पाण्डवो ननाम प्रणतवान् । अपरवक्त्रं वृत्तम्—'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' इति लक्षणात् ॥ १५ ॥

तुषार (बर्फ) तुल्य धवल भस्म रमाये हुए, शिरस्थ चन्द्रलेखा से सुशोभित (किरात वेष का परित्याग कर) अति रमणीय, अपने शरीर को पुनः धारण करते हुए शङ्कर भगवान् को देखकर पाण्डुपुत्र (अर्जुन) ने प्रणाम किया ॥ १५ ॥

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥ १६ ॥

सदेति ॥ वृषभस्येव गतिर्यस्य सोऽर्जुनस्तस्मिन्समये सहशरधिभ्यां वर्तत इति सहशरधि सनिषङ्गम् । 'वोपसर्जनस्य' इति विकल्पात् सह शब्दस्य न सभाव । जिष्णु कार्मुकं गाण्डीवं तथैव पूर्ववदेव सवर्मितं सम्यक्कवचितमतनु महत्त्विजं वपुरत एव निहितं यथापूर्वं स्थापितमसिमपि खड्गं च तथैव पश्यन् विस्मयमुपाययौ । क्वचित्तु वृषभगतिम् इति पाठ । तत्र वृषभगतिं जिष्णुं च पश्यन् विस्मयमुपापयन्ति इत्यर्थ । प्रमुदितवदना वृत्तम्—'प्रमुदितवदना भवेन्नौ रौ' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

वृष (बैल) की गति सदृश गतिशाली अर्जुन तूणीरों के सहित गाण्डीव धनुष को एव कवच से आच्छादित अपने स्थूल शरीर को तथा पूर्ववत् यथास्थापित उत्तम चन्द्रहास (खड्ग) को देख कर अत्यन्त आश्चर्य में निमग्न हो गये ॥ १६ ।

क्षिपिपुरथनिममम्बुवाहा शनै सुरकुसुममिवाभ्र चित्र विष ।
विमलरुचिभृत नभो दुन्दुभिध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ॥ १७ ॥

क्षिपिषुरिति ॥ अम्बुवाहा शनैरवनिं क्षिपिषुरवाकिरन् । त्रिलोकस्तरिकाचित्र विचित्र सुरकुसुम मन्दारकुसुमानि । जात्यैकवचनम् । इवाप्याजगाम । अनाहत स्याताडितस्य दुन्दुभे । जात्यैकवचनम् । ध्वनि शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमखिलं नभो व्याप्य मानशे । व्याप । अताडिता एव दुन्दुभयो नेदुरित्यर्थ । सर्वमिदमस्य सर्वं लोकहितार्थित्वादिति वेदितव्यम् ॥ १७

मेघों ने अकस्मात् से धीरे २ महाभरा का सिञ्चन किया स्वय से रङ्ग–बिरंगे मन्दार पुष्पों की वृष्टि हुई आकाश निर्मल हो गया बिना बजाये ही नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि समग्र आकाश में गूंज गई ॥ १७ ॥

आसेदुषा गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकाना भुवनत्रयस्य ।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुषामिति ॥ गोत्रभिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुषामासन्नानां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकाणां लोकपालादीनाम् । गुप धूप— इत्यादिनाऽऽय प्रत्यय । तदन्ताण्ण्वुल् । रोचिष्णव प्रकाशनशीला रत्नावलयो येषां तै । अलङ्कृञ्— इत्यादिनेष्णुच्प्रत्यय । विमानै पुष्पकैराचिता व्याप्ता द्यौस्तारकिता सञ्जाततारकेव रेजे । उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ १८ ॥

सुरराज की तरह रहने वाले तीनों लोकों के रक्षक लोकपालों के विमानों से जिसमें कि प्रकाशमान रत्नों के ढेर जड़े हुये थे आकाश तारक मण्डली से युक्त की तरह भासमान होने लगा अर्थात् इन्द्र व न यम कुबेरादि आठ लोकपाल रत्नजटित विमानों पर बैठ कर आकाश में घूमने लगे उस समय विमान में जगमगाते रत्न तारों की तरह आकाश में जगमगाने लगे ॥ १८ ॥

हंसा बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः ।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवायतपक्षैः ॥ १९ ॥

हंसा इति ॥ बृहन्तो महान्तः सुरसद्मानि विमानानि वहन्तीति सुरसद्मवाहाः । कर्मण्यण् । संह्रादीनि निह्रादीनि सुस्वराणि कण्ठाभरणानि किङ्किण्यो येषां ते । पतन्तो धावन्तो हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विक्षिप्यमाणैः । आयतैः पक्षैः । व्योम्नः परिष्वङ्गमालिङ्गनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

देवताओं के विमानवाहक बड़े बड़े हंस, जिनके कण्ठ में पड़े [illegible] आभूषण झंकृत हो रहे थे, दौड़ते हुए इस तरह मालूम पड़ते थे कि मानों परिश्रम से फैलाये हुए पङ्खों से आकाश का आलिङ्गन करते हों ॥ १९ ॥

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य सान्तानिकीः ।
जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयाम्बभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ मरुद्वायुः । जलदे मेघ इव वृषे निषेदिवांसमुपविष्टमीश्वरं मुदिता मधुलिहो भृङ्गा यासां ता वितानीकृता उल्लोचाकाराः कृताः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । सान्तानिकीः सन्तानकुसुमविकाराः स्रजः मन्दारमाला इत्यर्थः । 'सन्तान' शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'सन्तानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयाम्बभूव सुखयामास ॥ २० ॥

पवनदेव ने प्रसन्न भौंरों से युक्त मन्दार पुष्प निर्मित मालाओं का चंदोवा ऊपर तान कर मेघतुल्य वृषभ पर चढ़े हुए शंकर भगवान् को सुख प्रदान किया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना ॥ २१ ॥

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरतरोमाञ्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुख्यैरुच्चकैः परिवन्दितेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । कर्मणि क्तः । हरेः सूनुनार्जुनेन तपसि कृतं फलं भगवत्साक्षात्काररूपं येन तस्मिन् । कृतफले सतीत्यर्थः । कृतधृति कृतसन्तोषं यथा तथा फलज्यायसी फलादधिकेति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ॥ २१ ॥

शंकर भगवान् के प्रमथादि गण रोमाञ्चित होकर उच्च स्वर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । उनकी तपश्चर्या पूर्ण हो गई (क्योंकि शंकर भगवान् की मूर्त्ति का उन्हें साक्षात्कार हो गया) अत एव सन्तुष्ट होकर इन्द्रपुत्र अर्जुन वक्ष्यमाण प्रकार से स्तुति करने लगे ॥२१॥

शरण भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः ।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिकृपालुम् । 'तदस्य

सहेति ॥ वृषभस्येव गतिर्यस्य सोऽर्जुनः तस्मिन्समये सहशरधिभ्यां वर्तत इति सहशरधि सनिषङ्गम् । 'वोपसर्जनस्य' इति विकल्पात् 'सह' शब्दस्य न सभावः । निजं कार्मुकं गाण्डीवं तथैव पूर्ववदेव संदधिरे सम्यग्व्यपिहितमतनु महद्विग्रहं वपुस्तथैव निहितं यथापूर्वं स्थापितमसितमपि सत्त्वं च तथैव पश्यन् विस्मयमुपाययौ । क्वचित्तु वृषभगतिम् इति पाठः । तत्र वृषभगतिं शिवं च पश्यन् विस्मयमुपाययौ इत्यर्थः । प्रमुदितवदना वृषभः—'प्रमुदितवदना भवेन्नौ रौ' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

वृष (बैल) की गति सदृश गति वाले अर्जुन तूणीरों के सहित गाण्डीव धनुष को एवं ध्यान से आच्छादित अपने स्थूल शरीर को तथा पूर्ववत् यथास्थापित सत्त्व चन्द्रहास (खड्ग) को देख कर अत्यन्त आश्चर्य में निमग्न हो गये ॥ १६ ॥

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः ।
विमलरुचिभृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ॥ १७ ॥

सिषिचुरिति ॥ अम्बुवाहाः शनैरवनिं सिषिचुरसिञ्चन् । दिवोऽन्तरिक्षाच्चित्रं विचित्रं सुरकुसुमं मन्दारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । इयायागमत् । अनाहतस्याताडितस्य दुन्दुभेः । जातावेकवचनम् । ध्वनिः शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमखिलं नभो व्याप्यमानशे । व्याप । अताडिता एव दुन्दुभयो नेदुरित्यर्थः । सर्वमिदमस्य हर्ष लोकहितार्थित्वादिति बोद्धव्यम् ॥ १७

मेघों ने धीरे धीरे जल की वर्षा की, स्वर्ग से रंग–बिरंगे मन्दार पुष्पों की वृष्टि हुई, आकाश निर्मल हो गया, बिना बजाये ही नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि समस्त आकाश में गूंज गई ॥ १७ ॥

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य ।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुषामिति ॥ गोत्रभिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुषामागतानां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकाणां लोकपालादीनाम् । गुपू रक्षणे इत्यादिनाऽऽय प्रत्ययः । तदन्ताण्ण्वुल् । रोचिष्णवः प्रकाशनशीला रत्नावलयो येषां तैः । अलंकृञ् इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । विमानैः पुष्पकैराचिता व्याप्ता द्यौस्तारकिता संजाततारकेव रेजे । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १८ ॥

सुरराज की तरह बैठने वाले तीनों लोकों के रक्षक लोकपालों के विमानों से जिसमें कि प्रकाशमान रत्नों के ढेर लगे हुये थे व्याप्त आकाश तारक मण्डलों से युक्त की तरह प्रतीत होने लगा अर्थात् इन्द्र वरुण यम कुबेरादि सब लोकपाल रत्नजटित विमानों पर बैठ कर आकाश में घूमने लगे तब उन विमानों में जटित रत्न तारों की तरह आकाश में जगमगाने लगे ॥ १८ ॥

हंसा बृहन्त' सुरसद्मवाहा' संह्रादिकण्ठाभरणा' पतन्तः ।
चक्रु' प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्न. परिष्वङ्गमिवायतपक्षै' ॥ १९ ॥

हंसा इति ॥ बृहन्तो महान्त' सुरसद्मानि विमानानि वहन्तीति सुरसद्मवाहा । कर्मण्यण् । संह्रादीनि निह्रादीनि सुस्वराणि कण्ठाभरणानि किङ्किण्यो येषा ते । पतन्तो धावन्तो हंसा प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विक्षिप्यमाणै ।आयतपक्षै पक्षाभ्या । व्योम्न परिष्वङ्गमालिङ्गन चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

देवताओं के विमानवाहक बड़े बड़े हंस, जिनके कण्ठ में पड़े हुए आभूषण झंकृत हो रहे थे, दौड़ते हुए इस तरह मालूम पड़ते थे कि मानों परिश्रम से फैलाये हुए पङ्खों से आकाश का आलिङ्गन करते हों ॥ १९ ॥

मुखिसमधुलिहो वितानीकृता स्रज उपरि वितत्य सांतानिकी' ।
जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयाम्बभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

मुखितेति ॥ अथ मरुद्वायु । जलदे मेघ इव वृषे निषेदिवांसमुपविष्टमीश्वर मुखिता मधुलिहो भृङ्गा याभिस्ता वितानीकृता उल्लोचाकारा कृत्वा । 'अस्त्री वितानमुल्लोच.' इत्यमर । सांतानिकी. संतानकुसुमविकारा स्रज मन्दारमाला इत्यर्थ । 'संतान' शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'संतान कल्पवृक्षश्च' इत्यमर । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयाम्बभूव सुखयामास ॥ २० ॥

पवनदेव ने मस्त भौंरों से युक्त मन्दार पुष्प ग्रथित मालाओं का चदोवा ऊपर तान कर मेघतुल्य वृषभ पर बैठे हुए शंकर भगवान् को सुख प्रदान किया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमै ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरे. सूनुना ॥ २१ ॥

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमाञ्चैर्गणपतिभि प्रमथमुख्यैरुच्चकै परिवन्दितेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्यो' । कर्मणि क्त । हरे. सूनुनाऽर्जुनेन तपसि कृत फल भगवत्साक्षात्कारलक्षण येन तस्मिन् । कृतफले सतीत्यर्थ । कृतधृति कृतसंतोष यथा तथा फलज्यायसी फलाधिकेति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ॥ [illegible] ॥

शंकर भगवान् के प्रमथादि गण रोमाञ्चित होकर उच्च स्वर से अर्जुन की प्रशंसा करने लगे । उनकी तपश्चर्या पूर्ण हो गई (क्योंकि शंकर भगवान् की मूर्ति का उन्हें साक्षात्कार हो गया) अत एव संतुष्ट होकर इन्द्रपुत्र अर्जुन वक्ष्यमाण प्रकार [illegible] स्तुति करने लगे ॥२१॥

शरण भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जन ।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगत शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिदयालुम् । 'तदस्य

प्रयोजनम् इति ठक । सतिगम्य भक्तिमात्रसुलभं भवन्तं शरणं रक्षकमधिगम्य जितमृत्यवो विगतमरणा । अमरा भूत्वेत्यर्थ । यथा ससुरासुरस्य जगतो भय आपदि शरण स्वय रक्षितारो भवन्ति । शरणं गृहरक्षित्रो इति विश्व । प्रमिता क्षराच्छन्दः ॥ २२ ॥

॥ अनुवाद स्तुति ॥

हे अपराजित ! हे भव ! लोग परमभ्वाह्य भक्तिगम्य शरणप्रदायक आपको प्राप्त करके तथा मृत्युपर विजय प्राप्त करके (अर्थात् अमर बनकर) आपत्काल में देव दानवों के सहित संसार की रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ २२ ॥

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसंपदभिकामयते ।
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते ॥ २३ ॥

विपदिति ॥ हे ईश यावत्तव नतिः प्रणामो न क्रियते । पुरुषेणेति शेष । ताव देव एक पुरुषमेकाकिनं सन्तमवसादकरी क्षयकरी विपदेति प्राप्नोति । कामसंपत् मनोरथसंपच्च नाभिकामयते नेच्छति । पुरुषाश्चान्ये लोकास्तमेकं पुरुषं तव स्तुतिम कुर्वाणं न नमन्ति न वशे वर्तन्ते । नास्तिकनिवृत्तिर्नापीष्टप्राप्तिरित्यर्थ । यदा तु त्वां प्रणमति तदैव सर्वं लभ्यत इति भाव ॥ २३ ॥

हे भगवन् ! लोग जब तक आपके समक्ष प्रणत नहीं होते तब तक उन्हें असहाय करके क्षोभ कारिणी विपत्ति आती है वे मनोरथ सम्पत्ति की कामना नहीं करते और कोई भी पुरुष उनके आधीन नहीं रहता अर्थात् आपके शरण में गये बिना न अनिष्ट की निवृत्ति होती है और न इष्ट की प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै संपश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः ।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् ॥ २४ ॥

संसेवन्त इति ॥ दान शील स्वभावो नियमो येषां ते दानशीलाः । त्वामेवो दिश्य दान कुर्वन्त इत्यर्थ । तस्माद्दानं परम वदन्ति इति श्रुतेरिति भाव । कुत । यतो जन्म दुःख संपश्यन्तोऽनुभवन्त पुमांसो विमुक्त्यै मोक्षाय संसेवन्ते । भवन्त मिति शेष । न च तच्चित्रम् किंतु आनतेभ्य प्रणतेभ्यो नि सङ्गो निःस्पृहस्त्वं यत् फलसि फलं ददासि । तेषां फलार्थिं वान्त्विति भाव । तत् केवल निरुपाधिकं कारुण्यं करुणा । स्वार्थं पराञ्च । कारुण्य करुणा घृणा इत्यमर । न स्वकार्यम् । एतदेव चित्रम् । केवल परार्थत्वादिति भाव । शालिनीवृत्तम् ॥ २४ ॥

लोग दानादि कर्म करते हुए जन्मधारण करने के सन्तापों का अनुभव करके मुक्ति प्राप्त करने के लिये आप की आराधना करते हैं इसमें कोई आश्चर्य नहीं किन्तु आप जो निःस्वार्थ भाव से अर्थात् किसी प्रकार के फल की कामना न करके उन्हें उनकी सेवा का फल प्रदान करते हैं यह केवल आप की दया है इसमें आप का स्वार्थ कुछ भी नहीं है।

अर्थात् लोग स्वार्थवश होकर आपकी सेवा करते हैं और आप निःस्वार्थ उन्हें फल प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय ।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ॥ २५ ॥

प्राप्यत इति ॥ यत् तीर्थम् । इहास्मिंल्लोके दूरमगत्वा प्राप्यते । स्मृतिमात्रसुलभमित्यर्थः । गङ्गादिकं तु न तथेति भावः । यत्तीर्थमपरलोकगताय फलति फलं प्रयच्छति । अत्रापि स्मरणमात्रादेवेति भावः । भव संसार स एव अर्णवस्ततो बाह्यं बहिर्भवं संसारातीतम् । मोक्षपदमित्यर्थः । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति व्यप्रत्ययः । सर्वे कामाः प्रयोजनमस्येति सार्वकामिकम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठञ् । तत् तादृक् । तरन्त्यनेनेति तीर्थं तारकं भवतस्त्वदृते । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यद्वास्तीति । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

जो तीर्थ बिना सुदूर यात्रा के उपलब्ध होता है, जो इसी संसार में फल प्रदान करता है, और जो संसार समुद्र से परे अर्थात् मोक्ष का स्थान है तथा सम्पूर्ण अभिलाषाओं का पूरक है ऐसा तीर्थ स्मरण मात्र से उपलब्ध आप के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है ॥ २५ ॥

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम् ।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् ॥ २६ ॥

व्रजतीति ॥ हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् नरः शुचि निर्मलं पदं कैवल्यं मुक्तिं व्रजति । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण—' इत्यमरः । प्रतिहतमतिः प्रतिहतबुद्धिः । त्वद्द्वेषीत्यर्थः । घोरां गतिं तीव्रं नरकम् । एति प्राप्नोति । ननु एतावता तव रागद्वेषकलङ्कपङ्क इत्याह—इयमिति । हे अनघ निष्कलङ्क ! इयम् । भक्ताभक्तयोरिति शेषः । विशेषप्राप्त्याप्त्योरिति इति शेषः । परा दुस्तरा निमित्तशक्तिर्निमित्तभूता शक्तिः स्वभावैतमहिमा । तव क्वचिद्भक्ते द्वेषिणि वा कुत्रापि चित्तभेदो बुद्धिवैषम्यं नास्ति । स्वकर्मणैव जन्तुस्तरति पतति वा । त्वं साक्षितया सर्वत्र सम इत्यर्थः ॥ २६ ॥

हे वरप्रदायक ! आपमें प्रीति रखने वाला पुरुष सर्वोत्तम पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। आप से विरोध बुद्धि रखने वाला पुरुष नरकगामी होता है। (इसका यह अभिप्राय नहीं कि आप भक्तों को स्वर्ग और अभक्तों को नरक दान करते हैं किन्तु) हे निष्कलङ्क ! यह कार्य कारणभाव से उत्पन्न होने वाली एक अतिरिक्त शक्ति है आपके चित्त में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता अर्थात् आपके विषय में प्रेम करने वाले अपने कर्म ही से कैवल्य प्राप्त करते हैं और द्वेष बुद्धि रखने वाले अपने कर्म ही से नरक में गिरते हैं आप तो साक्षी मात्र हैं ॥ २६ ॥

दक्षिणां प्रणतदक्षिण मूर्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा ।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥ २७ ॥

दक्षिण्यामिति ॥ हे भव प्रणतेषु प्रणतेषु दाक्षिण्यसंपन्न ! दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तित्वम् । 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति विश्वः । शिवकरीं श्रेयस्करीम् । 'कृञो हेतु-' इत्यादिना टप्रत्यये ङीप् । तव दाक्षिण्यमूर्तिस्त्वत्तो याथार्थ्येन अविदित्वापि रागिणा रागद्वेषवतापि भक्त्या विहिता तव संस्मृतिः सम्यक्स्मरणं ममभाव संसारनिवृत्तये । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते । भवति । तत्त्वज्ञानं विनापि भक्तिपूर्विका तव संस्मृतिरेव मुक्तिनिदानमित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ॥ २७ ॥

हे भव प्रणतवत्सल ! रागी व्यक्ति आपकी कल्याणकारिणी दक्षिणामूर्ति के याथार्थ्य ज्ञान के बिना ही भक्ति के साथ स्मरण मात्र से बन्धन में मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः ।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥२८॥

दृष्ट्वेति ॥ प्रेक्षया बुद्ध्या करोतीति प्रेक्षाकारी विमृश्यकारी दृश्यानि ज्ञातव्यानि दृष्ट्वा ज्ञात्वा आचरणीयानि कर्तव्यानि च विधाय कृत्वा अपायैर्मुक्तं नाशवर्जितं पदं याति । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते इति श्रुतेः । ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिरित्यर्थः । किन्तु तेऽपि ज्ञानकर्मणी त्वद्विषय एव मुक्तिसाधनं नान्यविषयं इत्याशयेनाह—सम्यगिति । यः पुमान् परं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्टं त्वां पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानम् । यश्च त्वामुपास्ते सेवते स एव साधु विधेयं विधत्ते । साधुकारीत्यर्थः । मत्तमयूरं वृत्तम् । लक्षणमुक्तम् ॥ २८ ॥

विवेकी पुरुष ज्ञातव्य से ज्ञान को देखकर और कर्मों का अनुष्ठान कर निर्विघ्न पद को प्राप्त करता है तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म से मुक्ति होती है । वह भी ज्ञान और कर्म आप के विषय का ही मोक्षसाधक है इस अभिप्राय से तीसरे चौथे चरण वर्णित हैं जो पुरुष आप को परपुरुष समझता है उसी की ज्ञान दृष्टि ठीक है और जो आप की सेवा करता है वही सर्वोत्तम कर्मकारी है ॥ २८ ॥

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥ २९ ॥

युक्ता इति ॥ मुनयो व्यासादयः स्वशक्त्या विज्ञयोगमहिम्ना युक्ताः । तथा हितोपदेशैर्विधिनिषेधवाक्यैः स्मृतीतिहासपुराणमुखेन प्रजानामुपकारवन्तः कृतोपकाराश्च । मोक्षप्रदस्तु तेषामन्योपी न त्वमेवेत्याह—समिति । अचिन्त्यधामाऽचिन्त्यमहिमा त्वमेव उपेतस्य शरणं प्राप्तस्य प्रपन्नस्य संबन्धीनि दुरुत्तराणि दुस्तराणि कर्माणि बन्धकानि पुण्यपापानि समुच्छिनत्सि नाशयसि । ते त्वशक्ताः असमर्था एवेति भावः ॥ २९ ॥

व्यासवाल्मीकि आदि मुनि केवल अपनी योग की महिमा से स्मृति इतिहास पुराणादि के द्वारा लोगों का उपकार करने में समर्थ हो सके हैं परन्तु अचिन्त्य महिमा आप शरणागतों

के पाप और पुण्यरूपी कर्म के दुर्भेद कर्मों को नाश कर देते हैं तात्पर्य यह कि जब तक जीवात्मा के शुभ अथवा अशुभ कर्मों की सत्ता रहती है तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती चाहे वह कितना भी शुभ कर्म क्यों न करे शुभ और अशुभ कर्मों का नाश तभी होता है जब वह परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। बस, इसीसे उसकी मुक्ति है ॥ २९ ॥

संनिबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभय भुवनानाम् ।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्व बिमर्षि करुणामय मायाम् ॥ ३० ॥

सनिबद्धमिति ॥ अतिक्रान्तो माया वन्धरूपामतिमाय'। 'अत्यादय. क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समास । हे करुणामय हे कृपालो ! सनिबद्ध स्वकर्मणा दृढबद्धमत एव, अहार्यमन्यैरनुच्छेद्य भूरि प्रभूत भुवनाना दुर्गतिभय नरकभयम् । 'स्यान्नारक तु नरको निरयो दुर्गति स्त्रियाम्' इत्यमर । अपहर्तुमद्भुताकृतिं विचित्ररूपामिमा मायां स्वयमाना लीलाविग्रहरूपा बिभर्षि। अन्येषा कर्मानुबन्धी विग्रहपरिग्रह । भवतस्तु परोपकारार्थं इत्यर्थ ॥ ३० ॥

हे दयालो ! आप माया को धीतकर ससार के प्राणियों की भीषण नरक यातना को, जो अपने अपने कर्मों से दृढतापूर्वक बांधी हुई है, तथा अन्य प्राणियों के द्वारा अछेद्य है, निवारण करने के लिये विलक्षणरूप इस माया को धारण करते हैं अर्थात् अजन्मा होकर भी शरीर धारण कर मनुष्यलीला करते हैं। और प्राणी तो कर्म के बन्धन से विवश होकर शरीर धारण करते हैं और आप परोपकारार्थ अपनी इच्छा से शरीर धारण करते हैं ॥ ३० ॥

न रागि चेत परमा विलासिता वधू शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथ' ।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिद तवेहितम् ॥ ३१ ॥

न रागीति ॥ हे देव ! चेतस्तव चित्त रागि रागयुक्त न । परमयोगित्वादिति भाव । तथापि परमा निरतिशया विलासिता श्रृङ्गारादिचेष्टाशीलता। भिक्षाटनादिषु विहरणेन तीर्थञ्जिकन्यसन्नितया चेति भाव । किंच, शरीरेऽर्धाङ्गे वधूरस्ति। प्रसिद्धमेतदिति भाव । तथापि मन्मथ कामश्च नास्ति। तस्य भस्मीकरणादिति भाव । किंच, उषसि प्रात सध्यायां धातुर्ब्रह्मणो नमस्क्रिया वन्दनम्। स्वय जगद्वन्द्यस्यापीत्यर्थ । इतीत्थ विरुद्धमिदमुक्त तवेहित चेष्टित निसर्गतो दुर्बोध दुराकलनीयम् । दुर्ग्रहमित्यर्थ । अदृष्टपूर्वत्वादिति भाव । वशस्थ वृत्तम् ॥ ३१ ॥

(हे भगवान् ,) आप का चित्त राग से मुक्त है (क्योंकि आप परम योगी हैं) विलासिता भी आपमें कम नहीं है। स्त्री आप के शरीर में है (अर्द्धाङ्गी स्वरूप) तथापि कामदेव का सञ्चार नहीं (क्योंकि कामदेव को आपने जला डाला है) प्रभात काल में आप महादेव की वन्दना करते हैं (स्वय जगद्वन्द्य हैं) आप क्या करना चाहते हैं स्वभावत दुर्लक्ष्य है ॥ ३१ ॥

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्कुशं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः ।
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥३२॥

तवेति ॥ हे देव । तव साङ्कुशं सलोमकं करिचर्मोत्तरीयं संव्यानम् । दुःस्पर्शमिति भावः । संव्यानमुत्तरीयं च इत्यमरः । ज्वलन्मणिः पंकजनो महानहिः सारसनं कटिभूषाविशेषः । योऽन्येषां भयङ्कर इत्यर्थः । स्त्रीकट्यां मेखला सारसनं चाथ पुरुषकट्यां शृङ्खलं त्रिषु इत्यमरः । आस्यपङ्क्तिः कपालमाला स्रक् माल्यम् । शवभस्म चन्दनम् । अमङ्गलान्यस्पृश्यमङ्गलं चेति भावः । किंच एतानि वस्तूनि हिमांशोः कला च समं तुल्यतया चकासति दीप्यन्ते । स्वतोऽमङ्गलस्यापि रम्यत्वमिति किमाश्चर्यं तवेति भावः ॥ ३२ ॥

आप का उत्तरीय (ओढ़ने का वस्त्र) रोमयुक्त गजचर्म है मणिधर भीषण सर्प आप का कटिभूषण (करधनी) है । आप मनुष्य के कपालों की माला धारण करते हैं चिता की राख आपके मस्तक में लगा हुई है । ये वस्तुयें और चन्द्रमा की कला समान शोभा पा रही है अर्थात् अमङ्गल तथा विरूप व तुच्छ भी आप के आश्रय से शोभा पा रही हैं ॥३२॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः ।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥ ३३ ॥

अविग्रहस्येति ॥ अविग्रहस्य वस्तुतोऽशरीरस्यापि सतोऽतुलेन दुर्बोधत्वादसदृशेन हेतुना । केनापि कारणेनेत्यर्थः । समेता संगता भिन्ना विलक्षणा च द्वयी स्त्रीपुंसात्मिका मूर्तिर्यस्मिन्कर्मणि तत् समेतभिन्नद्वयमूर्ति यथा तथा तिष्ठतः । अशरीरस्य शरीरमेव विरुद्धम् । तत्रापि नारीनरात्मकमिति किमत्र चित्रमस्तीति भावः । एवंविधस्य तवैव जगत्सु विरुद्धवेषाभरणे पूर्वोक्ते यस्य तस्य विरुद्धवेषाभरणस्यापि सतः कान्तता रमणीयता दृश्यते । अन्यस्य न दृश्यते । तस्मादचिन्त्योऽसौ तव महिमेति भावः ॥

यद्यपि आप का कोई शारीरिक रूप देखा नहीं है तथापि न मालूम किस कारण स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार का शरीर धारण किये हुए हैं । विरुद्ध वेष भूषा बनाने पर इस संसार में रहकर आप ही में रमणीयता पाई जाती है अन्य किसी व्यक्ति में सम्भावित नहीं । तात्पर्य यह कि आप अज मा होते हुए शरीर धारण करते हैं तथापि कोई या तो स्त्री का शरीर धारण करेगा या पुरुष का आपमें तो दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है इससे अधिक आश्चर्य की क्या बात हो सकती है ॥ ३३ ॥

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसङ्घ इव न त्वमुपेतः ।
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥ ३४ ॥

आत्मेति ॥ हे देव ! त्वं भूतसङ्घ इव शरीरादिसङ्घात इव । आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्जन्मजरामरणैः । उपेतो युक्तो नासि । तेन कारणेन हे सर्वभुवनातिग सर्वलोकोत्तर उपमीयतेऽनेनेत्युपमानं नासि । उपमीयते यत्तदुपमेयमपि नासि । न कश्चित्त्वाद्

शोऽस्ति। त्वमपि नान्यसदृश । अनन्यसाधारणत्वादित्यर्थं । वृत्तमुक्तम् ॥ ३४ ॥

(हे देव !) संसारी प्राणियों के समुदाय की तरह आप जन्म, जरा और मरण से युक्त नहीं है अर्थात् परे हैं, सम्पूर्ण संसार के अतिक्रमण कर्ता, इसलिये सम्पूर्ण लोकों में आप के बराबर कोई नहीं है तथा और न कोई वस्तु है जिससे आप उपमित किये जाय॥३४॥

त्वमन्तक स्थावरजङ्गमाना त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।
त्वं योगिना हेतुफले रुणत्सि त्व कारण कारणकारणानाम ॥ ३५ ॥

त्वमिति ॥ हे देव, त्व स्थावरजङ्गमानामन्तक संहर्ता। त्वया हेतुना विश्व सर्वं जगत् प्राणिति जीवति। त्व योगिना हेतु प्रवर्तक कर्म फल भोगश्च ते हेतुफले रुणत्सि निवर्तयसि। तेषा त्वमेव बन्धविमोचक इत्यर्थं। किंच, त्व कारणानि भूतानि तेषा कारणानि भूतसूक्ष्माणि परमाणवो वा तेषा कारणकारणाना कारण प्रकृत्यादिद्वारोपसिद्धानाम्। अत्र सर्वत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुति प्रमाणमिति भाव ॥ ३५ ॥

हे देव ! चराचर प्राणियों के संहारकारी आप ही हैं। आप से सम्पूर्ण संसार जीवित है। आप योगियों के कर्म और उनके उपभोग दोनों के निवर्तक हैं (अर्थात् उन्हें आप ही बन्धन विमुक्त करते हैं) आप पञ्च महाभूतों के कारण परमाणु के भी कारण हैं ॥ ३५ ॥

रक्षोभि सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।
पाविन्या शरणगतार्तिहारिणो तन्माहात्म्य भव भवते नमस्क्रियाया ॥

रक्षोभिरिति ॥ रक्षोभी राक्षसै सुरमनुजै सुराश्च मनुजाश्च तैर्देवमनुष्यैर्दितेः सुतैर्दैत्यैर्वा लोकेषु यदविकल सम्पूर्णमाधिपत्यमाप्त प्राप्त, तत् हे भव ! शरणगतानामार्तिहारिणे दुःखनाशकाय भवते तुभ्य नमस्क्रियाया। 'नम स्वस्ति–' इत्यादिना चतुर्थी। पाविन्या पापहारिण्या माहात्म्य सामर्थ्यम्। 'न कस्या शक्त्ये भवति ( ) प्रपन्नाति' इति भाव। प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

हे भव ! देवता, मनुष्य राक्षस तथा दिति के सन्तान दानवों को जो सम्पूर्ण जगत् पर आधिपत्य प्राप्त हुआ है वह हे शरणागतरक्षक ! आपको किये गये पवित्र नमस्कार का ही सामर्थ्य है ॥ ३६ ॥

अथाष्टमूर्तिषु काश्चित्स्तुवन् वायुमूर्ति तावदाह—

तरसा भुवनानि यो बिभर्ति ध्वनति ब्रह्म यत परं पवित्रम् ।
परितो दुरितानि य पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥ ३७ ॥

तरसेति ॥ य पवन । तरसा बलेन। 'तरसी बलरहसी' इति विश्व । भुवनानि बिभर्ति प्राणात्मना धारयति। यतो यत्प्रेरणात् पवित्र पर परम ब्रह्म वर्णात्मक ध्वनति नदति। 'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत। वर्णाञ्जनयते' इति

पवनात् । यः पवनः परितो दुरितानि पातकानि पुनीते शोधयति । नाशयतीति यावत् । हे शिव ! तस्मै पावयतीति पवनो वायुः स एवात्मा यस्य तस्मै पवनात्मने ते तुभ्यं नमः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ २७ ॥

(वायु-मूर्तिकी स्तुति)

जो वायु बलपूर्वक जगत् का पोषण करता है (अर्थात् श्वासगति ही जगत् का जीवन है) जिसकी प्रेरणा से परम पवित्र वर्णात्मक नाद उच्चरित होता है। जो पवन सब तरह से पापों को पवित्र (नाश) कर देता है हे शिव ! उस पवनात्मक आप को प्रणाम है ॥ २७ ॥

अथाग्निमूर्तिं स्तौति—

भवतः स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।
दहते भवबीजसंततिं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥ २८ ॥

भवत इति ॥ जयिनि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्ममये ब्रह्मात्मके । तत्प्राप्त्युपाय स्वात् । सदासने समीचीनासने । योगासन इत्यर्थः । निषेदुषामुपविष्टानां भवतः स्मरतां ध्यायताम् । अधीगर्थे इत्यादिना षष्ठी कर्मणि षष्ठी । भवबीजसंततिं संसार निदानकर्मसंघातं दहते भस्मीकुर्वतेऽनेकशिखाय बहुज्वालाय शिखिने वह्निरूपिणे ते तुभ्यं नमः ॥ २८ ॥

(अग्नि-मूर्तिकी स्तुति)

शिव ! सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म प्राप्ति-साधक योगासन पर आरूढ़ तथा आप के ध्यान में संलग्न योगियों के जन्म जरा मरण के कारण भूत कर्मों के समूह को जो भस्म कर डालता है उस अनेक शिखा विशिष्ट अग्नि मूर्ति आप को नमस्कार है ॥ २८ ॥

अथ जलमूर्तिं स्तौति—

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥२९॥

आबाधेति ॥ हे भव ! बीजानां प्रभव कारणभूत । 'जीवानाम्' इति पाठे तेषां स्वरूपस्थितिहेतुत्वादिति भावः । आबाधाऽऽध्यात्मिकादिदुःखं मरणं पञ्चत्वं ताभ्यां भयं तान्येवार्चिर्यस्य तेन महता भवानलेन संसाराग्निना चिराय चिरं प्लुष्टेभ्यो दग्धेभ्यः समुपगमेन संसेवया निर्वाणं संतापशान्तिं यच्छते ददते जीवयतीति जीवनं तस्मै जीवनाय जलात्मने ते तुभ्यं नमः ॥ २९ ॥

(जल-मूर्तिकी स्तुति)

हे शिव ! हे बीजों के कारण सांसारिक विपत्ति और मृत्यु के भयङ्कर ज्वालाओं वाले संसाराग्नि से चिरकाल के संतप्त प्राणियों को सेवा करने से मोक्षप्रदायक जलात्मक आप को प्रणाम है ॥ २९ ॥

इदानीं नमोमूर्तिं स्तौति—

य. सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः ।
मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥ ४० ॥

य इति ॥ भवेत्यनुवर्तते । भवत्यस्मात्प्रपञ्च इति भवस्तस्य सम्बुद्धौ । सकलजगज्जनकेति यावत् । वरीयानुरुतर । विभुरित्यर्थ । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'उरु'शब्दस्य वरादेश । यस्त्वं सर्वेषां वस्तूनां आवरीताऽऽच्छादयिता । वृणोतेस्तृच्प्रत्यय । सर्वैर्भावैः पदार्थैर्नावृत केनापि कदाचिदप्यनावृत, स्वयं व्यापकत्वादिति भाव । अविद्यमाने आदिनिष्ठे उत्पत्तिनाशौ यस्यासावनादिनिष्ठो नित्य । 'निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ता' इत्यमर । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गातीतायातीन्द्रियाय । अत एव, अविज्ञेयायापरिच्छेद्याय तस्मै व्योमरूपाय ते तुभ्यं नम ॥ ४० ॥

व्योम-मूर्ति की स्तुति

(हे भव !) जो विभु है तथा सम्पूर्ण वस्तुओं का आच्छादनकारी है कोई भी पदार्थ उसे आवृत नहीं कर सकता, और उत्पत्ति और विनाश से रहित है, इन्द्रियों से परे है उस दुर्ज्ञेय आकाशात्मक आप को प्रणाम है ॥ ४० ॥

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दवीयसे ।
अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमो नम ॥४१॥

अणीयस इति ॥ हे भवेत्यनुवर्तते । हे भव ! अणीयसे सूक्ष्मतराय तथापि विश्वधारिणे जगद्धारकाय ते तुभ्यं नम । अन्तिकस्थायान्तर्यामितया सन्निकृष्टाय सते । तथापि दवीयसे दुर्ग्रहत्वाद्दूरतराय ते तुभ्यं नम । वाचां मनसां च गोचरं विषयं अतीत्य स्थितायावाङ्मनसगोचराय । तत्पतये तेषां वाङ्मनसामधिपाय । तद्व्यवस्थितैव न दृश्यत इति विरोध । ते तुभ्यं नमो नम । 'आपदे हे भवत इति वक्तव्यम्' इति द्विरुक्ति । 'सम्भ्रमेण प्रवृत्तिर्व्यापकत्वम्' इति काशिका । भवत्युत्प्रेक्षार्थः सम्भ्रम । विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ४१ ॥

हे भव ! सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए भी विश्वधारण कर्ता आप को नमस्कार है । अन्तर्यामी होने से अत्यन्त सन्निकट होते हुए भी अत्यन्त दूरस्थित आप को नमस्कार है । वचन और मन से परे रहते हुए भी उन्हीं वचन और मन के अधिपति आप को अनेक बार नमस्कार है ॥ ४१ ॥

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि ।
विरोध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि ॥ ४२ ॥

असंविदानस्येति ॥ संविदां ज्ञानानामीश । 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति श्रुतेरिति भाव । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्' इत्यमर । असंविदानस्याज्ञानस्य । 'समो गम्यृच्छि—' इत्यादिना विदे सम्पूर्वादकर्मकात्शानच्प्रत्यय । मम दुश्चरितं शस्त्रप्रयोगरूप

दुर्व्यवहारं तितिक्षितुं सोढुम् । क्षितेः समन्तात्पुरुषास्तस्य । अर्हसि योग्योऽसि । ननु तव महानपराधः कथं सोढव्यस्तत्राह विरोधेऽपीति । मोहादज्ञानात् विरोध्य वैरमुत्पाद्य पुनरभ्युपेयुषां पश्चाच्छरणागतानां दुरात्मनामपि भवानेव गतिः । त्वं हि शरणागतानामपराधं न गणयसीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

हे प्राणों के अधिनायक ! आप मेरे इस प्रयोगरूप दुर्व्यवहार को क्षमा करने के योग्य हैं। (यदि आप कहें कि 'तुम्हारा अपराध बड़ा है मैं नहीं क्षमा कर सकता', तो भी नहीं क्योंकि) अज्ञान वश शत्रुता से पुनः शरणागत दुष्टों के शरण आप ही हैं अर्थात् शरणागतों के अपराध पर आप ध्यान नहीं देते ॥ ४२ ॥

सम्प्रति वरं याचते—

आस्तिक्यशुद्धमवतः प्रियधर्म धर्मं धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे ।
सम्प्राप्नुयां विजयमीश यया समग्रां तां भूतनाथ विभुतां वितराहवेषु ॥४३॥

आस्तिक्येति ॥ प्रियो धर्मो यस्येति प्रियधर्मः । समासान्तो विधिरनित्य इति न समासान्तोऽनिच् प्रत्ययः । परलोके मतिरस्तीत्यास्तिकः पारलौकिकः । 'अस्ति नास्ति दिष्टम्' इति ठक् । तस्य भाव आस्तिक्यं तेन शुद्धं विमलं धर्मं वैदिकाचारम् । अवतः रक्षतो धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य विहितागसि कृतापराधे शत्रुवर्गे विषये हे ईश ! यया समग्रामखण्डितं विजयं सम्प्राप्नुयां भजेयम् । हे भूतनाथ आहवेषु तां विभुतां विभूतिमस्त्रविद्यां वितर देहि ॥ ४३ ॥

हे धर्मप्रियस्वामिन् ! (परलोक की आस्तिक्य मति के कारण विशुद्ध धर्म की रक्षा करते हुए धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) के शत्रुओं पर जिन्होंने अपराध किया है जिस प्रभाव सम्पत्ति से मैं विजयी बन सकूँ हे भगवन् ! संग्राम काल में उस अस्त्र विद्या को मुझे (देवी हैं के स्वामी !) प्रदान कीजिये ॥ ४३ ॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः प्रणतशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा ।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ॥ ४४ ॥

इतीति ॥ इत्युच्चैर्निगदितवन्तं । प्रणतशिरसं मघोन इन्द्रस्य सूनुमर्जुनम् । ईशो महादेवः सादरं यथा तथा सान्त्वयित्वोपसान्त्व्य अस्मै अर्जुनाय ज्वलताऽनलेन तेजसा परीतं व्याप्तं रौद्रं रुद्रदेवताकं पाशुपतमस्त्रं दधानं धनुरुपपदं धनुः शब्दोपपदं वेदम् । धनुर्वेदमित्यर्थः । अभ्यादिदेश ददौ । अभ्यासयामासेत्यर्थः । धनुरुपपदं पदस्य इत्यत्र धनुरुपपद न [illegible] सम्बन्ध न तु सन्निकृष्टपदस्येति सञ्ज्ञाया सन्निगतत्वा भावादवाच्यवचनदोषमाहुरालङ्कारिकाः । तदुक्तम्— यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं [illegible] तद्' इति । समाधानं तु 'धनुः' शब्दविशेषितेन 'वेद' शब्देन । शब्दपरोऽयमर्थः । परोपदेशायोग्यो धनुर्वेदो लभ्यत इति कश्चित्समाधानम् ॥ ४४ ॥

शङ्कर भगवान ने उपर्युक्त प्रकार से उच्चस्वर में स्तुति करते हुए तथा प्रणामार्थ नत

मस्तक इन्द्र-पुत्र (अर्जुन) को सान्त्वना (बोध) देते हुए प्रज्वलन्त अग्नि से व्याप्त पाशुपतास्त्र को धारण करते हुए धनुर्वेद का आदेश किया अर्थात् पढ़ाया ॥ ४४ ॥

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः ।
परीत्येशानस्त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ॥ ४५ ॥

स इति ॥ पिङ्गाक्षः पिङ्गलाक्षः श्रीमान् शोभावान् भुवनमहनीयेन लोकपूज्येन महसा तेजसा भीमां तनुं बिभ्रत् । त्रिगुणस्त्रिशिखः परिवार आकारो यस्य तत् त्रिगुणपरिवारं त्रिशूलं तदेव प्रहरणमायुधं यस्य स तथोक्तः । सुधर्मपक्षे तु—गुणत्रयपरिवारकृत्यात्मक इति योज्यम् । स धनुर्वेदः सुरगणैः स्तुतिभिरुपगीतः सन् । ईशानं शिवं त्रिस्त्रिवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्प्रत्ययः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीरं पाण्डोः सुतमर्जुनम् । भास्वान् सूर्यो जलदमिव । अभिययौ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४५ ॥

वह पिङ्गल नेत्रधारी, शोभाशील तथा लोकाराध्य तेज से विशाल शरीरधारी धनुर्वेद भगवान्, जो त्रिशूल धारण किये हुए थे, तथा देवता लोग स्तुतियों से जिनका गान करते थे, तीन बार शङ्कर भगवान् की प्रदक्षिणा करके वीर पाण्डु पुत्र के समीप इस प्रकार उपस्थित हुए जिस प्रकार सूर्य भगवान् मेघ के समक्ष उपस्थित होते हैं ॥ ४५ ॥

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै ।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ॥

अथेति ॥ अथ शशधरमौलिवरप्रदानानन्तरं त्रिदशपतिपुरोगा इन्द्रादयो लोकपालाः शशधरमौलेः शम्भोः अभ्यनुज्ञामवाप्य पूर्णकामाय तस्मै पाण्डवाय अवितथफलममोघफलम् । आशीर्वादमारोपयन्तः प्रयुञ्जानाः विजयि जयशीलं विविधं नानाविधम् अस्त्रमैन्द्रादिकं वितेरुर्ददुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४६ ॥

अर्जुन की अभिलाषायें पूर्ण हुईं । धनुर्वेदागमनानन्तर इन्द्रादिक लोकपालों ने चन्द्रशेखर (शङ्कर) की आज्ञा प्राप्त करके अमोघफलक आशीर्वाद का प्रयोग करते हुए जयनशील अनेक प्रकार के अस्त्रों को अर्जुन के लिये प्रदान किया ॥ ४६ ॥

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वीं वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः ।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्या दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ॥ ४७ ॥

असंहार्योत्साहमिति ॥ तरसा बलेन वेगेन च जयिनं जयशीलमुदयमभ्युदयमलाभ-

रूपमभ्युदयम् । अन्यत्र -उदयाद्रिं च प्राप्य अर्कोदयोत्साहं संहृत्यमवाप्यमुद्योगं जगतोऽनवसादाय क्षेमाय गुर्वीं धुरं दुरतिक्रमस्य तमोपसंहाररूपं च भारं वोढुं स्थितम् । स्वधाम्ना स्वतेजसा लोकानामुपरि कृतस्थानं कृतपदम् । अन्यत्र -उपरि वसमानम् । तपोलक्ष्म्या दीप्तं तं पाण्डवम् । अमरा इन्द्रादयो दिनकृतं सूर्यमिवोच्चैरुपजगुः साधु महाभाग्योऽसीति तुष्टुवुः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार देवताओं के नेत्र से उन्नतिजनक उदय प्राप्त निखिल संसार के कल्याण निमित्त अन्धकाररूपी भार के संहारार्थ सन्नद्ध अपने प्रखर प्रताप से संसार के ऊपर अपना स्थान निश्चित रखने वाले तथा प्रदीप्त सूर्य भगवान् का उच्चस्वर से उपस्थान करते हैं उसी प्रकार उन्होंने विजयी यत्नपूर्वक उल्लास को प्राप्त कर लेने के अनन्तर अव्याहत पराक्रमशाली संसार की मङ्गलकामना के निमित्त महान् भार का वहन करने के लिये सन्नद्ध अपने पराक्रम से संसार में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने वाले तथा तपस्या से विभूषित अर्जुन की स्तुति उच्चस्वर में करने लगे ॥ ४७ ॥

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन् गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसङ्घैः ।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥४८॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टादशः सर्गः ।

व्रजेति ॥ शिवेन व्रज स्वपुरं गच्छ रिपुलोकं जयेति गदित उक्तः । अतः पादपद्मानतः शिवपादपद्मानतः सन्, तथा देवसङ्घैः श्लाघितः स्तुतोऽत एव धृता गुर्वी जयलक्ष्मीर्येन स पाण्डुपुत्रोऽर्जुनो निजगृहं स्वावासं गत्वा प्राप्य अथ सादरं यथा तथा धर्मसूनुं युधिष्ठिरं ननाम नमश्चक्रे ॥ ४८ ॥

इति मल्लिनाथकृतव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामष्टादशः सर्गः समाप्तः ।



श्री शंकर भगवान् ने कहा- 'जाओ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो' इसके अनन्तर चरण कमलों में शिर झुकाकर अर्जुन देवताओं से प्रशंसित होते हुए महान् विजयलक्ष्मी के साथ अपने घर पहुँचकर ज्येष्ठ भ्राता अग्रज (युधिष्ठिर) को प्रणाम किया ॥ ४८ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

—०—

किरातार्जुनीयस्य १५ सर्गे स्थितानां चित्रबन्धानामुद्धारः ।

गोमूत्रिकाबन्ध । (१२ श्लोक) ।

ना सु रो य न वा ना गो ध र स स्थो न रा क्ष स



ना सु खो य न वा भो गो ध र णि स्थो हि रा क्ष स

सर्वतोभद्र । (२५ श्लोक) ।

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	म	म	रे	का	का
नि	स्व	म	व्य	व्य	म	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

अर्धभ्रमक । (२७ श्लोक) ।

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्य
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	स	न्ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

किरातार्जुनीयव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि ।



श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका।